

वर्ष २६ : किरण १

द्वैमासिक

अप्रैल १९७३

अनेकान्त



चावलेडी अतिशय क्षेत्र के जिनभवन में विराजमान
आदिनाथ जिनेन्द्र की मध्य मूर्ति

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पट्ट

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	पृ.सं.
१.	स्तुतिकर्म	१
२.	श्री महावीर स्वामी और हम— हीरालाल जैन 'कौशल'	२
३.	महाराजाधिराज श्री रामगुप्त— मनोहरलाल दलाल	३
४.	वर्धमानपुर : एक समस्या—मनोहरलाल दलाल	७
५.	मुनि श्री विद्यानन्द : भुजंगी विश्व के बीच चन्दन के विरछ—डा० नेमीचन्द जैन	८
६.	चारित्र्य-चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर महा- राज का सौवा जन्म दिन समागोहपूर्वक मनाइये	११
७.	चंदेरी-सिरोंज (परवार) पट्ट— पं० फूलचन्द शास्त्री, वाराणसी	१३
८.	श्रीमती शान्ता भानावत को पी-गृह. डी की उपाधि	१६
९.	भगवान महावीर का समाज-दर्शन— डा० कुलभूषण लोखंडे	१७
१०.	परमात्मप्रकाश टीका के कर्ता व जीवरज नहीं, श्वे० धर्मसी उपाध्याय हैं— अगरचन्द नाहटा	२०
११.	श्रमण जैन प्रचारक मघ	२१
१२.	दादू (थी संत गोविंददास रचित जैन धर्म संबन्धी ग्रन्थ चौबीस गुणस्थान चर्चा—अगरचन्द नाहटा	२२
१३.	द्राविड भाषायें और जैन धर्म—पं० के० भुज- बली शास्त्री	२३
१४.	जैन दर्शन में कर्मसिद्धान्त— डा० कौशल्या वल्ली	२५
१५.	राजर्षि देवकुमार की कहानी— सुबोधकुमार जैन	२६
१६.	वीर निर्वाणोत्सव—तेजपाल मिह	३२
१७.	घरीड़ा से प्राप्त चौमुखी जैन प्रतिमा— कुमारी शीला नागर	३३
१८.	आदिपुराणगत ध्यान प्रकरण पर ध्यानशतक का प्रभाव—पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	३४
१९.	बुद्धिमान् पुरुषार्थी	३६
२०.	द्रोणगिरि-क्षेत्र—पं० बलभद्र जी न्यायतीर्थ	४०
२१.	सुजनता का लक्षण	४५
२२.	बहोरीचन्द प्रतिमा लेख— डा० कस्तूरचन्द 'सुमन'	४६
२३.	साहित्य-समीक्षक—बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	४८

अनेकान्त का बाह्यिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

वीरसेवा मन्दिर का अभिनव प्रकाशन

चिर प्रतीक्षित जैन लक्षणावली (जैन पारि-
भाषिक शब्दकोश) का प्रथम भाग छप चुका है।
इसमें लगभग ४०० जैन ग्रन्थों से वर्णानुक्रम के
अनुसार लक्षणों का संकलन किया गया है। लक्षणों
के संकलन में ग्रन्थकारों के कालक्रम को मुख्यता
दी गई है। एक शब्द के अन्तर्गत जितने ग्रन्थों के
लक्षण संगृहीत हैं उनमें से प्रायः एक प्राचीनतम
ग्रन्थ के अनुसार प्रत्येक शब्द के प्रन्त में हिन्दी अनु-
वाद भी दे दिया गया है। जहां विवक्षित लक्षण में
कुछ भेद या हीनाधिकता दिखी है वहां उन ग्रन्थों के
निर्देश के साथ २-४ ग्रन्थों के आश्रय से भी अनुवाद
किया गया है। इस भाग में केवल 'अ से ओ' तक
लक्षणों का संकलन किया जा सका है। कुछ थोड़े
ही समय में इसका दूसरा भाग भी प्रगट हो रहा
है, वह लगभग तैयार हो चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ
मशोहकों के लिये तो विशेष उपयोगी है ही, साथ
ही हिन्दी अनुवाद के रहने से वह सर्वसाधारण के लिये
भी उपयोगी है। प्रस्तुत प्रथम भाग बड़े आकार में
४०५ पृष्ठों का है। कागज पुष्ट व जिन्द कपड़े की
मजबूत है। मूल्य २५-० ६० है। यह प्रत्येक
यूनिवर्सिटी, सार्वजनिक पुस्तकालय एवं मन्दिरों में
संग्रहणीय है। ऐसे ग्रन्थ बार बार नहीं छप सकते।
समाप्त हो जाने पर फिर मिलना अशक्य हो
जाता है।

प्राप्तिस्थान

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागं:
दिल्ली-६

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये

डा० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन

मथुरादास जन एम. ए., साहित्याचार्य

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पाद
मण्डल उत्तरदायी नहीं है।
—व्यवस्था

अनेकान्त

परमाणुस्य बीज निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविषाणम् ।
सकलमयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २६ }
किरण १ }

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ बरियागंज, बिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४६६, वि० सं० २०२६

{ अप्रैल
१९७३ }

स्तुतिकर्म

यद्गर्भस्य महोत्सवे सुरचयेराकाशसंपातितै—
नानावर्णधरैर्विचित्रमणिभिः संछादितं भूतलम् ।
शुम्भद्रपथरैस्तदीयसुगुणै रेजे यथा लाञ्छितं
तं वन्दे वृषभं वृषाञ्छितपदं भक्त्या सदा सौख्यवम् ॥१॥
प्रोत्तुङ्गे गिरिराजरम्यशिखरे क्षीरोदधेराहृतै—
श्चञ्चलसुन्दरकलाकलापतुलितैरम्भोभिरानन्दिताः ।
जातं यं मुदिताः सुरा रतिधराः संसिक्तवन्तः स्वयं
तं वन्दे ह्यजितेश्वरं जिनवरं सत्कीर्तिराकापतिम् ॥२॥

अर्थ—जिनके गर्भकल्याणक के समय देवसमूह के द्वारा आकाश से बरसाये हुए रङ्ग-विरङ्गे नाना मणियों से आच्छादित पृथिवीतल ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों उन्हीं के शोभायमान गुणों से युक्त हो, इन्द्र के द्वारा पूजित चरणों के धारक एवं सदा वास्तविक सुख प्रदान करने वाले उन वृषभनाथ भगवान् को मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥१॥

आनन्द से युक्त एवं प्रीति को धारण करने वाले देवों ने उत्पन्न होते ही जिनका क्षीरसागर से लाये हुए चन्द्रमा की कलाओं के समूह की तुलना करने वाले जल से मेरु पर्वत के उच्चतम शिखर पर स्वयं अभिषेक किया था उन कीर्तिरूप पूर्णचन्द्र से युक्त अजित जिनेन्द्र को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥

श्री महावीर स्वामी और हम

(१)

वे थे—

विश्व-व्यापी-विकलता विलोक वीर वर्द्धमान,
अस्त-प्राणि-प्राण हेतु हृदय में अधीर थे ।
लेकर जग से विराग, पंचेन्द्रिय-विषय त्याग,
कर्म दस्यु-दलन बने अविचल सुधीर थे ॥
सर्वसमभावी, सर्वत्यागी, सर्व हितकारी,
सर्व दृष्टिकोणों से विचारक गंभीर थे ।
आत्म-पूर्णता के प्रभावक, प्रकाश-पुंज,
वीतरागी सर्वज्ञाता स्वामी महावीर थे ॥

(२)

और आज—

विश्व की विकलता का भान तो कहाँ से हो,
देश और समाज का न रंचमात्र ध्यान है ।
पंचेन्द्रिय विषय त्याग बात बहुत दूर रही,
भक्ष्याभक्ष्य-भक्षण तक का रहा नहीं ज्ञान है ॥
सर्व समभावी सर्वत्यागी प्रभु थे परन्तु,
काला घन संचय में आज सम्मान है ।
खा रहा समाज को दहेज का दानव दुष्ट,
हुए अर्थलोलुपो, अहिंसक जवान हैं ॥

(३)

तब क्या करें— ?

वीर की जयंती मनाना है सार्थक तभी,
वीर के जीवन से प्रकाश कुछ पावें हम ।
खान पान, रहन सहन सात्विक पवित्र होवे,
धार्मिक गृहस्थ जैसा जीवन बितावें हम ॥
दीन दुखियों की दशा देख मन होवे द्रवित,
स्वार्थत्याग “कौशल” वात्सल्य अपनावें हम ।
दूर कर द्वेष दम्भ, दयाहीनता, दहेज,
नैतिकता नाव पतवार बन जावें हम ॥

हीरालाल जैन ‘कौशल’

छठी शताब्दी का अज्ञात जैन शासक :

महाराजाधिराज श्री रामगुप्त

मनोहरलाल बलाल

मालवा प्रदेश में जैन वास्तु एवं मूर्ति शिल्प के उदाहरण पाँचवीं शताब्दी के पूर्व के नहीं मिलते, परन्तु इसके पश्चात् इनकी एक विकास शृंखला ज्ञात होती है। जैन अनुश्रुतियों से विदित होता है कि उज्जयिनी एवं विदिशा जैन धर्म के केन्द्र थे तथा पश्चिमी भारत में जैन धर्म के प्रचार एवं प्रसार का मौर्य सम्राट अशोक के पौत्र सम्प्रति ने योजनाबद्ध प्रयत्न किया था। कालकाचार्य कथानक से उज्जयिनी में जैन धर्म के लोकप्रिय होने का ज्ञान अवश्य होता है, परन्तु पुरातात्विक प्रमाण नहीं मिलते। गुप्त सम्राट कुमार गुप्त प्रथम के राज्यकाल के गुप्त संवत् १०६ (४२५ ई०) के उदयगिरि गुहा लेख^१ से विदित होता है कि शंकर नामक व्यक्ति ने सर्पफणी युक्त श्रेष्ठ पार्वनाथ की प्रतिमा गुफा द्वार पर निर्मित करवाई थी, जिसके सर्पफण चिह्न मात्र शेष बचे हैं। बेस नगर से एक विशाल तीर्थंकर प्रतिमा और मिली थी, जो खालियर संग्रहालय में सुरक्षित है, परन्तु जैन धर्म को आश्रय देने वाले किसी शासक का बोध नहीं होता।

विदिशा संग्रहालय में महाराजाधिराज रामगुप्त के द्वारा स्थापित तीर्थंकर प्रतिमाएँ पद्यासन मुद्रा में हैं, जिनमें एक चन्द्रप्रभ एवं दूसरी पुष्पदन्त भगवान की हैं, यद्यपि तृतीय प्रतिमा पहिचानना सम्भव नहीं है। इन तीनों प्रतिमाओं की पादपीठ पर तिथिविहीन लेख है^२, जिनका आशय समान है :—

“भगवतोर्हुतः चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेयं कारिता महाराजाधिराज श्री रामगुप्तेन उपदेशात् पाणिपात्रिक चन्द्रक्षमाचार्य क्षमा-श्रमण प्रशिष्य आचार्य सप्यसेन-क्षमण शिष्यस्य गोलकयान्त्यसात्पुत्रस्य चेलू क्षमणस्येति ।”

१. पलीट कृत गुप्त अभिलेख पृष्ठ २५८।

२. जर्नल ऑफ ओरियण्डल इस्टिड्यूट, १८, भाग ३, पृष्ठ २४७-५१।

पादपीठ पर उत्कीर्ण लेखों से स्पष्ट है कि चन्द्रक्षमा-चार्य क्षमा-श्रमण के प्रशिष्य एवं सप्यसेन-क्षमण के शिष्य चेलू क्षमण के उपदेश से महाराजाधिराज रामगुप्त ने ये प्रतिमाएँ स्थापित करवाई थीं। इन लेखों की लिपि गुप्त ब्राह्मी है, अतएव इनका निर्माण काल छठी शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता। इस जैन सम्राट रामगुप्त का काल एवं राज्य क्षेत्र निर्धारित करना विवादास्पद है।

विदिशा, एयण, उज्जयिनी आदि क्षेत्रों में रामगुप्त के ताम्र-सिक्के भी मिले हैं, जिन पर गुप्त ब्राह्मी में ‘रामगुप्त’ लेख है, जिसे इन मूर्तियों के महाराजाधिराज श्री रामगुप्त से अभिन्न मानकर गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का अग्रज मानने का सुझाव दिया जाता है^३, जिसे ‘देवीचन्द्र गुप्त’ नाटक में उल्लेखित ध्रुवदेवी के प्रथम पति एवं समुद्रगुप्त के पुत्र रामगुप्त से सम्बन्धित किया जाता है^४।

मूर्तियों के प्रकाश में आने के पूर्व मालवा क्षेत्र में प्राप्त सिंह तथा गरुड़ प्रकार के ताम्र सिक्कों से ज्ञात रामगुप्त का काल एवं राज्य क्षेत्र निर्धारित करने में विद्वानों में मतभेद था। परमेश्वरीलाल गुप्ता^५, अनन्त सदाशिव अल्लेकर^६ एवं कृष्णदत्त बाजपेयी^७ इस रामगुप्त की साहित्यिक स्रोतों से ज्ञात गुप्त शासक रामगुप्त से अभिन्न मानते हैं तथा अपने मत के समर्थन में निम्नलिखित तर्क देते हैं :—

३. साप्ताहिक हिन्दुस्थान दिनांक ३० मार्च १९६६ ई०, पृष्ठ १०।

४. जर्नल ऑफ दि न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया, भाग १२, पृष्ठ ३।

५. वही पृष्ठ १०६।

६. वही, भाग १८, पृष्ठ ३४०-४४१।

१. साहित्यिक स्रोतों में ज्ञात रामगुप्त एक गुप्त शासक था तथा लिपि से ये सिक्के गुप्त कालीन प्रतीत होते हैं ।

२. समुद्रगुप्त ने पूर्वी मालवा विजित कर एरण को प्रान्तीय शासन का केन्द्र बनाया था, सम्भवतः रामगुप्त को समुद्रगुप्त ने यहाँ का शासक नियुक्त किया होगा । कालांतर में राजकुमार को पूर्वी मालवा में गवर्नर बनाने की परम्परा गुप्त सम्राटों ने जारी रखी थी यथा—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने गोविन्द गुप्त को तथा कुमारगुप्त प्रथम ने चटोत्कच गुप्त को एरण का शासक नियुक्त किया था ।

३. रामगुप्त के सिक्कों पर गड़ड़ गुप्त सम्राटों का लक्षण है तथा सिंह मिलने का सम्बन्ध ध्रुवदेवी की बैशाली से प्राप्त मुद्रा के सिंह से जोड़ा जा सकता है ।

४. 'देवी चन्द्रगुप्त' नाटक में उल्लेखित शक शासक से ध्रुवदेवी के लिये हुए युद्ध की घटना विदिशा के निकट की होगी, क्योंकि इस क्षेत्र में शक शासकों के सिक्के एवं अभिलेख मिले हैं ।

दिनेशचन्द्र सरकार^१, ए० के० नारायण^२ एवं निसार एहमद^३ का विचार है कि सिक्कों से ज्ञात रामगुप्त पाँचवीं शताब्दी का मालवा का एक स्थानीय शासक था, जिसका उत्थान गुप्त साम्राज्य के पतनावस्था में हुआ होगा, क्योंकि सिक्कों के प्रकार, वजन, बनावट एवं प्रचलन से वे स्थानीय प्रतीत होते हैं ।

विदिशा से प्राप्त तीन तीर्थङ्कर प्रतिमाओं के पाद-पीठ पर उल्लेखित जैन शासक महाराजाधिराज श्री रामगुप्त को सिक्कों से ज्ञात रामगुप्त से अभिन्न मानना उचित है । क्योंकि सिक्के एवं मूर्तियाँ मालवा क्षेत्र में ही मिली हैं तथा इनके लेखों की लिपि भी गुप्त ब्राह्मी है; यद्यपि इस रामगुप्त को समुद्रगुप्त के पुत्र से अभिन्न

मानना निम्न कारणों से असंगत है :—

१. यह क्षासक जैन मतावलम्बी था तथा इसने चेलु क्षमण के उपदेशों से प्रभावित होकर ये जिन प्रति-माएं स्थापित करवाई थीं, जबकि गुप्त शासक ब्राह्मण मतावलम्बी थे ।

२. रामगुप्त का विरुद महाराजाधिराज है, जिससे यह स्वतन्त्र शासक विदित होता है । विदिशा एरण क्षेत्र ५१० ई० तक गुप्त साम्राज्य का अंग था तथा उसके पश्चात् हूण सम्राट तोरमाण एवं मिहिर कुल का ।

३. रामगुप्त के सिक्के उज्जयिनी क्षेत्र में भी मिले हैं, जबकि इस क्षेत्र को सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त द्वितीय या कुमारगुप्त प्रथम ने जीता था, अतएव यह रामगुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय का पूर्वगामी कैसे हो सकता है ?

४. मालवा में स्थानीय प्रकार के ताम्र सिक्के सर्व-प्रथम चन्द्रगुप्त द्वितीय ने प्रचलित किये थे, अतएव यह रामगुप्त बाद का है ।

५. मूर्तियों के अभिलेखों से रामगुप्त के गुरु चेलु-क्षमण को चक्षमाचार्य क्षमाश्रमण का प्रशिष्य कहा गया है, जबकि जैन आचार्यों में क्षमाश्रमण विरुद सर्वप्रथम वल्लभी संगिति के ग्रन्थक्ष देव-धिगणि का मिलता है, जिनका समय ४५३ ई० ज्ञात है, अतएव चन्द्रक्षमाचार्य उनसे परवर्ती हैं ।

महाराजाधिराज श्री रामगुप्त मालवा क्षेत्र के प्रथम ज्ञात जैन शासक थे, जिनके राज्य क्षेत्र में सम्पूर्ण मालवा क्षेत्र सिक्कों से विदित होता है- यद्यपि पूर्वी मालवा में इनके सिक्के बड़ी तादाद में मिले हैं । इस जैन शासक का समय निर्धारित कर स्वतन्त्र शासक के रूप में प्रतिष्ठित करना कठिन है । पूर्वी मालवा में गुप्त सम्राटों का शासन अभिलेख एवं सिक्कों से कुछ गुप्त तक ज्ञात होता है जिनकी तिथि गुप्त संवत् १६५ (४८४ ई०) है ।^४ एरण से प्राप्त भानुगुप्त गोपराज के अभिलेख से ५१०

१. जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री त्रिवेन्द्रम ४०, पृ० ५३३ ।

२. जर्नल आफ दि न्यूमिस्मेटिक सोसायटी आफ इंडिया, भाग १२, पृष्ठ ४१ ।

३. वही, भाग २५, पृ० १०५ ।

३. एमियाफिया इडिका—२१, पृष्ठ १२७ एवं पत्नीट कृत गुप्त अभिलेख, पृष्ठ ८८ ।

४. पत्नीट कृत गुप्त अभिलेख, पृष्ठ ६२ ।

ई० तक इस क्षेत्र में गुप्त सत्ता का आभास होता है।

हूण शासक तोरमाण के प्रथम राज्यवर्ष का अभिलेख एरण से मिला है^१, जिसका प्रान्तीय शासक धन्यविष्णु था, जोकि गुप्त सम्राट बुधगुप्त के प्रान्तीय शासक मातु-विष्णु का अनुज था, अतएव छठी शताब्दी के आरम्भ में पूर्वी मालवा के शासक हूण ज्ञात होते हैं। तोरमाण को उद्योतनसूरि ने कुवलय माला में जैन कहा है, जिसका पुत्र मिहिरकुल ५३० ई० तक पैतृक राज्य का स्वामी विदित होता है। यशोधर्मन विष्णुवर्धन के दशपुर अधिलेखों^२ से विदित होता है कि उसने मालव संवत् ५८६ (५३२ ई०) के पूर्व मिहिरकुल को परास्त कर गुप्तों एव हूणों से भी विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया था, अतएव रामगुप्त की स्वतन्त्र सत्ता का समय औलिकर सम्राट यशोधर्मन विष्णुवर्धन के बाद ही रखा जा सकता है।

यशोधर्मन की मृत्यु सम्भवतः ५४० ई० के पूर्व हो चुकी थी, क्योंकि उसके द्वारा स्थापित साम्राज्य का विघटन इसके बाद आरम्भ हो गया। गुप्त साम्राज्य के अवशेषों पर गौड़, मोखरि एव परवर्ती गुप्त राजवंशों का उत्थान एवं प्रतिस्पर्धा अभिलेखों से ज्ञात है, अतएव मालवा में इसी समय करीब ५५० ई० में रामगुप्त ने

भी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली होगी। सुनैर से सत्यगुप्त का एवं ताम्रसिक्का मिला है^३, जिस पर लेख गुप्त ब्राह्मी में है, अतएव यह सत्यगुप्त महाराजाधिराज श्री रामगुप्त का उत्तराधिकारी रहा होगा, जिससे कलचुरि शासक शकरगण^४ ने ५६५ ई० में उज्जयिनी के आस पास का क्षेत्र छीन लिया था।

महाराजाधिराज श्री रामगुप्त ने मालवा क्षेत्र में जैन धर्म के प्रसार के प्रयत्न अवश्य किये थे क्योंकि छठी शताब्दी के बाद से जैन वास्तु एवं मूर्ति शिल्प के उदाहरण मालवा में बहुसंख्यक मिलते हैं। इन लेखयुक्त जिन प्रतिमाओं से इस अज्ञात जैन सम्राट का नाम एव धर्म मात्र ज्ञात होता है। रामगुप्त के महाराजाधिराज विरद एव सिक्कों से इसका राज्य क्षेत्र विस्तृत प्रतीत होता है, परन्तु अन्य स्रोतों के अभाव में अन्य उपलब्धियाँ ज्ञात नहीं होती। जैन आचार्य चन्द्रक्षमाचार्य एव उनकी शिष्य परम्परा चेलुक्षमण तक लेख से ज्ञात होता है, सम्भवतः इनका उपदेश केन्द्र विदिशा था। देवधि क्षमाश्रमण से इनका सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता, यद्यपि लाट एवं मालवा जेनाचार्यों के लिये सम्बद्ध प्रचार क्षेत्र थे, अतएव चन्द्रक्षमाचार्य क्षमाश्रमण को वल्लभी से सम्बन्धित मानना असंगत नहीं होगा।

★

१. फ्लीट कृत गुप्त अभिलेख, पृ० १५६।

२. वही, पृ० १४७।

३. इंडियन आर्कियालाजी, १९६७-६८, पृ० ६२।

४. एपिग्राफीया इंडिका ६, पृ० २६६।

अनेकान्त के ग्राहक बनें

‘अनेकान्त’ पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और जैन श्रुत की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे ‘अनेकान्त’ के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बनावें। और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें। इतनी महंगाई में भी उसके मूल्य में कोई वृद्धि नहीं की गई, मूल्य वही ६) रुपया है। विद्वानों एवं शोधकार्य संलग्न महानुभावों से निवेदन है कि वे योग्य लेखों तथा शोधपूर्ण निबन्धों के संक्षिप्त विवरण पत्र में प्रकाश-नार्थ भेजने की कृपा करें।

— व्यवस्थापक ‘अनेकान्त’

वर्धमानपुर : एक समस्या

मनोहरलाल दलाल

जिनाचार्य जिनसेन ने अपने हरिवंश पुराण को शक संवत् ७०५ में वर्द्धमानपुर के शान्तिनाथ चैत्यालय में समाप्त किया था। इसी वर्द्धमानपुर में शक संवत् ८५३ में हरिवेग ने कथाकोष की रचना की थी। डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने इस वर्द्धमानपुर की पहिचान सोराष्ट्र के प्रसिद्ध शहर 'बढ़वाण' से की है, परन्तु डा० हीरालाल जैन ने (इण्डियन कल्चर—अप्रैल १९४५) घाट जिला-न्तर्गत नगर 'बदनावर' से इस वर्द्धमानपुर को अभिन्न माना है। ये दोनों ही नगर उज्जयिनी से पश्चिम में हैं। जिनसेनाचार्य ने वर्द्धमानपुर की जो भौगोलिक स्थिति बतलाई है वह महत्वपूर्ण है। हरिवंश पुराण के अन्तिम सर्ग के ५२वें पद्य में लेखक ने बतलाया है कि वर्द्धमानपुर के उत्तर में इन्द्रायुध, दक्षिण में कृष्ण का पुत्र श्री वल्लभ, पूर्व में अवन्तिराज वत्सराज और पश्चिम में सोरी के अधिमण्डल सोराष्ट्र की वीर जयवराह रक्षा करता था, उस समय यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ था।

दोनों स्थल (बढ़वाण एवं बदनावर) से उत्तर में कन्नौज के शासक इन्द्रायुध का शासन अभिलेखों से ज्ञात है तथा दक्षिण में राष्ट्रकूट सम्राट गोविन्द द्वितीय श्री वल्लभ का शासन था, जिसकी ज्ञात तिथि ताम्रपत्र से शक संवत् ६६२ ज्ञात है।^१ पूर्व की ओर के शासक 'अवन्ति भूभूत वत्सराज' को नागभट्ट द्वितीय के पिता वत्सराज से अभिन्न समझा जाता है, परन्तु उद्योतनसूरि की कुवलयमाला नामक प्राकृत कथा में वत्सराज का राज्य शक संवत् ७०० में जाबालिपुर अर्थात् जालौर (मारवाड़) में बताया गया है। अन्य ऐसा कोई प्रमाण नहीं है, जिससे प्रतिहार शासक वत्सराज को अवन्तिराज माना जा सके, सम्भवतः बहुधा अभिलेख से ज्ञात मालवा का स्थानीय शासक वत्सराज

ही उस समय अवन्ति का शासक था, जिसका हरिवंश पुराण में उल्लेख है, इस दृष्टि से कुवलयमाला में उल्लेखित वत्सराज भिन्न प्रतीत होता है। जो कि प्रतिहार-वंशीय था। पश्चिम के शासक वीर वराह की पहिचान राष्ट्रकूट शासक कर्कराज के ताम्र पत्र में उल्लेखित राष्ट्रकूट सम्राट कृष्ण से पराजित चालुक्य शासक कीर्ति वर्मा महावराह के वंशज से की जाती है। ऐसी स्थिति में हरिवंश पुराण में उल्लेखित भौगोलिक स्थिति के आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है, क्योंकि बढ़वाण एवं बदनावर दोनों स्थलों पर यह घटित होती है।

हरिवंश पुराण की रचना वर्द्धमानपुर की नन्नराज वसति में की गई थी, जो कि राष्ट्रकूट शासक नन्नराज या उसके उत्तराधिकारी द्वारा निमित्त मंदिर रहा होगा। भानपुरा के निकट इन्द्रगढ़ से प्राप्त मालव संवत् ७६७ (शक संवत् ६३२) के अभिलेख में^२ भामन के पुत्र राजा णण्णप्य का उल्लेख है, जिसका मालवा पर शासन था, जिसकी पहिचान सगलोदा^३ एवं मुत्ताई^४ ताम्रपत्रों से ज्ञात राष्ट्रकूट शासक नन्नराज से की जाती है, जिसकी तिथि शक संवत् ६३३ ज्ञात है। इस दृष्टि से भी नन्नराज वसति की सम्भावना बढ़वाण एवं बदनावर दोनों ही स्थलों पर हो सकती है। बदनावर में पूर्व मध्यकालीन मंदिरों एवं मूर्तियों के अवशेष मिले हैं, इनमें एक लेख में शान्तिनाथ चैत्यालय का उल्लेख भी है।

वर्द्धमानपुर की पहिचान की दृष्टि से बदनावर से

३. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली, ३१, क्रमांक २ पृ० ६६; एपिग्राफिका इण्डिका जिल्द ३२ पृ० ११२

४. इण्डियन एण्टिक्वेट्री २६, पृ० १०६।

५. वही, १८ पृष्ठ २३०; एपिग्राफिया इण्डिका ११, पृष्ठ २७६।

१. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द—६, पृ० २०६।

२. वही, जिल्द ३७, अंक ११।

प्राप्त मूर्तियों के पादपीठ पर उत्कीर्ण तीन अभिलेखों का विशिष्ट महत्व है :—

१. संवत् १२०६ वंशाख बड़ी ६ सत्र प्रथ है वर्ध-
नापुरे श्री शान्तिनाथ चैत्ये सा० श्री सलन
सा० गोशल भा० ब्रह्मादि भा० बड़देवादि कुण्ड-
वसुहितेन निजगोत्र देव्या श्री अचछुताः रवि
कीर्ति कारिताः ।

यह लेख अक्षराही देवी के पादपीठ पर है । यह
मूर्ति ४१" ऊँचे एवं २६" चौड़े प्रतिमा फलक पर बनी
है । इसमें नगर का नाम स्फुट रूप से वर्धनापुरे लिखा
है यद्यपि डा० हीरालाल जैन ने त्रुटि वश इसे वर्धमान-
पुर पढ़ लिया है, जिसकी ओर किसी ने ध्यान ही नहीं
दिया । यह मूर्ति दिगम्बर जैन संग्रहालय, उज्जैन में
रखी है ।

२. संवत् १३०८ वर्षे माघ सुदी ६.....श्री वर्धना-
पुरान्वय पडित रतनुभार्या साधुसुत साइगभार्या
कोड़े पुत्र सा० असिभार्या होन्तु नित्य प्रणमति ।

इस अभिलेख में वर्धनापुरान्वय का उल्लेख है,
परन्तु इससे भी अभिलेख संख्या १ के अनुसार ही बद-
नाबर का नाम 'वर्धनापुर' ज्ञात होता है, यद्यपि केवल
एकमात्र निम्नलिखित अभिलेख में 'वर्धमानपुरान्वय' का
उल्लेख है :—

३. संवत् १२१६ चैत्र सुदी ५ बुधे रामचंद्र प्रणमति
वर्धमानपुरान्वय सा० सुंभोदित सुत वाला सीपा
भार्या राया सुत विल्लाभार्या वायणि प्रणमति ।

उपर्युक्त उल्लेख को वर्धमानपुर के अन्वय का
उल्लेख मात्र मानकर इस अभिलेख युक्त प्रवेश द्वार को

स्थापित करवाने वाले व्यक्ति को बड़वण या निवासी
मान लेना उचित नहीं होगा क्योंकि अभिलेख संख्या-२
में उल्लेखित 'श्री वर्ध' पुरान्वय का भी फिर यही अर्थ
मानना होगा, बंजी स्थिति में बड़वण के अन्वय को
वर्धमानपुरान्वय और बदनावर के अन्वय को वर्धना-
पुरान्वय मानकर दोनों नगरों के भिन्न-भिन्न अन्वय की
कल्पना करनी होगी ।

इन लेखों में अभिलेख क्रमांक-१ विक्रम संवत् १२२६
का है जबकि क्रमांक-२ विक्रम संवत् १२१६ का है,
जिनमें केवल १३ वर्ष का अन्तर है, यद्यपि अभिलेख
क्रमांक करीब १२ वर्ष वाद का है विक्रम संवत् १३०८
का । बड़वण से कोई अभिलेख नहीं मिले है, जिनसे उस
नगर का प्राचीन नाम 'वर्धमानपुर' माना जा सके ।

मालवा में धार जिले के अन्तर्गत तहसील नगर बद-
नाबर को जैन हरिवंश पुराण एवं कथाकोष में उल्लेखित
वर्धमानपुर का गौरव देना उचित प्रतीत होता है जिसका
प्राचीन नाम आठवीं शताब्दी में 'वर्धमानपुर' था,
परन्तु कालान्तर में इस नगर को 'वर्धनापुर' कहा जाने
लगा था । यद्यपि वर्धमानपुर नाम भी लोकप्रिय बना
रहा, जिसकी पुष्टि विक्रम संवत् १२२६ एवं १२१६ में
स्थापित मूर्ति लेखों से होती है ।

हरिवंश पुराण में उल्लेखित भौगोलिक स्थिति, प्राप्त
मूर्ति लेख, पुरातात्विक अवशेष आदि विशाल जैन केन्द्र
के रूप में बदनाबर का प्राचीन गौरव प्रकट करते हैं,
जिसका मूल्योक्त डा० हीरालाल जैन ने किया था,
परन्तु अभिलेखों के आलोचनात्मक अध्ययन के अभाव में
विद्वत् समाज ने इसे स्वीकार नहीं किया था । ★

विशेष सूचना

वीर सेवा मन्दिर २१ बरियागंज दिल्ली के प्रकाशन विभाग ने कितने ही ग्रन्थ रत्नों को प्रकाशित कराया
है कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जो जैन सिद्धान्त के मूल तत्त्वों एवं उपदेशों पर संक्षेप में प्रकाश डालते हैं । ऐसी पुस्तिकाओं
द्वारा जैन धर्म और उसके आत्म-कल्याणप्रद उपदेशों का प्रचार किया जा सकता है । जो सज्जन इस प्रकार की
पुस्तिकाओं को खरीद कर प्रचारार्थ वितरण करना चाहें उन्हें मूल्य में कुछ विशेष रियायत प्राप्त हो सकती है ।
खरीदने के इच्छुक सज्जन कार्यालय में मिलने या पत्र-व्यवहार द्वारा निर्णय लेने की कृपा करें ।

वीर सेवा मन्दिर द्वारा प्रकाशित विशेष ग्रन्थों की सूची अनेकान्त के प्रत्येक अंक में होती है ।

मुनि श्री विद्यानन्द : भुजंगी विश्व के बीच चन्दन के बिरछ

डा० नेमीचन्द जैन

जिस दिन मुनिश्री विद्यानन्द जी से साक्षात् हुआ, उस दिन सहसा कबीर की याद मन में मँडराने लगी। कबीर की कई साखियाँ मन पर भ्रमाभ्रम बरस पड़ी। एक साखी—बदली बरसकर कह गयी—“साध कहावन कठिन है, लम्बा पेड़ खजूर। चढ़े तो चाखे प्रेमरस, गिरे तो चकनाचूर ॥” इसके अर्थगौरव पर मन का मोर नाच-नाच उठा; और लगा जैसे मेरा ध्यान कमल की पाँखुरी पर मोती-सी दमकती किसी बूद पर चला गया है। बूद दमक रही है पाँखुड़ी पर, और पाँखुरी पाँखुरी है। दोनों साध, दोनों अलग। ऐसा अभिनव-अलौकिक बोध हुआ उस परम व्यक्तित्व का उस दिन जैसे अनेकान्त ने नवा-कार ग्रहण किया हो और वह अपनी सम्पूर्ण छटा और वैभव में मेरी आँखों के सामने उपस्थित हो। इतने में कबीर की दूसरी साखी मन पर पलथी मारने लगी—“परमारथ के कारणे, साधुन घरा शरीर”। मन मान गया कि मुनिश्री की डगर खांडे की प्रखर धार है। वे आत्माधी हैं, आत्मानुसंधानी हैं; और समाज-हित में भी बड़े चौकस और अनासक्त वृत्ति से चल रहे हैं। उनकी मुसकान में समाधान है और वाणी में समन्वय का अनाहत नाद। उनका हर कदम मानवता की मंगल मुस्कराहट है और हर शब्द जीवन को दिशा-दृष्टि देने वाला है। कहें हम कि, वे भुजंगी विश्व के बीच चन्दन के बिरछ हैं, अनन्त सुवास के स्वामी।

एक बार एक सज्जन घर आये। कहने लगे आप मुनिश्री विद्यानन्द जी के अन्धभक्त हैं। मैंने सहज ही कहा—“इसमें आपको कोई आपत्ति है; भक्ति और आराधना तो व्यक्तिगत मुद्दे हैं।” सिगरेट का कश खींचते हुए बोले—“नहीं बैसे ही; आपको उनके पास आते-जाते देख लिया था।” मैंने कहा—“यानी आप मित्रों पर जासूस निगाह रखते हैं।” तड़प कर बोले—“बैसा कुछ

नहीं है, क्या मित्रों का ध्यान रखना बुरा है।” इस बीच उन्होंने दूसरा कश भरपूर खींच लिया था। मैंने चिकोटी लेते पूछा—“आप सिगरेट तो बड़ी अदा से पीते हैं; इसके अन्धभक्त है क्या?” उन्हें उत्तर मिल गया था, और वे अब किसी खाम धबराहट में जाना चाहते थे; किन्तु मैंने जाते-जाते उनके कान में कबीर की एक गरम-सी साखी डाल दी—“जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान। मोल करो तलवार का, पड़ा रहन बो म्यान।” तलवार का मोल करना योद्धा का काम है, कितने है ऐसे रण-बाकुरे जो जीवन से मुखातिब हैं और तलवार की धार का सम्पूर्ण अहमास कर रहे हैं। आज अधिकांश लोग म्यान पर भगड रहे हैं, ज्ञान पर किसी का ध्यान नहीं है। इधर मुनिश्री की पगतली साधना की दुधारी तलवार पर है और वे ज्ञान की खोज में प्रतिपल कर्मरत हैं। उनका एक क्षण भी क्षीण नहीं है, उसके मुरझाने से पहले वे उसके सौरभ को निचोड़ कर दुनिया को बांट देते हैं। रौरव और कौरव के इस जमाने में सौरभ की बन्दना जो नहीं कर पाते, उनके अभाग्य की कलाना मैं सहज ही कर सकता हूँ।

आज जब पूज्य मुनिश्री ४८ वर्ष के हुए हैं, उनकी साधना विश्वधर्म की सार्थक परिभाषा घड़ रही है। उनका तेजोमयव्यक्तित्व, अंगारे सी अहर्निश दहकती ज्ञान-देह देखकर कोई भी विस्मय-विमुग्ध खड़ा रह जाता है। एक सहज मुस्कराहट, निर्द्वन्द्व मुखमण्डल, विशाल-भव्य ललाट, ज्ञान के वातायन से सम्यक्त्व—खोशते नेत्र, जीवन को टटोलती चेहरे की हर मुद्रा, देह में कहीं कोई शिकन नहीं। परमानन्द की मंगलमूर्ति मुनिश्री जब प्रवचन की मुद्रा में विशाल जनमेदिनी के सम्मुख उपस्थित होते हैं, तब ऐसा लगता है जैसे प्राची में कोई सूरज उठ रहा है जो मध्याह्न तक पहुँचते-पहुँचते उपस्थित लोक-

मानस को अपूर्व कर्मनिष्ठा से भर देगा, उसे साधना में जगा देगा। और यह सर्वथा सत्य भी है कि उनकी वाणी मन को उमगाती है, तन को संयम में जगाती है, और धन को सच्ची राह पर मोड़ देती है। माया की चका-चौंध में, उसकी मृगतृष्णा में बंधे नामालूम कितने लोग मुनिश्री के पास नित्य पहुँचते हैं; किन्तु सब एक अनन्त तृप्ति और शीतलता लेकर लौटते हैं। वे हिमालय तक गये हों, या नहीं (गये हैं) किन्तु दर्शनार्थी उनके दर्शन के साथ एक हिमालय अपने भीतर पिघलते देखता है जो उसके जनम-जनम के सौ-सौ ग्रीष्म शान्त कर देता है। वन्दना से उसके मन में कई पावन गगोत्रियां खुल जाती हैं। इस तरह मुनिश्री के दर्शन जीवन के सर्वोच्च शिखर के दर्शन है, वे परमानन्द के द्वार पर चत्तारि मंगल की वन्दनदार हैं।

बहुधा लोग सोचते हैं मुनिश्री विद्यानन्द जी दिगम्बर वेशधारी मुनि हैं, होंगे रुढ़िग्रस्त; शास्त्र जिस तरह वेष्टन में बधा होता है, वैसे ही परम्परा के वेष्टन में लिपटे कोई व्यक्ति होंगे; किन्तु एक ही क्षण में उनकी आँखों पर से यह धुंध हट जाती है और उन्हें नवनिधियों का अनन्त कोष मिल जाता है। उसके सम्मुख ज्ञान का, आनन्द का एक अखूट खजाना खुल जाता है। उसे लगता है जैसे वह किसी आध्यात्मिक कल्पवृक्ष की छाँव में खड़ा है, जहाँ उसकी हर अभिलाषा सुहागन है। मुनिश्री न रुढ़िवादी हैं, न परम्परा-भक्त; वे विशुद्ध सत्यार्थी हैं। उनका विश्वास न आडम्बर है, न पाखण्ड में; उन्हें केवलज्ञान, सम्यग्ज्ञान चाहिए। उनकी साधना अनुभूति उसी पर केन्द्रित है; किन्तु उनके चिन्तन की उदारता व्यक्ति, समाज, मुक्त और सारे संसार को छू लेती है, एक विश्वधार्मिक स्वस्थ वातावरण में कस लेती है।

व्यक्तिधर्म से लेकर लोकधर्म की सारी परिभाषाएँ मुनिश्री के व्यक्तित्व में समायी हुई हैं। उनसे भेंट का मालब ही विश्वधर्म से हुई परमपावनी मुलाकात से है। यदि आप जानना चाहते हों कि विश्वधर्म क्या है, तो मुनिश्री के विचारों का सम्पूर्ण एकाग्रता में आचमन कीजिए और एक विलक्षण आत्मस्फूर्ति में विश्वधर्म की अनुभूति कर लीजिए। जब परिभाषाएँ की जाती हैं तब

जीवन बड़ी स्थूल यात्रा कर रहा होता है; किन्तु जब परिभाषा आचरण में अनुगुंजित होती है, तब यात्रा अपने अत्यन्त सूक्ष्म और प्रभावी दौर में होती है। मुनिश्री का सम्पूर्ण जीवन इसी तरह की मंगल यात्रा है। उनसे आप पूछें ही क्यों, उन्हें गौर से देखें कि वे क्या कर रहे हैं! इस देखने में ही आप जैनधर्म के मूल रूप को, विश्वधर्म की वर्णमाला को जान जाएँगे। बात यह है कि जो ऊलजलूल सवालों में जोते हैं, उनके मन में ले होते हैं, वे किसी बात को ताड़ने जाते हैं। उनकी नीयत में खोट होती है; किन्तु जो गंगाजल पीने जाता है, वह अजलियाँ भर-भर उसे सम्पूर्ण निष्ठा और तृप्ति में पीता है, उसका रसास्वाद लेता है; किन्तु जो पुण्यतोषा गंगा की जाच करने जाते हैं, उन्हें उसका कोई स्वाद नहीं मिलता; वक्त जाता है, शक्ति डूबती है। मुनि श्री गंगा की पतितपावनी जलधारा है, बिलकुल “गूँगे के गुड” अनुभूतिगम्य। जानना ही तो साधना करो, स्वच्छ बनो और जानो; नहीं जानना ही तो गंगा की धार को आगे बढ़ने से भला कौन रोक सकता है!

मुनिश्री शास्त्रज्ञ हैं। उन्होंने शास्त्र-सिन्धु का महा-मंथन किया है। उनके प्रवचन अमृतकलश हैं उस महा-मंथन के। बात-बात में खूब गहरे जाना उनका स्वभाव है। मनोविनोद भी और जीवन की झल गहराई भी, उनके बोलने और जीने में देखी जा सकती है। वे शिशु से सरल, शिशु से प्रश्नवान, और शिशु से प्रतिपल उत्कण्ठित रहते हैं। शंका का अद्भुत सारस्य उनके व्यक्तित्व का अविभाजी अंग है। उन्हें वृद्धों में वह रस नहीं मिलता जो बच्चों में मिल जाता है। इसलिए वे बच्चों से बतरस करते हैं, उनकी सरल-निश्छल मुस्कराहट का स्वयं आस्वाद करते हैं, और फिर उपस्थितों पर उस खजाने को उलीच देते हैं। बच्चों से उन्हें ताजगी मिलती है; लगता है वे अंग्रेजी की इस कहावत के मर्म को जानते हैं—“चाइल्ड इज द फादर आफ मैन”। शास्त्र की शुष्कता को शिशुसुलभ सौन्दर्य, सारस्य, निर्बेर और नैश्छल्य के रस में शराबोर करना मुनिश्री के व्यक्तित्व का बड़ा आकर्षक भाग है।

मुनिश्री एक राष्ट्रीय समन्वय-सेतु हैं। उनका जन्म

कर्नाटक प्रदेश के वेलगांव जिले के शेडवाल ग्राम में २२ अप्रैल, १९२५ को हुआ। सुरेन्द्रकुमार से पार्श्वकीर्ति और पार्श्वकीर्ति से मुनिश्री विद्यानन्द उनकी साधना के सोपान हैं; ब्रह्मचर्य, क्षुल्लक-जीवन और अब परम दिगम्बरत्व। कन्नड, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, मराठी, अंग्रेजी और नामालूम कितनी भाषाओं के जानकार वे हैं। उस दिन जब जापानी के कुछ पर्यटक उनसे मिलने आये तो वे जापान के बारे में जानने के लिए बालक से ललक उठे। जापान तो जापान, जापानी की सांस्कृतिक और धार्मिक शब्दावली तक उन्होंने जान ली इस बीच। वे जो भी भाषा जानते हैं या सीखते हैं, उनका उद्देश्य मात्र ज्ञान होता है। वे भाषा द्रोह को मानवता का, राष्ट्रीय चिन्तन का बहुत उथला तल मानते हैं। माध्यम की अपेक्षा लक्ष्य पर ही उनका ध्यान बना रहता है, किन्तु साधन को भी प्रतिपल निर्मल देखना उनकी साधना का उज्ज्वलतम पक्ष है। उनकी मूल्यवान् कृति “पिच्छ-कमण्डलु” इस दृष्टि से उनके विचारों का नवनीत है। वह एक संकलनीय कृति है; ज्ञान से परिपूर्ण, दिशा-दृष्टि देने में समर्थ।

मुनिश्री परमार्थ पुरुष हैं। उनमें दक्षिण और उत्तर, व्यवहार और निश्चय, लोककल्याण और आत्मकल्याण, व्यक्ति और विश्व, अनेकान्त और स्याद्वाद, यानी विश्लेषण और संश्लेषण एक साथ स्पन्दित हैं। इस दृष्टि से उनके प्रवचन ज्ञान के अतलांत समुद्र है; जहाँ विद्वान् को अधिक विद्वता; और एक ओर आदमी को सही जीवन-दिशा मिल जाती है; वह भ्रम उठता है मुनिश्री के जीवनदायी संकेतों पर। वे धार्मिक हैं, वैश्विक हैं, राष्ट्रीय हैं; जुदा जुदा और युगपत्। आँख चाहिए, वे उसके लिए परम दृष्टि हैं; आलोक के लिए आलोक, उज्ज्वलता के लिए उज्ज्वलता, पावनता के लिए पावनता के अजस्र स्रोत है मुनिश्री विद्यानन्द।

एक दिन मैं उनके मनोतट पर अपनी नौका लगा बैठा। यही शाम के कोई पाँच बजे होंगे। एकान्त था। एक बड़ो इमारत, आस-पास चहल पहल; किन्तु भीतर से बिल्कुल शान्त। मैंने मुनिश्री से कहा—“तीर्थङ्कर” मे कुछ कम और सीधो-सरल रेखाओं वाले चित्र छापना

चाहता हूँ। ‘सरल रेखाएँ—आज के जमाने में कौन डालेगा भला, खर लाइये, देखें क्या कुछ किया जा सकता है।’ उन्होंने एक कागज उठाया और लगे लिखने एक चित्र। आहार-मुद्रा, पिच्छी, कमण्डलु। कम रेखाएँ, अधिकाधिक भावाभिव्यंजन। मैं स्तब्ध रह गया। सोचने लगा—ये मुनि हैं, महामुनि हैं; जीवन के चित्रकार हैं, मुक्ति के शिल्पी हैं; मानवता के चितरे हैं, आखिर है क्या? मुनिश्री सब हैं, कुछ भी नहीं हैं; उनमें वस्तुतः शून्य की विराटता प्रकट हुई है। कुछ लोग आते हैं, उन्हें अंक से पूर्व रख ले जाते हैं, कुछ उन्हें अंक के बाद रख कर दस, सौ, हजार, लाख गुना होकर आते हैं; मुनिश्री हैं, आप चाहे जो उनमें से हों; गंगा का तट है, जल का स्वाद अलग-अलग अनुभूतियों में अलग-अलग हो सकता है। वैसे गंगा की धारा है, उसे आपकी वैयक्तिकता से कोई सरोकार नहीं है। ऐसे है योगेश्वर मुनिश्री विद्यानन्द।

संयोगितागंज (इन्दौर) की बात है। तब वे वहाँ के मन्दिर में विराजमान थे। मूर्तियों का प्रसंग आया, तो वे खड़े हो गये; और मन्दिर की सारी मूर्तियों तक घुमा लाये। इस बीच उन्होंने बताया कि मूर्ति कैसी होनी चाहिए? दर्शक की नेत्र-मुद्रा और मूर्ति की मुख-मुद्रा में कैसा साम्य होना चाहिए? मूर्तियों की शिल्प-रचना क्या है? उनके कितने प्रकार हैं? इत्यादि। सारी बातें और इतने विस्तार से जानकर मैं दंग रह गया और मन-ही-मन कहने लगा “किसव कहि न जाइ का कहिये।” मुनि हो तो ऐसा, मन ने महसूस किया, जो भीतर से परम साधक और बाहर से विशुद्ध तपस्वी; आठों याम तपस्वी; पूर्ण स्व-अर्थों स्वार्थीरिधे भर भी नहीं; परमार्थ ऐसा कि जो हर बार मिल रहे परम स्वाद को निरन्तर अकृपणभाव से वाट रहा है। जो इस रहस्य को सतत जान रहा है कि ज्ञान जितना बँटेगा, उतना बढ़ेगा, भंजेगा और निर्मल होगा। इस तरह मुनिश्री ज्ञान के अतल पारावार है, ज्ञान सुमेरु हैं।

उनका अध्ययन गहरा है। वे जिस सूत्र को पकड़ते हैं उसे अन्त तक खोजते हैं। राम को लें, राम कथा को लें। इसे उन्होंने १८ भाषाओं में से जाना है; इसीलिए सीता का, राम का जो चरित्र उनके मुह से सुनने को

मिलता है, अन्वय दुर्लभ है। चित्त करुणा में अवगाह उठता है। दक्षिण के राम, उत्तर के राम, पूरब के राम, पश्चिम के राम; सब ओर की रामता-अभिरामता उनमें समायी हुई है। न उन्हें पूरब की बुराइयों का मोह है, न पश्चिम की अच्छाइयों से कोई द्रोह। अच्छाई को वे जीवन की हर खिड़की से आने देना चाहते हैं। जहाँ भी जीवन की रोशनी देनेवाला कोई तत्त्व दिखायी देता है, वे उसकी अगवानी में पलक-पावड़े बिछा देते हैं, उनके अभिनन्दन में समाज को प्रेरित करते हैं। उनका कर्तृत्व महान है, उनका जीवन समर्पित है आत्मा की अनन्त यात्रा में, और इसी बीच उनकी प्याऊ में जो भी पिपासु पहुँच जाता है, उसे अनन्त तृप्ति का वरदान अनायास ही मिल जाता है; जो भी व्यथित-तृषित वहाँ उन तक पहुँचता है, उसके मन के सारे घाव भर जाते हैं उनकी चन्दन-चर्चा से।

इस लेख का अन्त हम तरुण पत्रकार श्री गजानन्द डेरोलिया के इस लेखांश से करना चाहेंगे : “दिल्ली में एक बार मुनिश्री के दर्शनों के लिए जापान के छात्रों का एक दल आया। छात्रों में से एक ने कहा—“हमारे यहाँ तो धर्म-अधर्म का कोई भेद ही नहीं है।” मुनिश्री ने

बड़ी आत्मीयता से कहा—“नहीं हर व्यक्ति धर्म और अधर्म में फर्क करता है; तुम स्वयं भी धर्म को अच्छा मानते हो अधर्म को बुरा।” छात्र ने प्रत्युत्तर में कहा—“जब मैं बराबर यह कह रहा हूँ कि मेरा धर्म में कोई विश्वास नहीं है फिर आप यह कैसे कहते हैं?” मुनिश्री ने पूछा—“यदि कोई तुम्हारे सिर पर लाठी मारे तो तुम्हें कैसा लगेगा?” छात्र ने तुरन्त जवाब दिया—“बहुत बुरा।” “और यदि फिर कोई तुम्हारी मरहम-पट्टी के लिए अस्त्राल ले जाए तो?” छात्र ने सहज ही उत्तर दिया—“वह तो अच्छा लगेगा ही।” मुनिश्री ने, सूत्र पकड़कर स्पष्ट किया कि “पहला कृत्य अधर्म है दूसरा धर्म।” जापानी छात्र-दल धर्म की इस स्वाभाविक परिभाषा को पाथेय के रूप में लेकर लौट गया। इस तरह मुनिश्री का एक रूप जीवन के सदर्थों और मूल्यों को नयी व्याख्या देने का भी है। वे वर्तमान के प्रति सतर्क भविष्य के प्रति आशावान और अतीत के प्रति आस्थावान हैं।

इसलिए उनके इस जन्म दिन पर उन जैसे परम योगेश्वर को, जो युद्ध-संतप्त विश्व की आँखों में अनेकान्त का अजन आँज रहा है, मेरे कोटि-कोटि प्रणाम !!

चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज का सौवां जन्म दिन

समारोहपूर्वक मनाइये

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव के मंगलाचरण की इस पुण्य वेला में चारित्र चक्रवर्ती महा-मुनि आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज की जन्म शताब्दी का उपस्थित होना एक भाग्यशाली संयोग है। सर्व विदित है कि आचार्य श्री दिगम्बर श्रमण-परम्परा के विशाल कल्पतरु थे, जिन्होंने आधुनिक जीवन की विषमताओं, असंगतियों और अन्तर्विरोधों से दिगम्बर जैन आचार्य परम्परा का अभिरक्षण किया था और युगानुरूप शिष्य-परम्परा का प्रवर्तन किया था। यही कारण है कि उनकी तेजस्विनी शिष्य-परम्परा आज जैनधर्म की सूत्रधार

बनी हुई है। ऐसे नित्य प्रणम्य आचार्य श्रेष्ठ की जन्म शताब्दी आषाढ़ कृष्ण ६ वी० नि० सं० २४९९ से आषाढ़ कृष्ण ५ वी० नि० सं० २५०० के मध्य सम्पन्न होगी। इसे पूरे पुरुषार्थ और प्रभाव के साथ मनाने की आवश्यकता है ताकि वर्तमान पीढ़ी में मुनि-परम्परा के प्रति एक नयी आस्था प्रवर्तित हो और जैन-समाज को संस्कार की एक नयी दिशा मिल सके।

आचार्य श्री न केवल एक साधनावान महामुनि थे वरन् जैन तत्त्व-संस्था थे। उन्होंने सम्पूर्ण देश की मंगल-यात्रा की थी। हम भाग्यशाली हैं कि आचार्य श्री द्वारा

प्रवर्तित शिष्य-परम्परा कई उपसर्गों और विपदाओं के मध्य भी साधु-परम्परा को अबाध-अक्षुण्ण बनाये हुए है।

अतः इस महान् परमपूज्य व्यक्तित्व को श्रद्धांजलि अर्पित करने के निमित्त निम्नांकित कार्यक्रम मनाने का निवेदन है :—

१. जहाँ-जहाँ आचार्य श्री ने मंगल विहार किया है, या वर्षावास सम्पन्न किया है, वहाँ उनकी पावन-पुनीत स्मृति में 'शान्ति-स्तम्भ' निमित्त किये जाएँ। स्तम्भ की शिल्पाकृति (ब्ल्यू प्रिंट) भगले पल्लवाड़े भलग से भेजी जाएगी।

२. आषाढ कृष्ण ६, २२ जून, १९७३, गुरुवार आचार्य श्री का १००वाँ जन्म दिन होने के साथ ही तीर्थ-ङ्कर वासुपूज्य की गर्भकल्याणक तथा तीर्थङ्कर बिमलनाथ की मोक्ष तिथि भी है अतः इस दिन एक विशाल प्रभातफेरी निकाली जाए, जो एक प्रार्थना-सभा का रूप ग्रहण कर 'शान्ति-स्तम्भ' स्थल पर विसर्जित हो।

३. इस दिन सायंकाल 'शान्ति-सभाएं' की जाएँ जिनमें आचार्य श्री के व्यक्तित्व और कृतित्व के विषय में अधिकारी विद्वानों के व्याख्यान रखे जाएँ।

इन कार्यक्रमों को सारे देश में व्यापक रूप में उत्साह पूर्वक सम्पन्न किया जाए और तत्सम्बन्धी समाचारों को देश के सभी पत्रों में प्रचारित किया जाए। अपने-अपने क्षेत्रों के आकाशवाणी केन्द्रों को भी सपारोह सम्पन्न होने के सक्षिप्त सवाद भेजे जाएँ।

ऊपरमुझाये गए कार्यक्रमों के अतिरिक्त श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर के तत्वावधान में निम्नांकित विशेष आयोजन रखे गए हैं :—

१. श्री वीर निर्वाण विचार सेवा, वर्ष २, अंक ३ के अन्तर्गत आचार्य श्री के व्यक्तित्व, योग और आचार्यत्व पर लेख बितरित किये जाएँगे, जिन्हें देश की पत्रपत्रिकाएं प्रकाशित करेंगी। (जो भी व्यक्ति

आचार्य श्री से सम्बन्धित सामग्री भेजना चाहें, अवश्य किन्तु अविलम्ब भेजें)।

२. आचार्य श्री के जीवन-प्रसंगों तथा चित्रों पर आधारीत एक विशाल प्रदर्शनी का आयोजन होगा। प्रदर्शनी के तीन अनुभाव होंगे :—

(क) आचार्य शान्तिसागर जी के चित्र (विविध स्थानों से, विविध मुद्राओं में)।

(जो भी संस्थाएं, व्यक्ति, पत्र-पत्रिकाएं आचार्य श्री के चित्र, उनकी कृतियाँ, विशेषांक समिति को प्रेषित करेंगी—समिति उनका आभार मानेगी और उन्हें आवश्यक डाक व्यय देगी)।

(ख) वर्तमान में जो मुनिगण हैं उनके चित्रों की प्रदर्शनी (कृपया चित्रों के साथ मुनियों की जन्म तिथि, दीक्षा तिथि तथा जन्म-स्थान अवश्य भेजें)।

(ग) आचार्य श्री की कृतियों तथा हस्तलेखों की फोटोस्टेट प्रतियों का प्रदर्शन।

उक्त सदर्भ में समस्त महानुभावों से विनम्र निवेदन है कि वे हमारे इस बृहत् आयोजन में हमारी सहायता करें और आचार्य श्री से सम्बन्धित सामग्री, बाबूलाल पाटोदी, मन्त्री, श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, ४८, सीतलामाता बाजार, इन्दौर ४५२ ००२ के पते पर २० मई, १९७३ तक अवश्य भेजने की कृपा करें। प्रदर्शनीय सामग्री के साथ संकलनकर्ता, फोटोग्राफर तथा प्रेषक के स्पष्ट नाम-रते दिये जाएँ ताकि उसका यथोचित अंकन प्रदर्शन किया जा सके। सामग्री सुरक्षित लौटायी जा सकेगी।

हमें विश्वास है, उपर्युक्त आयोजन को सफल बनाने में हमें ससाज के लेखकों, पत्रकारों तथा आयोजकों का व्यापक हार्दिक सहयोग प्राप्त होगा, तथा सम्पूर्ण राष्ट्र में आचार्य श्री की जन्म शताब्दी अभिनव उमंग, उत्साह और उत्साह के साथ मनायी जायेगी।

चन्देरी-सिरोंज (परवार) पट्ट

पं० फूलचन्द शास्त्री, वाराणसी

मूलसंघ नन्दि ग्राम्नाय की परम्परा में भट्टारक पञ्च-
नन्दी का जितना महत्वपूर्ण स्थान है, उनके पट्टधर भट्टा-
रक देवेन्द्रकीर्ति का उससे कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं है।
इनका अधिकतर समय गुजरात की अपेक्षा बुन्देलखंड में
और उससे लगे हुए मध्य प्रदेश में व्यतीत हुआ है।
चन्देरी पट्ट की स्थापना का क्षेत्र इन्हीं को प्राप्त है।
श्री मूलचन्द किशनदास जी कापड़िया द्वारा प्रकाशित
'सूरत और सूरत जिला दि० जैन मन्दिर लेख संग्रह'
संक्षिप्त नाम 'मूर्ति लेख संग्रह' के पृष्ठ ३५ के एक
उल्लेख में कहा गया है कि 'गंधार की गद्दी टूट जाने से
सं० १४६१ में भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने इस गद्दी को रावेर
में स्थापित किया। जिसे सं० १५१८ में भट्टारक विद्या-
नदी जी ने सूरत में स्थापित किया।' किन्तु अभी तक
जितने मूर्ति लेख उपलब्ध हुए हैं उनसे इस तथ्य की पुष्टि
नहीं होती कि श्री देवेन्द्रकीर्ति १४६१ में या इसके पूर्व
भट्टारक बन चुके थे। साथ ही उक्त पुस्तक में जितने भी
मूर्ति लेख प्रकाशित हुए हैं उनमें केवल इनसे सम्बन्ध
रखने वाला कोई स्वतन्त्र मूर्ति लेख भी उपलब्ध नहीं
होता। इसके विपरीत उत्तर भारत में ऐसे लेख अवश्य
पाये जाते हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि इनका लगभग
पूरा समय उत्तर भारत में ही व्यतीत हुआ था। यहाँ
हम ऐसी एक प्रशस्ति आगरा के एक जैन मन्दिर में स्थित
पुण्यास्रव (संस्कृत) हस्त लिखित ग्रन्थ से उद्धृत
कर रहे हैं। इसमें इन्हें भ० पद्मनन्दि का शिष्य स्वीकार
किया गया है। प्रशस्ति इस प्रकार है—

सं० १४७३ वर्षे कार्तिक सुदी ५ गुरुदिने श्री मूल-
संघे सरस्वतीगच्छे नन्दिसंघे कुन्दकुश्याचार्यान्वये भट्टारक
श्री पद्मनन्दी देवास्तच्छिष्य मुनिश्री देवेन्द्रकीर्तिदेवाः।
तेन निजज्ञानावर्णिकर्मक्षयार्थं लिखापितं शुभं।

इस लेख में इन्हें मुनि कहा गया है। इसके अनुसार

यह माना जा सकता है कि इस समय तक ये पट्टधर नहीं
हुए होंगे। किन्तु मुनि भी भट्टारकों के शिष्य होते रहे
हैं। इतना ही नहीं, मुनि दीक्षा भी इन्हीं के तत्त्वावधान
में दी जाने की प्रथा चल पड़ी थी। मेरा ख्याल है कि
वर्त्तमान में जिस विधि से मुनि दीक्षा देने की परिपाटी
प्रचलित है वह भट्टारक बनने के पूर्व भी मुनि दीक्षा का
ही रूपांतर है। इसी से उसमें विशेष रूप से सामाजि-
कता का समावेश दृष्टिगोचर होता है।

जो कुछ भी हो, उक्त प्रशस्ति से इतना निष्कर्ष तो
निकाला ही जा सकता है कि सम्भवतः उस समय तक
इन्होंने किसी भट्टारक गद्दी को नहीं सम्हाला होगा।
किन्तु 'भट्टारक सम्प्रदाय पृ० १६६ के देवगढ़ (ललितपुर)
से प्राप्त एक प्रतिमा लेख से इतना अवश्य ज्ञात होता है
कि वे वि० सं० १४६३ के पूर्व भट्टारक पद को अलङ्कृत
कर चुके थे।

देवगढ़ बुन्देलखंड में है और चन्देरी के समीकृत है।
साथ ही इनके प्रमुख शिष्य विद्यानन्दी परवार थे। इससे
ऐसा लगता है कि वि० सं० १४६३ के पूर्व ही चन्देरीपट्ट
स्थापित किया जा चुका होगा। फिर भी उनकी गुजरात
में भी पूरी प्रतिष्ठा बनी हुई थी और जनका गुजरात से
सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं हुआ था, सूरत पट्ट का प्रारम्भ
होना और उस पर उनके शिष्य विद्यानन्दी का अधि-
ष्ठित होना तभी सम्भव हो सका होगा।

भट्टारक सम्प्रदाय पुस्तक में चन्देरी पट्ट को जेरहट
पट्ट कहा गया है। वह ठीक नहीं है। हो सकता है कि
वह भट्टारकों के ठहरने का मुख्य नगर रहा हो। पर
वहाँ कभी भट्टारक गद्दी स्थापित नहीं हुई इतना सुनि-
श्चित प्रतीत नहीं होता।

विद्यानन्दी कब सूरत पट्ट पर अधिष्ठित हुए इसका
कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ। 'भट्टारक

सम्प्रदाय' पुस्तक में वि० सं० १४९९ से लेकर अधिकतर लेखों में से किसी में इनको देवेन्द्रकीर्ति का शिष्य, किसी में दीक्षिताचार्य, किसी में आचार्य तथा किसी में गुरु कहा गया है। परन्तु भावनगर के समीप स्थित घोघा नगर के सं० १५११ के एक प्रतिमा लेख में इन्हे भट्टारक अवश्य कहा गया है। यह प्रथम लेख है जिसमें सर्वप्रथम ये भट्टारक कहे गये हैं। इससे ऐसा लगता है कि सूरत पट्ट की स्थापना इसके पूर्व हो गई होगी।

यदि हमारा यह अनुमान सही हो तो ऐसा स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि चन्देरी पट्ट की स्थापना के बाद ही सूरत पट्ट की स्थापना हुई होगी। ऐसा होते हुए भी बुन्देलखंड और उसके आस-पास का बहु भाग चंदेरी मंडल कहा जाता था यह उल्लेख वि० सं० १५२२ के पूर्व के किसी प्रतिमा लेख में दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसमें चंदेरी मंडलाचार्य देवेन्द्रकीर्ति को स्वीकार किया गया है। यह प्रतिमा लेख हमें विदिशा के बड़े मन्दिर से उपलब्ध हुआ है। पूरा लेख इस प्रकार है—

संवत् १५३२ वर्षे वैशाख सुदि १४ गुरौ श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे नंदिसंघे कुंदकुदाचार्यान्वये भ० श्री प्रभाचन्द्रदेव त० श्री पद्मनन्दिदेव त० शुभचन्द्रदेव भ० श्री जिनचन्द्रदेव भ० श्री सिंहकीर्तिदेव चंदेरी मंडलाचार्य श्री देव्यद्रकीर्तिदेव त० श्री त्रिभुवनकीर्तिदेव पौरपट्टाव्ये अष्टान्वये सारवन पु० समवेतस्य पुत्र रउत पाये त० पुत्र सा० अर्जुन त० पुत्र सा० नेता पुत्र सा० वीरजु भा० विरजा पु० सघं सघ तु भा०.....संघे.....सर्ग।

ठीक इसी प्रकार का एक लेख कारंजा के एक मन्दिर में भी उपलब्ध हुआ है। इसके पूर्व जिनमें चंदेरी मंडल का उल्लेख है ऐसे दो लेख वि० सं० १५३१ के गंज वासीदा और गुना मन्दिरों के तथा दो लेख वि० सं० १५४२ के भी उपलब्ध हुए हैं। किन्तु वि० सं० १५३१ को चंदेरी मंडल की स्थापना की पूर्वावधि नहीं समझनी चाहिए। कारण कि ललितपुर के बड़े मन्दिर से प्राप्त वि० सं० १५२५ के एक प्रतिमा लेख में त्रिभुवनकीर्ति को मंडलाचार्य कहा गया है। इसमें भ० देवेन्द्रकीर्ति का नामोल्लेख नहीं है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वि० सं० १५२५ के पूर्व ही त्रिभुवनकीर्ति चंदेरी पट्ट पर अभि-

षिक्त हो गये थे। साथ ही यहाँ भ० जिनचन्द्र और भ० सिंहकीर्ति की भी आम्नाय चालू थी यह भी इससे पता लगता है। पूरा लेख इस प्रकार है—

संवत् १५२५ वर्षे माघ सुदि १० सोमदिने श्री मूलसंघे भट्टारक श्री जिनचन्द्रदेवस्तत्पट्टे भट्टारक श्री सिंहकीर्तिदेव मंडलाचार्य त्रिभुवनकीर्तिदेवा गोलापूर्वान्वये सा० श्री तम तस्य भार्या सघ इति।

इसके पूर्व बड़ा मन्दिर चंदेरी में भ० त्रिभुवनकीर्ति द्वारा प्रतिष्ठित वि० सं० १५२२ की एक चौबीसी पट्ट और है। इससे पूर्व के किसी प्रतिमालेख में इनके नाम का उल्लेख नहीं हुआ है। इससे मालूम पड़ता है कि वि० सं० १५२२ के आस-पास के काल में ये पट्टासीन हुए होंगे। यतः भ० देवेन्द्रकीर्ति भी चंदेरी मंडल के मंडलाचार्य रहे हैं, अतः सर्वप्रथम वे ही चंदेरी पट्ट पर आसीन हुए होंगे यह स्पष्ट हो जाता है। वि० सं० १५२२ का उक्त प्रतिमा लेख इस प्रकार है—

स० १५२२ वर्षे फाल्गुन सुदि ७ श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुदाचार्यान्वये भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्ति त्रिभुवण . ति.....।

मानपुरा के बड़े मन्दिर के शास्त्र भंडार में शान्तिनाथ पुराण की एक हस्तलिखित प्रति पाई जाती है। उसके अन्त में जो प्रशस्ति अंकित है उसमें देवेन्द्रकीर्ति आदि की भट्टारक परम्परा को मालवाधीश कहा गया है। यह भी एक ऐसा प्रमाण है जिससे स्पष्टतः इस तथ्य का समर्थन होता है कि चंदेरी पट्ट के प्रथम भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ही रहे होंगे। इससे मालूम पड़ता है कि चंदेरी पट्ट को मालवा पट्ट भी कहा जाता था। उक्त प्रशस्ति इस प्रकार है—

अथ सवत्सरे ऽस्मिन् नृपतिविक्रमादित्यराज्ये प्रवर्तमाने सं० १६६३ वर्षे चैत्र द्वितीय पक्षे शुक्ले पक्षे द्वितीया दिने रविवासरे.....सिरोंजनगरे चन्द्रप्रभ चैत्र्यालये श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्री कुंदकुदाचार्यान्वये तत्परंपरायेन मालवादेशाधीश भट्टारक श्री श्री देवेन्द्रकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भट्टारक श्री त्रिभुवनकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० श्री सहस्रकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० श्री पद्मनन्दिदेवा तत्पट्टे भ० श्री जसकीर्ति नामधेया तत्पट्टे

भ० श्री श्री ललितकीर्तिदेवाः ततिशष्य ब्रह्म बालचन्द्रमिदं ग्रन्थ लिख्यत स्वपठनार्थ ।

सिरोंज के टोरीका वि० जैन मन्दिर में वि० स० १६८८ का एक प्रतिमा लेख है। उसमें चंदेरी पट्ट के सहस्रकीर्ति के स्थान में रत्नकीर्ति और पद्मनन्दी के स्थान में पद्मकीर्ति यह नाम उपलब्ध होता है। भ० ललितकीर्ति के शिष्य भ० रत्नकीर्ति ने प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई थी। उसका प्रतिमालेख इस प्रकार है—

सं० १६८८ वर्षे फाल्गुन सुदि ५ बुधे श्री मूलसधे बलात्कारणने सरस्वतीगच्छे कुदकुंदाचार्यान्वये भ० श्री देवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्री त्रिभुवनकीर्तिदेवा तत्पट्टे श्री रत्नकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री पद्मकीर्ति देवा तत्पट्टे भ० यशकीर्तिदेवा तत्पट्टे भ० श्री ललितकीर्ति रत्नकीर्ति-देवा तस्यो.....मालवादेशे सरोजनगरे। गोलाराड-चैत्यालये गोलापूर्वाङ्गवये तस्यप्रतिष्ठाया प्रतिष्ठितं ।

यहाँ के दो प्रतिमालेखों में भ० रत्नकीर्ति को मंडलेश्वर और मंडलाचार्य भी कहा गया है। लेख इस प्रकार है—

सं० १६७२ फाल्गुन सु० ३ मूलसधे भ० श्री ललितकीर्ति तत्पट्टे मंडलाचार्य श्री रत्नकीर्त्युपदेशात् गोलापूर्वाङ्गवये स० सनेजा.....।

ये कहाँ के मंडलाचार्य थे यह नहीं ज्ञात होता है। ये भी भ० ललितकीर्ति के पट्टधर थे यह 'भट्टारक सम्प्रदाय' पुस्तक से भी ज्ञात होता है। इनके पट्टधर चन्द्रकीर्ति थे इसके सूचक दो प्रतिमालेख यहाँ भी पाये जाते हैं।

चंदेरी पट्ट के भट्टारको की सूची इस प्रकार है—
१. देवेन्द्रकीर्ति, २. त्रिभुवनकीर्ति, ३. सहस्रकीर्ति, ४. पद्मनन्दी, ५. यशकीर्ति, ६. ललितकीर्ति, ७. धर्मकीर्ति, ८. पद्मकीर्ति, ९. सकलकीर्ति और सुरेन्द्रकीर्ति। जान पड़ता है कि सुरेन्द्रकीर्ति चंदेरी पट्ट के अन्तिम भ० थे। इसके बाद यह पट्ट समाप्त हो गया।

भट्टारक पद्मकीर्ति का स्वर्गवास वि० स० १७१७ मार्गशीर्ष सुदि १४ बुधवार को हुआ था ऐसा चंदेरी खंदार में स्थित उनके स्मारक से ज्ञात होता है। सम्भवतः इसके बाद ही इनके पट्ट पर भ० सकलकीर्ति आसीन हुए होंगे। 'भट्टारक सम्प्रदाय' पु० पृ० २०५ में वि० स० १७१२ और वि० स० १७१३ के लेखों में इनके नाम के

जो दो लेख संगृहीत किये गये हैं वे दूसरे सकलकीर्ति होने चाहिए। मैंने चंदेरी और सिरोंज दोनों नगरों के भी वि० जिनमन्दिरों के प्रतिमालेखों का अवलोकन किया है। पर भ० सुरेन्द्रकीर्ति द्वारा प्रतिष्ठापित कोई मूर्ति या यंत्र मेरे देखने में ही नहीं आया। हो सकता है इनके काल में कोई पंचकल्याणक प्रतिष्ठा न हुई हो।

उक्त दोनों नगरों के मूर्तिलेखों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि भ० धर्मकीर्ति के दूसरे शिष्य भ० जगत्कीर्ति थे। सम्भवतः सिरोंज पट्ट की स्थापना इन्हीं के निमित्त हुई होगी। इनका दूसरा नाम यशकीर्ति भी जान पड़ता है। इनके पट्टधर त्रिभुवनकीर्ति और उनके शिष्य भ० नरेन्द्रकीर्ति थे। नरेन्द्रकीर्ति के पट्टाभिषेक का विवरण सिरोंज के एक गुटिका में पाया जाता है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

मुनिराज की दिक्ष्याकी परभाव । श्रावक सब मिल आनिके जैसी कियो चाउ ॥६॥ धनि नरेन्द्रकीर्ति मुनिराई । भई जग में बहुत बढ़ाई ॥ जहाँ पौरपट्ट सुखदाई । परबार वंस सोई आई ॥ बहुरिया मूर तहाँ साई । धनि मथुरामल्ल पिलाई ॥ माता नाम रजौती कहाई । जाके है धनश्याम से भाई ॥ तप तेज महामुनि राई : कापे महिमा वरनी जाई ॥ ॥ कहा कहीं मुनिराज के गुणगण सकल समाज । जो महिमा भविजन करे भट्टारक पदराज ॥ भट्टारक पदराज की कीरति सकल भवि आई । अलप बुद्धि कवि कहा कहै बुधिजन थकित रहाई ॥ विधि अनेक सो सहर सिरोंज में भयो पट्ट अपना चारु । सिधई माधवदास भवन ते निकसे महा महोच्छव सारु ॥

यहाँ से वस्त्राभूषण से सुसज्जित कर चाँदा सिधई के देवालय में ले गये। वहाँ सब वस्त्राभूषण उतार कर केश-लोंच कर मुनिदीक्षा ली। उस समय १०८ कलश से अभिषेक किया। सर्वप्रथम भेलसा के पूरनमल्ल बड़कुर आदि ने किया।.....

जगत्कीर्ति पद उधरन त्रिभुवनकीर्ति मुनिराई ।

नरेन्द्रकीर्ति तिस पट्ट भये गुलाल ब्रह्म गुन गाई ॥

शुभकीर्ति, जयकीर्ति, मुनि । उदयसागर, ब० परस राम, ब० भयासागर, रूपसागर, राम श्री आर्यिका, ३

षिमीनी, चन्द्रामती, पं० रामदास, पं० जगमनि, पं० घन-
श्याम, पं० बिरधी, पं० मानसिंह, पं० जयराम-वरगसेनि
भाई दोनों, पं० मकरंद, पं० कपूरे, पं० कल्याणमणि ।

संवत् सत्रह सै चालिस अन इक तहें मयो ।

उज्ज्वल फागुन मास दसमि सो मह गयो ॥

पुनरवसू नक्षत्र सुद्ध दिन सोदयो ।

पुनि नरेन्द्रकीरति मुनिराई सुभग संजम लह्यो ।

वि० सं० १७४६ माघ सुदि ६ सोमवार को चांद-
खेड़ी में हाड़ा माधोसिंह के अमात्य श्री कृष्णदास बघेर-
वाल ने ग्रामेर के भट्टारक श्री जगत्कीर्ति के तत्वावधान
में वृद्धांच कल्याणक प्रतिष्ठा कराई थी । उसमें चंदेरी
पट्ट के भट्टारक श्री सुरेन्द्रकीर्ति भी सम्मिलित हुए थे ।
इस सम्बन्ध की प्रशस्ति चांदखेड़ी के श्री जिनालय से
प्रदेश द्वार के बाहर बरामदे के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण
है । उसमें चंदेरी, सिरोंज और विदिशा (भेलसा) पट्ट को
परवारपट्ट कहा गया है । उसका मुख्य अंश इस प्रकार है—

॥१॥ संवत् १७४६ वर्षे माह सुदि ६ षष्ठ्यां चन्द्र-
वासराश्विनायां श्री मूलसंधे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे
कुंदकुंदाचार्यान्वये सकलभूमंडलबलैकभूषण सरोजपुरे तथा
चेदिपुर-भहिलपुर.....वतंस परिवारपट्टान्वये भट्टारक
श्री धर्मकीर्तिस्तत्पट्टे भ० श्री पद्मकीर्तिस्तत्पट्टे भ०
श्री सकलकीर्तिस्तत्पट्टे ततो भट्टारक श्री सुरेन्द्रकीर्ति
तदुपदेशात्.....।

मालूम पड़ता है कि चंदेरी और सिरोंज भट्टारक-
पट्टों की स्थापना परवार समाज के द्वारा ही की जाती
थी, इस लिए इन पट्टों को परवार पट्ट कहा गया है ।
इस नामकरण से ऐसा भी मालूम पड़ता है कि इन दोनों
पट्टों पर परवार समाज के वाकित को ही भट्टारक बना
कर अधिष्ठित किया जाता था । सिरोंज के जिस पट्टा-
भिषेक का विवरण हमने प्रस्तुत किया है उससे भी इसी
लक्ष्य की पुष्टि होती है । विदिशा में कोई स्वतन्त्र भट्टा-
रकगद्दी नहीं थी । किन्तु वहाँ जाकर भट्टारक महीनों
निवास करते थे और वह मुख्यरूप से परवार समाज का
ही निवास स्थान रहा चला आ रहा है, इसलिए उक्त
प्रशस्ति में महलपुर (विदिशा) का भी समावेश किया
गया है ।

चंदेरी पट्ट की अपेक्षा उत्तर काल में सिरोंज पट्ट
काफी दिनों तक चलता रहा । इसकी पुष्टि त्रिगुना के
दि० जैन मन्दिर से प्राप्त इस यंत्र लेख से भी होती है ।
यंत्र लेख इस प्रकार है—

सं० १८७१ मासोत्तममासे माघमासे शुक्लपक्षे तिथी
११ चन्द्रवासरे श्री मूलसंधे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे
कुंदकुंदाचार्यान्वये सिरोंजपट्टे भट्टारक श्री राजकीर्ति
आचार्य देवेन्द्रकीर्ति उपदेशात् श्याति परिवारि राउल
ईडरीमूरी चौधरी घासीरामेन इव यंत्रं करापितं ।

सिरोंजपट्ट के ये अन्तिम भट्टारक जान पड़ते हैं । ★

श्रीमती शान्ता भानावत को पी. एच. डी. की उपाधि

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ने श्रीमती शान्ता भानावत को उनके शोध प्रबन्ध
'ढोला-मारू रा दूहा का अर्थ वैज्ञानिक अध्ययन' पर इस वर्ष पी-एच. डी. की उपाधि प्रदान
की है । 'ढोला-मारू रा दूहा' राजस्थान के मध्य युगीन लोक जीवन का प्रतिनिधि काव्य है ।
इसे जैन कवि कुशललाभ ने चौपाई बद्ध भी किया । श्रीमती भानावत ने अपने शोध प्रबन्ध
में 'ढोला मारू रा दूहा' में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ परिवर्तन के कारणों और अर्थ परिवर्तन की
दिशाओं का ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक और भाषा-
वैज्ञानिक परिपाश्व में विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है । इस ग्रंथ से राजस्थानी के कई
विशिष्ट शब्दों की विकास यात्रा का अच्छा परिचय मिलता है । श्रीमती भानावत राजस्थान
विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक एवं जैन संस्कृति को प्रतिनिधि मासिक पत्रिका 'जिन-
बाणी' के सम्पादक डा० नरेन्द्र भानावत की धर्मपत्नी हैं ।

भवदीय :

संजीव भानावत

सी-२३५ ए, तिलकनगर, जयपुर-४

भगवान् महावीर का समाज-दर्शन

डा० हुलभूषण लोखदे

आज लोग सत्य चाहते हैं, सत्य की उपासना करते हैं, सत्य को अर्घ्य अर्पण करते हैं, किन्तु क्या इस कर्म शून्य आचरण से वह उपलब्ध हो सकेगा।

भगवान् महावीर के धर्म-प्रवर्तन का मूल उद्देश्य दो प्रकार दिखायी देता है : (१) व्यक्ति और समाज की निर्दोष प्रस्थापना; (२) मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का अधिष्ठान। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति और समाज का गठन करते हुए उन्होंने व्यवहार-दृष्टि के साथ-साथ निश्चय-दृष्टि की स्थापना भी की। सारे जनाचार का धर्म ही जीवन को स्वच्छ और सबल बनाना है। जब हम समाज के संबंध में सोचते हैं, तब हमें लगता है कि व्यक्ति की प्रवृत्ति सदाचार और नीतिपूर्ण हो। भगवान् महावीर ने अपने काल में व्यक्ति और समाज के धर्म की ऐसी संहिता बनायी, कि जिससे मनुष्य उत्तरोत्तर अधिक ईमानदार, सहिष्णु और कर्तव्यनिष्ठ जीवन व्यतीत कर सके। इसलिए उन्होंने ऐसी विचारधारा प्रसूत की जिससे प्रत्येक व्यक्ति भोग और स्वार्थ के दृष्टिकोण से ऊपर उठे, फिर वह चाहे व्यापारिक, राजनैतिक, समाज का कोई प्रबुद्ध विद्वान् ही क्यों न हो? इस तरह उन्होंने प्रवर्तित किया कि धर्म के शुद्धाचरण के बिना किसी तरह की उन्नति सम्भव नहीं है।

भगवान् महावीर का युग कर्मकांड, मिथ्या आडम्बर तथा पापाचार से भरपूर था। तब समाज का दृष्टिकोण सही नहीं था। कहा जाता है शास्त्रों का ज्ञाता यदि विवेकहीन हो, और व्यक्ति का आचरण यदि विषय परायण हो तो समाज को कालिख लगती है। समृद्ध समाज को कालिख लगती है। समृद्ध समाज नीति-परायण होता है, इसलिए भगवान् महावीर ने समाज के उत्थान के लिए अगुव्रत की संहिता प्रस्थापित की; जिसमें क्षमा, सत्य, शीघ्र, कष्ट, मैत्री इत्यादि गुणों के विकास से

व्यक्ति और समाज की उन्नति सम्भव हो।

भगवान् महावीर के सामाजिक सिद्धान्तों के आलोचन से यह ज्ञात होगा कि मानव को अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की आवश्यकता है। जिस समाज में क्षमा, मार्दवादि दस धर्मों का पालन किया जाता है, उसमें सुदृढ़ता आती है। व्यक्ति और समाज में सामंजस्य रहे इसलिए भगवान् महावीर ने कहा कि क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से, और लोभ को शुचिता से जीतो। भगवान् महावीर के समाज में जाति, भाषा और वर्गदि भेद नहीं थे। वह समाज संप्रदाय की संकीर्णता से मुक्त था। भगवान् महावीर के समाज-दर्शन के मूल आधार इस प्रकार हैं—

अहिंसा

जहाँ क्रोध है वहाँ हिंसा है, और हिंसा है सबसे बड़ा पाप। इसलिए सर्वप्राणिमात्र संबंधि दया और समताभाव को अहिंसा कहा गया है। संसार में धर्म एक होता है, दो नहीं। अहिंसा सत्य का सबसे बड़ा आविष्कार है। सत्य एक होता है; उसमें भेद नहीं होते। हिंसा में भेद है, अहिंसा में नहीं। ऐसा कौन-सा सत्य है, जो अहिंसा से संबंधित है? वह है प्रेम। जहाँ प्रेम है, वहाँ दया है; जहाँ द्वेष है, वहाँ क्रूरता है। इसलिए अहिंसा ने मनुष्य में जीने के विश्वास को जन्म दिया। कोई सम्प्रदाय यह नहीं मानता कि हिंसा से शांति प्राप्त होती है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, “हिंसा राग द्वेष है, जहाँ राग-द्वेष है वहाँ समता नहीं, स्थिरता नहीं”। जीवन को समर्थ बनाने की क्षमता समता में है, क्षमा में है, दया में है और परोपकार में है।

आज समाज और राष्ट्र का जीवन सर्वत्र अशांत एवं विध्वस्त है। अनावश्यक संघर्ष में मृत्यु है, समन्वय में

जीवन । हिंसाचार मृत्यु का कारण है, अहिंसाचार जीवन का । मानव-समाज आज युद्धोन्मुख है । यह आत्म-प्रवंचना की स्थिति है । आत्मा की अटूट शक्ति समत्व है, और आज के आदमी को उसमें विश्वास नहीं है, इसलिए वह दुःखी है । भगवान् महावीर को 'जिन' कहते हैं; क्योंकि उन्होंने अहिंसा के शत्रु राग और द्वेष, लोभ और असयम को जीता है । अहिंसा एक ऐसी शक्ति है जो मानव का विकास करने में उपकारक है अतः जब तक कोई समाज अपने दुर्गुणों का त्याग नहीं करता और सद्गुणों की राह नहीं चलता तब तक अशान्ति बनी हुई है । हमें चाहिए कि हम अहिंसा के सिद्धान्त पर दृढ़ श्रद्धा रखें । श्रद्धा के बिना ज्ञान नहीं, और ज्ञान के बिना आचरण सार्थक नहीं । इसलिए अहिंसा की मूल भावना क्या है । यह समझना चाहिए । जीने की दो शैलियाँ सम्भव हैं—एक खुद के लिए, और एक दूसरे के लिए । जीना सभी चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, चीटी हो, या स्वर्ग का देवता हो । जीने के इस सिद्धान्त से अहिंसा का प्रत्यक्ष संबंध है । कोई यह समझे कि हम तो जियें और दूसरे की चिंता न रखें; तो वह अहिंसा का परिपालक नहीं कहला सकेगा । जहाँ निर्बल प्राणियों के प्रति दया का भाव है, वहाँ अहिंसा का प्रारम्भ है । अहिंसा के इस सिद्धान्त में कोई दबाव नहीं है । जहाँ अत्याचार होता है, वहाँ हिंसा अवश्य आती है । अहिंसा कानून से नहीं आ सकती, क्योंकि वह आत्मा की शक्ति है । कोई यह समझे कि दबाव से अहिंसा का पालन होगा तो यह सम्भव नहीं । अहिंसा शरीर का गुण नहीं, आत्मा का गुण है । वह अन्तःस्थ शक्ति है । 'जियो और जीने दो' अहिंसा का स्वर्णिम सूत्र है । इसलिए कहा गया है कि जीव-दया सब में श्रेष्ठ है, वह रत्नचिंतामणि की तरह फल देने वाली है । आज के विज्ञान-युग में अहिंसा की प्ररूपणा इसलिए आवश्यक है, क्योंकि इस युग ने शाश्वत जीवन-मूल्यों को कुचल दिया है । सत्य उसे नहीं दिखायी दे रहा है । सत्य तो श्रद्धावान की शक्ति है; वह दुर्बल का पुरुषार्थ नहीं है । इसलिए महात्मा गांधी ने उसे एक प्रबल शस्त्र समझा । स्पष्ट है, सुखी समाज के लिए अहिंसानिष्ठ जीवन-प्रणाली ही उपादेय होती है ।

सत्य

सत्य जीवन का मूलभूत तत्त्व है । भगवान् महावीर ने सत्य को केवल भाषण का ही विषय नहीं बताया, उन्होंने कहा—'जहाँ विषमता है वहाँ सत्य नहीं पलता' । जहाँ दारिद्र्य है वहाँ सत्य नहीं टिकता । सत्य जीवन है, और जीवन सत्य है । जिस में सत्य नहीं फिर वह चाहे व्यक्ति हो या समाज, व्यर्थ है । जहाँ सत्य की मृत्यु होती है, वहाँ वह एक बोझ बन जाता है । जहाँ वर्णभेद है, जहाँ जाति भेद है, जहाँ ऊँच-नीच है, वहाँ सत्य को स्थान कैसे मिले ? पन्थ और सम्प्रदायों ने सत्य को डुबो दिया । पन्थ का विचार सत्य नहीं, क्योंकि वह हृदय-दिता और दुराग्रह की परिणति है । जहाँ अंधश्रद्धा है वहाँ धर्म नहीं टिकता । धर्म का दूसरा नाम सत्य है । भगवान् महावीर की दृष्टि में सत्य की प्ररूपणा मन, वचन, क्रिया द्वारा की जाती है । केवल सत्य भाषण सत्य नहीं है, केवल सत्य क्रिया सत्य नहीं है, केवल सत्य चिंतन ही सत्य नहीं है । जहाँ आग्रह है, वहाँ एकान्त है । एक अंग, यानी अंगी नहीं; एक अश यानी अंशी नहीं । यदि कोई अश को ही सत्य मान ले तो वह मिथ्या या असत्य होगा । सत्य तो सर्वांगीण होता है । वह अनेकान्तात्मक होता है । किसी हाथी का वर्णन करने में हाथी की पीठ को हाथी कहें, या सूंड को हाथी कहें तो हाथी नहीं जाना जा सकता । वह तो सत्य का एक अश मात्र है ।

सत्य केवल आगमों में नहीं है । किसी ने कहा है, "धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां" । यह ठीक ही कहा है । धर्म या सत्य केवल गुफा में चला गया है । सत्य को मन्दिरों में रखने से वह साकार होता नहीं । मूर्ति सत्य नहीं, मूर्तिमान् सत्य है—आत्मा । सत्य की भी आत्मा होती है । उसका भी आस्वाद होता है । आज लोग सत्य चाहते हैं, सत्य की उपासना करते हैं, सत्य को अर्घ्य देते हैं; किन्तु क्या सत्य इस तरह मिलेगा ? नहीं । सत्य तो सुन्दरता में है । मन्दिर में मूर्ति रखी जाती है, उसका शान्त और वैराग्य भाव सत्य है । पत्थर सत्य नहीं है, पत्थर तो जगह-जगह विभिन्न आकार-प्रकार में है, किन्तु उनमें सत्य नहीं है । सत्य तो समन्वित है, वह बिखरा हुआ नहीं है ।

भगवान् महावीर ने सत्य को अन्तर्गत कहा है। आचार, विचार और उच्चारण में सत्य हो। जो सत्य बोले उसके आचरण में भी सत्य चाहिए। उसके विचार में भी सत्य का होना आवश्यक है। सत्य में सरलता दिखायी देती है, बकता नहीं। जहाँ मायाचारी हो, वहाँ सत्य नहीं हो सकता। जिसका वचन एक ही, कृति अलग हो वह मनुष्य, जीवन में सफल नहीं हो सकता। संसार में 'वचन' की बड़ी कीमत है। राष्ट्र भी वचन के सामने झुकते हैं, तो मनुष्य की क्या कथा? भगवान् महावीर ने सत्य को ऐसा शस्त्र बताया है जिससे कितना भी विरोधी व्यक्ति क्यों न हो, अहिंसक पद्धति से उसका मुकाबला संभव होता है।

अचीर्यं

भगवान् महावीर ने चोरी का त्याग बताया है। चोरी एक सामाजिक अपराध है। जहाँ मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं है, वहाँ ईमानदारी नहीं रहती। नैतिकता का वह कलंक है। वस्तुतः चोरी समाज की अव्यवस्था का प्रतीक है। जहाँ भौतिक साधनों की कमी नहीं वहाँ चोरी की कोई आशंका नहीं। आजकल समाज में जितना भ्रष्टाचार दिखायी दे रहा है, जितना शोषण दिखायी दे रहा है, वह सब चोरी का कर्म है। चोरी मोह की परिणति से होती है। केवल धन की चोरी ही चोरी नहीं है अपितु अपने कर्तव्य में आलस्य भी चोरी है। चोरी में भय होता है, और भय में मृत्यु छुपी हुई है। निर्भयता जीवन है; इसलिए सामाजिक विषमताएँ जहाँ हैं वहाँ निरन्तर चोरी का भय बना रहता है। इसलिए एक स्वस्थ समाज की रचना के लिए प्रत्येक व्यक्ति को तत्परता, यानी बेईमानी से डरना चाहिए। किसी वस्तु में प्राप्त चोरी का कर्म की जननी है। जहाँ सुन्दर वस्तु दिखी कि मन का संयम ढिलमिल हुआ और मन पर चोरी का भूत सवार होता है। इसलिए जहाँ मन की शुचिता है, वहाँ वस्तु का मोह नहीं है अतः मन का संशोधन आवश्यक बताया गया है। जो मनुष्य निश्चयी है वह कितने भी सकट आये, न्याय मार्ग, से विचलित नहीं होता। न्याय-मार्ग, यानी सदाचार का मार्ग। वहाँ मनुष्य

अपनी कमजोरियों से ऊपर उठता है, अचीर्यं व्रत का पालन करता है।

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में भी भगवान् महावीर ने इन्द्रिय दमन, संयम और त्याग की भावना का महत्त्व बताया है। भगवान् स्वयं बाल ब्रह्मचारी थे। उन्होंने काम शत्रु को जीता था। वे संसार के समक्ष एक आदर्श थे। ब्रह्मचर्य का अर्थ है, आत्मा में सुस्थिरता। गृहस्थ और मुनि भी ब्रह्मचारी हैं, बशर्ते उनकी आत्मा स्वयं में लीन रहे। विवाह बाधा नहीं है। इन्द्रियाधीन न होना ब्रह्मचर्य है, समाज में परस्पर भाई-चारा, माता और पिता के संबंध, बहिन-भाई के संबंध स्थिर रहें, और समाज का नैतिक अवमूल्यन न हो, इसलिए भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। आत्मकल्याण की योजना उसमें सन्निहित है। नदी का जल स्वच्छ होता है, किन्तु यदि उसके किनारे पक्के नहीं हैं तो तट की मिट्टी नदी की धार में मिल जावेगी। इसी प्रकार संयम और निग्रह ये दोनों मनुष्य जीवन-रूपी नदी के किनारे हैं। इनसे मनुष्य की, और समाज की आत्माएँ स्वच्छ रहती हैं। सयत जीवन में झूठमूठ को स्थान नहीं, और असंयत जीवन में सत्य को स्थान नहीं। समाज का मुख स्वच्छ रखना हो तो उसे ब्रह्म से बचाना चाहिए, ताकि सही-सच्चा-निष्कलक प्रतिबिम्ब दिखायी दे सके। पश्चिम में भौतिकता की जो होड़ चल रही है और विषय-वासना की जो नदी बह रही है, वहाँ भगवान् महावीर के सिद्धान्त आज भी बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

अपरिग्रह का यह अर्थ नहीं कि कोई दिगम्बर हो, या घर द्वार छोड़ दे; परिग्रह से जीवन चलता है, अपरिग्रह से नहीं, फिर भगवान् ने अपरिग्रह की कल्पना क्यों की? 'अ' का अर्थ 'किञ्चित्' ऐसा होता है, वह निषेधार्थक नहीं है। जहाँ सीमित साधनों से काम चल जाता है, वहाँ अमर्यादा साधनों को जुटाना मूर्खता है। आज का युग संग्रहवादी बन गया है, वह शोषणवादी बन गया है। जहाँ संग्रह है, वहाँ शोषण होगा ही, वहाँ विषमता होगी ही। एक अपरिग्रही है और एक महापरिग्रही है। दोनों ही त्याज्य है। अपरिग्रह से काम नहीं चलता, और

महापरिग्रह से काम बिगड़ता है। सही बात तो यह है कि परिग्रह के पीछे जो ममकार छिपा हुआ है, अधिक से अधिक जोड़ने की जो भावना छिपी हुई है, वही दुःख-दायक है। अतः ज्यादा परिग्रह, यानी ज्यादा दुःख यह निष्कर्ष अनिवार्य नहीं है, या परिग्रह रहित संयमी ही यह भी कोई जरूरी नहीं है। घर के सामने आने वाले भिखारी के पास एक समय की रोटी भी नहीं होती है तो क्या इसी लिए वह सबसे बड़ा अपरिग्रही कहा जाएगा

और राजे-महाराजे परिग्रही हो जायेंगे। ऐसा नहीं है। “प्रवचन सार” में कहा गया है कि जहाँ विषय वासना है, वहाँ दुःख है, वही परिग्रह है। इच्छा का अभाव ही सुख है (प्रव. १।७)।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने समाज में स्वस्थ और शुद्ध परम्परा की स्थापना के लिए पंचशील का सिद्धान्त प्रवर्तित किया। उनका यह प्रवर्तन समाज-धर्म है, व्यक्ति-धर्म है।

परमात्म प्रकाश टीका का कर्ता ब्र. जीवराज नहीं, श्वे. धर्मसी उपाध्याय है

ले० अग्ररत्न नाहटा

प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की सही समझ बहुत कठिन कार्य है बहुत से व्यक्ति तो उन प्रतियों की भाषा लिपि को ठीक से समझ नहीं पाते कुछ प्रशस्तियों के भाव आशय को ठीक न समझने के कारण भूल भ्रान्तिपां होती रहती है उनका संशोधन प्रकाशित करना इसलिए आवश्यक होता है कि आजकल के शोध छात्र अनुकरण ही अधिक करते हैं। वास्तविक तथ्य तक पहुँचने की गहराई उनमें नहीं होती। संशोधन करने वाले का अनुभव भी काफी बड़ा-चढ़ा होना चाहिए अन्यथा बहुत बार एक गलती के सुधारने में दूसरी अन्य कई गलतियाँ कर बैठते हैं।

श्वे० विद्वानों ने दि० साहित्य का समय-समय पर अच्छा अध्ययन किया और उस ग्रन्थ को सरलता से सभी लोग समझ सकें इसलिए कई दिगम्बर ग्रंथों पर उन्होंने संस्कृत और हिन्दी में टीकाएँ बनाई हैं और उनके आधार से स्वतन्त्र ग्रंथ भी रचे हैं इस सम्बन्ध में पहले मेरा एक लेख प्रकाशित हो चुका है।

कई श्वेताम्बर यतियों और मुनियों ने दि० श्रावकों के अनुरोध से दि० ग्रंथों की टीकाएँ एवं पद्यानुवाद बनाए हैं। उनमें जिन लोगों के अनुरोध से रचनाएँ की गईं रचयिता के रूप में उन्हीं लोगों का नाम दे दिया है पर

प्रशस्ति को ठीक से पढ़ने पर मूल रचयिता का नाम भी ठीक से स्पष्ट हो जाता है जैसे महावीर तीर्थ क्षेत्र कमेटी के प्रकाशित प्रशस्ति संग्रह के पृष्ठ २३३ में पद्यमजरी पंचविशिका का रचयिता जगतराय बतलाया गया है पर अन्तिम छप्पये और सोंठे से मालूम होता है कि जगतराय ने जैसे कही वैसे इसकी भाषा पाठक पुण्यहर्ष के शिष्य अभयकुशल ने सं० १७२२ के फागुण सुदी १० को बना दी। पाठक पुण्यहर्ष और शिष्य अभयकुशल श्वे० खरतरगच्छ के विद्वान थे। इन दोनों की और भी कई रचनाएँ प्राप्त हैं। पुण्यहर्ष रचित जिन पालित जिन रक्षित रास सं० १७०६ एक और हरिबल चौ० सं० १७१५ सरसा में रचित उपलब्ध है इनके शिष्य अभयकुशल ने अपने गुरु पुण्यहर्ष का गीत ७ पद्यों में बनाया उन्होंने ऋषभदत्त गुरु चौ० सं० १७३७ महाजन भर्तरी हरि शतक बाला बोध सं० १७५५ और विवाह पडल भाषा तथा चमत्कार चिन्तामणि वृत्ति ये ज्योतिष के भी दो ग्रंथ बनाये हैं अतः पद्मनन्दि पंचविशिका भाषा इन्हीं गुरु शिष्यों की रचना होनी चाहिए इस सम्बन्ध में पहले लिख चुका हूँ इसी तरह की एक अन्य रचना भट्टारकीय भण्डार अजमेर में प्राप्त है जिसका विवरण राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ सूची पृष्ठ २०५ में छपा है। इसमें परमात्मा प्रकाश टीका का कर्ता ब्र० जीवराज लिखा है पर प्रशस्ति को

ध्यान से पढ़ने पर मान्य होता है कि जीवराज ने बहुत आदर के साथ कहा कि परमात्मप्रकाश का वातिक (बालबोध टीका) बना लें तो धर्मसी उपाध्याय ने सं० १७६२ में बना दी। यथा :—

पुर लो लाही में प्रसिद्ध राजसभा को रूप ।
जीवराज जिन धर्म में, समस्त आत्म रूप ॥३॥
करि आदर बहु तिन कह्यो, श्री धर्मसी उपपाव ।
परमात्म परकास को, वातिक देहु बनाय ॥४॥

पद्यांश ष्वे० में कीर्तिसुंदर नाम आता है सभवतः वह धर्मसी उपाध्याय के शिष्य के नाम का सूचक हो।

उपाध्याय धर्मसी श्वे० खरतरगच्छ १८वीं शताब्दी के उल्लेखनीय विद्वान् थे इनकी लघु रचनाओं का संग्रह हमने धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली के नाम से सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टीट्यूट बीकानेर से प्रकाशित किया है आपका दीक्षा नाम धर्मवर्द्धन रखा गया था। इनके शिष्य कान्हा जी भी अच्छे कवि और विद्वान् थे उनका दीक्षा नाम

कीर्ति सुंदर था। इन दोनों विद्वान् गुरु शिष्यों का ज्ञान विवरण और रचनाओं की सूची हमारे धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली में द्रष्टव्य है। कीर्तिसुंदर की एक रचना वागविलास कथा संग्रह में काफी वर्ष पहले वरदा में प्रकाशित कर चुका है।

परमात्म प्रकाश एक बहुत ही सुन्दर आध्यात्मिक ग्रन्थ है। खरतरगच्छ के १८वीं शताब्दी के कवि धर्ममंदिर ने परमात्म प्रकाश चौगाई नाम का राजस्थानी में पद्यानुवाद सं० १७४२ के कातिक सुदि ५ को बनाया है। आशा है परमात्म प्रकाश के नये संस्करण में धर्म मन्दिर और धर्मसी दोनों की रचनाओं का भी उपयोग कर लिया जायगा। धर्मसी उपाध्याय के परमात्म प्रकाश वाले बोध टीका की अन्य कोई प्रति किसी दिगम्बर शास्त्र भंडार में हो तो इसके संपादन में सुविधा रहेगी। श्वे० भंडारों में इसकी प्रति अभी तक देखने को नहीं मिली जबकि धर्मसी जी की अन्य सभी रचनाएँ श्वे० भंडारों में प्राप्त है।

★

श्रमण जैन भजन प्रचारक संघ

नयी दिल्ली। रविवार ८ अप्रैल, १९७३ को सायं ६ बजे श्री महावीर जयन्ती के पावन पर्व पर 'श्रमण जैन भजन प्रचारक संघ' द्वारा आयोजित सांस्कृतिक सन्ध्या एवं 'श्री वृषभदेव संगीत पुरस्कार' समर्पण समारोह का उद्घाटन करते हुए श्री मोहम्मद शफी कुरेशी उप-मन्त्री रेलवे मन्त्रालय भारत सरकार ने कहा कि—

भगवान महावीर का संदेश सूर्य के प्रकाश की तरह समस्त मानव जगत के लिए है, किसी वर्ग विशेष का नहीं, जैन मत की भी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि हजारों वर्ष की जर्मी मानवता के लिए उसने मुहब्बत के रिश्ते जगा दिये, हमी ने उनके पैगाम भारत को सीमाओं के भीतर जकड़ रखे हैं।

श्री कुरेशी ने कहा कि तीर्थंकर महावीर ने वैशाली में जहां जन्म लिया था, वह भूमि मैंने देखी है, श्रमण संघके नौजवानों को छह वर्ष पूर्व जैन भजनोंके प्रचारके लिए जो प्रेरणा प्राप्त हुई थी उसे वह बड़ी मेहनत से आगे बढ़ा रहे हैं, मुझे पूरी उम्मीद है कि वे इसमें सफल होंगे।

आज के नौजवान पाप म्यूजिक व लम्बे बालों के शौकीन हो गये हैं। आज वे यूरोप के पैगाम हमें सुनाते हैं, हमारे लिए यह पतन का मार्ग है, जिस दिन हम भारतीयों ने अपना सांस्कृतिक मार्ग छोड़ दिया, हमारा पतन हो जायगा।

इस अवसर पर उपमन्त्री श्री मोहम्मद शफी कुरेशी ने 'गीत वीतरागप्रबन्ध' ग्रंथ के लेखक डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये को 'श्री वृषभदेव संगीत पुरस्कार' का २५००) रूपया एवं पदक भेंट किया।

दादू पंथी संत गोविंददास रचित जैनधर्म संबंधी ग्रंथ चौबीस गुण स्थान चर्चा

श्री अग्ररचन्व नाहटा

राजस्थान गुजरात, और दक्षिण मारत में जैन धर्म का काफी प्रभाव रहा है लोक जीवन पर आज भी उस प्रभाव की छाप दिखाई देती है। दक्षिण भारत के संबंध में तो मेरी पूरी जानकारी नहीं पर राजस्थान और गुजरात में तो जैनैतर संत सम्प्रदायों पर जैन धर्म का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है उनके आचार-विचार और साहित्य में बहुत सी बातें ऐसी पाई जाती हैं। जो जैन धर्म से संबंधित हैं। सन्त सम्प्रदाय में से भी समन्वयवादी और सद्विचार आचार के पोषक रहे हैं। अतः आस-पास जो जैन मुनियों और श्रावकों का आना-जाना व निवास रहा उससे वे स्वभावतया ही प्रभावित हुए। कई जैन कथा प्रसंग उन्हें बहुत रोचक लगे। उनके सम्बन्ध में जैनैतर सन्त सम्प्रदायों के कवियों की रचनाएं भी बनाई हैं। उनमें से जबूसर प्रसंगको मुनि हजारीमल स्मृति ग्रंथ में हमने प्रकाशित किया है जो अन्तिम शान्ति मोक्षगामी जम्बू स्वामी के चरित सम्बन्धी रचना है इसी तरह १८ नाता और बगचूल की वथा जैन समाज में काफी प्रसिद्ध है। उसे भी सन्त कवियों ने अपना ली है। रामस्नेही सम्प्रदाय के कवि रामदास ने अपनी भक्तमाल में २४ तीर्थंकरों आदि का विवरण दिया है अभी राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों की ग्रंथ सूची भाग पांच से एक विशेष जानकारी मिली है कि दादूपंथी संत गोविन्ददास ने २४ गुण स्थान चर्चा नामक जैन धर्म सम्बन्धी हिन्दी में पद्य वद्ध रचना नाशादा नगर में स० १८८१ के फागुन सुदी दशम सोमवार को बनाई है इसके ८ पत्रों की एक प्रति दिगम्बर जैन मंदिर नेमिनाथ टोंडा रामसिंह (टोंक) के शास्त्र भण्डार में है। उपरोक्त ग्रंथ सूची के पृष्ठ ३४ में इसका विवरण इस प्रकार छपा है।

चौबीस गुणस्थान चर्चा—गोविन्ददास। पत्र संख्या ८। आ० १० × ४ इंच। भाषा हिन्दी। विषय गुणस्थानों की चर्चा। २० काल स० १८८१ फाल्गुन सुदी १०। ले० काल स० १८०० पूर्व वैष्णव सं० ४३-११६ प्राप्ति स्थान दि० जैन मंदिर नेमिनाथ टोडररायसिंह (टोंक)।

प्रारम्भ

गुण छियालीस करि सहित, देव अरहंत नमानि ।
नमो आठ गुण लिये, सिद्ध सब हित के स्वामी ॥
छतीस गुणों करि, विमल आप आचारिज सोहत ।
नमो जोरि कर ताहि, सुनत बानी मन मोहत ॥
अर उपाध्याय पच्चीस गुण सदा बसत अमिराम है ।
गुण आठ बीस करि साधु है, नमो पंच सुख धाम है ॥

अन्तिम

संस्कृत गाथा कठिन, अरथ न समझ्यो जाय ।
ता कारण गोविन्द कवि, भाषा रची बनाय ॥
जो या को सीखें सुनैं, अरथ विचारें जोय ।
सभा मांह आदर लहै, सुरिख कहै न कोय ॥
अक्षर अरथ यामैं घटि बढ़ि होय ।
बुध जन सब सुधार ज्यो, भाष कीजिये सोय ॥
अठारास ऊपरं गनुं, इक्यासी और ।
फागुन सुदी दशमी सुतिथि शशि वासर शिरमौर ॥
दादू जो को साधु है, नाम जो गोविन्ददास ।
ताने यह भाषा रची, मनमाहि धारि उल्लास ॥
नासरदा ही नगर में रच्यो जु भाषा ग्रंथ ।
जो याकूं सीखैं सुणैं, लहै जैन मत ग्रंथ ॥

उपरोक्त उद्धरण में ग्रंथ का नाम स्पष्ट रूप से नहीं दिया है। पर अन्त का जो पहला पद्य उद्धृत किया गया है इससे मालूम होता है कि इस विषय के किसी जैन संस्कृत ग्रंथ के आधार से इस ग्रंथ की रचना हुई है मूल संस्कृत ग्रंथ कौन सा है कब कि पत्र प्रकाशित किया। ये जानकारी प्रकाश में आनी चाहिए वैसे गुण स्थान तो १४ होते हैं पर इस सूची में २४ गुण, २४ भाषा चर्चा नामक रचनाओं की काफी प्रतियों का विवरण छपा है उनमें से मूल प्राकृत ग्रंथ आचार्य नेमिचन्द्रका है सम्भवतः उसी के आधार से अन्य रचनाएँ बनाई गई हों।

गोविन्ददास की रचना छोटी ही है अतः अनेकान्त बीरवाणी आदि पत्रिकाओं में उसे प्रकाशित कर दी जाय तो बहुत ही अच्छा हो। एक जैनैतर कवि ने जैन धर्म संबंधी रचना की है यह बहुत ही उल्लेखनीय बात है। ऐसी अन्य रचनाओं की भी खोज होनी चाहिए।

द्राविड भाषाएं और जैनधर्म

आचार्य पं० के० भुजबली शास्त्री

कन्नड़ और तमिल भाषा को सर्वोच्च पद पर पहुँचाने का अमर श्रेय जैन आचार्य और कवियों को प्राप्त है। इनमें से पहले कन्नड़ भाषा को ही लीजिए। कन्नड़ भाषा के आदि कवि जैन हैं। इस समय उपलब्ध जैन कवियों में महाकवि पम्प ही आदि कवि है और यही कन्नड़ का आदि कवि है।

दक्षिण में पाँच द्राविड भाषाएँ प्रचलित हैं—तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम और तुलु। इनमें तुलु ग्रान्थिक भाषा नहीं है। केवल बोलचाल की भाषा है। हाँ, इधर इस भाषा के प्रेमी इस भाषा में भी पुस्तकें लिखने लगे; मगर कन्नड़ लिपि में क्योंकि इस समय तुलु भाषा की लिपि प्रचार में नहीं है। बल्कि इधर तुलु भाषा में चार-पाँच फिल्मों भी तैयार हुई हैं। इस भाषा के प्रेमी इसे समुन्नत बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। इस भाषा में जैनों की भी दो-चार पुस्तकें हैं। अब रही शेष चार द्राविड भाषाएँ। तेलुगु और मलयालम में भी उल्लेखनीय जैन कृतियाँ नहीं हैं। बाकी कन्नड़ और तमिल दो भाषाएँ हैं, जिनमें जैन ग्रन्थ भरपूर हैं।

पम्प-पूर्व के असग, गुणनन्दि तथा गुणवर्म आदि कई उद्दाम जैन कवियों के नाम और कतिपय पद्य प्रवश्य मिलते हैं। पर दुर्भाग्य की बात है कि अभी तक उनकी बहुमूल्य रचनाएँ नहीं मिली हैं। बल्कि सातवीं शताब्दी में ही तुंबलूराचार्य ने कन्नड़ में ६६,००० पद्य परिमित चंडामणि नामक एक महत्त्वपूर्ण टीका-ग्रन्थ की रचना की थी। यह बृहद-टीका तत्त्वार्थ सूत्र पर की मानी जाती है। इसी प्रकार इसी काल के श्यामलकुंदाचार्य ने कन्नड़ में प्राभूत नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी जो एक शास्त्रीय ग्रन्थ समझा जाता है। परन्तु खेद की बात है कि अभी तक वे दोनों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुए हैं। हाँ, शिवकोट्याचार्य विरचित बड्डाराघना नामक ग्रन्थ

(गव्य) महाकवि पम्प के कुछ पूर्व का माना जाता है।

कन्नड़ जैन कवियों में पम्प, पोन्न और रन्न ये तीनों रत्नत्रय कहलाते हैं। वस्तुतः ये तीनों रत्ननाम ही हैं। इन महाकवियों के उपरान्त भी चामुण्डराय, नागवर्म, शान्तिनाथ, नागचन्द्र, नयसेन, ब्रह्मशिव, कर्णचार्य, नेमिचन्द्र, अगल, आचण्ण बन्धुवर्म जन्त पार्श्व पण्डित, गुणवर्म, आण्डक्य, कमलभव, विद्यानन्द, उदयादित्य, केशिराज, साल्व, भट्टाकलंक, गुणचन्द्र, सोमनाथ, श्रीधराचार्य, मंगराज और रत्नाकरवर्णी आदि सैकड़ों ख्यातिप्राप्त जैन कवियों ने काव्य, व्याकरण, छन्द, अलंकार, कोष वैद्य, ज्योतिष, गणित, यक्षगान आदि अन्यान्य विषयों पर सैकड़ों ग्रन्थों की रचना की है। जैन कन्नड़ कवियों ने किसी भी विषय को नहीं छोड़ा है। उन्होंने पाक-शास्त्र, गोवैद्य, आयुर्वेद आदि अनेक लोकोपयोगी ग्रन्थों को भी रचा है। कल्याणकारक, खगेन्द्रमणिदर्पण, वैद्यामृत आदि वैद्य ग्रन्थ, जातकतिलक, जिनेन्द्रमाला आदि ज्योतिष ग्रन्थ हिन्दी भाषा में भी अनुवाद करने योग्य हैं। खगेन्द्रमणि दर्पण मद्रास विश्वविद्यालय की कृपा से, जातकतिलक मैसूर विश्वविद्यालय की कृपा से प्रकाशित हो चुके हैं। कल्याणकारक भी प्रकाशित होने वाला है। यह कल्याणकारक आचार्य पूज्यपाद के वैद्य ग्रन्थ के आधार पर रचित कहा जाता है। उपर्युक्त कन्नड़ कवियों में अधिकांश संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं के भी पण्डित थे। क्योंकि भारतीय अन्यान्य साहित्यों की तरह कन्नड़ साहित्य की रक्षा और अभिवृद्धि के लिए भी संस्कृत साहित्य ही आधार है यहाँ तक है कि भट्टाकलंक का कर्णाटकशब्दानुशासन नामक कन्नड़ व्याकरण संस्कृत भाषा में ही रचा गया है। बल्कि उसकी भाषामजरी नामक वृत्ति और मजरीमकरद नाम की व्याख्या भी संस्कृत में ही लिखी गई है।

अस्तु, अब तमिल भाषा को लीजिए। तमिल भाषा के आदि कवि भी जैन ही हैं। तमिल सषकाल की रचनाओं में तिरुक्कुरल ही अन्तिम रचना है। इसके पूर्व की रचनाओं में बहुत कम ग्रन्थ उपलब्ध हैं। तीसरी शताब्दी में तृतीय तमिल सष नामावशेष हुआ। ऐसी परिस्थिति में भी मान्य जैन कवियों ने वात्सल्य एवं गौरव के साथ तमिल भाषा को बढ़ाया। तीसरी शताब्दी से लेकर छठवीं शताब्दी तक जैन कवियों ने पर्याप्त बहुमूल्य ग्रंथों की रचना की थी। यह सौभाग्य की बात है कि इस समय प्राप्त उन ग्रन्थों से भी जैन कवियों का पाण्डित्य एवं उनकी प्रखर बुद्धि स्पष्ट व्यक्त होती है। कन्नड़ वाङ्मय की ही तरह तमिल वाङ्मय भी जैन कवियों का चिर ऋणी है। इस बात को निष्पक्षपाती प्रत्येक साहित्यप्रेमी सादर एवं सहर्ष स्वीकार करते हैं। जैन कृतियों में तिरुक्कुरल, नालडियार, मणिमेखलै, शिलप्पधिकार और जीवकचिन्तामणि ये बहुत ही ख्यातिप्राप्त कृतियाँ हैं। इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

तिरुक्कुरल : इस कृति को सर्वमान्य कवि तिरुवल्ल-वर्ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ की प्राप्ति-के लिए रचा था। महाकवि तिरुवल्लवर इस अमर रचना से ही कविसावंभौम कहलाया। यद्यपि कुरल ग्रंथ के मंगलाचरण में कवि ने किसी भी भगवान् का नाम स्पष्ट नहीं लिया है। फिर भी इसमें कमलगामी, अष्ट-गुणयुक्त आदि भगवान् के विशेषण रूप से दिये गए जैन पारिभाषिक शब्दों से तिरुवल्लवर जैन धर्मावलम्बी स्पष्ट सिद्ध होता है। स्वर्गीय प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती आदि मान्य विद्वानों के मत से तिरुक्कुरल एलाचार्य अर्थात् आचार्य कुन्दकुन्द की अमर रचना है। इस बात को सुदृढ़ पुष्ट प्रमाणों से चक्रवर्तीजी ने सिद्ध किया है। बल्कि नीलकेशी नामक बौद्ध ग्रंथ के सफल जैन भाष्यकार मुनि समयदिवाकर भी इस तिरुक्कुरल को अपना एक पवित्र ग्रंथ मानते रहे।

नालडियार—चार-चार पंक्तियों से निबद्ध पद्यमय यह ग्रंथ बहुत ही उत्कृष्टकाव्य है। इसमें अन्यान्य चार सौ सर्वमान्य कवियों के द्वारा एक-एक के क्रम से रचे

गए चार सौ पद्य हैं। पांड्यराज को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश देने के लिए यह अमर ग्रन्थ रचा गया था। इसकी रचना की कहानी बहुत रोचक है। पर उसके उल्लेख से लेख का कलेवर बढ जायगा।

जनश्रुति है कि इस ग्रन्थ के रचयिता सभी विद्वान् सर्वसंगपरित्यागी मुनि थे।

मणिमेखलै—यह ग्रन्थ कवि शीतशन्तनार के द्वारा रचित एक वृहच्चरित काव्य है। इसकी शैली सुन्दर एवं गम्भीर है। इसमें बौद्धधर्म का सिद्धान्त एवं प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर वर्णन है। यह एक महत्त्वपूर्ण तमिल महाकाव्य है।

शिलप्पाधिकारं—यह इलगोयडिगल की रचना है। यह भी एक महत्त्वपूर्ण चरित-काव्य है। इसकी शैली चित्ताकर्षक है। विद्वानों की राय है कि यही तमिल भाषा का प्रथम काव्य है। इसमें गद्य भी है। यह काव्य उस समय के नाटक के रूप में रचा गया है। इसमें रग-मंच, नट, गायक, संगीत और नृत्य आदि के सुन्दर विवेचन के साथ साथ तत्कालीन रीति, नीति, राजा आदि पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला गया है।

जीवकचिन्तामणि—यह काव्य तिरुत्वकदेवर के द्वारा रचा गया है। यह कवि जैन मुनि थे। इस काव्य में जीवन्धर का चरित वर्णित है। इसकी भाषा शुद्ध, गम्भीर एवं सरल है। इसमें चरित्र के साथ-साथ जैन सिद्धान्त तथा सामाजिक कलाओं का भी समावेश है।

उपर्युक्त कृतियों के प्रतिरिक्त जैन कवियों के चूला-मणि, यशोधरकाव्य, नागकुमारकाव्य, उदयकुमारकाव्य आदि काव्यग्रन्थ, पालमोलिननुरु वेलाडि, अरिनेरिच्चरं आदि नीतिग्रन्थ, अन्नचन्दमलै आदि छन्द और अलं-कार ग्रन्थ, नन्नल, नेमिनादं आदि व्याकरण ग्रंथ, मेरुसमं, दरपुराण, थिरुकुलवरं आदि पुराण सभी ग्रन्थ उपलब्ध हैं। विद्वानों का मत है कि जैन कवियों के द्वारा ही तमिल भाषा में संस्कृत शब्द नहीं के बराबर लिये गये थे। जैन कवियों के संस्कृत विशेषज्ञ होने के कारण उनकी तमिलरचनाओं में भी संस्कृत का होना स्वाभाविक ही है।

जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त

डा० कीशल्या बल्लो

जैन दर्शन के अनुसार कर्म सिद्धान्त एक तथ्य है। कर्म एक ऐसा द्रव्य है जो हमेशा आत्मा के किसी अंश को आवृत करता है। जितनी शीघ्रता से कर्मनाश होता है, उतना ही व्यक्ति के लिए अच्छा है।

जैन दर्शनानुसार जब तक कोई प्रयोजन न हो तब तक कोई कर्म नहीं होता। अतएव प्रयोजन से सम्बन्धित किन्हीं विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत ही क्रिया शब्द और विचार कर्म कहलाता है।

जिनमत में कर्म समस्या, दूसरे भारतीय दर्शनों के समान आत्मा के बन्धन के प्रश्न के साथ सम्बद्ध है। जैन विचारकों के अनुसार आत्मा कषाय के कारण पुद्गल को अपनी ओर आकर्षित करता है जो कि कर्म के अनुरूप है। बन्धन के पांच कारण हैं—१. मिथ्यादर्शन, २. अविरति, ३. प्रमाद, ४. कषाय, ५. योग। बन्धन में कर्म और पुद्गल एक साथ संबद्ध हैं। कर्म भौतिक जीवन का कारण है, पर आत्मा का गुण नहीं है। मिथ्यादर्शन के कारण, पुद्गल के सूक्ष्म अणु, आत्मा से उसी प्रकार मिले हुए हैं जिस प्रकार दूध और जल परस्पर मिले होते हैं। योग और कषाय के प्रभाव से आत्मा में भौतिक द्रव्य कर्म का रूप धारण करते हैं। कर्म परिणाम स्वरूप पुण्य और पाप के नाम से पुकारा जाता है।

जैन दर्शन में 'योग' शब्द तथा उसका कर्म पर प्रभाव—शरीर, मन और वाणी की क्रिया ही योग या आस्रव कहलाता है और कर्मोत्पत्ति का कारण है। त्रिकोणात्मक क्रिया से कर्म आत्मा में प्रविष्ट होता है; लेकिन प्रत्येक योग आस्रव नहीं है अथवा यदि वह कर्म को आकृष्ट नहीं करता, इसे अनास्रव कहते हैं। जिस प्रकार एक गीला कपड़ा सब ओर से घूल को आकृष्ट

करता है, एक अति गर्म लोहपिण्ड पानी को सब ओर से आकृष्ट करता है, ठीक उसी प्रकार कषाययुक्त आत्मा योग के कारण सब दृष्टिकोण से कर्म को ग्रहण करता है।

कर्म के सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द का दृष्टिकोण—

जैन-संस्कृति में आचार्य कुन्दकुन्द पुरातन ख्यातिप्राप्त विद्वान् हैं। जैनदर्शन में "समयसार" नामक उनकी कृति आत्मा, बन्धन और मोक्ष के सम्बन्ध में एक उत्कृष्ट कृति है। अपनी कृति में कुन्दकुन्द ने जैनधर्म की विचार-धारा पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। पहले दो अध्यायों में आचार्य ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि जीव और अजीव—इन दो का अध्ययन करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह बताया गया है कि यद्यपि शुभ और अशुभ कर्म में अन्तर है, फिर भी सत्य तो यह है कि उच्च दृष्टिकोण से यह अन्तर निरर्थक है, क्योंकि कर्म अपने में ही बन्धन का कारण है और कर्म का निराकरण ही होना चाहिए। उत्कृष्ट सत्य तो परमात्मा या शुद्ध आत्मा है जो कि अपने में पूर्ण है। यही परमार्थ है, यही परमतथ्य है। यदि हमें परमात्मा के विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता तो सब तपस्या और नियमपालन निरर्थक हैं। विश्वास, आचरण और ज्ञान सत्य होने चाहिए, लेकिन यदि वह सत्य नहीं है और कर्म से प्रभावित है तो भौतिक जीवन के दुःख अवश्यम्भावी हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार आत्मा कर्म द्वारा विभिन्न परिवर्तनों को अपनाता है। पांचवें अध्याय में आस्रव जीव में कर्मगम को लाते हैं। यह पुनः बतलाया जाता है कि मिथ्यात्व या गलत विश्वास, अविरति या अनुशासनहीनता, कषाय या काम और योग अथवा मनोभौतिक प्रवृत्तियाँ—दो प्रकार के कर्मों को जन्म देते हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। भावकर्म आत्मा में रहता है तथा भौतिक कर्म को जन्म देता है।

३. समयसार—आचार्य कुन्दकुन्द।

१. तत्त्वार्थसूत्र—८. १.

२. तत्त्वार्थवृत्ति ८. २.

इस सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द ने दो आस्रवों के नामों का उल्लेख किया है—भौतिक और मनोवैज्ञानिक। द्रव्यास्रव का अर्थ आत्मा में भौतिक अंशों का आगमन है जो कि भावास्रव को जन्म देते हैं, परन्तु एक ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में जो कि सम दृष्टि रखता है, द्रव्यकर्म का आगमन आत्मा में नहीं होता; द्रव्यकर्म न होने से भावकर्म का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार कोई बन्धन सम्भव नहीं है। केवल जब भावकर्म आत्मा में होते हैं, तब आत्मा बन्धन में होता है। प्रत्यक्ष जानावित मनुष्य को न भावास्रव होता है और न द्रव्यास्रव।

इससे स्पष्ट है कि ज्ञानी कर्म से अछूता रहता है, लेकिन यह भी सत्य है कि भूतकाल के जीवन के सब कर्म मनुष्य के कर्मशरीर में निश्चय रहते हैं। इन बुनियादी कर्मबीजों का नाश करने के लिए जिनमत के अधिका-रियों ने रत्नत्रय का अभ्यास निश्चित किया है। वह रत्नत्रय है श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र। इस रत्नत्रय के दृढाभ्यास न होने पर ही विभिन्न कर्म आत्मा को बद्ध करते हैं। समयसार के षष्ठ अध्याय में कुन्दकुन्दाचार्य ने संवर का वर्णन किया है। संवर का अर्थ है कर्मगम को रोकना। यह सर्वप्रसिद्ध है कि जब तक देहात्मबोध है, तब तक कर्म अवश्यम्भावी है, इसी को भावास्रव कहते हैं, इसी का परिणाम द्रव्यास्रव है।

जैनदर्शन में सारी सृष्टि को नौ प्रकार से विभाजित किया गया है—जीव (आत्मा), अजीव (अनात्मा), पुण्य, पाप, अस्त्र, संवर (कर्म-रोक), निर्जरा (कर्म-त्याग), बन्ध और मोक्ष। मौलिक दो बातें हैं जीव और अजीव। शेष इन दो की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हैं।

जैनदर्शन में पूर्णता-प्राप्ति के लिए चौदह गुणस्थान प्रसिद्ध हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग से युक्त क्रिया ही कर्म है। सब कर्मों के नाश होने पर आत्मा लोकाकाश तक जाता है। जैनियों के अनुसार, कर्मप्रभाव के कारण ही, आत्मा नीचे के स्तर पर आकर सांसारिक स्तर पर रहता है, लेकिन कर्मनाश होने पर, आत्मा सम्बन्धहीन होता है, अतएव नीचे के स्तर पर गिरने से

४. तत्त्वार्थवृत्ति ८. २.

५. तत्त्वार्थवृत्ति ।

बच जाता है। आत्मा का उत्थान अवश्यम्भावी है। आत्मा की ऊपरी गति ऊपर की ओर जाने वाली अग्नि की ली से मेल खाती है। अलोकाकाश तक पहुँची हुई आत्मा के लौटने का प्रश्न नहीं उठता।

सम्पूर्ण पूर्णता-प्राप्ति के लिए चौदह गुणस्थानों का वर्णन है। पहला गुणस्थान सामान्य मानव की परिस्थिति को बतलाता है। इस स्तर पर मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगयुक्त क्रिया विद्यमान रहती है। यह मूलतः जीव है जिस पर आध्यात्मिक जीवन का भवन आश्रित है। इस गुणस्थान में जीव को अंधेरे में थोड़ा सा प्रकाश दिखाई देता है। इस गुणस्थान का नाम “मिथ्यात्वदृष्टि” है। यह गुणस्थान सीढ़ी की पहली सीढ़ी है। ग्रन्थि रहित आत्माएँ जो थोड़ी देर के लिए आध्यात्मिक दृष्टि से युक्त होती हैं, इस गुणस्थान तक गिर सकते हैं। ग्रन्थि-बद्ध आत्मा गहन अन्धकार में डूबा होता है। पहले गुणस्थान का आध्यात्मिक जीवन योगी को मिथ्यात्व से पूर्णतया छुटकारा पाने की सहायता करता है, जिससे कि दूसरे गुणस्थानों में मिथ्यात्व बिल्कुल दृश्यमान नहीं। इसका अभिप्राय है कि आध्यात्मिक जीवन की नींव सब क्षेत्रों में सत्य के व्यावहारिक जीवन पर आश्रित है।

दूसरे गुणस्थान का नाम “सास्वादन सम्यग्दृष्टि” है। महान् ऋषियों ने हमें यह बतलाया है कि दूसरे गुणस्थान तक साधक पहले गुणस्थान से उत्थान के रूप में प्रगति नहीं करता हैं, अपितु उच्च गुणस्थान से पतन के कारण थोड़े समय के लिए, दूसरे गुणस्थान तक गिरता है। उदाहरणतया पहली बार प्रकाशयुक्त होने पर, संभावना है कि चिरकालीन कामनाएँ जग जाएँ, आत्मा स्वाभाविकतया आत्मदर्शन के पहले अवलोकन से दूसरे गुणस्थान तक गिरता है। एक बार दूसरे गुणस्थान तक अवतरित होने से, पहले गुणस्थान तक भी गिर जाता है। दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व पूर्णतया अनुपस्थित है लेकिन अविरति, कषाय और योग विद्यमान रहते हैं।

तीसरा गुणस्थान सम्यग्दृष्टि कहलाता है। पहले प्रकाश के बाद, यदि अर्धनिर्मल कर्म, दृष्टि को भ्रमयुक्त करके दिखाई दे, तो आत्मा थोड़ी देर के लिए इस गुणस्थान में अवतरित होता है। यह भी सम्भव है कि थोड़ी देर के लिए यह पहले गुणस्थान तक गिर जाए, पर शीघ्र

ही पुनः उत्थान का मार्ग अपनाता है। अतएव सम्यग्-दृष्टि के अतिरिक्त इस गुणस्थान को कतिपय विद्वान् मिथ्यादृष्टि के नाम से भी पुकारते हैं। स्मरण रहे कि पहले गुणस्थान का वर्णन करते समय ऊपर मैंने कहा था कि पहले गुणस्थान को छोड़कर अन्य गुणस्थानों में मिथ्यात्व की अनुपलब्धि है और तीसरे गुणस्थान का नाम सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त मिथ्यादृष्टि भी कहा; पर सम्भवन: यहां यह दुहराने की आवश्यकता पड़े कि सम्यग्-दृष्टि मिथ्यादृष्टि में अर्धनिर्मल कर्म के कारण परिणत होने से, एव आत्मा के इस गुणस्थान में गिरने के कारण ही इसे मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

चौथे गुणस्थान का नाम अविरतसम्यग्दृष्टि है। इस गुणस्थान में स्पष्टतया सम्यग्दृष्टि प्राप्त तो हुई है, लेकिन आध्यात्मिक बल की कमी है। इस अनियम के कारण, ज्ञान और इच्छा, निःसन्देह हों, किन्तु तब भी आत्मा गलत मार्ग से जा सकता है। यद्यपि दृष्टि स्थिर है, तब भी आत्मा का अनुशासन अनुपस्थित है। इस गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि के कई कारण हैं। मुख्य कारण यह है कि दृष्टि भ्रान्त करने वाला कर्म पूर्णतया समाप्त हुआ है। इसी का दूसरा नाम उपशम है। यह स्मरणीय बात है कि आध्यात्मिक विकास तब तक सम्भव नहीं है, जब तक दृष्टि, ज्ञान और आत्मानुशासन समानरूप से सुदृढ न हों। इस परिस्थिति में आत्मदमन की आवश्यकता है यद्यपि ज्ञान और दृष्टि विद्यमान हैं। इस गुणस्थान में सदिच्छा होने हुए भी आत्मानुशासन की आवश्यकता है।

पचम गुणस्थान देशाविरतसम्यग्दृष्टि है। इस गुणस्थान में आत्मानुशासन अधूरा ही प्राप्त होता है, आत्मा का थोड़ा सा उत्थान तो अवश्य होता है, पर किन्हीं कामनाओं के रहने हुए, नीति रहित कार्यों से आत्मा पूर्णतया रहित नहीं है। इस गुणस्थान में आत्मसंयम केवल अपूर्णरूपेण ही प्राप्त हुआ होता है।

षष्ठ गुणस्थान में निःसन्देह उन्नति तो होती है, किन्तु आत्मा में आत्मानुशासन की पूर्ण शक्ति नहीं प्रकट होती। इस गुणस्थान का नाम प्रमत्तसम्यक्त्व है। इस गुणस्थान में प्रमाद उपस्थित है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि इस गुणस्थान में आत्मानुशासन वर्तमान है, किन्तु आध्या-

त्मिक जड़ता भी वर्तमान रहती है।

सप्तम गुणस्थान में आत्म-अनुशासन अथवा आध्यात्मिक कुण्डता की कमी अथवा प्रमाद भी कमी रहती है। इस गुणस्थान का नाम "अप्रमत्तसम्यक्त्व" है।

आठवें गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है। इस गुणस्थान में आत्मा इतना पवित्र है कि कर्म की गहनता और स्थिति स्वतः ही कम हो जाती है। इस गुणस्थान में आत्मा की पवित्रता की स्थिति और गहनता बढ़ जाती है। आत्मा, इस गुणस्थान में, पवित्र कार्यों में बहुत तेजोवान होता है। इस गुणस्थान में आत्मा अत्यधिक काल तक नहीं रहता।

नौवें गुणस्थान का नाम "अनिवृत्तिबाधरसपराय" है। इस गुणस्थान में स्थूल इच्छाएँ आक्रमण कर सकती हैं।

दसवें गुणस्थान का नाम सूक्ष्मसपराय है। इस गुणस्थान में स्थूल वासनाएँ नहीं रहती, लेकिन सूक्ष्म वासनाएँ आत्मा को आक्रान्त करती हैं। इस गुणस्थान में, सब वासनाएँ नष्ट तो हुई होती हैं, केवल सूक्ष्म लोभ की विद्यमानता होती है जो कि यथार्थ में शरीर के साथ अवचेतन—आसक्ति के कारण है।

ग्यारहवें गुणस्थान का नाम "उपशान्तकषाय" है। दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म लालच था। इस गुणस्थान में भी आत्मा सम्पूर्णरूपेण कामिक प्रभाव से रहित नहीं है, अतएव इसको छद्मस्थ कहा जाता है। यह आसक्ति से रहित है—अर्थात् ग्यारहवां गुणस्थान बीतराग का गुणस्थान माना जाता है। आत्मा इस गुणस्थान में चिर काल तक रह नहीं पाता।

एक निर्मल आत्मा सीधा ही दसवें से बारहवें गुणस्थान तक उन्नत हो सकता है। बारहवें गुणस्थान में वासनाओं का नाश होता है। यह गुणस्थान नाश की चरम सीमा तक पहुँचता है। इस गुणस्थान में आत्मा पूर्णरूप से चार प्रकारके धातिकर्मों से मुक्त हो जाता है। बारहवें गुणस्थान को क्षीणकषाय नाम दिया जाता है।

तेरहवें गुणस्थान को जैन दर्शन ने सयोगकेवली का नाम दिया है। दूसरे भारतीय दर्शनों में इस गुणस्थान को जीवनमुक्त का नाम दिया जाता है। इस गुणस्थान में

मिथ्यात्व, अविरति और कषाय तो नहीं है किन्तु योग तो रहता है, अतएव सयोगकेवली कहलाता है। तीर्थङ्कर अथवा जगद्गुरु इसी तेरहवें गुणस्थान में बनता है। अघातिकर्म तो इस गुणस्थान में रहते हैं। यहाँ यह संकेत किया जाय कि जाति, आयु और भोग के रूपमें, अघातिकर्म योगदर्शन के प्रारब्धकर्म का ही पर्याय है।

जिनमत में आध्यात्मिक विकास में उच्चतम पूर्णता का प्रतिनिधित्व अन्तिम चौदहवें गुणस्थान में होता है। इसका नाम अयोगकेवली गुणस्थान है। यह ऐसे सिद्ध का गुणस्थान है जो कि सब प्रकार के घाति और अघाति कर्मों से रहित है, अतएव कामिक शरीर से मुक्त है। एक सिद्ध पुरुष, कामिक शरीर से रहित विशुद्ध शरीरधारी है, एक ऐसा शरीर लिए हुए जो कि पूर्णरूपेण निर्मल है और जिसका कर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वह लोकाकाश में बहुत उच्च स्थान प्राप्त करता है और सिद्धशिला पर विराजमान हो जाता है—वह शिला जो कि देश-काल से परे है। सिद्ध पुरुष अत्यन्त विशुद्ध आत्मा है और नित्य है। सिद्धशिला लोकाकाश और अलोकाकाश के बीच की शिला है—एक ऐसा स्थान है जिसका कि भौतिक जगत् की क्रियाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है।

उपर्युक्त गुणस्थानों में मैंने घातिकर्म और अघातिकर्म का उल्लेख किया है। इस विषय में यहाँ यह कहना आवश्यक हो जाता है कि कर्म सामान्यतया दो प्रकार का माना जाता है—घाति और अघाति।

घाति कर्म चार प्रकार के हैं—१. ज्ञानावरण—ज्ञान को नहीं होने देता, २. दर्शनावरण—देखने नहीं देता ३. मोहनीय कर्म—सुख नहीं होने देता, ४. अन्तराय कर्म—आत्मबल नहीं होने देता है। दूसरे शब्दों में अन्तर्ज्ञान को ढकने वाला कर्म दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है, ज्ञानार्जन की शक्ति को रोकने वाला कर्म ज्ञानावरणीय है, मानसिक सन्तुलन को विचलित करने वाला कर्म मोहनीय

कर्म कहलाता है जिसके फलस्वरूप मन में भ्रान्ति उत्पन्न होती है, एक सच्चे अन्तर्ज्ञान एवं ज्ञान की कमी प्रतीत होती है। अन्तराय आत्मा की उन्नति में बाधक हैं, एवं आत्मा के विभिन्नपक्षीय विकास में घातक है।

शेष चार कर्म अघाति हैं। ये आत्मा के मुख्य गुणों का घात न करके, उन्हीं घातिया कर्मों की सहायता के लिए परिकर के रूप में होते हैं। यथा :—

१. वेदनीयकर्म—इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं का संयोग कराता है।

२. आयुकर्म—मनुष्यादिरूप किसी भी एक शरीर में रोककर रखता है।

३. नामकर्म—शरीर की अनेक प्रकार की अवस्थाएँ बना देता है।

४. गोत्रकर्म—विशेष आत्मा का विशेष परिस्थिति में एवं विशेष परिवार में जन्म दिलाता है।

उपर्युक्त चौदह गुणस्थान आध्यात्मिक विकास का क्रमिक विवरण बतलाते हैं। अध्यात्म के इस क्रमिक विकास में कर्म ही मुख्य विषय है। सम्पूर्ण विश्वसृष्टि और व्यष्टि मानव शरीर, कर्म के ही कारण हैं। विश्व और मानव तब तक है जब तक कि कर्म है। लेकिन जब कर्म गुणस्थानों के विकास से क्रमशः नाश को प्राप्त होता है, आत्मा की सम्पूर्ण विशुद्धि होती है, एवं कर्म और उसके परिणामों से मुक्त हो जाता है। कर्म के फलस्वरूप ही शरीर के साथ सम्पर्क, दुःख-सुख की अनुभूति एवं आयु के कारण समय-पराधीनता रहती है।

चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त हुए सिद्धात्मा को कई विद्वान् परमात्मा कहते हैं। परमात्मा या ईश्वर यद्यपि एक ही बात है तो भी कई दर्शनों में ईश्वर विश्वविन्याता, विश्वरचयिता अथवा जगद्गुरु का स्थान ले लेता है जो ज्ञान द्वारा मानवता के कल्याण में लगे होते हैं। ●

राजर्षि देवकुमार की कहानी

सुबोध कुमार जैन

देवलोक से एक सितारा टूटा। और आरा नगर के सुप्रसिद्ध प्रभू परिवार में समय पाकर बाबू चन्द्रकुमार के घर पुत्र-रत्न ने जन्म लिया।

नाम रखा गया देवकुमार।

पिता चन्द्रकुमार की मृत्यु अकाल में हो गई। देवकुमार का हँसमुख गम्भीर हुआ सो हुआ।

ये कुशाग्रबुद्धि। नन्हा सा एक भाई था। नाम था धर्मकुमार। एक बहिन, नाम नेमसुन्दर। फिर तौ बच गई माता। बस इतना ही परिवार था।

घर का हिसाब-किताब देखा तो देवकुमार का गम्भीर मुख सोच में पड़ गया।

एक लाख का कर्ज।

पितामह प्रभूदास ने कोशाम्बी, बनारस और आरा में पाँच मन्दिर और धर्मशालाओं को पूरा कराने के हेतु कुछ कर्ज लिया था वही बढ़ते बढ़ते एक लाख हो गया।

माता ने एक छोटी सी बात कही—बेटा! खर्च कम कर देने से कर्ज आसानी से चुकता हो जाता है।

देवकुमार ने वही किया और समय पाकर कर्ज चुकता हो गया।

और जब एक लाख और इकट्ठा हो गये तो भारतवर्ष के तीर्थों की यात्रा का प्रोग्राम बनाने लगे। पर तभी आरा नगर में प्लेग का रोग आ गया। यह महामारी बहिन नेमसुन्दर को उसके ससुराल में लग गई।

वीर गम्भीर देवकुमार को डर छू नहीं गया था। जबकि लोग प्लेग से बीमार अपने को छोड़ रहे थे, वे नेमसुन्दर की अपने घर उठा लाए।

जब रोग ने नगर में जोर पकड़ा तो परिवार को लेकर अपने बाग में चले गए। फिर सभी को लेकर सम्प्रेद शिखर की यात्रा को निकल पड़े।

ईसरी में छोटे भाई धर्मकुमार को ज्वर हो आया।

उनकी नव-विवाहिता बहू चन्दा बाई भी साथ थी। देखते देखते धर्मकुमार को प्लेग हो गया। सभी पर वज्रपात हुआ।

बीमारी बढ़ चली और धर्मकुमार को अपार कष्ट था। भैया की गोद में उनका सर था और किसी की आँखों में नींद नहीं थी।

लोगो ने देवकुमार की आँखों में कभी आँसू नहीं देखे थे। उनकी डबडबाई आँखों से सभी की हिम्मत टूट चली थी। धर्मकुमार ने चिन्तायुक्त होकर अपनी नव-विवाहिता चन्दा की ओर देखा। देवकुमार ने प्रेमसिक्त स्वर में कहा—चिन्ता छोड़ दो। मैं तो हूँ। धर्मकुमार का मुख बाल सुलभ लज्जा सा होकर शान्त हो गया। उनका दातों को मीज कर कण्ठों का झेलना एक अद्भुत दृश्य था। भाभी अनूपमाला और जीजी नेमसुन्दर नन्हीं चन्दा के मुर्झाए मुख को देखकर सुबुक उठीं। परन्तु देवकुमार के नयनों के आर्तनाद को देख करके सहम कर रह गईं।

तभी १५ वर्ष के धर्मकुमार ने फिर आँखें खोलीं और भैया देवकुमार की ओर भक्ति और विनय से भरे नयनों से देखते हुए टूटते स्वर में कहा :—

“भैया! अब आशा दो, मैं चलूँ! कष्ट बरदाश्त के बाहर है।

धर्मसुन्दर की आँखों के अनुनय ने देवकुमार को बिल्कुल द्रवित कर दिया। भाई को कलेजे से लगा कर वे भरे हुए कण्ठ से मृदुल प्रवाह में णमोकार मंत्र का पाठ करने लगे। सभी की आँखों में आँसुओं की धारा थी और ओठों पर चित्कार की जगह मंत्र पाठ। हिवकियों के साथ प्रवाह रूप तब तक चलता रहा जब तक देव तुल्य देवकुमार ने लक्ष्मण स्वरूप भाई को जमीन पर नहीं लिटा दिया।

देवकुमार अब सचमुच देवतुल्य हो गए थे । २८-३० वर्ष के नवयुवक की कान्ति आत्मज्ञान से श्रोत प्रीत थी । ब्रह्मचर्य का धनी वह युवक जब जब निर्ग्रन्थ मुनि के रूप में दिग्गम्बर होकर ध्यान में निमग्न होता लोग नतमस्तक हो जाते ।

जप तप का क्रम चलता रहा और तब एक दिवस देवकुमार ने कहा—भारतवर्ष के तीर्थों की यात्रा पर चले ।

दक्षिण भारत की उनकी यात्रा अनूठी थी । बैलगाड़ियों का उनका कारवां जहाँ पड़ाव डालता वही पाठशालाये खोलने का कार्यक्रम चल निकलता । जिनवाणी का उद्धार, ताड़पत्रों एवं हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थों को जहाँ-तहाँ से निकलवा कर, साफ-सुथरा करा कर उनके सदुपयोग पठन-पाठन और ग्रन्थागारों में स्थानान्तर करने की प्रेरणा दी जाती ।

सारे दक्षिण में इस देवतुल्य युवक के आगमन की सूचना फैल गई और अगले गांव वाले गाजे-बाजे के साथ उनके आदर-सत्कार में मोलों तक सोत्साह आगे चले आते ।

देवकुमार के गुरु चारुकीर्ति महाराज उनके साथ थे और स्वयं दक्षिण भारतवासी होने के कारण उनके आनन्द का ठिकाना न था ।

धर्म के पावन प्रवाह में धर्मकुमार के महाप्रयाण का दुःख और धुलता जा रहा था । सभी परिवार वाले तीर्थों की इस अद्भुत यात्रा के सहगामी क्या हुए, वे कृतकृत्य हो गए ।

दक्षिण भारत से बम्बई, मध्य भारत, उत्तर प्रदेश और फिर अपना बिहार—जहाँ पहुँचे उसके पूर्व उनकी कीर्ति वहाँ पहुँची रहती । जहाँ पहुँचते वही शिक्षा-दीक्षा और जिनवाणी उद्धार का कार्यक्रम ऐसा चलता कि नगर में दूसरी कोई बात किसी की भी जुबान पर नहीं रहती ।

आखिर आरा नगर में भी उन्होंने वह किया जिसने उन्हें अमर कर दिया । श्री जैन सिद्धान्त भवन और कन्या पाठशाला की स्थापना । और फिर उनका निश्चय कि—

“जब तक जिनवाणी का उद्धार नहीं हो जाता अखंड ब्रह्मचर्य रखूंगा ।”

जिसने सुना श्रद्धावन्त हो गया ।

दक्षिण भारत की यात्रा में इनकी प्रेरणा पा कर चन्दाबाई ने स्त्री सभाओं में समाज और धर्म की सेवा का आन्दोलन आरम्भ किया । धर्म ग्रन्थों के अध्ययन के लिए पण्डितों और विद्वानों का सहयोग भी उन्हें मिला । भारतवर्ष के आकाश पर एक और चाँद उभर आया जिसने आगे चलकर “जैन बाला विश्राम” की स्थापना कर सैकड़ों, हजारों अबलाओं को शिक्षित किया, बल दिया, गौरव दिया । जैन महिला परिषद और जैन महिलादर्श द्वारा महिलाओं में क्रान्ति की ।

बहिन नेमसुन्दर का जीवन तो भैया देवकुमार पर सदा निछावर था । उनके लिए आदरणीय व्यक्ति दुनिया में कोई दूसरा न था । वे तो बस भैया के सुख में सुखी, दुःख में दुःखी थी । गौरव गाथा जब भी उनके मुख से निकलती थी—भैया की ।

और छोटे भाई धर्मकुमार की बहू चन्दाबाई के लिए तो वे सदा सब कुछ करने को दीड़ी फिरती । जब जैन बाला विश्राम की स्थापना धर्म कुञ्ज में हुई तो अपने पति से कहकर आलीशान शिक्षा-भवन बना कर उसके ऊपर भव्य जैन मन्दिर की स्थापना, प्रतिष्ठा इस धूमधाम से कराई कि जो जिसने देखा था भूला नहीं । स्वयं इन्द्राणी बनी और पति इन्द्र ।

इतना ही नहीं । बाहुबली का प्रथम दर्शन जो कि भैया देवकुमार के साथ दक्षिण की यात्रा में हुआ था उसे भुलाए न भूल सकती थी । उनकी देवभक्ति, गुरुभक्ति और शास्त्रभक्ति अनुपम थी ।

सो धर्मकुञ्ज आरा में बाहुबली की विशाल प्रतिमा की स्थापना प्रतिष्ठा कर उन्होंने अपूर्व पुण्य और यश प्राप्त किया ।

यह सब हुआ पर राजधि देवकुमार यह सब देखने को नहीं रहे थे । वे बहुत पहले महाप्रयाण कर चुके थे ।

हाँ, अपने जीवन काल में ही पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी के एक पैसे के पोस्ट कार्ड के ऊपर उन्होंने बनारस स्थित अपने निवास स्थान और धर्मशाला के भव्य भवन को स्यादाद विद्यालय के लिये देकर अत्यन्त उत्साहपूर्वक विद्यालय की सफलता के लिये कार्यरत हुए थे ।

भार्गव नेमसुन्दर बतलाती है :—

असाधारण बीमारी की दशा में अन्तर्गतवा उन्हें कलकत्ता उपचार के लिए ले जाया गया। उनके उपचार में किसी को हाथों की कोई परवाह नहीं थी। उन्हें तो किसी प्रकार बचाना ही था। उनके बिना घन किस काम का रहता। दोनों बच्चे अभी दश वर्ष के भी तो नहीं हुए थे।

राजर्षि यह सब देखने और हसकर कहते—अपने मन की सब बात निकाल लो पर जो होना है उसे कोई रोक सकता है क्या ?

एक लाख रुपये, उस बीमारी के उपचार में खर्च हो चुके पर बीमारी घटने का नाम न लेती। कलकत्ता का बड़ा से बड़ा डाक्टर और कविराज अपनी सारी योग्यता खर्च कर रहा था। स्वनामधन्य छोटेला जी जैन ने बतलाया :—

मैं उस समय छोटा था। अपने पिता के साथ सदा इस धर्मपरायण व्यक्ति के पास जाता था। उन्हें सदा चिन्तामुक्त पाया। अत्यन्त कृश हो गए थे। बोलते तो थक जाते थे, पर धर्म और सिद्धान्त की बात कहते तो लोग अपलक हो उनकी ओर देखते रह जाते। नियम पूर्वक चारुकीर्ति महाराज के साथ एकान्त में धर्मचर्चा शान्त होकर श्रवण करते थे। उनकी जुबान को कभी किसी ने 'उफ' करते हुए नहीं देखा। बीमारी तो ऐसी थी कि देखी नहीं जा सकती थी। कारबन्कल !!

६० वर्ष के ऊपर की वृद्धा नेमसुन्दर उस समय की गाथा विभोर होकर कहती थीं :—

“भैया को कभी डर किसी बात का छू नहीं गया था। वे नितान्त निर्भय थे। उसी बीमारी की अन्तिम दशा में मुझसे कहा—मैं तभी तुम्हें अपनी अच्छी बहिन समझूंगा जब तू मुझे चुपचाप डाक्टर की बात आकर बता देगी। मैं अपना अन्त भी बनाना चाहता हूँ। तू बता देना जब भी डाक्टर से ऐसी कोई बात सुनना।”

नेमसुन्दर ने कहा—“मैं तो उनकी ऐसी बात सुनकर सन्न रह गई और तब एक दिन मैंने डाक्टर के भूँ से सुना कि अब २४ घण्टे का समय शेष रह गया है तो मैं बिल्कुल सहम गई। भैया की कही बात, जो कि आदेश

के रूप में थी मैं भूल नहीं सकी थी। पर यह सूचना उन्हें देने के लिए मैं हिम्मत कहां से बटोहूँ।”

‘मैंने प्रभू को याद किया और फिर निर्भय होकर मैं उनके कमरे में पहुँची। उन्हें बिल्कुल चिंतन्य पाया। इसके पूर्व कि मैं कुछ बहूँ उन्होंने सूखे होठों पर मुस्कान लाकर मुझे पास बुलाया और कान में पूछा—कुछ सुनकर आई है ? मैं बिल्कुल हतप्रभ हो गई पर उन्हें देखकर मेरी हिम्मत फिर लौट आई। मैंने देखा कि वे सुनने को तैयार पड़े थे। मैंने सर हिलाकर हामी भरी और फूटफूटकर रो पड़ी। उन्होंने मेरे बालों में हाथ फेर कर मुझे चुप कराया। तब तक सभी कमरे में आ गये थे। उन्होंने अपने गुरु चारुकीर्ति स्वामी को पास बुलाया और पृथ्वी शंया देने का कहा। तभी भाभी अतृप्तसुन्दर फूट-फूटकर रोने लगी। भैया ने अपनी तेजस्वी आँखों को उठाया, जिसके इशारे सभी समझने लगे थे।”

“भाभी को पकड़ कर कमरे के बाहर ले जाया गया। भैया की आँखें फिर उठी और दरवाजे को बन्द कर दिया गया ताकि अन्दर रोने की आवाज न आये। और अन्त में भैया की आँखें और उनकी २१ अंगुलियों के इशारे को किसी को नकारने की हिम्मत नहीं हुई। उन्हें कलपते हृदय से हमने भू-शंया दी।

“चारुकीर्ति महाराज से उन्होंने हाथ जोड़कर मुनि-व्रत दिलाने को कहा।”

“ऐसी हिम्मत थी, मेरे भैया की। दिगम्बर मुनि का व्रत लेकर मन्त्र को होठों से धीरे-धीरे स्वयं कहते हुए एवं सिद्ध-भाक्त का पाठ सुनते हुए वे सदा के लिए परम शान्ति पूर्वक चले गये।”

इतना कह कर मेरी पूज्या वृद्धा नेमसुन्दर बूआ दादीजी ने अपनी आँखों के आँसू पोछ लिए।

मृत्यु के कुछ दिन पूर्व पूज्य दादाजी देवकुमार जी ने अपनी जमींदारी का सब से अच्छा और कीमती गांव का एक न्यास किया तथा एक वसीयतनामा लिखा। वह वसीयतनामा भी अपने में अद्भुत था। उसमें वे अपने सेवकों को भी भूलें नहीं थे।

अपने मुसलमान वृद्ध पिउन (नौकर) से लेकर उन

सभी पड़ोसियों और सम्बन्धियों के प्रति ऐसी उदारता अन्य किसी दस्तावेज में देखने को नहीं मिलेगी ।

जैन सिद्धान्त भवन आदि पारिवारिक संस्थाओं के लिए समय के हिसाबसे प्रचुर साधन का उन्होंने बसीयत कर दिया था ।

बूढ़ा बूआ दादीजी नेममुन्दर बीबी की बूढ़ी आँखें वर्षों पूर्व विचारों में खो जाती है और फिर अपने पूज्य भैया की कहानी समाप्त करते हुए वे कहती हैं—

“मृत्यु के बाद जैसे ही शव को लेकर लोग गंगा की ओर गए, हम सभी ओरतें रोते, कलपते हाबड़ा स्टेशन पर चली गईं । एक कोने में सभी सिमटी बैठी थीं । ओर होने को आया था । हम सब थकान से चूर मन से विरक्त गुमसुम पड़ी हुई थीं कि एकाएक आसमान की ओर से गाजे-बाजे की ध्वनि कर्णगोचर हुई...देवों का एक बड़ा समुदाय तरह-तरह के वाद्यों को बजाता, खुशी मनाता, नाचता चला जा रहा था आसमान के ओर भी ऊपर...और भी ऊपर...और बीच में एक सत्री-सजायी अलौकिक पालकी पर विराजमान थे भैया देवकुमार ।”

हम भीचकके भवाक् देख रहे थे और देखते-देखते सब भोझल हो गया । हमने एक दूसरे को देखा । सभी अपनी-अपनी आँखों को मल रहे थे जैसे सपना देखकर उठ रहे हों ।

अविश्वसनीय—फिर भी सच ।

एक बहुत बड़े बंगाली तांत्रिक हमारे घर आये हुए थे । हम सभी बच्चे बड़े भवकाश होकर सुन रहे थे उनकी कही बातें । पूज्यपाद दादा श्री देवकुमार जी के बारे में उन्होंने कुछ ऐसी बातें बतलाई कि उनके प्रति लोगों का आकर्षण और चढ़ गया ।

रात में उन्होंने अपनी सिद्धियों का प्रयोग दिख-लाया । कुछ एक भूत आत्माओं के चित्र सादे कागज पर आये । उनके हाथ के लिखे लेख में बातें करवाई और फिर पूज्य दादा जी देवकुमार जी को बुलाते-बुलाते थक गए । एक दूसरी माध्यम उनकी सेवक आत्मा ने लिख-कर सूचना दी—

‘वे दूर, बहुत दूर हैं, वहाँ तक हम लोगों का पहुँचना नहीं हो सकता ।’

वीर निर्वाणोत्सव

मनार्येगे निर्वाणोत्सव सोल्लास ।
करेंगे ब्रह्माण्ड-जीव अलौकिक आभास ॥
जन जन के स्वान्त में ।
भारत-भू के प्रान्त प्रान्त में ॥
गंजेंगे, सत्य, अहिंसा के सन्देश ।
त्रिरत्न का होगा सर्वत्र अन्तःप्रवेश ॥
स्याद्वाद सिद्धान्त से व्यावहारिक बनेगा ।
परस्पर सद्भाव शाश्वत बढ़ेगा ॥
मानवता की अर्चना में समवेत होगा संसार ।
विश्व शान्ति और बन्धुता के खिलेंगे पुष्प अपार ॥
वैमनस्य, विसंगति के साथ दूर होंगे विद्रोह ।
हाँ, सचमुच इसीलिए मनार्येगे यह समारोह ॥

—तेजपाल सिंह

घरौड़ा से प्राप्त चौमुखी जैन प्रतिमा

कुमारी शोभा नागर

हरियाणा प्रान्त साहित्य संस्कृति में ही नहीं, अपितु पुरातत्त्व और कलाकी दृष्टिसे भी अत्यन्त समृद्ध है। इसके पुराने टीले तथा खण्डहर आज भी अपने में उसकी प्राचीन कलाकी संजोये हैं। यद्यपि ऐतिहासिक सर्वेक्षण करने पर पता चलता है कि यहाँ बौद्ध भागवत और बौद्ध धर्मों के साथ-साथ जैन धर्म का विकास भी बहुत प्राचीन काल से ही हुआ है। परन्तु इस धर्मकी कलाकृतियाँ हमें यहाँ अपने प्राचीन रूप में नहीं मिलती। अभी तक उपलब्ध जैन कलाकृतियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पूर्व मध्यकाल में यह प्रदेश जैनधर्म का मुख्य केन्द्र बन चुका था।

प्रस्तुत प्रतिमा गुडगाँवा जिले के घरौड़ा ग्राम से, सड़क बनाने के लिए जमीन समतल करते समय प्रकाश में आई। यह ग्राम बल्लभगढ़ से ८ किलोमीटर दूर, इसके दक्षिण पूर्व में यमुना नदी के पुराने पाट पर स्थित है। अब यमुना नदी यहाँ से लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर बहनी है। हरे भरे खेतों के बीच पुराने टीले पर बसा यह ग्राम अत्यन्त रमणीक है। इसके टीले के आकार विस्तार को देख कर प्राचीन समय में इस स्थान की महत्ता का अनुमान सहज ही हो जाता है।

अब यह प्रतिमा इस गाँव के बाहर घरौड़ा-तिगांव सम्पर्क सड़क के किनारे खुले आकाश के नीचे स्थापित कर दी गई है। वहाँ के स्थानीय लोगों द्वारा 'खेड़ा देवता' के नाम से पूजा जाती है, परन्तु पास जाकर इसका निरीक्षण करने पर पता चला कि यह जैन धर्म की चतुर्मुखी प्रतिमा है। चौमुखी जैन प्रतिमाएं देश के अन्य भागों से भी मिली हैं। परन्तु हरियाणा प्रान्त से पहली बार ही प्रकाश में आई है।

प्रतिमा ११५ सेंटीमीटर लम्बी और ८५ सेंटीमीटर चौड़ी है। इसकी ऊंची पीठिका पर चार कोष्ठक प्रदर्शित हैं। प्रत्येक कोष्ठक में एक-एक तीर्थङ्कर विराजमान है। फणावली के कारण पार्श्वनाथ को पहचाना

जा सकता है। वे पद्मासन मुद्रा में सर्प पर आसीन हैं, उनके कान लम्बे हैं, गिर भग्न है। फणावली के नीचे दोनों ओर पुष्पाहारी बिद्यावर अंकित हैं। और उनके पीछे एक छोटी जिन प्रतिमा अन्तर्ध्यान मुद्रा में अंकित की गई है। फणावली के ऊपर जल अभिषेक करते हुए गज प्रदर्शित है। साथ के कोष्ठक में ऊँचे उष्णीष वाले ऋषभ देव जी है, सिर उनका भी मग्नावस्था में है। उनके गिर के पीछे कमल का सुन्दर प्रभामण्डल है। उनके कान लम्बे हैं और कन्धों को स्पर्श कर रहे हैं। कन्धों पर जटाओं का अंकन है जो समय के साथ कुछ मन्द सा पड़ गया है। श्रीवत्स का चिह्न यथास्थान अंकित है। इनके आसन से बैल का निशान भी कुछ मिट सा गया है, लेकिन ध्यानपूर्वक देखने से उसकी धुंधली सी आकृति दिखाई पड़ती है। प्रतिमा के शेष दो कोष्ठकों में शायद नेमिनाथ और महावीर जी थे। उनकी प्रतिमाएं खण्डित होकर बड़ी प्रतिमा से अलग हो चुकी हैं। इस प्रतिमा के कोष्ठक स्तम्भों पर तीर्थङ्करों के दोनों ओर उनकी सेवा में यक्ष और यक्षणी भी प्रदर्शित किये गये हैं।

प्रतिमा भूरे पत्थर में निर्मित हैं। प्रकृति के दुष्प्रभाव के कारण इसका पाषाण गल गया है। इसको देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि निरन्तर जनप्रवाह के कारण इसका सौन्दर्य बह गया हो। परन्तु फिर भी कहीं कहीं से बहुत चिकनाहट लिये हुए हैं। खण्डित होने पर भी इसमें अभी भी अध्यात्मिक रस छलकता है। लक्षणों और लाञ्छनों की सीमा में जकड़ी होने के पश्चात् भी यह अपने में अत्यन्त सौन्दर्य समेटे हुए है। तीर्थङ्करों के भरे गोलाई लिए हुए अंग इतने तरल हैं कि एक दूसरे से घुल मिल गये से प्रतीत होते हैं। कलात्मक रूप से अत्यन्त सराहनीय है।

सम्भवतः यह प्रतिमा ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी के आस पास निर्मित की गई होगी।



आदिपुराणगत ध्यानप्रकरण पर ध्यानशतक का प्रभाव

पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

राजा श्रेणिक के प्रश्न पर गौतम गणधर ने जो उमके लिए ध्यान का व्याख्यान किया था उसकी चर्चा करते हुए आदिपुराण के २१वें पर्व में ध्यान का विस्तार से निरूपण किया गया है। वहां जिस शैली से ध्यान का विवेचन किया गया है उस पर ध्यानशतक का प्रभाव अधिक रहा दिखता है। इतना ही नहीं, जैसा कि आगे आप देखेंगे, आदिपुराणगत कुछ श्लोक तो ध्यानशतक की गाथाओं के छायानुवाद जैसे दिखते हैं।

विषयविवेचन की शैली

ध्यानशतक में मंगल के बाद ध्यान का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि जो स्थिर अध्यवसान या मन की एकाग्रता है उसका नाम ध्यान है। उसको छोड़कर जो अवस्थित चित्त है वह भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता के भेद से तीन प्रकार का है। एक वस्तु में चित्त के अवस्थानरूप ध्यान अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रहता है और वह छद्मस्थों के होता है। जिनों का—सयोग और अयोग

१. षट्खण्डागम के ऊपर घबला टीका के रचयिता आचार्य वीरसेन स्वामी के समक्ष भी प्रकृत ध्यानशतक रहा है और उन्होंने उसके वर्णना खण्ड के अन्तर्गत कर्म-अनुयोगद्वारा में तपःकर्म का व्याख्यान करते हुए यथावसर उसकी ४०-५० गाथाओं की भी उद्धृत किया है (देखिये 'ध्यानशतक : एक परिचय' शीर्षक लेख—अनेकान्त वर्ष २४, किरण ६, पृ० २७१-७७); इसलिए यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सम्भव है घबला पर से हो आ० जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण में उस प्रकार से ध्यान का विवेचन किया हो; फिर भी आर्त और रोद्र ध्यानों के विवेचन पर भी, जो घबला में नहीं है, ध्यानशतक का प्रभाव रहा है। यहाँ यह स्मरणीय है कि आ. जिनसेन आ. वीरसेन स्वामी के शिष्य रहे हैं।

वेवलियों का—ध्यान योगों के निरोधस्वरूप है। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् चिन्ता अथवा ध्यानान्तर—अनुप्रेक्षा और भावनारूप चिन्तन—होता है। इस प्रकार से बहुत वस्तुओं में संक्रमण के होने पर ध्यान का प्रवाह चलता रहता है।

यही बात आदिपुराण में भी श्रेणिक के प्रश्न के उत्तरस्वरूप गौतम गणधर के द्वारा इस प्रकार कहलायी गई है—एक वस्तु में एकाग्रता रूप से जो चिन्ता का निरोध होता है उसे ध्यान कहा जाता है और वह जिसके वज्रर्षभनाराचसंहनन होता है उसके अन्तर्मुहूर्त काल तक ही होता है। जो स्थिर अध्यवसान है उसका नाम ध्यान है और जो चलाचल चित्त है—चित्त की अस्थिरता है—उसका नाम अनुप्रेक्षा, चिन्ता अथवा भावना है। पूर्वोक्त लक्षणरूप वह ध्यान छद्मस्थों के होता है तथा विश्वदृष्टि—सर्वज्ञ जिनों के—योगास्रव का जो निरोध होता है उसे उपचार से ध्यान माना गया है।

समानता के लिए निम्न पद्य देखिये—

अं चिरमज्जबसाणं तं ज्ञाणं अं चलं तयं चित्तं ।

तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चित्ता ॥

ध्यानशतक २.

स्थिरमध्यवसानं यत् तद् ध्यानं यच्चलाचनम् ।

सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव वा ॥

आदिपुराण २१-६.

ध्यान के भेद

पश्चात् ध्यानशतक में ध्यान के आर्त, रोद्र, धर्म और शुक्ल इन चार भेदों का निर्देश करते हुए उनमें अस्तिम दो ध्यानों को—धर्म और शुक्ल को—निर्वाण का साधक तथा आर्त और रोद्र ध्यानों को सत्सार का कारण बतलाया गया है।

२. ध्यानशतक २-४. ३. आदिपुराण २१, ८-१०.

४. ध्यानशतक ५.

तदनन्तर आदिपुराण में सामान्य ध्यान से सम्बद्ध कुछ प्रासंगिक चर्चा करते हुए (११-२६) आगे कहा गया है कि ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का माना गया है, इसका कारण शुभ व अशुभ अभिप्राय (चिन्तन) है। उक्त प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यानों में प्रत्येक दो दो प्रकार का है। इस प्रकार से ध्यान चार प्रकार का कहा गया है—आर्त, रौद्र (ये दो अप्रशस्त), धर्म और शुक्ल (ये दो प्रशस्त)। इनमें आदि के दो—आर्त और रौद्र—संसारवर्षक होने से हेय तथा अन्तिम दो—धर्म और शुक्ल—योगी जनो के लिए उपादेय है^१।

आर्तध्यान

आगे ध्यानशतक में चार प्रकार के आर्तध्यान का स्वरूप दिखलाते हुए वह किसके होता है, किसके नहीं होता है, तथा उसका फल क्या है; इसका निर्देश करते हुए उसके विषय में कुछ शका-समाधान भी किया गया है। तत्पश्चात् उक्त आर्तध्यान में सम्भव लेश्या, उसके ज्ञापक हेतु और गुणस्थान के अनुसार स्वामी का भी उल्लेख किया गया है^२।

इसी प्रकार आदिपुराण में भी उक्त चार प्रकार के आर्तध्यान के स्वरूप को प्रगट करते हुए उसके स्वामी, लेश्या, काल, आलम्बन, भाव, फल और परिचायक लिंगों का निर्देश किया गया है^३।

रौद्रध्यान

आर्तध्यान के पश्चात् ध्यानशतक में रौद्रध्यान के स्वरूप को बतला कर वह किस प्रकार के जीव के होता है, उसके रहते हुए लेश्यायें कौन सी सम्भव हैं, तथा उसके परिचायक लिंग कौन से हैं; इसका विवेचन किया गया है^४।

आदिपुराण में भी रौद्रध्यान का विचार करते हुए प्रथमतः उसके निक्तार्थ (प्राणिनां रोदनाद् रूद्रः, तत्र भवं रौद्रम्) को प्रगट किया गया है। तत्पश्चात् उसके

हिंसानन्द आदि चार भेदों का नामनिर्देश करते हुए यह कहा गया है कि वह प्रकृष्टतर तीन दुर्लेश्याओं प्रभाव से वृद्धिगत होकर छठे गुणस्थान से पूर्व पांच गुणस्थानों में सम्भव है व अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है। अनन्तर उसके उक्त चार भेदों का स्वरूप बतलाकर उसके परिचायक लिंगों व फल का निर्देश किया गया है। हिंसानन्द के प्रसंग में उसके लिए सिक्ध्य मत्स्य और अरविन्द नामक विद्याधर राजा का उदाहरण दिया गया है^५।

आदिपुराण में कुछ विशेष कथन

तदनन्तर यहाँ यह कहा गया है कि अनादि वासना के निमित्त से ये दोनों अप्रशस्त ध्यान विना ही प्रयत्न के होते हैं। इन दोनों ध्यानों को छोड़कर मुनिजन अन्तिम दो (धर्म व शुक्ल) ध्यानों का अभ्यास करते हैं। उत्तम ध्यान की सिद्धि के लिए यहाँ सामान्य ध्यान की अपेक्षा उसका कुछ परिकर्म^६ (देश, काल एवं आसन आदिरूप कुछ विशेष सामग्री) अभीष्ट बतलाया है^७।

यह परिकर्म का विवेचन यद्यपि यहाँ सामान्य ध्यान को लक्ष्य में रखकर किया गया है, फिर भी इस प्रसंग में कुछ ऐसा भी कथन किया गया है जो ध्यानशतक में धर्मध्यान के प्रकरण में उपलब्ध होता है व जिससे वह विशेष प्रभावित भी है। उदाहरणार्थ दोनों ग्रन्थों के इन पद्यों का मिलान किया जा सकता है—

निच्छ चिय जुवइ-पसू-नपुसग-कुसीलवज्जियं जइणो ।

ठाणं वियण भणिय विसेसओ भाणकालमि ॥

ध्यानशतक ३५.

स्त्री-पशु-क्लीब-संसत्तरहितं विजनं मुनेः ।

सर्वदेवोचितं स्थान ध्यानकाले विशेषतः ॥

भा. पु. २१-७७.

× × ×
जच्छिय देहावस्था जिया ण भाणोवरोहिणी होइ ।

आइउजा तववत्थो ठिओ निसणो निवणो वा ॥

ध्या. श. ३६.

१. भा. पु. २१, ४२-४३.

६. ध्यान के परिकर्म का विचार तत्त्वार्थवातिक (६, ४४) और भगवती आराधना (१७०६-७) में भी किया गया है।

७. भा. पु. २१, ५४-५५.

१. आदिपुराण २१, ११-२६.

२. ध्यानशतक ६-१८.

३. भा. पु. २१, ३१-४१.

४. ध्यानशतक १६-२७.

देहावस्था पुनर्येव न स्याद् ध्यानापरोक्षिनी ।
तदवस्थो मुनिर्ध्यायित् स्थित्वाऽऽसित्वाऽऽध्याय्य वा ॥

आ. पु. २१-७५.

× × ×
सञ्चामु बहृमाणा मुण्यो जं देस-काल-चेष्टासु ।
वरकेबलाहलाभं पत्ता बहृसो समियपावा ॥

ध्या. श. ४०.

यद्देश-काल-चेष्टासु सर्वास्वेव समाहिताः ।
सिद्धाः सिद्धयन्ति सेत्स्यन्ति नात्र तन्नियमोऽस्त्यतः ॥

आ. पु. २१-८२.

आदिपुराणगत इन तीनों श्लोको में ध्यानशतक की गाथाओं का भाव तो पूर्णतया निहित है ही, साथ ही उनके शब्दों के संस्कृत रूपान्तर भी प्रायः जैसे के तैसे लिए गये हैं ।

इस प्रकार परिकर्म की प्ररूपणा के बाद यहां ध्याता का लक्षण, ध्येय, ध्यान और फल; इन चार के कहने की प्रतिज्ञा की गई है और तदनुसार आगे क्रम से उनकी प्ररूपणा भी की गई है ।

ध्येय की प्ररूपणा के बाद ध्यान का कथन करते हुए यहां यह कहा गया है कि एक वस्तुविषयक प्रशस्त प्राणि-धान का नाम ध्यान है, जो धर्म्य और शुक्ल के भेद से दो प्रकार का है । यह प्रशस्त प्राणिधानरूप ध्यान मुक्ति का कारण है ।

यह कथन यद्यपि सामान्य ध्यान के आश्रय से किया गया है, फिर भी जैसा कि पाठक ऊपर देख चुके हैं, उसमें जो देश, काल और आसन आदि की प्ररूपणा की गई है वह ध्यानशतक के धर्मध्यान प्रकरण से काफी प्रभावित है ।

पूर्वोक्त ध्याता की प्ररूपणा में यहां यह कहा गया है कि जिन ज्ञान-वैराग्य भावनाओं का पूर्व में कभी चिन्तन नहीं किया है उनका चिन्तन करने वाला मुनि ध्यान में स्थिर होता है । वे भावनाये ये हैं—ज्ञानभावना, दर्शन-भावना, चारित्र्यभावना और वैराग्यभावना । इन चारों

१. जैसे—ध्याता ८५-१०३, ध्येय १०४-३१, ध्यान १३२, फल—धर्मध्यान १६२-६३, शुक्ल १८६.

२. आ. पु. २१-१३२.

भावनाओं के स्वरूप का भी यहां पृथक् पृथक् निर्देश किया गया है ।

इस कथन का आधार भी ध्यानशतक रहा है । वहां धर्मध्यान के बारह अधिकारों में प्रथम अधिकार भावना ही है । इस प्रसंग में निम्न गाथा व श्लोक का मिलान कीजिए—

पुण्यकयभासो भावणाहि ज्ञानस्त जोगयमुवेह ।

तामो य णाण-वंसण-चरित्त-वेरगज्जिण्यामो ॥

ध्या. श. ३०.

भावनाभिरसमूहो मुनिर्ध्यानस्थिरीभवेत् ।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वैराग्योपगताश्च ताः ॥

आ. पु. २१-६५.

इसी प्रसंग में आदिपुराण में वाचना, पृच्छना, अनु-प्रेक्षण, परिवर्तन और सद्धर्मदेशन इनको ज्ञानभावना कहा गया है । ध्यानशतककार ने इन्हें धर्मध्यान के आलम्बनरूप से ग्रहण किया है । ज्ञानभावना का स्वरूप दिखलाते हुए ध्यानशतक में यह कहा गया है कि ज्ञान के विषय में किया जाने वाला नित्य अभ्यास मन के धारण—अशुभ व्यापार से रोककर उसके अवस्थान—को तथा सूत्र व धर्म की विशुद्धि को भी करता है । जिसने ज्ञान के आश्रय से जीव-अजीवादि सम्बन्धी गुणों की यथार्थता को जान लिया है वह अतिशय स्थिरबुद्धि होकर ध्यान करता है ।

धर्मध्यान

ध्यानशतक में धर्मध्यान की प्ररूपणा करते हुए उस पर आरुढ़ होने के पूर्व मुनि को किन-किन बातों का जान लेना आवश्यक है, इसका निर्देश करते हुए इन बारह अधिकारों की सूचना की गई है—१ भावना, २ देश, ३ काल, ४ आसनविशेष, ५ आलम्बन, ६ क्रम, ७ ध्या-तव्य, ८ ध्याता, ९ अनुप्रेक्षा, १० लेश्या, ११ लिङ्ग और १२ फल ।

इनमें से आदिपुराण में सामान्य ध्यान के परिकर्म के

३. आ. पु. २१, ६४-६६.

४. आ. पु. २१-६६.

५. ध्या. श. ४२.

६. ध्या. श. ३१.

प्रसंग में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है; देश^१, काल^२, आसनविशेष^३ और आलम्बन^४ की प्ररूपणा की गई है जो ध्यानशतक से बहुत कुछ प्रभावित है।

ध्यातव्य की प्ररूपणा करते हुए ध्यानशतक में ध्यान के विषयभूत (ध्येयभूत) आज्ञा, अपाय, विपाक और द्रव्यों के लक्षण-संस्थानादि इन चार की प्ररूपणा की गई है^५।

ध्यातव्य या ध्येय के भेद से जो धर्मध्यान के आज्ञा-विचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार भेद निष्पन्न होते हैं उनकी प्ररूपणा आदिपुराण में भी यथाक्रम से की गई है^६।

ध्यानशतक में आज्ञा की विशेषता को प्रगट करते हुए जो अनेक विशेषण दिये गये हैं उनमें से अनादि-निघना, भूतहिता, अमिता, अजिता (अजय्या) और महानुभावा; इन विशेषणों का उपयोग आदिपुराण में भी किया गया है^७।

ध्यातव्य के चतुर्थ भेद (संस्थान) की प्ररूपणा करते हुए ध्यानशतक में द्रव्यों के लक्षण, संस्थान, आसन (आधार), विधान (भेद) और मान (प्रमाण) को तथा उत्पादादि पर्यायों के साथ पचास्ति कायस्वरूप लोक, तद्-गत पृथिवियों, वातवलयो एव द्वीप-समुद्रादिकों को चिन्तनीय (ध्येय) बतलाया है। इसके अतिरिक्त उपयोगादि-स्वरूप जीव व उसके कर्मजनित ससाररूप समुद्र को दिखलाते हुए उससे पार होने के उपाय का भी विचार करने की प्रेरणा की गई है।

इसी प्रकार आदिपुराण में भी संस्थानविचय नामक चतुर्थ धर्मध्यान की प्ररूपणा करते हुए लोक के आकार,

१. आ. पु. २१, ५७-५८ व ७६-८०.

२. वही २१, ८१-८३.

३. वही २१, ५६-७५.

४. वही २१-८७

५. ध्या. श.—आज्ञा ४४-४६, अपाय ५०, कर्मविपाक ५१, संस्थान ५२-६०.

६. आ. पु.—आज्ञा २१, १३५-४१, अपाय १४१-४२, विपाक १४३-४७, संस्थान १४८-५४.

७. ध्या. श. ४५-४६; आ. पु. २१, १३७-३८.

जीवादि तत्त्वो और द्वीप-सुद्रो एव वातवलयो आदि को चिन्तनीय कहा गया है। साथ ही वहाँ यह भी कहा गया है कि जीवभेदों एवं उनके गुणों का चिन्तन करते हुए उनका जो प्रपणे ही पूर्वकृत कर्म के प्रभाव से ससार-समुद्र में परिभ्रमण हो रहा है उसका तथा उससे पार होने के उपाय का भी विचार करना चाहिए। तुलना के रूप में निम्न गायार्थें व श्लोक द्रष्टव्य हैं—

खिद्वलद्वीव-सागर नय-विमाण-नदणादिसटाण ।

बोमाहपहट्टाणं निययं लोमट्टिद्विहाणं ॥

ध्या. श. ५४.

द्वीपाब्धि-बलयानद्रोन् सरितश्च सरांसि च ।

विमान-भवन-व्यन्तरावास-नरकक्षितिः ॥

आ. पु. २१-१४६.

×

×

×

तस्स य सकम्मज्जिय जम्माइजल कसाय-पायालं ।

वसणसय-सावयमणं मोहावत्त महाभीम ॥

ध्या. श. ५६.

तेषां स्वकृतकर्मानुभावोत्थमतिदुस्तरम् ।

भवाब्धि व्यसनावर्तं दोष-यादःकुलाकुलम् ॥

आ. पु. २१-१५२.

×

×

×

किं बहुणा सर्वं त्रिय जीवाहपयस्थविस्थरोपेयं ।

सर्वनयसमूहमयं ज्ञाएज्जा समयसम्भाष ॥

ध्या. श. ६२.

किमत्र बहुनोषतेन सर्वोऽप्यागमविस्तरः ।

नयभङ्गशताकीर्णो ध्येयोऽप्यात्मविशुद्धये ॥

आगे आदिपुराण में उक्त धर्मध्यान के काल व स्वामी का निर्देश करते हुए कहा गया है कि उसका अवस्थान अन्तर्भूत काल रहता है तथा वह अप्रमत्त दशा का आलम्बन लेकर अप्रमत्तों में परम प्रकर्ष को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उसकी स्थिति आगमपरम्परा के अनुसार सम्यग्दृष्टियों में और शेष सयतासंयत व प्रमत्त-संयतों में भी जानना चाहिए। साथ ही उसे प्रकृष्ट शुद्धि को प्राप्त तीन लेखाओं से वृद्धिगत बतलाया गया है^८।

८. आ. पु. २१, १५५-५६.

तदनन्तर यहाँ धर्मध्यान से सम्बद्ध सायोपशमिक भाव का निर्देश करते हुए उसके अन्तर्गत और बाह्य चित्तों की सूचना की गई है। फल इसका पाप कर्मों की निर्जरा और पुण्योदय से देवसुख की प्राप्ति बतलाया गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि उसका साक्षात् फल स्वर्ग की प्राप्ति और पारम्परित मोक्ष की प्राप्ति है। इस ध्यान से च्युत होने पर मुनि को अनुप्रेक्षाओं के साथ भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए, जिससे ससार का अभाव किया जा सके^१।

ध्यानशतक में जिन १२ अधिकारों के द्वारा धर्मध्यान की प्ररूपणा की गई है उनमें धर्मध्यान के स्वामी, लेश्या और फल आदि का विवेचन यथावसर किया ही गया है। स्वामी के विषय में प्रकृत दोनों ग्रन्थों में कुछ मतभेद दृष्टिगोचर होता है। यथा—

ध्यानशतक में धर्मध्यान के ध्याता कौन होते हैं, इसका विचार करते हुए कहा गया है कि सब प्रमादों से रहित मुनि तथा उपशान्तमोह और क्षीणमोह उसके ध्याता कहे गये हैं। उपशान्तमोह और क्षीणमोह का अर्थ हरिभद्रसूरि ने उसकी टीका में उपशामक निर्ग्रन्थ और क्षपक निर्ग्रन्थ किया है। अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि वह धर्मध्यान सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक होता है^२।

परन्तु आदिपुराण में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उक्त धर्मध्यान के स्वामित्व का विचार करते हुए उसे चौथे असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही बतलाया गया है^३।

यह मान्यता तत्त्वार्थवातिक का अनुसरण करने वाली है, तत्त्वार्थवातिकार के सामने यह पूर्वोक्त मान्यता रही है कि वह धर्मध्यान अप्रमत्तसंयत के तथा उपशान्तमोह और क्षीणमोह के होता है^४। इसीलिए वहाँ यह शंका

उठायी गई है कि धर्मध्यान अप्रमत्तसंयत के होता है? इसका निराकरण करते हुए वहाँ यह कहा गया है कि ऐसा मानने पर इससे पूर्व के असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतसंयत और प्रमत्तसंयत गुणस्थानों में उसके अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। आगे पुनः यह दूसरी शंका उठायी गयी है कि वह उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थानों में होता है? इसका भी निराकरण करते हुए वहाँ कहा गया है कि यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वैसा होने पर उक्त दोनों गुणस्थानों में जो शुक्लध्यान होता है उसके अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। यदि इन दोनों गुणस्थानों में धर्म्य और शुक्ल इन दोनों ही ध्यानों को स्वीकार किया जाय तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि आर्षं (आगम) में धर्म्यध्यान को उपशम और क्षपक इन दोनों ही श्रेणियों में नहीं माना गया है तथा उसे वहाँ पूर्व के असंयतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में स्वीकार किया गया है^५। वह आर्ष कौनसा रहा है, यह यहाँ स्पष्ट नहीं है।

शुक्लध्यान

शुक्लध्यान का निरूपण करते हुए आदिपुराण में उसके आम्नाय के अनुसार शुक्ल और परमशुक्ल ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इनमें छस्रस्थों के शुक्ल और केवलियों के परमशुक्ल कहा गया है^६। इन भेदों का संकेत ध्यानशतक में भी उपलब्ध होता है, पर वहाँ परमशुक्ल से समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नाम का चतुर्थ शुक्ल ध्यान ही अभीष्ट रहा दिखता है^७।

आगे दोनों ग्रन्थों में जो शुक्लध्यान के पृथक्त्व-वितर्क सविचार आदि चार भेदों का निरूपण किया गया है सह बहुत कुछ समानता रखता है।

ध्यानशतक में शुक्लध्यानविषयक क्रम का निरूपण करते हुए एक उदाहरण यह दिया गया है कि जिस प्रकार सब शरीर में व्याप्त विष को मन्त्र के द्वारा क्रम से हीन करते हुए डकस्थान में रोक दिया जाता है और तत्पश्चात् प्रधानतर मन्त्र के योग से उसे डक से भी हटा दिया जाता है, उसी प्रकार तीनों लोकों को विषय

१. आ. पु. २१, १५७-६४.

२. ध्या. श. ६३.

३. आ. पु. २१, १५५-५६.

४. आज्ञाऽशाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य । उपशान्त-क्षीणकषाययोश्च ।

त. सु. (श्वे.) ६, ३७-३८.

५. त. वा. ६, ३६, १३-१५.

६. आ. पु. २१-१६७.

७. ध्या. श. ८६.

करने वाले मन को ध्यान के बल से क्रमशः हीन करते हुए उसे परमाणु में रोका जाता है और तत्पश्चात् जिन-रूप वेंछ उसे उस परमाणु से भी हटा कर मन से सर्वथा रहित हो जाते हैं' ।

यही उदाहरण कुछ भिन्न प्रकार से आदिपुराण में भी दिया गया है । यथा—वहां कहा गया है कि जिस प्रकार सब शरीर में व्याप्त विष को मन्त्र के सामर्थ्य से खींचा जाता है उसी प्रकार समस्त कर्मरूपी विष को ध्यान के सामर्थ्य से पृथक् किया जाता है' ।

एक अन्य उदाहरण मेघों का भी दोनों ग्रन्थों में दिया गया है, जिसमें पूर्णतया समानता है । यथा—

जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जति ।

ज्ञाणपवणावहूया तह कम्मघणा विलिज्जति ॥

ध्या. श. १०२

१. ध्या. श. ७१.

२. आ. पु. २१-२१४ ।

यद्वद् वाताहताः सद्यो विलीयन्ते घनाघनाः ।

तद्वत्कर्म-घना यान्ति लयं ध्यानानिलाहताः ॥

आ, पु. २१-२१३

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों की ध्यानविषयक वर्णनशैली तथा शब्द, अर्थ और भाव की समानता को देखते हुए इसमें सन्देह नहीं रहता कि आदिपुराण के अन्तर्गत वह ध्यान का वर्णन ध्यानशतक से अत्यधिक प्रभावित है । यहां इस शका के लिय कोई स्थान नहीं है कि सम्भव है आदि-पुराण का ही प्रभाव ध्यानशतक पर रहा हो । इसका कारण यह है कि ध्यानशतक पर हरिभद्र सूरि द्वारा एक टीका लिखी गई है, अतः ध्यानशतक की रचना निश्चित ही हरिभद्र के पूर्व में हो चुकी है तथा टीकाकार हरिभद्र सूरि निश्चित ही आचार्य जिनसेन के पूर्ववर्ती हैं । इससे यही समझना चाहिए कि आदिपुराण के रचयिता जिनसेन स्वामी के समक्ष प्रकृत ध्यानशतक रहा है और उन्होंने उसमें ध्यान का वर्णन करते हुए उसका पूरा उपयोग भी किया है ।

बुद्धिमान् पुरुषार्थी

त्यजति न विदधानः कार्यमुद्विज्य धोमान्,

खलजनपरिवृत्तेः स्पर्धते किन्तु तेन ।

किमु न वितनुतेऽर्कः पद्मबोधं प्रबुद्ध-

स्तदपहृतिविधायी शीतरश्मिर्यदोह ॥

बुद्धिमान् पुरुषार्थी प्रारम्भ किये हुए कार्य को दुष्टजन की प्रवृत्ति से उद्वेग को प्राप्त होकर छोड़ नहीं देता, किन्तु उससे स्पर्धा करता है—दिखाये गये दोषों से दूर रह कर उसे पूरा करने का ही प्रयत्न करता है । सो उचित ही है—सूर्य के द्वारा विकसित किये गये कमलों को यद्यपि चन्द्रस्मा मुकुलित किया करता है, फिर भी उससे खिन्न न होकर सूर्य पुनः उदय को प्राप्त होता हुआ उन्हें विकसित करता है ।

द्रोणगिरि-क्षेत्र

पं० बलभद्र जी न्यायतीर्थ

स्थिति और मार्ग—द्रोणगिरि मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले में विजावर तहसील में स्थित है। द्रोणगिरि क्षेत्र पर्वत पर है। वहाँ पहुँचने के लिए २३२ सीढ़ियाँ चढ़नी पड़नी है। सीढ़ियाँ पक्की बनी हुई हैं। पर्वत की तलहटी में सेंधपा नामक छोटा-सा गाँव है। यहाँ पहुँचने के लिए सेण्ट्रल रेलवे के सागर या हरपालपुर, स्टेशन पर उतरना चाहिए। सुविधानुसार मऊ, महोबा या सतना भी उतर सकते हैं। प्रत्येक स्टेशन से क्षेत्र लगभग १०० कि० मी० पड़ता है। सभी स्थानों से पक्की सड़क है। कानपुर-मागूर रोड अथवा छतरपुर-सागर रोड पर मलहरा ग्राम है। मलहरा से द्रोणगिरि ७ कि० मी० है। पक्की सड़क है। सागर स्टेशन से मलहरा तक बसें चलती हैं। यदि पूरी बस की सवारी हों तो बस क्षेत्र तक चली जाती है। अन्यथा नियमित बसों द्वारा मलहरा पहुँच कर वहाँ से बेलगाड़ी द्वारा जा सकते हैं।

सेंधपा ग्राम कठिन और श्यामला नामक नदियों के बीच बसा हुआ है। निरन्तर प्रवाहित रहने वाली इन नदियों ने इस स्थान की प्राकृतिक सुन्दरता को अत्यन्त आह्लाददायक बना दिया है। ग्राम में जाते ही मन में शान्ति अनुभव होने लगती है। ग्राम से सटा हुआ द्रोणगिरि पर्वत है। यहाँ प्रकृति ने तपोभूमि के उपयुक्त सुषमा का समस्त कोष सुलभ कर दिया है। मधन वृक्षा-बली, निर्जन-प्रदेश, वन्य पशु, चन्द्रभागा नदी, पर्वत से झरते हुए निर्भर से बने दो निर्मल कुण्ड; ये सभी मिलकर इसे तपोभूमि बनाते हैं।

निर्वाणभूमि—द्रोणगिरि निर्वाण-क्षेत्र है। प्राकृत निर्वाणकाण्ड में इस सम्बन्ध में निम्न लिखित उल्लेख है—

फलहोडी बडगामे पच्छिमभायम्मि द्रोणगिरिसिहरे ।
गुरुदत्तादिमुनिदा णिव्वाण गया णमो तेसि ॥

अर्थात् फलहोडी बडगाँव के पश्चिम में द्रोणगिरि पर्वत है। उसके शिखर से गुरुदत्त आदि मुनिराज निर्वाण को प्राप्त हुए। उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ।

संस्कृत निर्वाणभक्ति में केवल क्षेत्र का नाम द्रोणीमान् दिया है। उसका कोई परिचय अथवा वहाँ से मुक्त होने वाले मुनि का नाम नहीं दिया है।

निर्वाणकाण्ड में द्रोणगिरि की पूर्व दिशा में जिस फलहोडी बडगाँव का उल्लेख किया है, वह गाँव आजकल नहीं मिलता है। इसके निकट सेंधपा ग्राम है, जिसका कोई उल्लेख नहीं है। सम्भव है, यहाँ प्राचीन काल में फलहोडी बडगाँव रहा हो और वह किसी कारणवश नष्ट हो गया हो। वास्तव में सेंधपा गाँव विशेष प्राचीन प्रतीत नहीं होता। कहा तो यह जाता है कि जिस भूमि पर यह ग्राम बसा हुआ है वह निकटवर्ती ग्राम की श्मशान भूमि थी। वैसे अब भी यहाँ किसी ग्राम के अवशेष प्राप्त होते हैं और उन अवशेषों में सैकड़ों खण्डित जैन मूर्तियाँ भी बिखरी पड़ी हैं। जैनतर लोग अनेक जैन मूर्तियों को यहाँ से ले गये हैं और उन्हें जगह-जगह चबूतरों पर विराजमान करके विभिन्न देवी-देवताओं के नाम से पूजते हैं। पर्वत की तलहटी में एक प्राचीन जैन चैत्यालय अब भी खड़ा हुआ है, जिसे लोग बंगला कहते हैं। यदि यहाँ खुदाई की जाय तो यहाँ पर पुरातत्त्व की विपुल सामग्री मिलने की सम्भावना है।

निर्वाणकाण्ड के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि यहाँ से न केवल गुरुदत्त मुनि ही मोक्ष पधार है, अपितु अन्य मुनि भी मुक्त हुए हैं। वास्तव में तपोभूमि के

१. द्रोणीमति प्रबलकुण्डलेण्डके च,
वंभारपर्वततले वरसिद्धकूटे ।
ऋष्यद्रिके च विपुलाद्रिबलाहके च,
विन्ध्ये च पीदनपुरे वृषदीपके च ॥२६

उपयुक्त रमणीयता को देखते हुए प्राचीन काल में यहाँ तपस्या के लिए प्राणा अधिक सम्भव था और अनेक मुनियों का यहाँ से निर्वाण प्राप्त करना भी असम्भव नहीं था।

द्रोणगिरि नामक एक पर्वत ऋषिकेश से नीची घाटी की ओर जाते हुए १६६ मील दूर जुम्मा से दिखाई पड़ता है। यह कुमायूँ में है। इसे दूनगिरि भी कहते हैं। किन्तु इस पर्वत के निकट फलहोड़ी नामक कोई ग्राम कभी रहा था, ऐसे प्रमाण नहीं मिलते। अतः यह द्रोणगिरि गुरुदत्त आदि मुनियों की तपोभूमि रहा हो, ऐसी सम्भावना प्रतीत नहीं होती। इतना अवश्य है कि हिन्दू परम्परा में वाल्मीकि तथा तुलसीकृत रामायणों में लक्ष्मण के शक्ति लगने पर हनुमान द्वारा जिस द्रोणगिरि पर्वत से संजीवनी बूटी लाने के उल्लेख मिलते हैं, वह द्रोणगिरि हिमालय शृंखला में स्थित यही द्रोणगिरि था, ऐसी मान्यता प्रचलित है। हिन्दू मान्यता के अनुसार विष्णु ने कूर्मावतार यहीं लिया था। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वर्तमान सेंघवा ग्राम के निकटस्थ द्रोणगिरि ही वह पर्वत है, जहाँ से हनुमान संजीवनी बूटी ले गये थे। इन विद्वानों की धारणा है कि श्री रामचन्द्र वनवास के समय ओरछा भी पधारे थे। इसके निकट 'रमन्ना' (रामारण्य) वन में ठहरे थे और उस समय वे द्रोणगिरि पर्वत पर भी आये थे।

प्राचीन शास्त्रों में द्रोणगिरि का उल्लेख—निर्वाण-काण्ड और निर्वाणभक्ति के प्रतिरिक्त द्रोणगिरि या द्रोणिमान् पर्वत का उल्लेख भगवती-भाराधना, भाराधना-सार, भाराधनाकथाकोष, हरिवेणकथाकोष आदि ग्रन्थों में भी आया है। भगवती-भाराधना में आचार्य शिवकोटि इस प्रकार वर्णन करते हैं—

हृत्थिणपुरगुरुदत्तो सम्मलियालो व द्रोणिमंतम्भि।

डङ्गुतो अघियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५५२॥

अर्थात् हस्तिनापुर के निवासी गुरुदत्त मुनिराज द्रोणिमान् पर्वत के ऊपर संबलियाली के समान जलते हुए उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए। संबलियाली का अर्थ है—एक

कर्तन जिसमें घास-फूस भरी हो और उसका मुख नीचे की ओर हो तथा उसके चारों ओर अग्नि लगी हो। अग्नि लगने पर जिस प्रकार भीतर का घास-फूस जलने लगता है, उसी प्रकार द्रोणिमान् पर्वत के ऊपर गुरुदत्त मुनिराज भी जलकर मुक्त हुए।

इसी प्रकार अन्यत्र भी इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

वास्तव्यो हास्तिने धीरो द्रोणीमति महीधरे।

गुरुदत्तो यतिः स्वार्थं जप्राहानलवेष्टितः ॥

अर्थात् हस्तिनापुर के निवासी गुरुदत्त मुनि ने द्रोणीमान् पर्वत पर अग्नि लगने से अग्नि के प्रयोजन (स्वार्थ) को सिद्ध किया।

पौराणिक आख्यान—भगवती-भाराधना और भाराधनासार नामक शास्त्रों में द्रोणगिरि पर्वत पर गुरुदत्त मुनिराज के ऊपर हुए जिस उपसर्ग की ओर संकेत किया है, उसके सम्बन्ध में हरिवेणकृत कथाकोष में विस्तृत कथानक दिया गया है जो इस प्रकार है—

श्रावस्ती नगरी का शासक उपरिचर पद्मावती, अमित्रप्रभा, सुप्रभा और प्रभावती नामक चारों रानियों के साथ प्रमदवन में विहार के लिए गया। ये जब सुदर्शन बावड़ी में क्रीड़ा कर रहे थे, तभी विद्युद्दंष्ट्र नामक एक विद्याधर अपनी पत्नी मदनवेगा के साथ विमान ले आकाश में जा रहा था। विद्याधरी जल-क्रीड़ा करते हुए राजा और रानियों को देखकर बोली—वन्य हैं ये रानियाँ जो अपने पति के साथ जल-क्रीड़ा में आसक्त हैं। पत्नी के मुख से अन्य पुरुष की प्रशंसा सुनकर विद्याधर को बड़ा बुरा लगा। गुस्से के मारे वह विमान को लौटा से गया और अपनी पत्नी को अपने घर छोड़कर वह पुनः उसी बावड़ी के पास आया और एक बड़ी भारी शिला से बावड़ी को ढक दिया। इससे दम घुटकर पाँचों प्राणी मर गये। राजा क्रोध में मरकर साँप बना तथा चारों रानियाँ सस्यदर्शन के प्रभाव से स्वर्ग में देवियाँ बनीं। वहाँ अवधिज्ञान से पूर्व भव का वृत्तान्त जानकर अपने पूर्व भव के पति के जीव को सम्बोधन करने आईं। तभी उस राजा का पुत्र अनन्तवीर्य उस वन में विहार करने आया। वहाँ उसने एक शिलातल पर विराजमान अवधिज्ञानी

सागरसेन नामक मुनिराज को देखा। राजा अनन्तवीर्य उनके निकट आया और दर्शन वन्दन करके उनके पास बैठ गया। उसने मुनिराज से प्रश्न किया—भगवन् ! मेरे पिता मरकर किस गति में उत्पन्न हुए हैं ? मुनिराज बोले—बापी में जब तेरा पिता रानियों के साथ जल-कीड़ा कर रहा था, तभी विद्युद्वंष्ट्र विद्याधर ने शिला से बापी को ठक दिया, जिससे मरकर वह वहीं निकट ही सांप हुआ है। तू जा और उससे कहना—‘उपरिचर’ तू साधु के निकट जा। तेरी बात सुनकर वह बिल से बाहर निकलकर धर्म ग्रहण करेगा।

मुनिराज के वचन सुनकर राजा अनन्तवीर्य बिल के निकट जाकर मुनिराज के कहे अनुसार बोला। उसकी बात सुनकर वह सर्प मुनिराज के समीप गया। मुनि ने उसे उपदेश दिया। उपदेश सुनकर सर्प को जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। उसने अपनी प्रायु अल्प जानकर हृदय से धर्म ग्रहण कर लिया और कुछ दिनों बाद भ्रष्टान् बनकर हुए उसकी मृत्यु हो गई। शुभ भावों से मरकर वह नागकुमार जाति का देव हुआ। भवविज्ञान से अपने पूर्व-भव जानकर वह देव अनन्तवीर्य के पास आया। देव के वचन सुनकर अनन्तवीर्य को वैराग्य हो गया। वह अपने सुवासु नामक पुत्र को राज्य देकर सागरसेन मुनि के समीप निर्ग्रन्थ मुनि बन गया और घोर तपस्या द्वारा कर्मों का नाश करके मुक्त परमात्मा बन गया।

नागकुमार देव सुमेरु पर्वत आदि पर जाकर जिनालयों की वन्दना किया करता था। एक दिन विमान में जाते हुए उसे विद्युद्वंष्ट्र विद्याधर दिखाई पड़ा। पूर्वजन्म की घटना का स्मरण आते ही उसे भयायक क्रोध आया और उसे मय स्त्री के समुद्र में ले जाकर डुबो दिया। विद्युद्वंष्ट्र अशुभ परिणामों से मरकर प्रथम नरक में तारकी बना। वहाँ से प्रायु पूर्ण होने पर वह द्रोणगिरि पर सिंह हुआ।

नागकुमार मरकर हस्तिनापुर-नरेश विजयदत्त की विजया रानी से गुरुदत्त नामक पुत्र हुआ। जब वह यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ तो पिता गुरुदत्त का राज्याभिषेक करके मुनि बन गये। गुरुदत्त आनन्दपूर्वक राज्य-शासन करने लगा। एक बार उसने लाटदेश में द्रोणगिरि की

पूर्वोत्तर दिशा में स्थित चन्द्रपुरी नगरी के राजा चन्द्रकीर्ति से उसकी छोटी कन्या अभयमती मांगी। किन्तु राजा ने अपनी कन्या का विवाह गुरुदत्त के साथ करने से इन्कार कर दिया। इससे रुष्ट होकर गुरुदत्त ने चन्द्रकीर्ति पर आक्रमण कर दिया। अन्त में चन्द्रकीर्ति को बाध होकर अपनी पुत्री का विवाह गुरुदत्त के साथ करना पड़ा। गुरुदत्त कुछ समय वहीं ठहर गया।

एक दिन ग्राम के कुछ लोग गुरुदत्त नरेश के पास आये और हाथ जोड़कर कहने लगे—‘देव ! द्रोणीमान् पर्वत पर एक व्याघ्र ने बड़ा उत्पात कर रखा है। उसने हमारे न केवल गोकुल को, अपितु कई मनुष्यों को भी खा लिया है। आप हमारी रक्षा करें।’ प्रजा की कृपण पुकार सुनकर राजा गुरुदत्त सैनिकों को लेकर द्रोणीमान् पर्वत पर पहुँचा। सेना के कलकल शब्द से घबड़ाकर वह सिंह एक गुफा में घुस गया। उसके मारने का अन्य कोई उपाय न देखकर सैनिकों ने गुफा में ईंधन इकट्ठा करके उसमें आग लगा दी। सिंह धुएँ और आग के कारण उसी गुफा में मर गया और मरकर चन्द्रपुरी में भव-धर्म नामक ब्राह्मण के घर में कपिल नामक पुत्र हुआ।

राजा गुरुदत्त अपनी पत्नी को लेकर सैनिकों के साथ हस्तिनापुर लौट आया और राज्य-शासन करने लगा। एक बार सात सौ मुनियों के साथ आचार्य श्रुतसागर नगर के निकट पधारे। उनके उपदेश को सुनकर राजा और रानी दोनों ने दीक्षा ले ली। एक दिन मुनि गुरुदत्त विहार करते हुए द्रोणीमान् पर्वत के निकटस्थ चन्द्रपुरी नगरी के बाहर ध्यान लगाये खड़े थे। कपिल अपनी स्त्री से मध्याह्न बेला में भोजन के लिए कहकर खेत जोतने चला गया। उसी खेत में गुरुदत्त मुनि ध्यानारुढ़ थे। वह खेत पानी से भरा होने के कारण जोतने लायक नहीं था। अतः वह दूसरे खेत को जोतने चला गया। और मुनि से कहता गया कि ‘स्त्री भोजन लेकर आबेगी, उससे कह देना कि मैं दूसरे खेत पर गया हूँ।’ उसकी स्त्री मध्याह्न में भोजन लेकर आई और वहाँ पति को न पाकर उसने मुनि से पूछा। किन्तु मुनि ने कोई उत्तर नहीं दिया तो वह घर लौट गई।

सन्ध्या तक कपिल भूखा रहा। भूख के मारे गुस्से में सरा हुआ वह घर लौटा और अपनी स्त्री को डाटते हुए कहने लगा—‘दुष्टे! तुमसे रोटी लाने को कह गया था। तू फिर भी रोटी नहीं लाई। मैं सारे दिन भूखा मरता रहा।’ स्त्री भयाक्रान्त होकर बोली—‘मैं तो रोटी लेकर गई थी, किन्तु तुम वहाँ मिले ही नहीं। मैंने वहाँ खड़े नंगे बाबा से भी पूछा, लेकिन उसने भी कोई जवाब नहीं दिया तो मैं क्या करती, लौट आई।’

स्त्री की बात सुनकर भ्रज कपिल को साधु पर क्रोध आया और विचारने लगा—सारा दोष उस साधु का है। उसी के कारण मुझे भूखा रहना पड़ा। भतः उसे इसका पाठ पढ़ाना चाहिए। यह विचार कर वह फटे-पुराने कपड़े, तेल और आग लेकर फिर खेत में पहुँचा। उसने सिर से पैर तक मुनिराज के शरीर पर चिथड़े लपेटकर और उन पर तेल छिड़क कर घाग लगा दी। घाग लगते ही मुनिराज का शरीर जलने लगा। किन्तु वे आत्म-ध्यान में लीन थे। उन्हें बाह्य शरीर का लक्ष्य ही नहीं था। वे शुद्ध भावों में लीन रहकर शुक्ल ध्यान में पहुँच गये। तभी उन्हें लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्रकट हो गया। चार्गे निकाय के देव गुरुदत्त मुनिराज के केवलज्ञान की पूजा के लिए वहाँ आये। योगीश्वर गुरुदत्त का यह चमत्कार और प्रभाव देखकर कपिल ब्राह्मण भय से काँता हुआ उनके चरणों में जा गिरा और क्षमा-याचना करने लगा। वीतराग भगवान् को न तो उसके अपराध पर रोष ही था और न उसकी क्षमा-याचना पर हर्ष। वे तो रोष-हर्ष आदि से ऊपर थे। फिर कपिल ने भगवान् केवली के मुख से उपदेश सुनकर जन्म-जन्मान्तरों का वैर त्याग कर उन्हीं के चरणों में दीक्षा ले ली।

विचारणीय प्रश्न—इस कथानक में तीन बातें विचारणीय हैं। एक तो यह कि गुरुदत्त केवली किस स्थान से भुक्त हुए। इस कथानक में इस बात का कोई उल्लेख नहीं किया गया। दूसरी यह कि इस कथानक में द्रोणीमान् या द्रोणगिरि को तोणिमान् पर्वत कहा है तथा इसका उल्लेख चन्द्रपुरी के सन्दर्भ में इस प्रकार किया गया है—

माटदेशामिधे देखे चारुलोक-धनान्विते ।

पूर्वोत्तरदिशाभागे तोणिमद्भूषणस्य च ॥

भासीचन्द्रपुरी रम्या सितप्रासादसंकुला ।

बहुलोकसमाकीर्णा धन-धान्यसमन्विता ॥

—हरिवेण-कथाकोश, कथा १३६, श्लोक ४५-४६।

इसमें चन्द्रपुरी का वर्णन करते हुए उसे लाटदेश में और तोणिमान् पर्वत की पूर्वोत्तर दिशा (ईशानकोण) में बताया है। इससे ऐसा आभास मिलता है कि तोणिमान् पर्वत लाटदेश में था।

इस कथानक से एक नया प्रश्न भी उभरता है। वह यह कि उनको केवलज्ञान भी द्रोणीमान् (तोणीमान्) पर्वत पर नहीं हुआ था, वह चन्द्रपुरी नगरी के बाहर खेतों में हुआ था।

इन तीन प्रश्नों का समाधान मिलना तथा भगवती आराधना से उसका सामंजस्य स्थापित होना अत्यन्त आवश्यक है। भगवती आराधना के अनुसार द्रोणिमान् पर्वत के ऊपर जलते हुए गुरुदत्त मुनि ने उत्तमार्थ प्राप्त किया। आराधनासार में भी इसी आशय की पुष्टि की गई है। इसमें भी द्रोणीमान् पर्वत के ऊपर अभिन लगने पर उन्होंने आत्मप्रयोजन की सिद्धि बताई है। कथाकोश ग्रन्थों में द्रोणीमान् पर्वत के ऊपर तो उपसर्ग होने का प्रायः उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु उस पर्वत के निकट किसी स्थान पर यह भयंकर उपसर्ग हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। निर्वाण-काण्ड में द्रोणगिरि के शिखर से गुरुदत्त मुनि के निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख है। इसमें उपसर्ग होने का कोई उल्लेख नहीं किया गया। इससे स्पष्ट है कि उपसर्ग के तत्काल बाद ही गुरुदत्त को निर्वाण प्राप्त नहीं हुआ। उपसर्ग द्रोणगिरि पर नहीं हुआ। किन्तु उपसर्ग के पश्चात् उन्हें केवलज्ञान हुआ और निर्वाण द्रोणगिरि पर हुआ। भगवती आराधना और आराधनासार (भा. ५०) में उपसर्ग का उल्लेख करते हुए द्रोणीमान् पर्वत पर जिस आरमार्थ की प्राप्ति या आत्मप्रयोजन की सिद्धि का उल्लेख किया गया है, उससे आचार्यों का अभिप्राय केवलज्ञान की प्राप्ति से ही है। जैसा कि कथाकोश ग्रन्थों से भी समर्थन प्राप्त होता है। हरिवेण कथाकोश में चन्द्रपुरी के निकट जिस स्थान पर यह घटना घटी वह, लमता है,

द्रोणगिरि के निकट ही था। इसलिए उसे द्रोणगिरि की उपत्यका न लिखकर द्रोणगिरि ही लिख दिया। निर्वाण-काण्ड की स्पष्ट सूचना से हरिषेण कयाकोश की अधूरी सूचना की पूर्ति हो जाती है। वह यह कि गुरुदत्त की मुक्ति द्रोणगिरि पर हुई।

अब सबसे अधिक विचारणीय समस्या रह जाती है कि द्रोणगिरि कहाँ पर था? हरिषेण की सूचनानुसार वह लाटदेश में था। यदि तोणीमान् को चन्द्रपुरी के निकट न मानकर उससे अत्यधिक दूर खींचने का प्रयत्न करें तो सहज ही प्रश्न उठ सकता है कि फिर द्रोणगिरि का उल्लेख वहाँ करने की आवश्यकता क्या थी? और उस स्थिति में भगवती आराधना आदि ग्रन्थों के वर्णन की संगति किस प्रकार बैठ गई जा सकेगी? एक कल्पना यह भी हो सकती है कि तोणीमान् पर्वत द्रोणीमान् या द्रोणगिरिसे भिन्न था। किन्तु इस कल्पना के मानने पर गुरुदत्त मुनि दो मानने पड़ेंगे। फिर तोणीमान् पर घटित घटना का उपयोग द्रोणीमान् पर्वत के लिए नहीं हो सकेगा। इसलिए यह मानने से कोई हानि नहीं है कि द्रोणगिरि के कई नाम थे। उसे द्रोणगिरि के प्रतिरिक्त द्रोणाचल, द्रोणीमान् और तोणीमान् भी कहते हैं।

किन्तु कठिनाई यह रह जाती है कि लाटदेश (गुजरात) में किसी द्रोणगिरि के होने की कोई सूचना नहीं है। किसी प्राचीन स्थल-कोश से भी इसका समर्थन नहीं होता। वर्तमान में जहाँ द्रोणगिरि (छतरपुर के निकट) माना जाता है, उसके निकट फलहोड़ी गाँव का पता सरकारी कामजों से भी नहीं लगता। फलहोड़ी और फलोधी की किञ्चित् समानता के कारण फलहोड़ी की पहचान फलोधी से करके उसको द्रोणगिरि के साथ सम्बद्ध करना, द्राविडी-प्राणायाम के प्रतिरिक्त कुछ भी नहीं है। किन्तु कुछ शताब्दियों से तो द्रोणगिरि (छतरपुर के निकट वाला) तीर्थ क्षेत्र माना ही जाता रहा है। सम्भव है, वहाँ पर मन्दिर बनाने वालों को मान्यता-विषयक परम्परा का समर्थन मिला हो।

सभी सम्भावनाओं और फलिताओं पर विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि शताब्दियों से

जिसे सिद्धक्षेत्र के रूप में मान्यता और जनता की श्रद्धा प्राप्त है वह तीर्थक्षेत्र तो है ही। विशेषतः उस स्थिति में जब कि किसी दूसरे द्रोणगिरि की सम्भावना असिद्ध है। अतः वर्तमान द्रोणगिरि ही सिद्धक्षेत्र है, यह मान लेना पड़ता है।

क्षेत्र-वर्णन—द्रोणगिरि की तलहटी में सेंधपा गाँव बसा हुआ है। गाँव में एक मन्दिर है। जिसमें आदिनाथ भगवान की मूलनायक भव्य प्रतिमा विराजमान है। यहीं दोमजिली दो जैन धर्मशालायें बनी हुई हैं। धर्मशाला से दक्षिण की ओर दो फर्लांग दूर पर्वत है। पर्वत के दायें ओर बायें बाजू से कठिन और श्यामली नदियाँ सदा प्रवाहित रहती हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानों ये सदा-नीरा पार्वत्य सरिताएँ इस सिद्धक्षेत्र के चरणों को पक्षार रही हों। पर्वत विशेष ऊँचा नहीं है। पर्वत पर जाने के लिए २३२ पक्की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। चारों ओर वृक्षों, वनस्पतियों और लता-गुल्मों ने मिलकर क्षेत्र पर सौन्दर्य-राशि बिखेर दी है।

पर्वत के ऊपर कुल २८ जिनालय बने हुए हैं। इनमें तिगोड़ा वालो का मन्दिर सबसे प्राचीन है। इसे ही बड़ा मन्दिर कहा जाता है। इसमें भगवान आदिनाथ की एक सातिशय प्रतिमा संवत् १५४६ की विराजमान है। सम्मदशिखर जी के समान यहाँ पर भी चन्द्रप्रभ टोंक, आदिनाथ टोंक आदि टोंकें हैं। यही १३ फुट ऊँची एक प्रतिमा का भी निर्माण हुआ है।

अन्तिम मन्दिर पार्श्वनाथ स्वामी का है। नीचे ३ गज ऊँची १॥ गज चौड़ी और ४.५ गज लम्बी एक गुफा बनी हुई है। इस गुफा के सम्बन्ध में विचित्र प्रकार की विविध किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। एक किंवदन्ती यह है कि सेंधपा गाँव का रहने वाला एक भील प्रतिदिन इस गुफा में जाया करता था और कमल का एक सुन्दर फूल लाया करता था। उसका कहना था कि गुफा के अन्त में दीवाल में एक छोटा छिद्र है। उसमें हाथ डालकर वह फूल तोड़ कर लाता था। उस छिद्र के दूसरी ओर एक जिसस जलाशय है। उसमें कमल खिले हुए हैं। वहाँ अलौकिक प्रभा-पूज है। बिलकुल इसी प्रकार की किंवदन्ती मांभी-तुंगो क्षेत्र पर भी प्रचलित है।

एक दूसरी किंवदन्ती यह है कि यह गुफा १४-१५ मील दूर भीमकुण्ड तक गई है।

इन किंवदन्तियों में तथ्य कितना है, यह जानने का प्रयत्न सम्भवतः प्राज तक नहीं हुआ। क्षेत्र पर लगभग १३ फुट ऊँचा ४॥ फुट मोटा वर्तुलाकार एक मानस्तम्भ बना हुआ है। स्तम्भ के मूल में दो-दो इंच की पद्यासन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। तथा स्तम्भ के शीर्ष भाग में तीन और सवा फुट ऊँची खड्गासन मूर्तियाँ हैं और एक और पद्यासन मूर्ति विराजमान है। प्रत्येक मूर्ति के ऊपर दो दो पत्तियों में १२-१२ खड्गासन मूर्तियाँ बनी हुई हैं जो प्रायः तीन इंच ऊँची हैं। इन छोटी मूर्तियों में अनेक खण्डित हैं। कुल मूर्तियों की संख्या १०४ है।

पर्वत की तलहटी से एक मील आगे जाने पर श्यामली नदी का जलकुण्ड बना हुआ है, जिसे कुण्डी कहते हैं। वहाँ दो जलकुण्ड पास-पास में बने हुए हैं, जिनमें एक क्षीतल जल का है और दूसरा उष्ण जल का है। यहाँ चारों ओर हर, बहेड़ा, धांवला आदि वनोप-धियों का बाहुल्य है। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त आकर्षक है। इस वन में हरिण, नीलगाय, रोझ आदि वन्य पशु निर्भयतापूर्वक विचरण करते हैं। कभी-कभी सिंह, तेंदुआ या रीछ भी इधर जल पीने आ जाते हैं।

क्षेत्र पर शिकार-निषेध का राजकीय आदेश—विजा-बर नरेश राजा भानुप्रताप (रियासतों के विलीनीकरण से पूर्व) के समय से इस तीर्थ पर शिकार आदि खेलना राज्य की ओर से निषिद्ध है। इससे सम्बन्धित फर्मान, जो राज्य दरबार से जारी किया गया था, इस प्रकार है—

नकल हुक्म दरबार विजावर इजलास जनाब येत-माहगाम मुंशी शंकरदयाल साहब दीवान रियासत मुसवते दरबार सन जैन पचास सभा सेषपा जरिये दुलीचन्द वैशा-खिया अजना सरक्षक जैन सभा मारु जे १२ मई सन् १९३१ ईसवीय दरखास्त फर्माये जाने हुक्म न खेलने गिकार क्षेत्र द्रोणगिरि वार्क मोजा सेषपा पर अनीज इसके कि विला इजाजत जैन सभा दीगर कीम के लोग क्षेत्र मजकूर पर न जा सके हुक्मी इजलास खास रकम जदे २५ मई सन् १९३१ ईसवीय ऐमाद कराये जाने मुस्तहरी कोई शरूस वगैर इजाजत जैन सभा पर्वत पर न जाये न शिकार खेले।

(मुहर)

हुक्म हुआ जरिये परचा मुहकमा जगल अ मुहकमा पुलिस के वास्ते तामील इत्तला दी जावे। तारीख २८ मई सन् १९३१ ई०।

इस फर्मान द्वारा द्रोणगिरि पर्वत पर जैन समाज का पूरा अधिकार माना गया है तथा जैन सभा की आज्ञा के बिना शिकार खेलने पर पाबन्दी लगा दी गई है।

शोकजनक घटनाएँ—इस शताब्दी में क्षेत्र पर दो अत्यन्त शोकजनक घटनाएँ घटित हुईं। एक तो वीर सम्बत् २४२० में। इस समय एक चरवाहे ने पार्श्वनाथ मन्दिर में प्रतिमा के हाथों के बीच में लाठी फंसाकर खण्डित कर दिया था। दूसरी घटना वीर सम्बत् २४५७ के लगभग हुई। उस समय किसी ने पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति को नासिका से खण्डित कर दिया था। अपराधी बाद में पकड़ा गया था और उसे दण्ड भी दिया गया था।

★

सृजनता का लक्षण

हेत्वन्तरकृतोपेक्षे गुण-बोधप्रवर्तिते ।

स्यातामादान-हाने चेत् तद्व सौजन्यलक्षणम् ॥

—वादीभसिंह

सत्पुरुष उसे समझता चाहिए जो अन्यान्य कारणों की उपेक्षा कर केवल गुणों के कारण वस्तु को ग्रहण करता है और दोषों के कारण उसे छोड़ता है।

बहोरोवन्द प्रतिमा लेख

डा० कस्तूरचन्द 'सुमन'

१. स्वस्ति.....[व] दि ६ [भो] मे श्रीमद् गयाकर्ण-
देव विजय रा-
 २. ज्ये राष्ट्रकूट कुलोद्भव महासामन्ताधिपति श्रीमद्-
गोलहणदेवस्य प्रवर्द्धमानस्य ॥
 ३. श्रीमद् गोल्लापूर्वाम्नाये वेल्लप्रभाटिकायामुरुकुला-
म्नाये तत्कर्ताकीं (कि) चूडामणि श्रीम-
 ४. आष्विनदिनानुगृहि(ही)तः तस्साधु श्री स(र्व्वं)
घर[:] तस्य पुत्र[:]महा[भो]ज[:] घर्मदानाध्ययन-
रतः [।] तेनेदं का-
 ५. रितं रम्यं सां(शां)तिनाथस्य मंदिरं (रम्) ॥ स्वलान्य-
मसज्जक सूत्रधार[:]स्त्रे (श्रे) स्टि(ष्टि) नामा [।]
वितो(ता)न च महाश्वे-
 ६. तं निम्मितमतिसुंदर[रम्] ॥ श्रीमच्चन्द्रकराचार्याम्नाय
देसी(शी) ग [णा] न्वये समस्त विद्या विनये (या)
नंदित-
 ७. विद् [ज्ज]ना[:] प्रतिष्ठाचार्य्यं श्रीमत सुभद्राश्वरं
जयंतु ॥
- [इन्स्क्रिप्शन्स आफ दि कलचुरि चेदि एरा जि. ४, भा. १
पृ. ३०६]
१. सवत् १०...फाल्गुन वदि ६ सोमे श्रीमद् गयाकर्ण-
देव विजय रा -
 २. ज्ये राष्ट्रकूट कुलोद्भव महासामन्ताधिपति श्रीमद्-
गोलहण देवस्य प्रवर्द्धमानस्य
 ३. श्रीमद् गोल्लपृथी...मय...
शेष अपठनीय
[कनिष्म रिपोर्ट ६, पृ० ३६]

हिन्दी भाषार्थ

श्रीमद् गयाकर्णदेव के विजय राज्य में प्रवर्द्धमान
राष्ट्रकूट कुल में उत्पन्न महासामन्ताधिपति गोलहणदेव
के शासनकाल में गोलापूर्व ग्रामनाथ में उत्पन्न साधु

सर्व्वघर हुए हैं। सर्व्वघर ताकिर्कों में श्रेष्ठ श्रीमान् माधव-
नन्दि से अनुगृहीत थे। सर्व्वघर का महाभोज नामक पुत्र
था। महाभोज ने घर्म, दान तथा अध्ययन में रत रहकर
इस शान्तिनाथ मन्दिर का निर्माण कराया था। श्रेष्ठी
विरुद से विभूषित सूत्रधार संजक ने सफेदी कर मन्दिर
का सौन्दर्य बढ़ाया। चन्द्रकराचार्याम्नाय के (देशीगण में
मे उत्पन्न) आचार्य सुभद्र द्वारा वदि ६ भोमवार
के दिन प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख है। श्री
सुभद्र ने अपनी अर्जित विद्या और विनय से विद्वानों
को आनन्दित किया था। प्रतिष्ठा वेरुलप्रभाटिका में
सम्पादित हुई ज्ञात होती है अथवा प्रतिष्ठा कराने वाले
महाभोज वहाँ के निवासी थे।

: अन्य :

जबलपुर जिले में सिहोरा (तहसील) से १५ मील
दूर स्थित इस क्षेत्र के नाम के सम्बन्ध में मान्यता है कि
पानी के लिए निमित बांधों की बहुलता के कारण इसे
यह नाम दिया गया है। कनिष्म ने इसके समीपवर्ती
क्षेत्र में ४५ बांधों का होना बताया है। आज भी चारों
ओर तालाब विद्यमान हैं।

कनिष्म ने बताया है कि यहाँ एक बहुत बड़ा नगर
था। टूटी हुई ईंटों तथा वर्तनों के ऊँचे स्थानों पर उप-
लब्ध अवशेष इस तथ्य के साक्षी हैं। नगर का कोई पर-
कोटा न था। कनिष्म ने इसका थोलावन नाम होने की
सम्भावना भी अभिव्यक्त की है। नाम के दो शब्दों में
थोला का अर्थ सम्भवतः थोड़ा और वन का अर्थ पानी
होता है। सम्भवतः थोड़ा पानी रहने के कारण इसे यह
संज्ञा दी गयी हो तथा बाब में प्रयत्न करने पर पानी
बहुत मात्रा में प्राप्त हो जाने के कारण इसे बहुवन कहा
जाने लगा। पानी के बहुरने से भी बहोरोवन नाम रखा
जाना ज्ञात होता है। गांव में बहुरने का प्रयोग लौटने

अर्थ में होता है। अतः यह सम्भावना तर्कसंगत प्रतीत होती है।

: तिथि निर्णय :

प्रस्तुत लेख सर्वप्रथम श्री कनिष्क ने पढ़कर इस ओर अन्य विद्वानों को आकर्षित किया था। कनिष्क के बाद डा० भण्डारकर ने अभिलेख का भावार्थ प्रकाशित कराया था। लेख उन्होंने अपठनीय निर्देशित किया था। संवत् सूचक अंक श्री मिराशी जी भी नहीं समझ सके। उन्हें काल सूचक अंक-स्थल टूटा हुआ मिला था।

श्री कनिष्क ने संवत् १० पढ़ा था। शासक गया-कर्णदेव का संवत् ६०२ का एक लेख तेवर (जबलपुर) से भी मिला है। गयाकर्णदेव के पुत्र नरसिंहदेव संबंधी भेड़ा-घाट से उपलब्ध संवत् ६०७ का तथा भरहुन से उपलब्ध संवत् ६०६ का लेख भी उल्लेखनीय है।

तेवर लेख के निम्न पद्य द्रष्टव्य है—

अत्रेयगोत्रेऽखिल राजचक्र जिगीषु राजोर्जति कर्णदेवः ।
तस्माद्यशः कर्णनरेस्वयंभूतस्यात्मजोऽयं गयाकर्णदेवः ॥३॥

आकल्प पृथिवीं शास्तु श्रीगयाकर्णपाथिवः ।

समतो नरसिंहेन युवराजेन सूनुना ॥४॥

इन पद्यों में गयाकर्णदेव का नरसिंह नामक युवराज पुत्र बताया गया है। उसका अपने पिता के साथ शासन करना भी ज्ञात होता है। युवराज उल्लेख से गयाकर्णदेव का वृद्धत्व भी सूचित है। अतः यह तेवर लेख गयाकर्णदेव की वृद्धावस्था का कहा जा सकता है।

बहोरीबन्द लेख गयाकर्णदेव के आरम्भिक शासन-काल की सूचना देता है। तेवर, भित्तरी, भरहुन लेखों में कलचुरि संवत् व्यवहृत हुआ है। किन्तु इस लेख में शक संवत्। शक संवत् १०२२ में यदि ईसवी और शक संवत् के अन्तर ७७ वर्ष ५ माह को जोड़ दिया जावे तो

संवत् १०६६ वर्ष निश्चित होता है। तेवर लेख में यह लेख ५० वर्ष पूर्व का होने से इसे गयाकर्णदेव के आरम्भिक शासनकाल में अंकित कराया जाना कहा जा सकता है।

इस भांति यह लेख शक संवत् १०२२ या उससे कुछ ही पूर्व का निश्चित होता है। श्री मिराशी जी का यह कथन भी तर्कसंगत है कि यह लेख या तो दमवीं शती के अन्त का है या ग्यारहवीं शती के आरम्भ का। इसमें विक्रम संवत् व्यवहृत नहीं हुआ है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो संवत् सूचक अंक ११ या १२ अवश्य होते।

: अन्य :

श्री कनिष्क को यह १२ फुट २ इंच ऊँची ३ फुट चौड़ी, खड़गासन मुद्रा में, हरिण लाञ्छन से युक्त शान्ति-नाथ प्रतिमा एक पीपल के वृक्ष के नीचे मिली थी। आसन पर ७ पंक्ति का लेख है। सम्प्रति मन्दिर निर्मित हो रहा है।

मुनि काम्तिसागर ने लिखा है कि इस प्रतिमा को लोग 'खनुवादेव' कहकर लातों, जूतों और बुहारियों से पूजते थे ताकि डर के मारे वे सुविधायें देते रहें। प्रतिमा के दर्शनों से मनोकामनाएँ भी पूर्ण हुई हैं। ईसवी १९६३ की क्षेत्रीय वार्षिक रिपोर्ट में तहसीलदार ध्रुवदेवसिंह को पुत्ररत्न की उपलब्धि का उल्लेख है।

बेल्लप्रभाटिका

अभिलेख में 'बेल्लप्रभाटिका' स्थान का उल्लेख आया है। यह स्थान बाकल से समीकृत किया जा सकता है। बाकल प्रथम तो गोल्लापूर्व आम्नाय के समृद्ध श्रावकों का आवास है। दूसरे बाकल क्षेत्र के समीप है। वहाँ से दिन में आना-जाना सुविधापूर्वक सम्भव है।

साहित्य-समीक्षा

महावीर जयन्ती स्मारिका—प्रधान सम्पादक पं० भँवरलाल पोल्याका जैनदर्शनाचार्य, साहित्यशास्त्री। प्रकाशक—रतनलाल छावड़ा मन्त्री राजस्थान जैन सभा, जयपुर। मूल्य दो रुपया।

कुछ वर्षों से महावीर जयन्ती के अवसर पर राजस्थान जैन सभा जयपुर की ओर से यह स्मारिका प्रति वर्ष निकाली जा रही है। प्रस्तुत स्मारिका सन् १९७३ की है। यह तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में ऐसे लेखों का संकलन है जो अधिकारी विद्वानों के द्वारा धर्म, दर्शन और समाज के सम्बन्ध में लिखे गये हैं। द्वितीय खण्ड में कला और साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले महत्त्वपूर्ण लेखों का चयन किया गया है। तीसरे खण्ड में इंगलिश में लिख गये लेखों का संग्रह है। स्मारिका में महावीर जयन्ती समारोह से सम्बन्धित चित्रों के अतिरिक्त कितने ही मन्दिर एवं मूर्तियों आदि के चित्र भी दे दिये गये हैं। लेख सभी उपयोगी व पठनीय हैं। राजस्थान जैन सभा जयपुर का यह कार्य स्तुत्य है। इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन के लिए प्रधान सम्पादक, सम्पादक-मण्डल एवं प्रकाशक आदि को विशेष धन्यवाद देना चाहिए।

‘जैन जगत का आहार विशेषांक’—सम्पादक—रिषभ-दास राँका, प्रकाशक—भारत जैन महामण्डल, १५ ए हार्निमन सर्कल, फोर्ट, बम्बई-१।

प्रस्तुत विशेषांक में आहारविषयक लगभग ५०-६० लेख संगृहीत हैं। वर्तमान में जो मांसाहार का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा है उसे देखते हुए ऐसे विशेषांक की बहुत आवश्यकता थी। विशेषांक में ऐसे कितने ही लेख हैं जो मांसाहार से होने वाली हानियों का दिग्दर्शन कराते हुए शाकाहार को स्वास्थ्यप्रद प्रमाणित करते हैं। उनमें कुछ लेख विदेशी विद्वान् डाक्टरों के द्वारा लिखे गये हैं—जैसे फ्रान्स के लगनशील शाकाहारी डा० जीन नुस्तवाम ब

ज्योफी एल० रुड (सेक्रेटरी इण्टर नेशनल वेजीटेरियन यूनियन व द वेजीटेरियन सोसाइटी ग्रेट ब्रिटेन आदि)। इस समय विदेशों में शाकाहार का प्रचार बढ़ रहा है, जब कि हमारे भारत की स्थिति उससे विपरीत हो रही है। जो जीवनतत्त्व मांस में पाये जाते हैं उनसे कई गुने वे गेहूं, चावल, दाल, शाक-सब्जियों एवं फलों में पाये जाते हैं। प्रस्तुत अंक में इसे कुछ तालिकाओं द्वारा प्रमाणित भी किया गया है। स्वास्थ्यप्रद भोज्य पदार्थ कौन से हैं तथा भोजन कब और कितना करना चाहिए इत्यादि बातों पर इस अंक में अच्छा प्रकाश डाला गया है। साथ ही मांसाहारियों का स्वभाव कैसा क्रूर बन जाता है व बुद्धि कुण्ठित रहती है, इसे भी अनेक लेखों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

कुछ स्वादोलुपी अण्डों को विशेष स्वास्थ्यप्रद बतलाते हैं। पर उनके प्रयोग से कितने रोग हो सकते हैं, इसे डा० सरयूदेवी लोमा के द्वारा लिखे गये ‘शाकाहारी भोजन और प्राकृतिक चिकित्सा’ शीर्षक लेख (पृ० २३४ से २३७) में बहुत कुछ स्पष्ट किया गया है। लेख में उन विदेशी डाक्टरों का नामोल्लेख भी किया गया है जिन्होंने खोजकर यह प्रमाणित किया है कि अण्डों के प्रयोग से अनेक रोग होते हैं।

प्रस्तुत “आहार-विशेषांक” के प्रगट करने के लिए सम्पादक व प्रकाशक आदि का विशेष आभार मानना चाहिए।

राजस्थान के जैन शास्त्रभण्डारों की ग्रन्थ-सूची पंचम भाग—सम्पादक—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए., पी-एच. डी. व पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ साहित्यरत्न। प्रकाशक—प्रबन्धकारिणी कमेटी दि० जैन अ० क्षेत्र श्री-महावीरजी। बड़ा आकार, पृष्ठ संख्या ४८ + १३८६, मूल्य ४०)।

प्रस्तुत ग्रन्थसूचीमें ४५ शास्त्रभण्डारों की १०६० पाण्डुलिपियों का परिचय कराया गया है। इस परिचय में

ग्रन्थ, पत्रसख्या, आकार (प्रतिकी लम्बाई-चौड़ाई), भाषा, लेखनकाल और प्राप्तिस्थान आदि की यथासम्भव सूचना की गई है। इन पाण्डुलिपियों में कितने ही ऐसे गुटके भी हैं, जिनमें से किसी-किसी में तो १८० तक छोटी मोटी रचनाएँ - जैसे पूजा, स्तुति एवं कथाएँ आदि -- पायी जाती हैं (जैसे—दि० जैन अग्रवाल मन्दिर उदयपुर का गुटका नं० ३, पृ० ११३४-४१)। ग्रन्थ की प्रस्तावना में कुछ शास्त्र-भण्डारों के परिचय के साथ उनमें उपलब्ध हुई अनेक ऐसी कृतियों की भी सूचना की गई है, जो प्रायः अभी तक परिचय में नहीं आई थी। ग्रन्थसूची के अन्त में ग्रन्थानुक्रमिका, ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार तथा ग्राम एवं नगर नामावलि; इन महत्त्वपूर्ण परिशिष्टों को भी जोड़ दिया गया है। इससे ग्रन्थ का महत्त्व बढ गया है व शोध-खोज करने वाले विद्वानों को बहुत सुविधा हो गई है।

ऐसे श्रममाध्य कार्यों के सम्पन्न करने में समय व शक्ति

अधिक लगती है। यह महान् कार्य श्री डा कस्तूरचन्द जी कासलीवाल एम ए, पी-एच. डी और पं. अनूपचन्द जी न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न के द्वारा सम्पन्न हुआ है। इसके लिये वे अतिशय अभिनन्दनीय हैं। साथ ही प्रबन्धकारिणी कमेटी श्री दि. जैन अ. क्षेत्र श्रीमहावीरजी व उसके मुख्य मंत्री श्री सोहनलाल जी सौगाणी को भी धन्यवाद देना चाहिये, जिनकी लगन व प्रेरणा से यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो सका है। यह ग्रन्थ सम्पन्न सार्वजनिक धार्मिक संस्थाओं के लिए अनुकरणीय है। ग्रन्थ की छपाई आदि भी ठीक है। ग्रन्थ की जिल्द भारी हो गई है व उसके टूट कर बिखर जाने की आशंका है। यदि इसे २ जिल्दों में विभक्त कर दिया गया होता तो ठीक रहता, भले ही मूल्य प्रत्येक जिल्द का २५-२५) रुपया रख दिया जाता।

—बालचन्द्र शास्त्री

निर्वाण महोत्सव के अवसर पर सार्वजनिक उपयोग के साहित्य का निर्माण

राष्ट्रपति श्री बी० बी० पिरि की सरक्षकता तथा प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की अध्यक्षता में गठित राष्ट्रीय समिति ने भगवान महावीर के २५०वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर स्वीकृत कार्यक्रम के अनुसार साहित्य प्रकाशन का दायित्व जिस साहित्य निर्माण समिति को सौंपा है उसका कार्यान्वयन समस्त जैन समाज की प्रतिनिधि संस्था भगवान महावीर २५००वा निर्वाण महोत्सव महाममिति के माध्यम से हो रहा है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत एक योजना यह है कि जैन धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, आचार नीति आदि विषयों पर विभिन्न भाषाओं में लघु-पुस्तिकाएँ प्रकाशित की जायें। यह कार्यक्रम सम्बन्धित समिति के विचाराधीन है। आवश्यक है कि अब तक इन विषयों पर जो पुस्तिकाएँ प्रकाशित हुई हैं उन्हें भी सामने रखा जाय और विद्वानों तथा लेखकों का चनाव अन्तिम रूप से विषयों के निर्वाचन के उपरान्त किया जायें।

अन्य समाज की सभी प्रकाशन संस्थाओं, विद्वान लेखकों से अनुरोध है कि इस प्रकार की जो पुस्तिकाएँ उनका द्वारा या उनके माध्यम से प्रकाशित हुई हैं उनकी एक-एक प्रति निम्नलिखित पते पर भेज दें।

यदि इन प्रकार की कोई पाण्डुलिपियाँ रही हो तो उनके विषय में भी कृपया सूचना भेजी जाय कि किस विषय की पुस्तक कहाँ से, कब तक प्रकाशित होने की आशा है। यदि इस प्रकार की पूर्ण प्रकाशित पुस्तिकाएँ आपके पास उपलब्ध नहीं भी हो, किन्तु जानकारी हो कि अमुक स्थान से अमुक लेखक की पुस्तिका प्रकाशित हुई है तो, भी लिखने की कृपा करें ताकि उन्हें उपलब्ध किया जा सके। अगस्त के द्वितीय मण्डाह तक यदि यह सूचनाएँ और सूचनाएँ भेजी जा सकें तो सुविधा होगी।

भारतीय ज्ञानपीठ
बी ४५/४७, कनाट प्लेस
नई दिल्ली-१

लक्ष्मीचन्द्र 'जैन'
संयोजक, साहित्य निर्माण समिति
भ० म० २५००वा निर्वाण महोत्सव

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों का सूची। संपादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डा. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोंके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द।	१५-००
प्राप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, प्राप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द।	८-००
स्थायभूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित।	२-००
स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुस्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित।	१-५०
अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित	१-५०
युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द।	१-२५
ओपुरपादवंनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित।	७५
शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित	७५
समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द।	३-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द।	४-००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	४-००
अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुस्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ मंडित	२५
तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय) — मुस्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त।	२५
अवगणबलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ।	१-२५
महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा बाहुबली पूजा प्रत्येक का मूल्य	१६
अध्यात्मरहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुस्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित।	१-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द।	१२-००
न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०।	७-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ मर्यादा ७४० सजिल्द	५-००
कसायपाहुडमुसुत : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द।	२०-००
Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द	६-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया	५-००

प्रकाशक — वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

अनेकान्त



सप्त मुखधारी चन्द्रप्रभ तीर्थकर । मुनिराज श्री विद्यानन्द जी महाराज का अभिमत है कि तीर्थकर के ये सप्तमुख सप्तभंगी के प्रतीक हैं । यह अभूतपूर्व मूर्ति अलबर्ट एण्ड विक्टोरिया म्यूजियम लंदन में सुरक्षित है ।

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र

विषय-सूची

क्र०	विषय	पृ०
१.	शान्तिनाथ-स्तोत्र	४६
२.	भारतीय परम्परा में अरहन्त की प्राचीनता - मुनिराज श्री विद्यानन्द जी महाराज	५०-५२
३.	जैन चित्र-कला—डा० वाचस्पति गैरोला	५२
४.	स्याद्वाद-दर्शन—साहित्य परामर्षक मुनिश्री बुद्धमल जी	५३-५६
५.	राजस्थान के जैन कवि और उनकी रचनाये —डा० गजानन मिश्र एम. ए. पी-एच. डी	५६-५६
६.	भारतीय दर्शन में योग— साध्वी श्री अशोकश्री जी	६०-६४
७.	लंका में जैनधर्म—श्री महेन्द्रकुमार दिल्ली	६४
८.	कौशाम्बी—प० बलभद्र जैन	६५-७२
९.	नाथ निरंजन पावे—कविवर आनन्दधन	७२
१०.	वैराग्योत्पादिका अनुप्रेक्षा—सकलनकर्ता श्री प० वशीधर शास्त्री एम. ए.	७३-८०
११.	कवि वर्द्धमान भट्टारक— प० परमानन्द शाम्त्री	८०-८२
१२.	स्मृति-प्रवरता के प्रकार— मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी प्रथम	८३-८४
१३.	कलाकार की साधना (कहानी) - श्री 'ठाकुर'	८५-९१
१४.	तीर्थंकर और प्रतीक-पूजा— प० बलभद्र जैन	९१ से टा० पृ० ३

वीरसेवा मन्दिर का अभिनव प्रकाशन

चित्र प्रतीक्षित जैन लक्षणावली (जैन पारिभाषिक शब्दकोष) का प्रथम भाग छप चुका है। इसमें लगभग ४०० जैन ग्रन्थों से वर्णानुक्रम के अनुसार लक्षणों का संकलन किया गया है। लक्षणों के संकलन में ग्रन्थकारों के कालक्रम को मुख्यता दी गई है। एक शब्द के अन्तर्गत जितने ग्रन्थों के लक्षण संगृहीत हैं उनमें से प्रायः एक प्राचीनतम ग्रन्थ के अनुसार प्रत्येक शब्द के अन्त में हिन्दी अनुवाद भी दे दिया गया है। जहाँ विवक्षित लक्षण में कुछ भेद या हीनाधिकता दिखी है वहाँ उन ग्रन्थों के निर्देश के साथ २-४ ग्रन्थों के आश्रय से भी अनुवाद किया गया है। इस भाग में केवल 'अ से औ' तक लक्षणों का संकलन किया जा सका है। कुछ थोड़े ही समय में इसका दूसरा भाग भी प्रगट हो रहा है, वह लगभग तैयार हो चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ संशोधकों के लिए तो विशेष उपयोगी है ही, साथ ही हिन्दी अनुवाद के रहने से वह सर्वसाधारण के लिए भी उपयोगी है। प्रस्तुत प्रथम भाग बड़े आकार में ४२५ पृष्ठों का है। कागज पुष्ट व जिल्द कपड़े की मजबूत है। मूल्य २५-०० रु० है। यह प्रत्येक यूनीवर्सिटी, सार्वजनिक पुस्तकालय एवं मन्दिरों में संग्रहणीय है। ऐसे ग्रन्थ बार बार नहीं छप सकते। समाप्त हो जाने पर फिर मिलना अशक्य हो जाता है।

प्राप्तिस्थान

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज,
दिल्ली-६

★

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये

डा० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक
मण्डल उत्तरदायी नहीं है। -व्यवस्थापक

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २६
किरण २

}

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर-निर्वाण मवत् २४६६, वि० म० २०३०

}

मई-जून
१९७३

शान्तिनाथ-स्तोत्र

न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन् पादद्वयं ते प्रजाः ।
हेतुस्तत्र विचित्रदुःख-निचयः संसार-घोरार्णवः ॥
अत्यन्त स्फुरदुग्रहिम-निकर-व्याकीर्ण-भूमण्डलो
ग्रैमः कारयतीन्दु-पाद-सलिल-छायाऽनुरागं रविः ॥

—शान्ति भक्ति, आचार्य पूज्यपाद

—हे भगवन् ! मनुष्य स्नेहवश आपके चरणों की शरण में नहीं जाते । किन्तु संसार रूप यह भयानक समुद्र नाना प्रकार के दुःखा का आगार है, इसी कारण से मनुष्य आपकी चरण-शरण में जाते हैं । जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु के सूर्य की भयानक तपती हुई किरणों से व्याकुल हुआ भूमण्डल चन्द्र-किरण, जल और छाया से अनुराग करता है ।

अर्थात् मनुष्यों को वस्तुतः जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों, जल और वृक्षों की छाया से प्रेम नहीं है, किन्तु मनुष्य जब ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की भुलसाने वाली धूप में व्याकुल हो जाते हैं तो शान्ति प्राप्त करने के लिए वे कहीं पेड़ की शीतल छाया में बैठ जाते हैं अथवा शीतल जल में स्नान करते हैं अथवा उन्हें चन्द्रमा की शीतल किरणों में शान्ति प्राप्त होती है । इसी प्रकार हे भगवन् ! भक्त जनो को आपसे प्रेम नहीं है, किन्तु संसार में उन्हें नाना प्रकार के दुःख हैं, उनमें वे व्याकुल हैं । इसलिए वे आपकी शरण में आते हैं, जिससे उन्हें शान्ति प्राप्त हो सके । और वास्तव में ही आपकी शरण में आने से उन्हें शान्ति प्राप्त होती है ।

भारतीय परम्परा में अरहंत की प्राचीनता

मुनिराज श्री विद्यानन्द जी महाराज

‘अरहत’ भारतीय परम्परा में परमाराध्य देव है। वर्तमान इतिहास में इनका जैन धर्मावलम्बियों से अविच्छिन्न एवं घनिष्ठ सम्बन्ध रह गया है। अनादि निधन एवं प्राचीन नमस्कार मंत्र में और प्राचीन-अर्वाचीन दलगत धार्मिक ग्रन्थो-वेदो-पुराणो आदि में अरहतों को भक्ति-भावपूर्वक स्मरण और नमन किया गया है। अरहत का स्मरण मात्र सर्व पापों से निवृत्ति में कारण है और इसीलिए प्रत्येक प्रबुद्ध मनीषी प्रातः से सायं तक प्रत्येक शुभकार्य के आरम्भ में ‘णमो अरहताण’ प्रभृति मंत्र बोलना अपना कर्तव्य समझता है। ‘अरहत’ शब्द प्रकृति प्रदत्त-प्राकृत है, इसको संस्कृत में अर्हन् कहा जाता है और इसकी निष्पत्ति ‘अर्हं प्रशमायाम्’ धातु से की जाती है। पाणिनि के सूत्र ‘अर्हं प्रशमायाम्’ से शतृ प्रत्यय और ‘उगिदचा सर्वनाम स्थाने धातो’ से तुम् होने पर ‘अर्हन्’ ‘अर्हन्त’ आदि रूप बनते हैं।

प्राकृत भाषा में शतृ प्रत्यय के स्थान पर ‘न्त’ प्रत्यय होकर अरहत रूप बनता है। कहीं-कहीं ‘ह’ श्री ही क्रीत क्लान्त क्लेश ग्लान स्वप्न-स्पर्श हर्षहर्षहेषु’ हैम सूत्र से इकार हो जाता है और कहीं प्राकृत परम्परा के अनुसार अकार का आगम हो जाता है—इस प्रकार अरिहत और अरहत ये दो रूप बनते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द में इसका एक रूप ‘अरुह’ भी प्रयुक्त किया है, यथा—‘अरुहासिद्धा-इरिया’ [मो० पा० ६।१०८] संभवतः यह तमिल भाषा से प्रभावित है। अन्य भाषाओं में भी इस अरहत शब्द की व्यापकता रही है और उनमें इसके रूपान्तर मिलते हैं। यथा—

प्राकृत	अरहत, अरिहत।
पालि	अरहन्त।
संस्कृत	अर्हन्।
शौरसेनी और तमिल	अरुह।

मागधी
अपभ्रंश
कन्नड़

अलहंत, अलिहत।
अलहतु, अलिहतु।
अरुहत, अरुह।

अरहत शब्द का अस्तित्व भारत के प्राचीनतम माने जाने वाले साहित्य में कहाँ-कहाँ उपलब्ध है, इसकी नालिका तो बहुत बड़ी है, फिर भी यहाँ उसके सकेत मात्र हेतु कुछ उद्धरण दिया जाना उपयुक्त है। इसके सिवाय जैन वाङ्मय तो इसका असीम भंडार है—उसमें तो पदे-पदे अरहत के गुण, उनकी महिमा आदि मिलते हैं।

‘श्रमण-संस्कृति’ के प्रमग में पृष्ठ ५७ पर आचार्य विनोदाभावे के उद्गार छपे हैं। जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करने हुए उन्होंने कहा है—“ऋग्वेद में भगवान् की प्रार्थना में एक जगह कहा है—‘अर्हन् इदं दयसे विश्व-मम्बम्’—२-३३-१०— है अर्हन्। तुम इस तुच्छ दुनिया पर दया करते हो। इसमें अर्हन् और दया दोनों जैनों के प्यारे शब्द हैं। मेरी तो मान्यता है कि जितना हिन्दूधर्म प्राचीन है, शायद उतना ही जैन धर्म प्राचीन है।”

ऋग्वेद का उपर्युक्त अविकल मंत्र इस प्रकार है—

‘अर्हन् विभर्षि सायकानि।

धन्वाहर्न्निष्कं धजतं विश्वरूपम्॥

अर्हन्निदं दयसे विश्वमम्बं।

न वा ओ जीयो रुद्र त्वदन्यदस्ति॥’—२-३३-१०

जैन आचार्य श्री नेमिचन्द्र के प्रतिष्ठा तिलक से उक्त मंत्र की शब्द एवं भावावलियाँ पूरा-पूरा मेल खाती हैं। आचार्य नेमिचन्द्र जी के शब्दों में उक्त मंत्र का विस्तार इस प्रकार है—

‘अर्हन् विभर्षि मोहारि विध्वंसि नय सायकान्।

अनेकान्तयोति निर्बाध प्रमाणोदार धन्व च॥

ततस्त्वमेव देवासि युक्ति-शास्त्राविरोधिकाक् ।
वृष्टेष्ट बाधितेष्टाः स्युः सर्वथेकान्तवादिनः ॥
अर्हन्तिष्कमि वात्मानं बहिरन्तर्मलक्षयम् ।
विश्वरूपं च विश्वार्थं वेदिनं लभसे सदा ॥
अर्हन्तिदं च दयसे विश्वमभ्यन्तराश्रयम् ।
'नृ सुरासुर संघातं मोक्ष मार्गोपदेशनात् ।
ब्रह्मासुरजयो वान्यो देव रुद्रस्त्वदस्ति न ॥'

— प्रतिष्ठातिलक ३।७४-७८

— हे अर्हन् ! आप मोह शत्रु को नष्ट करने वाले नय-रूपी वाणों को धारण करने हो तथा अनेकान्त को प्रकाशित करने वाले निर्वाच्य प्रमाणरूप विशाल धनुष के धारक हो । युक्ति एवं शास्त्र में अविच्छेद वचन होने के कारण आप ही हमारे आराध्य देव हो । सर्वथा एकान्त-वादी हमारे देवता नहीं हो सकते, क्योंकि उनका उपदेश प्रत्यक्ष एवं अनुमान से बाधित है ।

— हे अर्हन् ! आप ऐसी आत्मा को धारण करते हो जो निष्क अर्थात् आभूषण या रत्न की भांति प्रकाशमान है, बाह्य और अन्तःमन से रहित है और जो समस्त विश्व के पदार्थों को एक साथ निरन्तर जानती है । हे अर्हन् ! आप नर, सुर एवं असुर सभी को मोक्ष-मार्ग का उपदेश देते हो । अतः विश्व पर दयाभाव से परिपूर्ण हो । आपसे अन्य कोई और ब्रह्म अथवा असुर को जीतने वाला, बलवान् देवता नहीं है ।

ऋग्वेद में अन्य स्थानों पर भी 'अर्हन्' पद का प्रयोग मिलता है—

'अर्हन् देवान् यक्षि मानुषात् पूर्वो अथ ।'—^१
'अर्हन्तो ये सुवानवो नरो उसामि शव सः ।'—^२
'अर्हन्ता चित्पुरोद घेंशेष देवावर्चते ।'—^३

ऋग्वेद के उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि ऋग्वेद काल में जैन धर्म विद्यमान था और जैन धर्मावलम्बी अर्हन्त की उपासना करते थे ।

१. युक्तिशास्त्राविरोधिकाक् । — आप्तमीमांसा ६ ।
२. ऋग्वेद २।१।२।४।१
३. ऋग्वेद ४।३।६।५।२।५
४. ऋग्वेद ६।५।६।५

वागहमिहिर संहिता, योगवासिष्ठ, वायु पुराण तथा ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य में भी अर्हन्त एवं आर्हन्त मत का उल्लेख मिलता है—

'दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हन्तां देवः ।'—^४
'वेदान्तार्हन्त सांख्य सौगत गुरु त्र्यक्षारि सूक्तावशो ।'^५
'ब्राह्म शैवं वैष्णवं च सौरं शाक्तं तथाऽर्हन्तम् ।'—^६
'शरीर परिमाणो हि जीव इत्यार्हन्ता मन्यन्ते ।'—^७

शाश्वत कोप तथा शास्त्रीय नाममाला में अर्हन्त शब्द 'जिन' का पर्यायवाची कहा गया है—

'स्यादर्हन् जिन पूज्ययोः ।'—^८
'तीर्थङ्गरो जगन्नाथो जिनोऽर्हन् भगवान् प्रभुः ।'—^९
अमर कोषकार ने अर्हन्त को मानने वाले लोगों को आर्हन्त, स्याद्वादिक् तथा आर्हन्त कहा है और हेमचन्द्राचार्य ने यथार्थ वक्ता को परमेश्वर कहा है—

'स्यात् स्याद्वादिक् आर्हन्तः ।'—^{१०}
'यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ।'—^{११}

हनुमन्नाटककार जैन शासन श्रद्धातियों के ईश्वर को अर्हन्त मज्ञा देते हैं, यथा—

'अर्हन्तित्यथ जैनशासनरता ।'—^{१२}

बौद्धग्रन्थों में बुद्ध के लिए भी अरहन्त शब्द का प्रयोग किया गया है । इसमें मुख्य कारण म० बुद्ध का, तीर्थङ्कर महावीर का समकालीन होना है क्योंकि उस काल में जिन धर्म प्रभावक रूप में विद्यमान था और जिन तथा अरहन्त दोनों शब्द धर्मोपदेष्टाओं— इन्द्रियविजेताओं के लिए प्रयुक्त किये जाने का चलन था । इतना ही क्यों, पालि भाषा के बौद्ध आगम— (त्रिपिटक में) धम्मपद में

५. वागहमिहिर संहिता ४५।५८
६. वाल्मीकि, योगवासिष्ठ ६।१७३।३४
७. वायुपुराण १०४।१६
८. ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य २।२।३३
९. शाश्वतकोप ६४१

१०. आरदीयाश्वय नाममाला—हर्षकीर्ति ६
११. अमरकोष (मणिप्रभा) २।७।१८
१२. हेमचन्द्र योगशास्त्र २।४
१३. हनुमन्नाटक १।३

अरहंत वग्गो नामक एक स्वतंत्र प्रकरण भी है। धम्मपद के अनुसार अपनी जीवन यात्रा के (भावी तप की अपेक्षा) अन्त को प्राप्त, भावी जन्म-मरण-शोकादि रहित—मुक्त जीव अरहंत संज्ञा को पाते हैं। तथाहि—

‘गतद्धिनो विसोकस्स्य विषयुतस्स सव्वधि ।

सव्वगन्ध पहीनस्स परिलाहो न विज्जनि ॥’

—धम्मपद, अरहंतवग्गो ६०

‘यत्थारहंतो विहरन्ति तं भूमिं रामणेय्यकं ।’

—वही ६८

—जहाँ कहीं भी अरहंत विहार करते हैं वहाँ रामणीक स्थान होता है। म० बुद्ध ने कहा था—‘भिक्षुओ ! प्राचीनकाल में जो भी अरहत तथा बुद्ध हुए थे, उनके भी ऐसे ही दो मुख्य अनुयायी थे, जैसे मेरे अनुयायी मारिपुत्र और मोगलायन हैं। —(गौतमबुद्ध पृ० १७४)

जैन धर्म में पांच अवस्थाओं से संपन्न आत्मा सर्वोत्कृष्ट एवं पूज्य मानी गई है। इनमें अरहत सर्व प्रथम हैं। अरहंत किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। वह तो आध्यात्मिक गुणों के विकास से प्राप्त होने वाला महान् मङ्गलमय पद है। जैन आगमों में चार घातिया कर्मों पर विजय प्राप्त करने वालों और अनन्त चतुष्टय प्राप्त करने वालों को अरहंत नाम से कहा जाता है, ये जीवनमुक्त होते हैं, ससार की आधि-व्याधि और उपाधियों से दूर और बहुत दूर।

‘णट्ठ चुबुघाइ कम्मो दंसणसुहणाण वीरिय मईओ ।

सुह वेह त्थो अण्णा मुद्धो अग्गिहो विचित्तिज्जो ॥’

—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्रव्य सग्रह ५०

धवला टीका में अरहंत का ‘अरिहननादरहंता’..... रजोहननाद्वा अरहंता अतिशय पूजार्हत्वाद्वा अरहंता ।’—के रूप में विवेचन किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द बोधपाहुड में अरहंत के गुणों का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

‘जरवाहि जम्भ मरणं चउगइगमणं च पुण्ण पावं च ।

हन्तूण दोष कम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥’—

अर्थात् जिन्होंने जरा, व्याधि, जन्म, मरण, चतुर्गति-गमन, पुण्य-पाप, इन दोषों तथा कर्मों का नाश कर दिया है और जो ज्ञानमय हो गये हैं, वे अरहत हैं। अरहत की इन्हीं विशेषताओं को पचाध्यायी में इस प्रकार कहा गया है—

‘दिव्यौदारिक देहमयो धौतघातिचतुष्टयः ।

ज्ञानद्वैवीर्यं सौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मदेशकः ॥—’

उक्त सपूर्ण कथन का सारांश यह है कि—समस्त भारतीय साहित्य में अरहत शब्द अतिशय पूज्य आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वेद-काल में लेकर अद्यावधि इस शब्द का महत्व रहा है। जैन धर्म के चतु शरण पाठ में अरहत को ही प्रमुखता दी गई है—

‘चत्तारि सरणं पवज्जामि । अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवल-पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।’

१ तीर्थ पाहुड ३०

२ पचाध्यायी २।६०७

जैन चित्रकला

जैन चित्रकला की ऐतिहासिक उपलब्धि ७वीं शताब्दी से है, जिसके प्रमाण सम्राट् हर्ष के समकालीन पल्लव राज महेंद्रवर्मन (७वीं शताब्दी) के समय में निर्मित सितन्नवासल गुफा की पांच जिन-मूर्तियाँ हैं। समग्र भारतीय चित्रशैलियों में १५वीं सदी से पूर्व जितने भी चित्र प्राप्त हैं, उन सबमें मुख्यता और प्राचीनता जैन चित्रों की है। ये चित्र दिगम्बर जैनियों से सम्बद्ध हैं, जिन्हें अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थों को चित्रित कराने एवं करने का बड़ा शौक था।

—भारतीय चित्रकला, वाचस्पति गंगोला, पृ० १३८

स्याद्वाद-दर्शन

साहित्य परामर्शक मुनि श्री बुद्धमल जी

स्याद्वाद, जैन दर्शन के मन्तव्य को भाषा में उतारने की पद्धति को कहते हैं। 'स्याद्वाद' के 'स्यात्' पद का अर्थ है, अपेक्षा या दृष्टिकोण और 'वाद' पद का अर्थ है—सिद्धान्त या प्रतिपादन। दोनों पदों में मिलकर बने इस पद का अर्थ हुआ—किन्हीं वस्तु, धर्म, गुण या घटना आदि का किसी अपेक्षा से कथन करना 'स्याद्वाद' है। पदार्थ में जो अनेक आपेक्षिक धर्म हैं, उन सबका यथार्थ ज्ञान तभी सम्भव हो सकता है, जब कि उस अपेक्षा को सामने रखवा जाये। दर्शन-शास्त्र में नित्य-अनित्य, सत्-असत्, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, वाच्य-अवाच्य आदि तथा लोक-व्यवहार में छोटा-बड़ा, स्थूल-सूक्ष्म, दूर-समीप, स्वच्छ-मलिन, मूर्ख-विद्वान् आदि अनेक ऐसे धर्म हैं, जो आपेक्षिक हैं। इन तथा इन जैसे अन्य किसी भी धर्म या गुण का जब हम भाषा के द्वारा कथन करना चाहते हैं, तब वह उसी हद तक सार्थक हो सकती है, जहाँ तक हमारी अपेक्षा उसे अनुप्राणित करती है। जिस अपेक्षा से हम जिस शब्द का प्रयोग करते हैं, उसी समय उसी पदार्थ के किसी दूसरे धर्म की अपेक्षा से दूसरे शब्द का प्रयोग भी किया जा सकता है। वह भी उतना ही सत्य होगा, जितना कि पहला। सारांश यह कि एक पदार्थ के विषय में अनेक ऐसी बातें हमारे ज्ञान में निहित होती हैं, जो एक ही समय में सारी की सारी समान रूप से सत्य होती हैं। फिर भी वस्तु के इस पूर्ण रूप को किसी दूसरे व्यक्ति के सामने रखते समय हम इसे विभक्त करके ही रख सकते हैं। भाषा की कुष्ठता के कारण ऐसा करने के लिए हम बाधित हैं। कोई एक शब्द वस्तु के सम्पूर्ण धर्मों को अभिव्यक्त कर सके, ऐसा सम्भव नहीं है। अतः भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा भिन्न-भिन्न धर्मों का प्रतिपादन कर हम वस्तु सम्बन्धी अपत्ता अभिप्राय दूसरों के सामने रखते हैं। जिस धर्म का प्रतिपादन करते हैं, उसके

लिए तद्वोधक शब्द का प्रयोग करते हैं और अवशिष्ट विरोधी तथा अविविरोधी समस्त धर्मों के लिए प्रतिनिधि स्वरूप 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसका भाव होता है कथ्यमान धर्म के अतिरिक्त और अनेक धर्म भी इस वस्तु में विद्यमान हैं सही, परन्तु इस समय उन सबकी सूची ही कर सकते हैं, कथन नहीं। हमारी इस सूची में ज्ञात अवशिष्ट धर्मों को भी कथ्यमान धर्म के समान वस्तु का अंग समझे, पर साथ ही यह भी समझे कि इस समय हम उसका ध्यान मुख्यतया अमुक कथ्यमान धर्म की ओर ही आकृष्ट करना चाहते हैं।

कभी-कभी 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किये बिना भी वस्तु-धर्म का प्रतिपादन किया जाता है, परन्तु वहाँ भी कथक के अभिप्राय में कथ्यमान धर्म के अतिरिक्त धर्मों का निराकरण करने की बात नहीं आनी चाहिए, तभी वस्तु-सम्बन्धी वास्तविकता का आदर किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञान हो जाता है कि हम वस्तु का प्रतिपादन करते समय कभी सम्पूर्ण वस्तु के विषय में कहना चाहते हैं और कभी केवल उसके एक अंश मात्र के विषय में। वाक्य में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करते समय सम्पूर्ण वस्तु का चित्र हमारे सामने होता है। उम्मी को दूसरे के सामने रखना चाहते हैं अर्थात् एक कथ्यमान धर्म को मुख्य रूप से और शेष धर्मों को 'स्यात्' के प्रतिनिधित्व में गौण रूप से कहना चाहते हैं। इस प्रकार के कथन को दर्शन-शास्त्र में 'प्रमाण-वाक्य' या 'सकलादेश' कहा जाता है। परन्तु जब हम वस्तु के किसी एक धर्म के विषय में तो कहते हैं, परन्तु शेष धर्मों के विषय में न तो किसी प्रतिनिधि शब्द का प्रयोग कर समर्थन करते हैं और न किसी निवारक शब्द का प्रयोग कर खण्डन करते हैं, केवल कथ्यमान धर्म को कह कर शेष के लिए तटस्थ मौनावलम्बी हो जाते हैं। यह कथन 'नय-

वाक्य' या 'विकलादेश' कहलाता है। दूसरे शब्दों में उपर्युक्त बात को यो भी कहा जा सकता है—वस्तु सम्बन्धी हमारी सम्पूर्ण दृष्टि प्रमाण और एक दृष्टि या दृष्टिकोण नय कहलाता है।

प्रमाण-वाक्य कहे चाहे नय-वाक्य, दोनों ही स्थितियों में उद्देश्य यही होता है कि वस्तु-प्रतिपादन में भाषा का प्रयोग ठीक में हो और जाना उसका अभिप्राय ठीक समझें। प्रतिपाद्य के प्रति किसी भी प्रकार का अन्याय तभी रूक सकता है, जबकि प्रतिपादक अपने आप्रह और एकान्त से विमुख होकर यथावस्थित कथन करे। अर्थार्थ कथन वैचारिक हिंसा है तो यथार्थ कथन अहिंसा। प्रमाण-वाक्य और नय-वाक्यमय स्यादवाद की इस कथन प्रणाली को वैचारिक अहिंसा का प्रतीक कहा जा सकता है, क्योंकि यह प्रणाली ही कथित और कथनावशिष्ट स्वभावों को, यदि वे वस्तु में प्रमाणित होते हैं तो समान रूप में स्वीकार करती है। यहाँ तक कि परस्पर विरोधी स्वभावों को भी जिस-जिस अपेक्षा में वे वहाँ प्राप्त होते हैं, उस-उस अपेक्षा में स्वीकार करना इस प्रणाली को अभीष्ट है। यदि ऐसा न किया जाये तो दार्शनिक पहलुओं का समाधान तो दूर रहा, साधारण व्यवहार भी नहीं चल सकता।

भिन्न-भिन्न अपेक्षाएं भिन्न-भिन्न जिज्ञासाओं के उत्तर से स्वयं फलित होती हैं। एक वस्त्र विशेष के लिए पूछने वालों को हम उनकी जिज्ञासाओं के अनुसार ये भिन्न-भिन्न उत्तर दे सकते हैं—

१. यह वस्त्र रुई का है।
२. यह वस्त्र मिल का है।
३. यह वस्त्र नरेंद्र का है।
४. यह वस्त्र पहनने का है।
५. यह वस्त्र पांच रुपये का है।

अब बताइए, यह वस्त्र किस-किस का समझा जाए ? किसी एक का या पांच का ? इन पांचों कथनों में से कोई भी कथन ऐसा नहीं, जिसे अप्रमाणित कहा जा सके। पांचों ही बातें भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से उसी एक वस्त्र के विषय में सत्य हैं। पांच ही क्यों, दो गज का है, भारत का है, सन् १९५५ का है आदि और भी अनेक बातें

उसके विषय में कही जा सकती हैं और सबकी सब समान रूप से सत्य हो सकती हैं। इनमें से प्रत्येक कथन वस्त्र सम्बन्धी कोई न कोई जानकारी देता है। एक वाक्य में जो बात कही गई है, दूसरे प्रत्येक वाक्य में उससे भिन्न बात कही गई है। फिर भी इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। विरोध इसलिए नहीं है कि प्रत्येक की अपेक्षाएं भिन्न हैं। वह वस्त्र उपादान-कारण की अपेक्षा से रुई का, तो सहकारी-कारणों की अपेक्षा से मिल का और स्वामित्व की अपेक्षा से नरेंद्र का, कार्यक्षमता की अपेक्षा से पहनने का तथा मूल्य की अपेक्षा में पांच रुपये का है। प्रश्न-कर्ताओं की ये जिज्ञासाएँ—यह वस्त्र रुई का है या रेशम का ? मिल का है या हाथ का है ? नरेंद्र का है या वीरेंद्र का ? पहनने का है या ओढ़ने का ? कितने मूल्य का है ? उत्तरदाता को भिन्न-भिन्न उत्तर देने के लिए ही प्रेरित करती हैं। किसी एक उत्तर में सारी जिज्ञासाएं शान्त नहीं हो सकती।

साधारण लोक-व्यवहार में अपेक्षा-भेद से कथन का यह प्रकार जितना मौलिक, उचित और सत्य है, उतना ही दार्शनिक क्षेत्र में भी। उपर्युक्त वस्त्र-सम्बन्धी ज्ञान में एकान्तवादिता सत्य से जितनी दूर ले जा सकती है, तत्त्वज्ञान सम्बन्धी एकान्तवादिता भी उतनी ही दूर ले जाती है, अतः दार्शनिक क्षेत्र में भी 'स्याद्' (अपेक्षावाद) का प्रयोग आदर्शनीय ही रही, अनिवार्य भी है।

जैनेतर दार्शनिकों का स्याद्वाद के विषय में एक खास तर्क यह रहा है कि यदि पदार्थ 'सत्' है तो 'असत्' कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य आदि परस्पर विरोधी धर्म एक ही समय में एक पदार्थ में कैसे टिक सकते हैं ? इसी तर्क के आधार पर शंकराचार्य और रामानुजाचार्य जैसे विद्वानों ने 'स्याद्वाद' को 'पागल का प्रलाप' कहकर इसकी उपेक्षा की। राहुल सांकृत्यायन ने 'दर्शन-दिग्दर्शन' में बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के शब्दों के आधार पर दही, दही भी है और ऊंट भी, तो दही खाने के समय ऊंट खाने को क्यों नहीं दौड़ते ? इस आशय का कथन कर स्याद्वाद का उपहास किया है। डा० एस० राधाकृष्णन् ने इसे 'अर्द्ध सत्य' कह कर त्याज्य बताया है। इसी प्रकार किसी ने इसे 'छल

और किसी ने 'संशयवाद' बतलाया है। परन्तु यह सब तो 'प्रत्येक विभिन्न कथन के साथ विभिन्न अपेक्षा होती है'—स्याद्वाद के इस सूत्र को हृदयगमन कर सकने के कारण हुआ है। बद्धमूल धारणा तथा जैनेतर ग्रन्थों में जैनो के लिए किये गए कथन को सत्य मानकर चलना भी इसमें सहायक हुए है। अन्यथा अपेक्षा भेद से 'सत्' अर्थात् 'है' 'असत्' अर्थात् 'नहीं है' का कथन विरुद्ध मालूम नहीं देना चाहिए।

वस्त्र की दुकान पर किसी ने दुकानदार से पूछा— 'यह वस्त्र सूत का है न ?' दुकानदार ने उत्तर दिया— 'हां साहब, यह सूत का है।' दूसरे व्यक्ति ने आकर उसी वस्त्र के विषय में पूछा— 'क्यों साहब, यह वस्त्र रेशम का है न ?' दुकानदार बोला— 'नहीं, यह रेशम का नहीं है।' यहाँ कथित वस्त्र के लिए 'यह सूत का है', यह बात जितनी सत्य है, उतनी ही 'यह रेशम का नहीं है' यह भी सत्य है। एक ही वस्त्र के विषय में सूत की अपेक्षा से 'सत्' अर्थात् 'है' और रेशम की अपेक्षा से 'असत्' अर्थात् 'नहीं है' का कथन किसको अस्वर सकता है ? स्याद्वाद भी तो यही कहता है। सत् है तो वह असत् कैसे हो सकता है ? यह शका तो ठीक ऐसी ही है कि 'पुत्र है, तो वह पिता कैसे हो सकता है ?' इसमें कोई विरुद्धता नहीं आ सकती, क्योंकि अपेक्षाएँ भिन्न हैं।

स्याद्वाद के मतानुसार प्रत्येक पदार्थ 'स्व' द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से 'सत्' है तथा 'पर' द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से 'असत्'। इसे सरलतापूर्वक यो समझा जा सकता है—एक घड़ा स्व-द्रव्य मिट्टी की अपेक्षा से सत्—अस्तित्व युक्त है, पर द्रव्य—वस्त्रादि इतर वस्तुओं की अपेक्षा से असत् है अर्थात् घड़ा है, वस्त्र नहीं है।

द्रव्य के समान ही किसी बात की सत्यता में क्षेत्र की अपेक्षा भी रहती है। कोई घटना किसी एक क्षेत्र की अपेक्षा से ही सत्य हो सकती है। जैसे—भगवान् महावीर का निर्वाण 'पावा' में हुआ। भगवान् के निर्वाण की घटना 'पावा क्षेत्र की अपेक्षा से ही सत्य—सत्' है, परन्तु यदि कोई कहे 'भगवान् का निर्वाण राजगृह में हुआ तो यह बात असत्य ही कही जायेगी।

द्रव्य और क्षेत्र के समान ही पदार्थ की सत्ता और असत्ता बताने के लिए काल की भी अपेक्षा है, जैसे—आचार्य श्री तुलसी ने अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात सवत् २००५ में किया। इसके अतिरिक्त किसी काल का कथन किया जाए तो वह अणुव्रत-आन्दोलन के सम्बन्ध में सत्यता प्रकट नहीं कर सकता।

इसी प्रकार वस्तु की सत्यता में भाव भी अपेक्षित है; जैसे पानी में तरलता होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि तरलता नामक भाव से ही पानी की सत्ता पहचानी जा सकती है, अन्यथा तो वह हिम, वाष्प या कुहरा ही होता, जो कि पानी नहीं, किन्तु उसके रूपान्तर है।

उपर्युक्त प्रकार से हम जान सकते हैं कि प्रत्येक पदार्थ की सत्ता स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से ही है, परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से नहीं। यदि परद्रव्य आदि से भी उसकी सत्ता हो सकती तो एक ही वस्तु सब वस्तु होती और सब क्षेत्र, सब काल और गुणयुक्त भी होती अर्थात् एक घड़ा मिट्टी का भी कहा जा सकता और मोने, चादी, लोहे आदि का भी, कानपुर का भी कहा जा सकता और दिल्ली का भी। सवत् २००५ का भी कहा जा सकता और सवत् २००० का भी। जलाहरण के काम में भी लिया जा सकता और पहनने के काम में भी।

परन्तु ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें स्वधर्मों की सत्ता के समान ही परधर्मों की असत्ता भी विद्यमान है। स्वद्रव्यादि की अपेक्षा में घट में 'अस्ति' शब्द का विषय बनने की जितनी योग्यता है, उतनी ही परद्रव्यादि की अपेक्षा से 'नास्ति' शब्द का विषय बनने की भी। यही कारण है कि घड़े का स्वरूप विधि और निषेध दोनों से प्रकट होता है।

उपर्युक्त 'सत्-असत्' अर्थात् 'अस्ति-नास्ति' अर्थात् विधि-निषेध के आपेक्षिक कथन के समान ही वस्तु में सामान्य-विशेष, एक-अनेक आदि विभिन्न धर्मों का भी आपेक्षिक अस्तित्व समझना चाहिए।

स्याद्वाद का सिद्धान्त, जिस वस्तु में जो-जो अपेक्षाएँ घटित होती हैं, उन्हें ही निर्भीकतापूर्वक स्वीकार करने का अनुरोध करता है। इसका यह तात्पर्य कभी नहीं है

राजस्थान के जैन कवि और उनकी रचनाएं

डॉ० गजानन मिश्र एम. ए., पी-एच. डी., आर. ई. एस.

गुमानीराम भांवसा—

ये पंडित टोडरमल जी के लघु पुत्र थे। इनका जन्म सं० १८१८ के आस-पास हुआ था। ये अच्छे वक्ता तथा सरल हृदय थे। ये फारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने महाराजा प्रतापसिंह की आज्ञा से कार्तिक शु० ५ सं० १८४६ में 'दीवान हाफिज' का पद्यानुवाद किया था। इनके नाम से 'सत्तास्वरूप' नामक रचना तथा अनेक पद भी लिखे हैं।

चम्पाराम भांवसा—

ये माधोपुर के निवासी थे। इनके पिता का नाम हीरालाल था। इनकी निम्नलिखित रचनाएं मिलती हैं—

१. भद्रबाहु चरित्र भाषा (श्रावण शु० १५ सं० १८००)।
२. धर्म प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (१८६८)।
३. चर्चासागर।

जगन्नाथ पंडित—

इनका जन्म टोडारायसिंह के निवासी पौमराज खण्डे-

कि जो अपेक्षाएं न हो, उन्हें भी स्याद्वाद के आधार पर माना जाए। अश्वशृंग, आकाश-कुसुम और बन्ध्या-सुत के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए स्याद्वाद की कोई अपेक्षा लगाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इनकी तो सत्ता ही असिद्ध है। स्याद्वाद का काम वस्तु को यथार्थ रूप से प्रकट करने का ही है, न कि जैसा हम चाहे, वैसा वस्तु को बना देने का।

भगवान् महावीर ने जगत् को जीवन-क्षेत्र में अहिंसा की जितनी बहुमूल्य देन दी है, विचार-क्षेत्र में भी 'स्याद्वाद' की उतनी ही बहुमूल्य देन दी है। अहिंसा जीवन को उदार और सर्वांगीण बनाती है तो स्याद्वाद विचारों को। एकांगी विचार अपूर्ण और वास्तविकता से दूर होता है, जबकि सर्वांगीण विचार पूर्ण और वास्तविक होता है।

लवाल के यहाँ हुआ था। इनका रचनाकाल १७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा १८वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। ये संस्कृत तथा न्यायशास्त्र के विद्वान थे। इन्होंने निम्नलिखित ग्रंथ लिखे थे—

- | | |
|---------------------|-----------------------------------|
| १. श्वेताम्बर पराजय | ४. नेमि नरेन्द्र स्तोत्र |
| २. जिन स्तोत्र | ५. चतुर्विंशति सधान स्वोपज्ञ टीका |
| ३. कर्मस्वरूप वर्णन | ६. सुखेण चरित्र |
| | ७. सुखनिधान |

टीकमचन्द—

ये जयपुर राज्य के किसी कस्बे के निवासी थे। धर्म में इनकी बहुत अधिक श्रद्धा थी। इन्होंने निम्नलिखित रचनाएं की—

१. चतुर्विंशति कथा (पद्य) सं० १७१२।
२. चन्द्रहंस की कथा (१७०८)।
३. श्रीपाल स्तुति।
४. अन्य स्तुतियाँ।

टेकचन्द—

इनके जन्म, परिवार तथा अन्य परिचयात्मक सामग्री के लिए अन्तः साक्ष्य तथा बहिर्साक्ष्य मौन है। इनके ग्रन्थों की संख्या अत्यधिक है। उपलब्ध ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं :—

१. तीन लोक पूजा (१८२८)।
२. सुदृष्टि तरंगिणी वचनिका (१८३२)
३. सूत्र जी की वचनिका (१८३७)।
४. कथाकोष भाषा
५. सोलहकारण बड़ी पूजा
६. दश लक्षण बड़ी पूजा
७. कल्याणक पूजा
८. रत्नत्रय बड़ी पूजा
९. नन्दीश्वर पंचमेरू पूजा

१०. नन्दीश्वर पंचमेरू पूजा
११. कर्मदहन पूजा
१२. बुचप्रकाश छहडाला' ।

डालूराम—

ये माधवराजपुरा (जयपुर) के निवासी अग्रवाल जैन थे । ये दीवान अमरचन्द जी के सम्पर्क में रहे हैं । आपकी रचनाओं की संख्या १८-१९ है जिनमें पूजा साहित्य अधिक मात्रा में है । आप दोहा, चौपाई, सर्वैया, पदरि, सोरठा, अडिल्ल एवं कुण्डलिया आदि विविध छन्दों के प्रयोग में कुशल हैं ।

रचनाओं के नाम ये हैं —

- | | |
|--------------------------------------|-----------------------|
| १. पंच परमेष्ठी पूजा (१८६२) | १०. शिखर विलास |
| २. पंच परमेष्ठी गुणवर्णन (१८६५) | ११. पंचकल्याण पूजा |
| ३. गुरु उपदेश श्रावकाचार भाषा (१८६७) | १२. इन्द्रध्वज पूजा |
| ४. श्रीमत् सम्यक् प्रकाश भाषा (१८७१) | १३. पंचमेरू पूजा |
| ५. अढाईद्वीप पूजा (१८७६) | १४. रत्नत्रय पूजा |
| ६. अष्टान्हिका पूजा (१८७६) | १५. नेमि-पार्श्वनाथ |
| ७. द्वादशाग पूजा (१८७६) | १६. चतुर्दशी कथा |
| ८. दशलक्षण पूजा (१८८०) | १७. द्वादशानुप्रेक्षा |
| ९. तीन चौबीसी पूजा (१८८२) | १८. पद आदि |

थानासिंह ठोलिया—

इनका निवास स्थान सागानेर था । पिता का नाम मोहनराम था । इनके समय में राजनैतिक एवं साम्प्रदायिक उपद्रवों के कारण जयपुर का वातावरण अशान्त था । जैन समाज भी अपने आपको सुरक्षित नहीं पा रहा था । ऐसे समय में ये सागानेर छोड़कर भरतपुर चले गये ।

१. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

— कामताप्रसाद जैन, पृ० २१७ ।

२. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—नाथूराम प्रेमी, पृ० ८०-८१ ।

३. हिन्दी जैन साहित्य का परिशीलन—नेमिचन्द्र जैन, पृ० २३४ ।

जब जयपुर में शान्ति हुई तब वापिस लौट आये । तत्कालीन परिस्थितियों का कवि ने स्वरचित काव्यों में यत्र-तत्र चित्रण किया है । आपकी दो रचनाएं उपलब्ध हैं :—

१. रत्नकरड श्रावकाचार (चैत्र कृष्णा ५ सं० १८२१) ।

२. सुबुद्धि प्रकाश (फाल्गुन कृ० ६ सं० १८४७) ।

देवीसाद गोधा—

इनका जन्म बसवा में चिमनीराम गोधा के घर हुआ था । इन्होंने (१) सिद्धान्तसार की वचनिका (फाल्गुन शु० १० सं० १८४४), (२) चर्चाग्रन्थ, (३) चिद्विलास तथा (४) परमानन्द विलास की रचना की ।

नेमिचन्द्र सेठी

ये आमेर के निवासी थे । इन्होंने देवेन्द्रकीर्ति (माघ शुक्ला ११, सं० १७७०) के गद्दी पर बैठने के अवसर पर जकड़ी लिखी । इसमें तत्कालीन दीवान रामचन्द्र एवं किशनचन्द आदि के नामोल्लेख भी हुए हैं । जकड़ी के अलावा इन्होंने वैशाख शुक्ला ११, सं० १७७१ को प्रीतकर चरित्र पूर्ण किया ।

लोहट—

इनका मूल निवास स्थान साँभर (जयपुर राज्य) था । इनके पिता का नाम धर्मा था । इनकी निम्नलिखित रचनाएँ मिलती हैं :—

- | | |
|------------------------|-------------------------|
| १. यशोधर चरित्र (१७२१) | ५. पार्श्व पूजा |
| २. पट्लेश्यावलि (१७३०) | ६. पूजाष्टक |
| ३. चौबीस टाणा (१७३६) | ७. द्वादशानुप्रेक्षा |
| ४. अठारह नाता का वर्णन | ८. पार्श्वनाथ का गुणमाल |

श्रीलाल गगवाल—

इनका जन्म जयपुर राज्य के डिग्गी कस्बे में हुआ । ये पंचेवर गये जहाँ इनकी साहिब्राम से भेंट हुई । उन्हीं से इनको साहित्य रचना की प्रेरणा मिली । पंचेवर से ये लवा गये और वही १८८१ में 'बन्ध उदय रत्ता चौपाई' तथा मार्गशीर्ष कृष्णा ६, सं० १९०५ में चौबीसटाणा चौपाई नामक ग्रन्थ की रचना की ।

सेवाराम शाह—

ये सांगानेर निवासी बखतराम शाह के मुपुत्र थे । घर में इन्हें साहित्यिक वातावरण मिला था । अतः आरम्भ से ही साहित्य के प्रति रुचि होना स्वाभाविक

था। उस रुचि को इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थ लिखकर पूर्ण किया—

१. चतुर्विंशति पूजा भाषा (१८५४)
२. धर्मोपदेश सग्रह (१८५८-१८६६)
३. मान-ज्ञान संग्राम
४. अनन्त व्रत पूजा आदि

रतनचन्द्र—

रतनचन्द्र का जन्म बैशाख सुदि पचमी वि० स० १८३४ में बड़जात्या गोत्रीय खण्डेलवाल परिवार में जयपुर राज्यान्तर्गत 'कुड' नामक ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम लालचन्द तथा माता का नाम हीरादेवी था। इन्होंने स० १८४८ में लक्ष्मीचन्द मुनि से नागौर में दीक्षा ग्रहण की। इस समय इनकी आयु लगभग १४ वर्ष की थी। इस प्रकार अल्पायु में ही मुनि होकर इन्होंने जयपुर, जोधपुर, मेवाड़, अजमेर व किशनगढ़ आदि स्थानों का भ्रमण किया। स० १८६२ में ये आचार्य बन गये। इनकी निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं—

१. चौबीस विनती।
२. देवकी ढाल।
३. पद (११४)।

लालचन्द्र—

पं० लालचन्द सागानेर के निवासी थे। बड़े होने पर ये वयाना जाकर रहने लग गये। इनकी मुख्य रचनाएँ ये हैं—

१. वरांग चरित्र (माघ शु० ५ स० १८२७)।
२. विमलनाथ पुराण भाषा (आसीज शु० १० स० १८३७)।

१. श्री रतनचन्द्र पद मुक्तावली पृ० (क)।

२. वही, पृ. (ग)।

३. वही, पृ० (ग)।

४. राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों की सूची पृ० ६४६।

५. वही, पृ० ४४०।

६. इनके पद श्रीरतनचन्द्र पदमुक्तावली नामक ग्रंथ में प्रकाशित हैं।

७. कामताप्रसाद जैन ने तो इनका नाम ही इस प्रकार लिखा है—लालचन्द सागानेरी। हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—पृ० २१६।

३. शिखर विलास (१८४२)।

४. आगम शतक।

५. सम्यक्त्व कौमुदी।

६. अकृत्रिम चैत्यालय पूजा।

७. इन्द्रध्वज पूजा।

८. पंचपरमेष्ठी पूजा।

९. समवसरण पूजा।

१०. त्रिलोकसार पूजा।

११. तेरहद्वीप पूजा।

१२. पंचकुमार पूजा।

१३. पंचकल्याण पूजा।

लक्ष्मीदास—

लक्ष्मीदास भी सागानेर के निवासी थे। ये देवेन्द्र-कीर्ति के शिष्य थे। कार्तिक शुक्ल ६ स० १७८१ को इन्होंने यशोधर चरित्र की रचना की। इस रचना का आधार भट्टारक सकलकीर्ति तथा पद्मनाभ के संस्कृत में रचित यशोधर चरित्र थे। यशोदर चरित्र के कुछ छंद दृष्टव्य हैं—

कुंद लिता देडिली मनोज प्रभूत महा,
सब जग वासी जीव जे रंक करि राखे है।
जाके बस भई भूप नारी रति जैम कांति,
कुबेर प्रमान संग भोग अभिलाषे है॥
बोली सुन बंन तब दूसरी स्वभाव सेती,
काम बान ही ते काम ऐसे वाक्य भाषे है।
नैन तीर नाहि होइ तो कहा करि सुजाके,
मति पास जीव नाना दुख चारखे है॥

जिनदास—

जिनदास के विषय में केवल मात्र इतना ही ज्ञात हो सका है कि ये जयपुर के जैन कवि थे और इन्होंने अनेक कृतियों की रचना की थी। उनमें से कुछ उपलब्ध कृतियों के नाम ये हैं—

१. सतगुरु शतक (चैत्र कृ० ८ स० १८५२)।

२. चेतनगीत।

३. धर्मतरुगीत।

८. वीरवाणी।

९. शास्त्र भंडार पार्श्वनाथ का मंदिर वे० ६०१।

१०. वही।

४. आराधनासार^१ । ५. मुनीश्वरों की जमाल^२ ।
 ६. राजुल सज्जाय^३ । ७. विनती^४ ।
 ८. विवेक जकडी^५ । ९. सरस्वती जयमाल^६ ।
 १०. पद^७ ।

विजयनाथ माथुर --

ये टोडा नगर के निवासी थे^१ । इन्होंने जयचन्द्र छाबड़ा के पुत्र ज्ञानचन्द के कहने से सकलकीर्ति के वर्द्धमानपुराण का पौष कृष्ण १० सं० १८६१ को पद्यानुवाद किया ।^२

नेमीचन्द्र पाटणी—

इनके पिता का नाम रत्नचन्द्र था । ये जयपुर के अलावा अहिपुर अमरावती एवं इन्दौर आदि स्थानों पर भी रहे । जयपुर में इनका निवास स्थान अमरचन्द दीवान मंदिर में था ।^३ इनकी निम्नलिखित ३ रचनाएं उपलब्ध हुई हैं—

१. चतुर्विंशति तीर्थकर पूजा^४ (भाद्रपद सुदि १० सं० १८८०)
२. तीन चौबीसी पूजा^५ (कार्तिक सुदि १४ सं० १८६८)
३. तीन लोक पूजा^६ (सं० १६२१)

१. राज० के जैन शास्त्र भंडारों की हस्तलिखित खोज - पृ० ७५७ ।

२. वही, पृ० ६५८ । ३. वही, पृ० ७५० ।
४. वही, पृ० ७७५ । ५. वही, पृ० ७२२ ।
६. वही, पृ० ६५८ ।
७. वही, पृ० ५५८, ५८१ एवं ७६४ आदि ।
८. राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार पृ० २६६ ।
९. साधर्मि जन मध एक दिवस बैठे सभा ।
 भाषण को परमग, चर्चा सबै पुरान की ।
 भाषा और पुराण की रची छंद के माहि ।
 वर्द्धमान पुराण की भाषा है जू नाहि ॥

-- वर्द्धमानपुराण की प्रशस्ति ।

१०. वीरवाणी ।
११. यह ग्रंथ बाबा दुलीचन्द के भंडार के बे० सं० १४४ पर है ।
१२. यह ग्रंथ शास्त्र भंडार, बाबा दुलीचन्द भंडार के बे० सं० २७५ पर है ।
१३. राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार पृ० २६६ ।

अखैराम—

प० अखैराम ने आमेर के भट्टारक महेन्द्रकीर्ति के गद्दी पर बैठने पर उस उत्सव की "जकडी" की रचना की है । इसमें तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण है । यह समय सं० १७६२ के आसपास का था, क्योंकि महेन्द्रकीर्ति पौष शुक्ला १० सं० १७६२ में गद्दी पर बैठे थे । अखैराम के नाम से अनेक पद तथा 'शील तरंगिणी' नामक एक कथा भी मिलती है ।

उदयराम—

उदयराम भट्टारक अनन्तकीर्ति के समय में हुए थे । इन्होंने अनन्तकीर्ति के चातुर्मास का वर्णन दो जकडियों में किया है । इन जकडियों में गेयता है और साथ ही ऐतिहासिकता भी । जकडियों के अलावा इनके कुछ पद भी उपलब्ध हुए हैं ।

किशनसिंह पाटणी—

किशनसिंह पाटणी का मूल निवास स्थान बरबाडा (सत्राई माधोपुर) के पास रामपुर नामक गाँव था^१ । इनके पिता का नाम मुखदेव था । इनका गोत्र पाटणी तथा पद सगी था । कालान्तर में किशनसिंह सागानेर आकर रहने लगे और यही उन्होंने ग्रंथ रचना की । उपलब्ध इन रचनाओं की संख्या लगभग १५ है—

१. णमोकार रास (सं० १७६०)
२. चौबीस दडक (१७६४)
३. रात्रि भोजन कथा पद्य (१७७३)
४. पुण्याश्रवकथाकोष (१७७२)
५. भद्रबाहु चरित्र (१७८३)
६. त्रेपन क्रियाकोष (१७६४)
७. लब्धिविधान कथा (१७८२)
८. निर्वाण कांड (१७८३)
९. एकावली व्रत कथा
१०. चेतनलोरी
११. गुरुभक्ति गीत
१२. जिन भक्ति गीत
१३. चेतनशिक्षा गीत
१४. चतुर्विंशति स्तुति
१५. श्रावक मुनी गुण वर्णन गीत ।

१. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास—नाथूराम प्रेमी पृ०

६८-७१ ।

भरतीय दर्शन में योग

साध्वीश्री अशोकश्री जी

भारतीय संस्कृति अध्यात्म प्रधान है। यहाँ के ऋषि-महर्षियों ने गिरि कन्दराओं में बैठ कर आत्म-निदिध्यासन से जो अनुपम एवं मौलिक तत्त्व पाये, उन्होंने उनको विश्व-हित में वितरित किया था। उन्हें जितना स्व-कल्याण अभिप्रेत था, उतना पर-कल्याण भी अभीष्ट था। आत्मा का साक्षात्कार करने में उन्होंने अथक आयास उठाया था। कठिन से कठिन साधना उन्होंने की और उसके आधार पर उन्हें महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हुई। भावी पीढ़ी के लिए उन्होंने उन उपलब्धियों को संजोकर रखा, जो आज हमारे लिए विशेष धरोहर बन गई हैं। हम यदि उसके अनुसार बढ़ते रहे तो साधना के चरम उत्कर्ष को सहज ही प्राप्त कर सकते हैं।

साधना के विभिन्न मार्ग हैं। योग-साधना भी उनमें एक विशिष्ट मार्ग है, जिसे भारत की सभी परम्पराओं ने स्वीकार किया है। इस राज-मार्ग पर चलकर व्यक्ति स्व-हित और पर-हित दोनों को यथेष्ट रूप से साध सकता है। योग-परम्परा के विभिन्न पहलुओं पर विचार करना प्रस्तुत निबन्ध का अभिप्रेत है।

परिभाषा :

योग शब्द युज् धातु के साथ घञ् प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। युज् धातु दो प्रकार की है—युज् नर् योगे और युज् समाधौ। प्रथम का अर्थ है—जोड़ना और दूसरी का अर्थ है—समाधि (मन-स्थिरता)। विभिन्न आचार्यों ने योग को विभिन्न परिभाषाओं में बाँधा है। महर्षि पतञ्जलि ने चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है^१। दूसरी परिभाषा की अपेक्षा उन्होंने पहली परिभाषा पर अधिक बल दिया है और उसका ही अपने ग्रन्थ में आद्योपान्त विवेचन किया है। भगवद्गीता में 'योग कर्मसु कौशलम्' मन, वचन और काय के सम्यक् प्रयोग को योग कहा है।

१. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।

वहाँ अनामक्ति योग का भी वर्णन किया गया है। यहाँ पर एक असामञ्जस्य भी पैदा हो जाता है कि एक ओर जहाँ कर्म-कुशलता को योग कहा है, वहाँ दूसरी ओर अनामकत रहने का उपदेश भी दिया गया है। यह प्रत्यक्ष विरोध चिन्तन के लिए विशेष उत्प्रेरित करता है। कार्य निपुणता के लिए उसमें तल्लीन व तन्मय बनना पड़ता है और उसमें बिना तन्मय बने कार्य-दक्षता नहीं सधती तथा तल्लीन रहने पर भी इसमें आसक्ति न हो, यह कैसे सम्भव है। पर गीता में इसका सुन्दर समाधान दिया गया है, जिससे किसी को विरोधाभास प्रतीत न हो।

काव्य की भाषा में कहा जा सकता है—

बाँसों की छाया सीढ़ियों को बहार रही है

परन्तु कोई धूलो नहीं उठती

चन्द्रमा का प्रकाश पानी के तल में अन्तर्प्रवेश करता है

परन्तु पानी में कोई चिह्न नहीं छोड़ता^२।

अर्थ स्पष्ट ही है। क्रिया की सर्जना में कमल की तरह निर्लिप्त रहे।

गीता में एक दूसरी परिभाषा और भी आती है 'योगः समत्वमुच्यते' समताभाव ही योग है। अरविद के विचारानुसार 'स्वास्थ्य, प्रसन्नता, स्फूर्ति और आनन्द प्राप्त करने की कला का नाम योग है।' वैसे तो अरविद ने सम्पूर्ण जीवन को ही योग माना है। उनका कहना है—“हम जीवन और योग दोनों को ही ठीक प्रकार से देखें तो सम्पूर्ण जीवन ही सचेतन रूप से या अचेतन रूप से योग है। क्योंकि इस शब्द से हमारा मतलब है कि अपनी सत्ता में प्रमुप्त क्षमताओं के आविर्भाव द्वारा आत्मा की परिपूर्णता की दिशा में व्यक्ति का विविधप्रयत्न और मानव सृष्टि का उस विश्वव्यापी तथा परस्पर के सत्ता के साथ मिलकर, जिसे कि हम मनुष्य में योग

२. ध्यान संप्रदाय, पृ० ६४।

विश्व में अंशतः अभिव्यक्त देखते हैं। परन्तु जीवन को उन प्रतीतियों के पीछे जाकर देखने पर सारा जीवन ही प्रकृति का विशाल योग दिखाई देता है, उस प्रकृति का जो अपनी सभाध्य शक्तियों के सब वृद्धिशाली आविर्भाव में पूर्णता साधित करने और अपनी दिव्य वास्तविक सत्ता के साथ'।" दूसरे शब्दों में अरविद का योग मनुष्य जाति में भगवान् पाना और प्रकट करना है। इस योग का साराण यही है कि हम अपने आपको भगवान् के समक्ष प्रस्तुत कर दें और भगवान् की उत्कृष्ट उपाति और पवित्रता को अपने मन में ले आवें। विवेकानन्द ने मानसिक नियमन को योग कहा है।

व्यास जी ने प्रथम सूत्र की व्याख्या में लिखा है कि 'योग समाधि'। वाचस्पति मिश्र ने उसे स्पष्ट किया है कि यहाँ योग शब्द युजन् योगे इस धातु से नहीं बना है, अपितु युज् समाधी से बना है। किसी महर्षि ने उद्योग, सयोग और वियोग, इन तीनों के समवायी रूप को योग बताया है। अभ्यास उद्योग है, वैराग्य वियोग और प्रणिधान सयोग है। आत्माद्वैतवाद में 'ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग एवं सम्यग् ज्ञान का जो साधन है, वही योग है'। 'प्रवृत्तिलक्षणो योग' प्रवृत्तिमात्र योग है, यह परिभाषा भी की जाती है।

बौद्ध परम्परा में 'कुशल पविस्तीए जोगो'—कुशल प्रवृत्ति को योग कहा है।

जैन परम्परा में हेमचन्द्राचार्य ने योग को निम्नोक्त रूप में अभिव्यञ्जित किया है—“चार वर्गों में मोक्ष सबसे प्रधान है। योग उसका कारण है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य; इस त्रिवेणी का संगम ही योग है।” आचार्य हरिभद्र के अभिमतानुसार धर्म का व्यापार मात्र योग है अर्थात् योग वह है, जो मोक्ष के साथ साक्षात्

सम्बन्ध कराये।^१ धर्म मोक्ष का प्रधानतम साधन है; अतः जितने भी धार्मिक व्यापार हैं, वे सब योग की परिधि में हैं। इस व्याख्या का फलित होता है; 'वस्तु सहावो धम्मो'—आत्म-रूप वस्तु का स्वभाव—धर्म ही योग है। उक्तपरिभाषाओं में जितना योग शब्द का अर्थ जोड़ना उपयुक्त बैठता है, उतने अन्य अर्थ नहीं। फिर भी सभी परिभाषाओं में सत्याश अवश्य रहता है। क्योंकि अन्तिम लक्ष्य सबका एक है—आत्मस्थित शक्तियों के उत्कर्षण एवं बाह्य विषयों के अपकर्षण द्वारा मुक्ति व शाश्वत शान्ति की ओर यत्नरत होना। इसलिए साराश के रूप में हम कह सकते हैं, एक ही मजिल की अनेक राहें हैं जैसे कि एक ही वृक्ष की अनेक शाखाएँ।

योग का विशाल साहित्य

वेद और उपनिषद् :

भारतीय दर्शनों की तीन प्रमुखतम धाराएँ रही हैं—वैदिक, बौद्ध और जैन। तीनों ही परम्पराओं में न्यूनाधिक मात्रा में योग का विशिष्टण मिलता है। वैदिक साहित्य का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ है—ऋग्वेद। उसमें योग शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है, पर उक्तका अर्थ प्रायः जोड़ना ही अभिप्रेत रहा है, समाधि व आध्यात्मिक अर्थ वहाँ विवक्षित नहीं है। पर इसके उत्तरवर्ती साहित्य—उपनिषदों में आध्यात्मिक अर्थ में भी योग शब्द का प्रयोग है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में स्पष्ट रूप से योग और योगोचित्त, स्थान प्रत्याहार धारणादि योगाङ्गों का वर्णन भी मिलता है।^२ मध्यकालीन एवं अर्वाचीन उपनिषद् तो केवल योग विषयक ही हैं, जिनमें योगशास्त्र की भाँति योगाङ्गों का सागोपाग वर्णन है। वे निम्नोक्त

४ योगविजिका १

मोक्षेण जोयणाओ जोगो सब्बो वि धम्म वावारे
परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाई गओ विसेसेणं

५. श्वेताश्वतर उपनिषद्, अ० २

६. त्रिरुन्नत स्थाप्य समं शरीर,
हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिर्द्वय।

ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत् विद्वान्,
श्रोतासि सर्वाणि भयावहानि ॥८॥

१. योग विचार, पृ० १।

२. आत्माद्वैतवाद।

परमार्थब्रह्मप्राप्ति मार्गभूत सम्यग् साधनीभूतो योग।

३. योगशास्त्र, पृ० १, श्लो० १५।

चतुर्वर्गोऽप्री मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्

ज्ञान, श्रद्धा चारित्र्य रूप, त्रयं च स।

है—ब्रह्मविद्योपनिषद्, ब्रह्मविदु, योगशिखा, ध्यानबिन्दु, तेजबिन्दु, योगतत्त्व, नादबिन्दु और चूलिकोपनिषद् आदि। कहना चाहिए, ऋग्वेद में जो अध्यात्म-चिन्तन अंकुरित था, वही उपनिषदों में पल्लवित एवं पुष्पित होकर शाखा-प्रशाखाओं के साथ फलावस्था को प्राप्त हुआ है। उपनिषद् काल में योग-प्रक्रिया कितनी पल्लवित थी, यह स्पष्ट ही है।

महाभारत और गीता :

महाभारत में भी योग शब्द का प्रयोग अध्यात्म के अर्थ में मिलता है। शान्ति पर्व और अनुशासन पर्व में योग की अर्थेति प्रक्रिया का समुचित वर्णन मिलता है।^१ गीता भी महाभारत का ही एक विशेष अंग है। वहाँ पर योग अध्यात्म अर्थ में विपुल मात्रा में अभिव्यञ्जित अवश्य है, पर वह भवित, ज्ञान और कर्म इन तीनों से संश्लिष्ट होकर ही। गीता के छठे और तेरहवें अध्याय में तो योग के मौलिक सिद्धान्त और योग की मार्गी प्रक्रियाएँ आ जाती हैं।

न्याय :

न्याय, जिसका प्रमुख विषय है प्रमाण-पद्धति का विश्लेषण करना, उसमें भी महर्षि गौतम ने योग को महत्व दिया है। महर्षि कणाद ने तो अपने वैशेषिक दर्शन में यम-नियमादि योगाङ्गों की विशेष महिमा गाई है।^२

प्राणान् प्रयोऽप्येह मयुक्त चेष्ट,
क्षीणे प्राणे नामिकयोच्छ्वामीत् ।
दुष्टाश्व युक्तमिव बाहमेन,
विद्वान् मनो वारयेताप्रमग ॥६॥
समे शुची शर्करा वह्नि,
वालुका विवर्जिते शब्दजाल श्रयादिभिः ।
मनोनुकूले न तु चक्षुषीडने,
ग्रहानि वातश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०॥

१. शान्तिपर्व १६३, २१७, २४६, २५४ आदि, अनुशासन पर्व ३४, २४६।

२. समाधि विशेषाभ्यासात् ४।२।३८

अरण्य गुहा पुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः । -४।२।४२
तदर्थं यमनियमाभ्यात्म संस्कारो
योगाच्चात्मध्यात्म विध्युपायै । -४।२।४६

पुराण :

पुराणों में भागवत में योग का सुमधुर पद्यों में वर्णन आता है। अनेक तान्त्रिक ग्रंथों में भी योग विषयक तथ्य बिखरे पड़े हैं। उनमें महानिर्माण तन्त्र षड्चक्र निरूपण आदि मुख्य हैं। यहाँ पर जीव (गमागी आत्मा), आत्मा (मुक्त आत्मा) और परमात्मा; इन तीनों का अभेद प्रतिपत्ति को योग बताया है।^३

जैमिनी :

पूर्व मीमांसा में जैमिनी ने योग का निदेश तक नहीं किया है, वह किसी दृष्टि से ठीक भी है, क्योंकि उसमें सकाम कर्मकाण्ड अर्थात् धूममार्ग की ही मीमांसा है। उसकी पहुँच भी स्वर्ग तक ही है, उसका साध्य मोक्ष नहीं है। पर योग का उपयोग तो मोक्ष के लिए ही होता है।

सांख्य परम्परा :

सांख्य सूत्र में भी योग-प्रक्रिया पर वर्णन करने वाले कई सूत्र हैं।^४ महर्षि वादरायण ने अपने ब्रह्म सूत्र के तीसरे अध्याय का नाम ही साधना अध्याय रखा है और उसमें आसन, ध्यानादि योगाङ्गों का समुचित विवेचन है। 'योगदर्शन' तो मुख्यतया योग विषयक ही ठहरा, उसमें योग-प्रक्रिया का पाया जाना स्वाभाविक ही है। इतना ही नहीं, वह तो सारे यौगिक ग्रन्थों का उत्तरदायित्व वहन करने वाला है। अनेक दार्शनिकों ने योग पर थोड़ा सा विवेचन करके विशेष जानकारी के लिए 'योगदर्शन' को देखने की सूचना दी है। महर्षि पतंजलि द्वारा प्रणीत 'पातंजल योगदर्शन' भी सर्वांगीण योग-साधना का संवाहक सर्वोत्तम ग्रन्थ है। उसका अनुकरण तो प्रायः दार्शनिकों ने किया ही है।

३. महानिर्माण तन्त्र, अ० ३, पृ० ८२

ऐक्य जीवात्मनो राहु. योगं योग विशारदाः
शिवात्मनोरभेदेन प्रतिपत्ति परे विदुः ।

४. अभिषेचनोपवास ब्रह्मचर्य गुरुकुलवास नाना प्रस्थ यज्ञादान प्रेक्षणदिङ् नक्षत्र मन्त्र काल नियमाश्च दृष्टयः । ६।२।२।

अयतस्य शुचि भोजनाभ्युदयो न विद्यते नियमाभावाद्
त्रिद्यते तार्थान्तराद् वा यमस्य ।

बौद्ध परम्परा :

बौद्ध परम्परा में योग के अर्थ में ध्यान शब्द का प्रयोग आता है। जैन परम्परा की तरह बौद्ध परम्परा में भी चार प्रकार के ध्यानो का वर्णन मिलता है, जिनका विश्लेषण हम आगे करेंगे। 'विशुद्धि मग्न' में तीन तरह की समाधियों का उल्लेख मिलता है। 'विशुद्धि मग्न' और 'अभिधम्म कोष', ये दोनों तो मुख्यतः ध्यान विषयक ही हैं। भगवान् महावीर की तरह भगवान् बुद्ध ने भी बोधि-प्राप्ति के पूर्व ६ वर्ष तक योगाभ्यास किया था। उनके सहस्रों शिष्यों ने भी वही पथ अपनाया था। ध्यान संप्रदाय बौद्ध धर्म की ही एक शाखा है। उपर्युक्त इन सभी तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध परम्परा में भी योग-विद्या विकसित एवं पल्लवित थी।

जैन परम्परा :

जैन परम्परा के पूर्ववर्ती साहित्य में योग के अर्थ में तप और सवर शब्द का जितना उपयोग हुआ है उतना योग शब्द का नहीं हुआ है। तप के अनशन आदि बारह भेदों का एवं संवर के सम्यक्त्व आदि पांच भेदों का वर्णन अनेक स्थानों पर मिलता है। वर्णन ही नहीं, बल्कि इसका विकास तत्कालीन मुनियों में साक्षात् मूर्तिमान् था। भगवान् महावीर की बारह वर्ष की कठोरतम साधना इसी योगाभ्यास की ज्वलन्त प्रतीक थी। अनेक स्थलों पर आता है कि भगवान् महावीर अमुक आसन लिए हुए ध्यान में रत थे। 'तीर्थंकर महावीर' पुस्तक में इसी विषय को पुष्ट करते हुए लिखा है—'सानुलट्टिय से भगवान् ने दृढ़भूमि की ओर विहार किया और पेड़ाल गाव में स्थित पेड़ाल नामक उद्यान में पोलास नाम के चैत्य में जाकर अष्टम तप करके एक भी जीव की विराधना न हो, इस प्रकार एक शिला पर शरीर को कुछ झुकाकर हाथ लम्बे करके किसी रूक्ष पदार्थ पर दृष्टि स्थिर करके दृढ़ मनस्क होकर अनिमेष दृष्टि से भगवान् वहाँ एक रात्रि ध्यान में स्थिर रहे। यह महाप्रतिमा तप कहा जाता है।'

योग शब्द इस अर्थ में आगमानुमोदित भले ही न हो, पर योग-प्रक्रिया उस समय भी नितान्त पल्लवित एवं

विकसित थी, यह निश्चित रूप से माना जा सकता है। जैन दर्शन में योग शब्द को एक सकीर्ण परिभाषा में न बाधकर उसे विशाल अर्थ प्रदान किया है। महर्षि पतञ्जलि की तरह उसे न केवल निरोपात्मक ही माना है और न अरविद की तरह विधेयात्मक ही; प्रत्युत दोनों को एक साथ तोला है। जो भी प्रवृत्ति या निवृत्ति मोक्ष के अभिमुख ले जाये, उसी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का नाम योग है। प्रवृत्ति का सूचक शब्द निर्जरा एवं निवृत्ति का सूचक शब्द सवर है। सवर योग और निर्जरा योग, ये दोनों जैन दर्शन के हार्द हैं। सामान्यतया योग शब्द का फलितार्थ अध्यात्म-विकास ही है। अध्यात्म-विक्राम ने जितना जैन दर्शन में विकास पाया है, उतना अन्य दर्शनों में नहीं। यह पूर्ववर्ती साहित्य का समुल्लेख हुआ।

१. हरिभद्र :

मध्ययुग में श्री हरिभद्र सूरि ने तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन करके तथा लोक रचि के अनुसार योग शब्द की नवीन परिभाषा कर योग साहित्य में एक नया अध्याय जोड़ दिया था। सुव्यवस्थित योग साहित्य की जैन परम्परा में जो कमी थी, उसे उन्होंने अपनी बौद्धिक प्रतिभा से सम्पन्न किया। योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगविशिका, योगशतक और षोडशक, ये योगप्रक्रिया का समस्त व्यौरा देने वाली उनकी अनुपम कृतियाँ हैं। उनकी प्रतिभा ने केवल जैन योग का वर्णन करके ही आत्मतोष नहीं माना, प्रत्युत 'पातञ्जल योग दर्शन' में प्रतिपादित योग-प्रक्रिया के साथ जैन सकेतो का समन्वय भी प्रस्तुत किया है। 'योग दृष्टि समुच्चय' में जिन आठ दृष्टियों का वर्णन है, वह सारे योग साहित्य में एक नया आलोक है। इनका सविस्तर वर्णन अग्रिम प्रकरणों में किया जा सकेगा।

२. हेमचन्द्र :

हेमचन्द्र सूरि द्वारा रचित 'योगशास्त्र' भी एक अनूठा ग्रन्थ है। उसमें पातञ्जल योगदर्शन में प्रतिपादित आठ योगाङ्गों के क्रम से साधु और गृहस्थ जीवन की आचार-प्रक्रिया का जैन सिद्धान्तानुसार सुन्दरतम वर्णन है। उसमें आसन, प्राणायाम, धारणा और ध्यान प्रभृति के स्वरूपों का वर्णन एवं उनकी महिमा भी बतलाई गई

है। इससे यह फलित होता है कि हेमचन्द्र ने राजयोग की तरह हठयोग को भी महत्त्व दिया था।

३. यशोविजय :

यशोविजयजी द्वारा रचित योगग्रन्थ भी जैन साहित्य की अनुपम निधियाँ हैं। उनका शास्त्राध्ययन, तर्क-कौशल और योगानुभूति अत्यन्त गम्भीर थी। उन्होंने अध्यात्म-सार, अध्यात्मोपनिषद्, सटीक बत्तीस बत्तिसियाँ लिखकर योग साहित्य में मानों एक प्रकार की बाढ़-सी ला दी। उन्होंने जैन सिद्धान्तों की सूक्ष्म मीमांसा के साथ अन्य दर्शनों का समन्वय भी किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने हरिभद्रपूरि कृत 'योगविशिका' तथा षोडशक ग्रंथों पर टीका लिखकर गूढ़ तत्त्वों का उद्घाटन भी किया था। उन्होंने महर्षि पतञ्जलि कृत योग सूत्र पर भी एक लघु-वृत्ति लिखी तथा उसमें जैन परम्परा एवं साख्य परम्परा का यथासम्भव समन्वय भी किया है। तटस्थता की झलक उनके प्रत्येक ग्रंथ में रही है।

४. दिगम्बर परम्परा :

दिगम्बर-साहित्य में जानार्णव तो प्रसिद्धतम ग्रंथ है ही, ध्यानमार और योग प्रदीप ये दोनों भी कम महत्त्व के नहीं हैं। वे पद्यात्मक एवं लघु परिमाण हैं। 'योगसार' नामक ग्रंथ भी इस विषय में महत्त्वपूर्ण है। पर इसके

रचयिता का परिचय अब तक सुलभ नहीं हुआ है। योग-तारावली, योगवीज और योग कल्पद्रुम आदि ग्रंथ भी महत्त्वपूर्ण हैं। विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में भवदेव द्वारा रचित 'योग निबन्ध' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ भी देखने में आया है। जिसमें विष्णु पुराणादि ग्रन्थों के उद्धरण देकर योग-सम्बन्धी प्रत्येक विषय पर विस्तृत विवेचन किया है।

अन्य भाषाओं में :

महाराष्ट्री भाषा में ज्ञानदेवी द्वारा विरचित गीता की ज्ञानेश्वरी टीका भी दर्शनीय है। इसके छोटे अध्याय का वर्णन अत्यन्त सुन्दर एवं मनोहर है। निश्चित ही ज्ञानदेवी ने ज्ञानेश्वरी टीका द्वारा अपने अनुभव एवं वाणी को अब्धय बनाया है। 'सिद्धान्त संहिता' भी योग विषयक दर्शनीय ग्रन्थ है। कबीर का 'बीजक ग्रन्थ' भी योग साहित्य का एक अंग है। हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगाली आदि विविध भाषाओं में पातञ्जल योग शास्त्र का अनुवाद तथा विवेचन मिलता है। विभिन्न भाषाओं में पातञ्जल योग शास्त्र का अनुवाद योग साहित्य के गौरव को और भी बढ़ा देता है। भारतीय साहित्य में योग साहित्य भी अपना अनूठा स्थान रखता है, यह अब कोई उलझा हुआ विषय नहीं रह गया है। ★

लंका में जैन धर्म

लंका देश में जिस समय बौद्ध भिक्षु गये, उस समय जैन धर्म लंका देश में फैला हुआ था व जैन साधु बड़ी संख्या में विचरण करते थे। हिन्दी साप्ताहिक पत्र "चौराहा" में 'जैन और बौद्ध परम्पराओं का मिलन बिन्दु' शीर्षक निम्नलिखित लेख में यह जानकारी प्रकाशित हुई है।

यहाँ बौद्ध साहित्य के गौरव को बढ़ाने वाली एक बात को भी बताना अनुचित न होगा, जिसने जैन धर्म के एक ऐसे गौरवमय साक्ष्य की ओर संकेत किया है जिसका पता स्वयं जैन धर्म को भी नहीं है। अशोक के पुत्र और पुत्री, महेन्द्र और संघमित्रा, जब लंका में धर्म प्रचारार्थ गये तो वहाँ उन्होंने अपने से पूर्व स्थापित निर्ग्रन्थ संघ को देखा। लंका के प्राचीन नगर अनुराधापुर की (जो आज खण्डहर के रूप में पड़ा है) जब स्थापना की गई तो वहाँ महावंश के कथनानुसार तत्कालीन राजा ने निर्ग्रन्थों के लिए भी आश्रम बनाए। इतना ही नहीं, पालि ग्रन्थों का साक्ष्य है कि लंका में बौद्ध धर्म की स्थापना होने के बाद भी ४४ ईसवी पूर्व तक निर्ग्रन्थों के आश्रम लंका में विद्यमान थे, जिसे ऐतिहासिक तथ्य के रूप में 'पालि डिक्शनरी आफ प्रापर नेम्स' के सम्पादक प्रसिद्ध सिंहली बौद्ध विद्वान् मल्लसकर ने भी स्वीकार किया है। जैन विद्वानों को अपने प्राचीन विदेशी-प्रचार कार्य की खोज करनी चाहिए।

जैन दर्शन-साधना का केन्द्रीय विचार है, वस्तुतः वीतरागता। सम्पूर्ण वीतरागता जैन-दर्शन का लक्ष्य है। अहिंसा और अनेकान्त उसके दाएँ-बाएँ स्थित हैं। यह त्रिविध साधना मानवता के तेज को निखारने वाली है। 'माणुसत्तं भवे मूलां' मनुष्यता ही मूल वस्तु है, यह जो कहा गया है, यही वस्तुतः जैन दर्शन की प्रकृत स्थिति है, उसका आत्मवाद नहीं। और यहीं पर बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन दोनों मिलते हैं। दोनों का लक्ष्य मानव है, वह मानव जो पूर्ण विमुक्त है, केवली है, अर्हत् है।

—महेन्द्रकुमार जैन विल्ली

कौशाम्बी

पं० बलभद्र जैन

स्थिति—इलाहाबाद से दक्षिण-पश्चिम में यमुना के उत्तरी तट पर ६० किलोमीटर दूर कोसम नामक एक छोटा सा ग्राम है। वहाँ जाने के लिए इलाहाबाद से मोटर मिलती है। इलाहाबाद से सराय अकिल तक ४२ किलोमीटर की पक्की सड़क है। वहाँ से कौशाम्बी का रैस्ट हाउस कच्चे मार्ग से १८ किलोमीटर दूर है। यहाँ तक बस जाती है। रैस्ट हाउस से क्षेत्र ४ किलोमीटर है। कच्चा मार्ग है। इलाहाबाद से २३ मील दूर मेन लाइन पर भरवारी स्टेशन से यह क्षेत्र दक्षिण की ओर २० मील है। यहाँ से भी मोटर, इक्का द्वारा जा सकते हैं। आजकल प्राचीन वैभवशाली कौशाम्बी के स्थान पर गढ़वा कोसम इनाम और कोसम खिराज नामक छोटे-छोटे गाँव हैं जो यमुना के तट पर अवस्थित हैं। क्षेत्र से गढ़वा इनाम गाँव १ किलोमीटर है। वहाँ से १० किलोमीटर जल मार्ग से पभोसा गिरि है, जहाँ पर भगवान पद्मप्रभु की भव्य मूर्ति है। कौशाम्बी की स्थापना चन्द्रवशी राजा कुशाम्बु ने की थी। इसका पोस्ट ऑफिस अकिल सराय है।

तीर्थक्षेत्र—इस नगरी की प्रसिद्धि छटवे तीर्थंकर भगवान पद्मप्रभु के कारण हुई है। भगवान पद्मप्रभु के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान कल्याणक यही पर हुए थे। इन कल्याणकों को मनाने के लिए इन्द्र और देव, राजा और प्रजा सबका यहाँ आगमन हुआ था और यह नगरी तब विश्व के आकर्षण का केन्द्र बन गई थी। तबसे यह नगरी लोक विश्रुत तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हो गई। प्रसिद्ध जैन शास्त्र तिलोय पण्णत्ति में भगवान पद्मप्रभु की कल्याणक भूमि के रूप में कौशाम्बी का उल्लेख इस प्रकार आया है :—

अस्सजुव किण्ह तेरसि विणम्मि पडमप्पहो घ चित्तासु ।

धरणेण सुसीमाए कोत्तवि पुरवरे जावो ॥४॥५३१॥

—पद्मप्रभु तीर्थंकर ने कौशाम्बी पुरी में पिता धरण और माता सुसीमा से आसोज कृष्णा त्रयोदशी के दिन चित्रा नक्षत्र में जन्म लिया।

इसका समर्थन आ० रविषेध कृत 'पद्मपुराण ६८। १४५, आ० जटासिंह नन्दी कृत 'वराङ्ग-चरित २७।८२, आ० गुणभद्र कृत 'उत्तर पुराण ५२।३८ में भी किया गया है।

उस समय कौशाम्बी अत्यन्त समृद्ध महानगरी थी। आज तो वह खण्डहरो के रूप में पड़ी हुई है। कहते हैं, वर्तमान सिंहवल, कोसम, पाली, पभोसा ये सब गाँव पहले कौशाम्बी के अन्तर्गत थे। वास्तव में कौशाम्बी में भगवान के गर्भ और जन्म कल्याणक हुए थे और पभोसा में जो कौशाम्बी का उद्यान था, दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक हुए थे, अतः ये दोनों ही स्थान तीर्थ क्षेत्र हैं। आजकल इस वन का नाम अथरवन कहलाता है।

भगवान के दीक्षा-कल्याणक का विवरण 'तिलोय पण्णत्ति' में इस प्रकार मिलता है :—

चेत्तासु किण्हतेरसि अवरण्हे कत्तियस्स निषकंतो ।

पडमप्पहो जिणिदो तदिए खवणे मणोहरज्जाणे ॥४॥६४६॥

—पद्मप्रभु जिनेन्द्र कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के अपराह्न समय में, चित्रा नक्षत्र में, मनोहर उद्यान में तृतीय भक्त के साथ दीक्षित हुए। उन्होंने दीक्षा लेकर दो दिन का उपवास किया। वे दो दिन के पश्चात् वर्धमान नगर में पारणा के निमित्त पधारे। राजा सोमदत्त ने भगवान को आहार दान देकर असीम पुण्य का बन्ध किया। देवताओं ने षोडशचर्य किये। भगवान घोर तप करने लगे। दीक्षा के छह माह पश्चात् भगवान विहार करते हुए पुनः दीक्षावन में पधारे। यहाँ आप ध्यान लगाकर बैठ गये और इसी मनोहर उद्यान में उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो

गया। आचार्य यतिवृषभ 'तिलोय पण्णत्ति' ग्रंथ में भगवान के ज्ञान, कल्याणक का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं :—

बइसाह सुक्क इसमी चेत्तारिक्खे मणोहरज्जाणे ।

अवरण्हे उप्पण्णं पउमप्पह जिणवॉरिदस्स ॥४॥६८३

—पद्मप्रभ जिनेश्वर को वैशाख शुक्ला दसमी के अपराह्न काल में चित्रा नक्षत्र के रहते मनोहर उद्यान में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

उसी समय इन्द्रों और देवों ने आकर उनकी पूजा की। कुवेर ने समवसरण की रचना की और भगवान ने इसी बन में—पद्मोसा गिरि में धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

यहाँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना उस समय घटित हुई, जब भगवान महावीर केवलज्ञान प्राप्ति से पूर्व यहाँ पधारे। वे पारणा के लिए नगर में पधारे। संयोगवश उस समय भारत के सर्वाधिक शक्तिशाली गणराज्य वैशाली के अधिपति चेटक की पुत्री कुमारी चन्दना (चन्दनवाला) दुर्भाग्य के चक्र में पड़कर सेठ वृषभसेन की सेठानी द्वारा बधन में पड़ी हुई थी। भूठे सापत्न्य द्वेष से सेठानी ने उसे जजीरो में बाध रक्खा था। चन्दना ने ज्यों ही प्रभु महावीर को देखा तो उसके सारे बन्धन खुल गये। सेठानी ने उसे निराभरण कर रक्खा था, उसे खाने के लिए काजी मिश्रित कोदो का भात मिट्टी के सकोरे में दे रक्खा था। भगवान के दर्शन करते ही उसका कोमल शरीर बहुमूल्य वस्त्राभूषणों ने सुशोभित होने लगा। उसके शील के माहात्म्य से उसका मिट्टी का सकोरा सोने का हो गया और कोदो का भात शाली चावलों का भात बन गया। किन्तु चन्दना को तो इस सबकी ओर ध्यान देने का अवकाश ही कहाँ था। वह तो प्रभु की भक्ति में लीन थी। जगद्गुरु त्रिलोकीनाथ प्रभु उसके द्वार पर आहार के लिए आये थे। उसके हृदय का सम्पूर्ण रस ही भक्ति बन गया था। वह भगवान के चरणों में झुकी और नवधा भक्तिपूर्वक उसने भगवान को पड़गाया। आज उसके हृदय में कितना हर्ष था! वह अपने सारे शोक-सन्तापों को भूल गई। आज उसके हाथों से तीर्थङ्कर भगवान ने आहार लिया था। इससे बड़ा पुण्य संसार में क्या कोई दूसरा हो सकता है।

भगवान का आहार समाप्त हुआ। देवों ने आकर उसका सम्मान किया। उन्होंने पंचाश्चर्य किये—आकाश से रत्न वर्षा हुई, पुष्प वृष्टि हुई, देवों ने दुन्दुभी घोष किये, शीतल सुरभित पवन बहने लगी और आकाश में खड़े हुए देव जयजयकार कर रहे थे, 'धन्य यह दान, धन्य यह पात्र और धन्य यह दाता।'।

प्रभु आहार के पश्चात् वन की ओर चले गये, भक्त चन्दना जाते हुए प्रभु को निनिमेष दृष्टि से देखती रही। कौशाम्बी के नागरिक आकर चन्दना के पुण्य की सराहना कर रहे थे। यह पुण्य-चर्चा राजमहलो में भी पहुँची। कौशाम्बी नरेश शतानीक की पटरानी मृगावती ने सुना तो वह उस महिमामयी भाग्यवती नारी के दर्शन करने के लिए राजकुमार उदयन के साथ स्वयं आई। किन्तु उसे यह देखकर अत्यन्त आश्चर्यमिश्रित हर्ष हुआ कि वह नारी और कोई नहीं; उसकी छोटी बहिन है। वह अपनी प्रिय बहिन को बड़े आदरपूर्वक महलो में लिवा ले गई। किन्तु चन्दना अपनी इस अल्प वय में ही कर्म के जिन क्रूर हाथों में पड़कर नाना प्रकार की लाच्छनाओं और व्यथाओं का अनुभव कर चुकी थी, उससे उसके मन में संसार के प्रति प्रबल निर्वेद पनप रहा था। उसके बधुजन आकर उसे लिवा ले गये। लेकिन उसका वैराग्य पकता ही गया और एक दिन चन्दना घरवार और राज सुखों का परित्याग करके भगवान महावीर की शरण में जा पहुँची और आश्रय दीक्षा ले ली। अपने तप और कठोर साधना के बल पर वह भगवान महावीर की ३,६००० आश्रितों के सघ की सर्वप्रमुख गणिनी के पद पर प्रतिष्ठित हुई।

भगवान महावीर अपने जीवन काल में कई बार कौशाम्बी पधारे और वहाँ उनका समवसरण लगा।

तत्कालीन इतिहास—जैन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व ७वीं शताब्दी में जो सोलह बड़े जनाद थे, उनमें एक वत्स देश भी था, जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी। गंगा जी की बाढ़ के कारण जब हस्तिनापूर का विनाश हो गया, उसके बाद चन्द्रवंशी नेमिचक्र ने कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया था। उनके वंश ने यहाँ वाईस पीढ़ी तक राज्य किया।

भगवान महावीर के समय में शतानीक वत्स देश का राजा था। वैशाली गणतंत्र के अधिपति चेटक की सात पुत्रियाँ थी जिनमें से ज्येष्ठा और चन्दना तो प्रव्रजित हो गईं। शेष पाँच पुत्रियों में बड़ी पुत्री प्रियकारिणी—जिन्हे त्रिशला भी कहा जाता है—कुण्डलपुर नरेश महाराज सिद्धार्थ के साथ व्याही गई। मृगावती वत्सनरेश चन्द्रवंशी सहस्रानीक के पुत्र शतानीक के साथ, सुप्रभा दशार्ण देश के हेमकच्छ नरेश सूर्यवंशी दशरथ के साथ, प्रभावती कच्छ देश की रोहका नगरी के राजा उदयन के साथ, पाँचवी पुत्री चेलिनी मगध नरेश शिशुनागवंशी श्रेणिक के साथ विवाही गई।

इस प्रकार वत्सराज शतानीक सासारिक सम्बन्ध के कारण महावीर भगवान के मौसा थे और मृगावती उनकी मौसी थी। इस प्रकार उनका इस राजवंश से रक्त संबन्ध था। किन्तु इससे अधिक उनके पतित पावन व्यक्तित्व के कारण यह राजवंश उनका अनन्य भक्त था।

वत्स देश के राजाओं के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे शिक्षित और सुसंस्कृत थे। इनकी राजवशावली इस प्रकार बताई जाती है—

१. मुतीर्थ
२. रच
३. चित्राक्ष
४. सुखीलाल-सहस्रानीक
५. परंतप शतानीक और जयंती पुत्री
६. उदयन और एक पुत्री
७. मेघाबिन अथवा मणिप्रभ
८. दण्डपाणि
९. क्षेमक।

शतानीक की बहिन जयन्ती कट्टर जैन धर्मानुयायी थी और महावीर^१ की भक्त थी। शतानीक बड़ा वीर था। उसने एक बार चम्पानगरी पर आक्रमण करके उसे जीत लिया और उसे अपने राज्य में मिला लिया।

१. The Journal of the Orissa Bihar Research Society, Vol.-I

२. भरतेश्वर-बाहुबली वृत्ति, (तृतीय संस्करण) पृष्ठ ३४१-२।

ललित कलाओं में उसकी बड़ी रुचि थी। उसके यहाँ एक कुशल चित्रकार था। किसी कारणवश राजा ने उसे निकाल दिया। इससे चित्रकार के मन में प्रतिशोध की भावना जागृत हुई। वह सीधा अवंती नरेश चण्डप्रद्योत के राजदरबार में पहुँचा और उसे मृगावती रानी का चित्र दिखाया। प्रद्योत चित्र देखते ही मृगावती के ऊपर मोहित हो गया। उसने शतानीक के पास सन्देश भेजा कि या तो महारानी मृगावती को मुझे दे दो या फिर युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। वीर शतानीक ने युद्ध पसन्द किया। अवंती नरेश ने प्रबल वेग से कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। किन्तु शतानीक की इस युद्ध के दौरान—सम्भवतः विशूचिका रोग से मृत्यु हो गई। प्रद्योत उस समय वापिस लौट गया।

मृगावती ने राज्य का शासन-सूत्र सम्भाल लिया। उदयन की अवस्था उस समय ६-७ वर्ष की थी। रानी जानती थी कि प्रद्योत से युद्ध अवश्यम्भावी है। अतः वह युद्ध की तैयारी करती रही। उसने एक मजबूत किला बनवाया। प्रद्योत ने मृगावती के पास पुनः विवाह का प्रस्ताव भेजा। मृगावती ने चतुराई से उदयन के राज्या-रोहण तक का समय मांग लिया और वह किले-खाइयों और युद्ध की अन्य तैयारियों में जुटी रही। १३-१४ वर्ष की अवस्था में उदयन का राज्याभिषेक हुआ। प्रद्योत ने पुनः कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। भयानक युद्ध हुआ। अन्त में समझौता हुआ। प्रद्योत के हाथों से उदयन का राज्याभिषेक हुआ, मृगावती भगवान महावीर के पास दीक्षित हो गई।^३

उदयन भी भगवान महावीर के समकालीन था। वह अपने समय में सारे देश में रूप और गुणों में सारे राजकुमारों की ईर्ष्या और कुमारियों की कामना का एक मात्र आधार बन गया था। यह कहा जाता है कि उस समय की प्रमुख पाँच महानगरियों में उदयन के चित्र राजप्रासादों से लेकर नागरिकों और वारांगनाओं के सायं कक्ष में सब कहीं सम्मोहन के साधन बने हुए थे। वह वीणावादन में अत्यन्त निपुण था। जब वह अपनी प्रसिद्ध घोषवती वीणा के तारों पर उँगलियाँ चलाता था

३. भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति, पृष्ठ ३२३-५।

तो सुनने वाले श्रवणा होश गँवा बैठते थे। अपनी इसी वीणा की बढौलत वह अवन्ति नरेश चण्डप्रद्योत की पुत्री बासवदत्ता से प्रणय विवाह करने में सफल हुआ था। बाद में राजनैतिक कारणों से मगध की राजकुमारी पद्मावती तथा अन्य दो राजकुमारियों का भी विवाह उसके साथ हुआ था। किन्तु बासवदत्ता के प्रति उसका जो अनुराग था, उसको लेकर अनंगहर्ष, कात्यायन, वररुचि, गुणादय, श्रीहर्षदेव, क्षेमेन्द्रदेव आदि अनेकों कवियों ने काव्य रचना की है। महाकवि भास ने उदयन-बासवदत्ता के कथानक को लेकर तीन नाटकों की रचना की है।

उदयन ने कौशाम्बी को कला केन्द्र बना दिया था। उस समय के जन-जीवन में सौन्दर्य और सुरुचि की भावना का परिष्कार हुआ था। उसके समकालीन नरेशों में इतिहास प्रसिद्ध प्रसेनजित, चण्डप्रद्योत, श्रेणिक विम्बसार, अजातशत्रु, हस्तिपाल, जितशत्रु, दधिवाहन आदि मुख्य थे जिन्होंने तत्कालीन भारत के इतिहास का निर्माण किया।

इस नगरी में कई बार महात्मा बुद्ध भी पधारे थे किन्तु जैन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म का प्रचार उस समय यहाँ कम ही हुआ था। भगवान महावीर के प्रभावक व्यक्तित्व की ओर ही यहाँ की जनता अधिक आकृष्ट हुई। उदयन भी महावीर का भक्त था। महात्मा बुद्ध उदयन के समय जब कौशाम्बी पधारे, तब उदयन उनके पास एक बार भी दर्शनार्थ नहीं आया। सम्भवतः इससे क्षुब्ध होकर बौद्ध ग्रन्थकारों ने उदयन के चरित्र को कुछ निम्न ढंग का चित्रित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु जैन कथा साहित्य में उदयन का चरित्र-चित्रण भद्र शब्दों में किया गया है।

उदयन की मृत्यु स्वाभाविक ढंग से नहीं हुई। उदयन के कोई सन्तान नहीं थी। वह अपना अधिकांश समय जैन धर्म की क्रियाओं में—धर्माराधना में व्यतीत किया करता था। एक बार उसने एक कर्मचारी को किसी अपराध पर पृथक् कर दिया। उस कर्मचारी ने उदयन से इसका बदला लेने की प्रतिज्ञा की। वह अवन्ती पहुँचा। वहाँ केवल प्रतिशोध के लिए ही वह जैन मुनि बन गया। कुछ समय बाद वह अपने गुरु के साथ कौशाम्बी आया।

पर्यूषण पर्व के दिनों में एक दिन उदयन ने उपवास किया और वह रात में धर्मागार में ही सोया। वहीं पर वह बंचक साधु और गुरु भी ठहरे हुए थे। रात्रि में जब राजा गहरी नींद में सो रहा था, उस समय वह धूर्त चुपचाप उठकर राजा के पास पहुँचा और एक चाकू (अथवा कटार) से राजा की हत्या करके कटार वहीं फेंक कर भाग गया। गुरु की नींद खुली। उन्होंने देखा, राजा निर्जीव पड़ा है, चारों ओर रक्त बह रहा है और शिष्य लापता है। वे सारी स्थिति समझ गये। उन्होंने सोचा कि एक जैन साधु राजा का हत्यारा है, इस अपवाद को सुनने-देखने के लिए मैं जीवित नहीं रहना चाहता। उन्होंने उसी कटार से आत्मघात कर लिया।

उदयन की कोई सन्तान नहीं थी। तब बासवदत्ता ने अपना भतीजा गोद ले लिया। उसका राज्याभिषेक किया गया। कुछ वर्ष बाद उसने अवन्ती पर भी अधि-कार कर लिया। इसके कुछ वर्षों बाद मगध सम्राट् नन्दि-वर्धन ने उससे वत्स राज्य छीन लिया।

प्राचीन साहित्य से यह पता चलता है कि यह नगरी उस समय अत्यन्त समृद्ध थी। यातायात की यहाँ सुविधाएं थी। फलतः देश-देशान्तरो के साथ उसका व्यापारिक सम्बन्ध था। यह श्रावस्ती से प्रतिष्ठान जाने वाले मार्ग पर एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र थी। मौर्य, शुंग, कुषाण और गुप्त काल में भी यह कला और वाणिज्य का केन्द्र रही।

यह शताब्दियों तक मृण्मूर्तियों तथा मनको के निर्माण का प्रसिद्ध केन्द्र रही। किन्तु मुस्लिम काल में इसकी समृद्धि समाप्त हो गई; कला का विनाश कर दिया गया; मूर्तियाँ, मन्दिर, स्तूप, शिलालेख तोड़ दिये गये। आज कौशाम्बी का स्वर्णिम अतीत खण्डहरों के रूप में बिखरा पड़ा है।

पुरातत्त्व—कौशाम्बी में प्रयाग विश्वविद्यालय की ओर से खुदाई हुई थी। फलतः यहाँ से हजारों कलापूर्ण मृण्मूर्तियाँ, और मनके प्राप्त हुए, जो प्रयाग संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

कहा जाता है, ढाई हजार वर्ष पहले राजा शतानीक का किला चार मील के घेरे में था। उसमें बत्तीस दरवाजे थे। उसी के अन्दर कौशाम्बी नगरी बसी हुई थी। इस किले के अवशेष अब भी हैं। कई स्थानों पर तो किले की ध्वस्त दीवारें ३० से ३५ फुट ऊँची स्पष्ट दिखाई देती हैं। यहाँ प्राचीन नगर के भग्नावशेष मीलों में बिखरे पड़े हैं। इनके मध्य सम्राट् अशोक का बनवाया हुआ एक स्तम्भ भी खड़ा हुआ है, जो वस्तुतः उसके पौत्र सम्राट् सम्प्रति द्वारा निर्मित है। भगवान् पद्मप्रभ का जन्म-स्थान होने के कारण सम्राट् सम्प्रति ने यहाँ स्तम्भ निर्मित कराया था और उसके ऊपर जैन धर्म की उदार शिक्षाओं अंकित कराई थी।

यहाँ के खण्डहरो में मैंने सन् १९५८ की शोध-यात्रा में अनेक जैन मूर्तियों के खण्डित भाग पड़े हुए देखे थे। मुझे अखण्डित जैन प्रतिमा तो नहीं मिल पाई। किन्तु जो खण्डित प्रतिमाएँ मिली, उनमें किसी प्रतिमा का शिरो-भाग था तो किसी का अधोभाग। मुझे जो शिरोभाग मिले, वे भावाभिव्यञ्जना और कला की दृष्टि से अत्यन्त समुन्नत थे। मुझे सिंहासन पीठ और आयागपट्ट के भी कुछ भाग उपलब्ध हुए थे। सिंहासन पीठ पर धर्मचक्र और पुष्प उत्कीर्ण थे। वे तथा आयागपट्ट के अलकरण भी अनिन्द्य कला के उत्कृष्ट उदाहरण थे।

खुदाई में एक बिहार निकला है, जो मंखलीपुत्र गोशालक का कहलाता है। कहा जाता है, इस बिहार में गोशालक के सम्प्रदाय के पाँच हजार साधु रहते थे। प्रारंभ में गोशालक भगवान् महावीर का शिष्य था। किन्तु बाद में वह भगवान् से द्वेष और स्पर्धा करने लगा। उसने एक नया सम्प्रदाय भी चलाया, जिसका नाम आजीवक सम्प्रदाय था। किन्तु अब तो वह केवल ग्रन्थों में ही रह गया है।

जैन मन्दिर—विधि की यह कैसी विडम्बना है कि जो नगरी कभी जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र रही, आज वहाँ एक भी जैन का घर नहीं है। केवल लाला प्रभुदास जी आरा वालों का बनवाया हुआ एक दिगम्बर जैन मन्दिर और एक जैन धर्मशाला है। मन्दिर में दो वेदियाँ हैं। एक में भगवान् पद्मप्रभ की प्रतिमा और चरण हैं। तथा

दूसरी वेदी में एक चैत्य है जिसमें चारों दिशाओं में पद्म प्रभ भगवान् की प्रतिमा हैं। इस मन्दिर का प्रबन्ध बाबू निर्मलकुमार जी आरा के परिवार की ओर से होता है। धर्मशाला के बरामदे में बच्चों की पाठशाला लगती है।

पभोसा

पभोसा क्षेत्र कौशाम्बी से १९ कि०मी० दूर है। मार्ग कच्चा है। किन्तु इक्के जा सकते हैं। कौशाम्बी से यमुना नदी में नावों में जाने से मार्ग केवल १० कि० मी० पड़ता है और सुविधाजनक भी है। कौशाम्बी से पाली होते हुए पैदल मार्ग से केवल ८ कि० मी० है। पभोसा यमुना तट पर अवस्थित है।

तीर्थक्षेत्र—छटे तीर्थंकर भगवान् पद्मप्रभ अपने राज-महलों के द्वार पर बधे हुए हाथी को देखकर विचारमग्न हो गये, उन्हें अपने पूर्व भवों का स्मरण हो आया। उन्हें संसार की दशा को देखकर वैराग्य हो गया और कौशाम्बी के मनोहर उद्यान (पभोसा) में जाकर कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन दीक्षा ले ली। देवों और इन्द्रों ने भगवान् का दीक्षा कल्याणक महोत्सव मनाया।

भगवान् दीक्षा लेकर तपस्या में लीन हो गये और लगभग छह माह के घोर तप के बाद उन्हें चैत शुक्ला पूर्णमासी को उसी मनोहर उद्यान में केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवों और इन्द्रों ने आकर ज्ञान कल्याणक का महोत्सव मनाया। यही पर भगवान् का प्रथम समवसरण लगा और भगवान् की प्रथम कल्याणी वाणी खिरी। भगवान् के चरणों में बैठकर और उनका उपदेश सुनकर असंख्य प्राणियों को आत्म-कल्याण की प्रेरणा मिली।

जिस स्थान पर भगवान् पद्मप्रभ के दीक्षा और ज्ञान-कल्याणक मनाये गये, वह स्थान पभोसा है। इसीलिए यह कल्याणक तीर्थ माना जाता है।

यह स्थान प्राचीन काल में मुनियों की तपोभूमि रहा है। कालिन्दी का प्रशान्त कूल, सुरम्य पर्वत की हरीतिमा और गुहा की एकान्त शान्ति—यह सारा वातावरण मुनियों के ध्यान-अध्ययन के उपयुक्त है। प्राचीन साहित्य में ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिनसे पता चलता है

कि यहाँ पर मुनि जन तपस्या किया करते थे। ललितघट आदि वत्तीस राजकुमार मुनि बनकर यहाँ आये और यमुना-तट पर खड़े होकर विविध प्रकार के तप करने लगे। एक दिन यमुना में भयंकर बाढ़ आ गई और वे सभी मुनि बाढ़ में बह गये। उनकी स्मृति में यहाँ वत्तीस समाधियाँ बनी हुई थी, जिन पर हिन्दुओं ने अधिकार कर लिया है।

इतिहास—पभोसा कौशाम्बी का ही भाग था। यहाँ उस समय वन था। इसलिए कौशाम्बी में भिन्न पभोसा का अपना कोई स्वतन्त्र इतिहास नहीं है। किन्तु यहाँ तीर्थकर पद्मप्रभ के दो कल्याणको की पूजा और उत्सव के बाद बाईसवें तीर्थकर नेमिनाथ के काल में एक महत्वपूर्ण घटना घटी। भगवान् नेमिनाथ ने बलराम के पूछने पर द्वारका और नारायण श्रीकृष्ण के भविष्य का वर्णन करते हुए कहा—आज से बारह वर्ष पीछे मछपी यादवों द्वारा उत्तेजित किये गये द्वैपायन मुनि के शाप से द्वारका भस्म होगी। अन्तिम समय में श्रीकृष्ण कौशाम्बी के वन में शयन करेंगे और जरत्कुमार उनकी मृत्यु के कारण वनेंगे।

भगवान् की इस भविष्यवाणी को सुनकर बलराम के मामा (रोहिणी के भाई) द्वैपायन विरक्त होकर मुनि बन गये और वही दूर वनों में जाकर तप करने लगे। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के बड़े भ्राता जरत्कुमार भी वहाँ से चले गये और वनों में रहने लगे। तीर्थकर अन्यथावादी नहीं होते। दोनों ने ही, लगता था, भवितव्य और तीर्थकर वाणी को झुठलाना चाहा। किन्तु भवितव्य होकर ही रही। द्वैपायन के क्रोध से द्वारका भस्म हो गई। बलराम और श्रीकृष्ण वहाँ से चल दिये और कौशाम्बी के इस वन में पहुँचे। श्रीकृष्ण व्यास से व्याकुल हो गये। वे एक पेड़ की छांव में लेट गये। बलराम जल लाने गये। जरत्कुमार उसी वन में घूम रहा था। उसने दूर से कृष्ण के वस्त्र को हिलता हुआ देखकर उसे हिरण समझा। उसे वाण सन्धान करते देर न लगी। वाण आकर श्रीकृष्ण के पैर में लगा। जब जरत्कुमार को तथ्य का पता लगा तो वह आकर पैरों में पड़ गया। श्रीकृष्ण सम्यग्दृष्टि थे, भावी तीर्थकर थे। उन्होंने बड़े शान्त और समता भाव से प्राण विसर्जन किये। बलदेव जब लौट कर आये तो अपने प्राणोपम

अनुज को मृत देखकर वे ऐसे मोहाविष्ट हुए कि छह माह तक मृत देह को लिये फिरे। अन्त में एक देव द्वारा समझाने पर तुंगीगिरि पर जाकर उन्होंने दाह संस्कार किया।

इस प्रकार इस कल्पकाल के अन्तिम नारायण श्रीकृष्ण के अन्तिम काल का इतिहास पभोसा की मिट्टी में ही लिखा गया।

स्थानीय मन्दिर—यहाँ दिगम्बर जैन धर्मशाला बनी हुई है। धर्मशाला में ही एक कमरे में मन्दिर भी है। उसमें पद्मप्रभु भगवान् की मूर्ति के अतिरिक्त भूगर्भ से निकली हुई कुछ प्राचीन जैन मूर्तियाँ भी विराजमान हैं। ये मूर्तियाँ प्रायः हल जोतते हुए किसानों को मिली हैं।

धर्मशाला के निकट ही पहाड़ी है। पहाड़ी छोटी सी है। पहाड़ी पर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। सीढ़ियों की कुल संख्या १६८ है। ऊपर जाकर समतल चबूतरा मिलता है। वहाँ एक कमरा है जो मन्दिर का काम देता है। पहले यहाँ मन्दिर था किन्तु भाद्रपद वदी ६ वीर स० २४५७ को यकायक पर्वत टूटकर मन्दिर के ऊपर गिर पड़ा, जिससे मन्दिर तो समाप्त हो गया, किन्तु प्रतिमा बाल-बाल बच गई। तब प्रतिमा निकाल कर एक कमरे में विराजमान कर दी गई। कहते हैं, पहले पहाड़ पर तीन मन्दिर थे। उनके नष्ट होने पर इलाहाबाद के लाला छज्जूमल ने संवत् १८८१ में यह मन्दिर बनवाया था।

इस कमरे में एक गज ऊँचे चबूतरे पर सब प्रतिमाये विराजमान हैं। इनमें मूलनायक भगवान् पद्मप्रभ की प्रतिमा भूरे वर्ण की पद्मासन मुद्रा में है। अवगाहना प्रायः दो हाथ है। प्रतिमा चतुर्थ काल की है, ऐसी मान्यता है। प्रतिमा पर गूढ़ लास्य और वीतराग शान्ति का सामञ्जस्य अत्यन्त प्रभावक है।

मन्दिर के ऊपर पहाड़ की एक विशाल शिला में उकेरी हुई चार प्रतिमाये दिखाई पड़ती हैं जो ध्यानमग्न मुनियों की हैं। ऊपर दो गुफाएँ भी हैं, जिनमें शिलालेख प्राप्त हुए हैं।

इस पहाड़ी के नीचे ही यमुना नदी बहती है। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त आकर्षक है। ध्यान-सामायिक के लिए स्थान अत्यन्त उपयुक्त है।

किम्बदन्ती—मूलनायक प्रतिमा के सम्बन्ध में एक किम्बदन्ती है कि लगभग डेढ़ पीने दो सौ वर्ष पहले कौशाम्बी के पुजारी को स्वप्न हुआ कि मन्दिर के द्वार पर जो कुम्भा है, उसमें पद्मप्रभ भगवान् की प्रतिमा है। उसे निकाल कर मन्दिर में विराजमान करो। प्रातः होते ही पुजारी ने स्वप्न की चर्चा की। चर्चा प्रयाग तक पहुँची। बहुत से लोग एकत्रित हुए। कुएँ से प्रतिमा निकाली गई। खोदते समय भामण्डल में फावड़ा लग गया, जिससे दूध की धार बह निकली। लोगो ने जब बहुत विनम्र स्तुति की, तब वह शान्त हुई। वही प्रतिमा पभोसा के मन्दिर में लाकर विराजमान कर दी गई।

देवी अतिशय—मूलनायक प्रतिमा अत्यन्त अतिशय सम्पन्न है। जैसा अद्भुत आश्चर्य इस प्रतिमा में है, वैसा सम्भवतः अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आया। प्रतिमा यद्यपि भूरे पाषाण की है किन्तु सूर्योदय के पश्चात् इसका रंग बदलने लगता है। ज्यों ज्यों सूर्य आगे बढ़ता जाता है, त्यों त्यों प्रतिमा का रंग लाल होता जाता है। लगभग बारह बजे प्रतिमा लोहित वर्ण की हो जाती है। इसके पश्चात् यह वर्ण हलका पड़ने लगता है और लगभग तीन बजे तक यह कस्थई रंग की हो जाती है। पश्चात् वह फिर अपने असली वर्ण में आ जाती है। रंग का यह परिवर्तन किस कारण से है, यह विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता। सम्भव है, पाषाण की ही ये विशेषताये हो। किन्तु सूर्य की किरणें मन्दिर के अन्दर प्रतिमा तक नहीं पहुँच पाती। ऐसी दशा में प्रतिमा का यह रंग-परिवर्तन एक दैवी चमत्कार माना जाने लगा है।

इस प्रकार का एक और भी दैवी चमत्कार यहाँ देखने को मिलता है। यहाँ हर रात को पर्वत के ऊपर केशर की वर्षा होती है। प्रातःकाल पहाड़ी के ऊपर जाने पर छोटी-छोटी पीली बूँदें पड़ी हुई मिलती हैं और भीनी-भीनी सुगन्धि चारों ओर वातावरण में भरी हुई रहती है। यहाँ कार्तिक सुदी १३, चैत सुदी १५ को खूब केशर वर्षा होती है।

पुरातत्त्व—पभोसा में शुङ्ग काल (ई० पू० १८५ से १००) के समय के कई शिलालेख प्राप्त हुए हैं। शुङ्ग वंश के अन्त के बाद शुङ्ग वंश की ही एक शाखा—मित्र वंशी

नरेशो का आधिपत्य यहाँ रहा। इन मित्रवंशी कई राजाओं के सिक्के और मूर्तियाँ कौशाम्बी, मथुरा, अहिच्छत्र आदि कई स्थानों पर बहुसंख्या में मिले हैं। उत्तर पाञ्चाल नरेश आषाढसेन के समय के भी दो लेख पभोसा में पाये गये हैं। एक लेख में राजा आषाढसेन को बृहस्पति मित्र का मामा बताया है। बृहस्पतिमित्र मथुरा का मित्र-वशीय नरेश था। वे लेख इस प्रकार हैं—

१. अधिच्छत्रा राज्ञो शौनकायन पुत्रस्य बंगपालस्य पुत्रस्य राज्ञो तेषणीपुत्रस्य भागवतस्य पुत्रेण वैहिवरी पुत्रेण आसाढसेनेन कारितं

अर्थात् अधिच्छत्रा के राजा शौनकायन के पुत्र राजा बंगपाल के पुत्र और त्रैवर्ण राजकन्या के पुत्र राजा भागवत के पुत्र तथा वैहिवर राजकन्या के पुत्र आषाढसेन ने यह गुफा बनवाई।

—जैन शिलालेख संग्रह; भाग २, पृ० १३-१४

डा० फ्यूरर ने शुङ्गकाल के अक्षरों से मिलते-जुलते अक्षरों के कारण इस शिलालेख का काल द्वितीय या प्रथम ईसवी पूर्व निश्चित किया है। इस शिलालेख के तथ्य ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। एक तो इस शिलालेख से यह तथ्य प्रगट होता है कि राजा आषाढसेन ने इस गुफा का निर्माण कराया। दूसरा इसमें अहिच्छत्र, जो उत्तर पाञ्चाल के प्रतापी राजाओं की राजधानी थी, की राजवंशावली दी गई है।

एक दूसरा शिलालेख इस प्रकार है—

२. राज्ञो गोपाली पुत्रस बहसतिमित्रस मातुलेन गोपालीया वैहिवरी पुत्रेन आसाढसेनेन सेनं कारितं उवास्स (?) वसमे सबछरे कश्शपीनां अरहं (ता) न...

अर्थात् गोपाली के पुत्र राजा बहसतिमित्र (बृहस्पति मित्र) के मामा तथा गोपाली वैहिवरी अर्थात् वैहिवर राजकन्या के पुत्र आषाढसेन ने कश्यपगोत्रीय अरहन्तों... दसवें वर्ष में एक गुफा का निर्माण कराया।

—जैन शिलालेख संग्रह, भाग २

यह शिलालेख भी द्वितीय या प्रथम ईसवी पूर्व का माना गया है।

पभोसा में जो प्राचीन मन्दिर और मूर्तियाँ हैं, वे सभी प्रायः शुङ्ग और मित्रवंशी राजाओं के काल की

मालूम पड़ती है। यहाँ पर एक आयागपट्ट भी उपलब्ध हुआ था, जो इस प्रकार पड़ा गया है—

सिद्ध राज्ञो शिवमित्रस्य संवघटे... रघ माहकिय...
स्थविरस बलदासस निवर्तन श..... शिवनंदिस अन्तेबा-
सिस शिवपालित आयागपट्टो थापयति अरहत पूजायं ।

अर्थात् सिद्ध राजा शिवमित्र के राज्य के बारहवें वर्ष में स्थविर बलदास के उपदेश से शिवनन्दी के शिष्य शिवपालित ने अरहन्त पूजा के लिए आयागपट्ट स्थापित किया।

आसपास के जैन मन्दिर—यह क्षेत्र शताब्दियों तक जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है। अतः यहाँ आसपास में जैन पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री और मूर्तियाँ बहुतायत से मिलती हैं। वर्षा के प्रारम्भ में खेतों में हल चलाते समय बहुधा जैन मूर्तियाँ निकलती हैं। इसी प्रकार की एक मूर्ति चम्पहा बाजार में देखी जो एक खेत में से निकली थी। यह मूर्ति खण्डित है। घुटनों के नीचे का भाग टूट गया है। यह सर्वतोभद्रिका है। अब यहाँ जैन मन्दिर भी

बन गया है और वह मूर्ति मन्दिर में रख दी गई है। यह मूर्ति ई० सन् से पूर्व की प्रतीत होती है।

इसी प्रकार शहजादपुर में एक जैन मन्दिर है। एक अनुश्रुति के अनुसार प्राचीन काल में यहाँ दो सौ जैन मन्दिर थे। किन्तु अब वहाँ एक भी जैन का घर नहीं रहा। यह स्थान भरवारी से सत्रह मील दूर है। कविवर विनोदीलाल इसी स्थान के निवासी थे। बनारसी विलास में भी इन कविवर की चर्चा आई है। इनकी कई रचनाएँ अब तक मिलती हैं, जैसे तीन लोक का पाठ, नेमिनाथ का विवाह आदि।

दानातगर में भी एक प्राचीन मन्दिर है।

पाली में एक प्राचीन मन्दिर था। किन्तु यमुना की बाढ़ में वह बह गया। उसके भग्नावशेष बचे हैं। नया मन्दिर बन गया है। प्रतिमायें अत्यन्त प्राचीन हैं।

वार्षिक मेला—क्षेत्र पर वार्षिक उत्सव चैत सुदी पूर्णमासी को होता है।

नाथ निरजन पावे

अबधू क्या सोवे तन मठ में, जाग विलोकन घट में ॥ अ० ॥

तन मठ की परतीत न कीजें छहि परे एक पल में । हलचल भेट खबर ले घट की, चिन्हे रमता जल मे ॥ अ० ॥ १ ॥

मठ में पंचभूत का वासा, सासा भूत खवीसा । छिन-छिन तोही छलन कूँ चाहै, समझे न बोरा सीसा ॥ अ० ॥ २ ॥

सिर पर पंच बसे परमेश्वर, घट में सुछम वारी । आप अभ्यस लखें कोई विरला, निरखे धूँ की तारी ॥ अ० ॥ ३ ॥

आका मारी आसन घर घट में, अजपाजाप जपावे । आनन्दघन चेतनमय मूरति, नाथ निरजन पावे ॥ अ० ॥ ४ ॥

—आनन्दघन

अर्थ—हे अबधूत आत्मन् ! तू इस शरीरसूपी मठ में अभी तक ममत्व निद्रा में क्यों सो रहा है ? आत्मा के शुद्ध उपयोग को जगाकर आत्म-स्वरूप को देख । शरीर रूपी यह मठ क्षणिक है, इसका विश्वास मत कर । क्षण भर में यह नष्ट हो जायगा । तू राग-द्वेष के संकल्प-विकल्प छोड़कर अपने शुद्ध स्वरूप की खबर ले । आत्मा रूप घट में समतारूप जल भरा हुआ है । इस मठ में पंच भूतों का निवास है और श्वातोच्छ्वास रूप धूर्त घुस कर बैठे हैं । ये तुम्हें क्षण-क्षण में छलने में लगे हुए हैं । इस तथ्य को मूर्ख शिष्य समझ नहीं पा रहा । तेरे सिर पर पंच परमेश्वरी रहते हैं और तेरे अन्दर पंच परमेश्वरी रूप आत्मा है । किन्तु इस एकत्व विभक्त आत्मा को निरन्तर अभ्यास द्वारा ध्रुवतारे के समान कोई विरला ही अनुभव कर पाता है । जो समस्त इन्द्रियों के विषयों का त्याग करके घर में स्थिर उपयोग रूप आसन लगा कर आत्मा के शुद्धोपयोग का जाप जपता है, उसका अनुभव करता है, आनन्दघन कहते हैं, वह सम्यग्दृष्टि जीव सच्चिदानन्द स्वरूप अपने भीतर के परमात्मा को प्राप्त कर लेता है ।

वैराग्योत्पादिका अनुप्रेक्षा

संकलनकर्ता—श्री पं० वंशीधर शास्त्री

‘अनेकान्त’ के वर्ष २५ किरण ६ में सात अनुप्रेक्षाएँ दी गई थीं। बाबू पन्नालाल जी अग्रवाल बेहली की कृपा से कुछ अन्य चिद्धान् कवियों की अनुप्रेक्षाएँ उपलब्ध हुई हैं। उन्हें यहाँ साभार दिया जा रहा है। इससे ज्ञात होता है कि जनों में अनुप्रेक्षा-साहित्य का भण्डार अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत है। ये अनुप्रेक्षाएँ असाम्प्रदायिक और लोक-कल्याण की भावना से निबद्ध की गई हैं। अतः यह साहित्य सार्वजनीन और सार्वत्रिक है। यदि अनुसन्धान किया जाय तो जैन शास्त्र भण्डारों में अभी अन्य अनेक कवियों द्वारा विरचित अनुप्रेक्षा-साहित्य उपलब्ध हो सकता है। यह सम्पूर्ण साहित्य प्रकाशित करने की आवश्यकता है।

—संपादक

कविवर रूपचन्द्रकृत बारह भावना (पंचमगल पाठ से)

भव तन भोग विरक्त कदाचित्त चित्त ए
धन जोवन पिय पुत्त कलत्त अनित्त ए ।
कोउ न सरन मरन दिन दुख चहुँ गति भयौं
सुख दुख एकहि भोगत जिय विधिवसि पर्यौं ॥
पर्यौं विधिवसि आन चेतन आन जड़ जु कलेवरो ।
तन असुचि परतें होय आस्रव परिहरते सवरो ।
निर्जरा तप बल होय समकित

बिन सदा त्रिभुवन भम्यो ।

दुर्लभ विवेक विना न कबहुँ परम धरम विपै रम्यो ॥

आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थ सूत्र

‘स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषद्, जय-चारित्र्य ॥

‘अनित्याशरण ससारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवर-

निर्जरा लोक बोधिदुर्लभ धर्म स्वाख्यात तत्त्वानु-

चिन्तनमनुप्रेक्षा ॥६॥७

कविवर भूधरदासकृत बारह भावना (पार्श्वपुराण से)

अनित्य—द्रव्य सुभाव विना जग माहि

पर ये रूप कछू थिर नाहि ।

तन धन आदिक दीषे जेह

काल अगन सब ईधन तेह ॥

अशरण—भव बन भमत निरंतर जीव

याहि न कोई सरण सदीव ।

व्योहारै परमेठी जाप

निश्चै सरण आपको आप ॥

संसार—सूर कहावै जो सिर देय

खेत तजै सो अपयश लेय ।

इस अनुसार जगत की रीत

सब असार सब ही विपरीत ॥

एकत्व—तीन काल इस त्रिभुवन माहि

जीव सघाती कोई नाहि ।

एकाकी सुख दुख सब सहै

पाप पुन करनी फल लहै ॥

अन्यत्व—जितने जग सजोगी भाव

ते सब जिय सों भिन्न सुभाव ।

निज सजोग नही पर सोय

पुत्र सुजन पर क्यों नहि होय ॥

अशुचि—अशुचि अस्थि पिजर तन येह

चाम वसन बेढो घिन गैह ।

चेतन चिरा तहाँ नित रहै

सो बिन ज्ञान गिलानि न गहै ॥

आस्रव—मिथ्या अविरत योग कसाय

ये आस्रव कारण समुदाय ।

आस्रव कर्मबन्ध को हेत

बन्ध चतुर्गति के दुख देत ।

संवर—समिति गुप्ति अनुपेहा धर्म

सहन परीषद् संजय पर्म ।

ये संवर कारण निर्दोष
 संवर करे जीव को मोष ।
 निर्जरा—तप बल पूर्व कर्म खिर जाहि
 नए ज्ञान बल आवै नाहि ।
 यही निर्जरा सुखदातार
 भव कारन तारन निर्धार ॥
 लोक—स्वयंसिद्ध त्रिभुवन चित जान
 कटि कर धरे पुरुष सठान ।
 भ्रमत अनादि आत्मा जहाँ
 समकित बिन शिव होय न तहाँ ॥
 बोधिदुर्लभ—दुर्लभ धर्म दशांग पवित्र
 सुखदायक सहगामी निज ।
 दुर्गति परत यही कर यहै
 देय स्वर्ग शिव थानक गहै ॥
 सुलभ जीव को सब सुख सदा
 नौग्रैवेयक ताँई मंपदा ।
 बोधि रतन दुर्लभ ससार
 भव दरिद्र दुख भेटनहार ॥
 ये दस दोय भावना भाय
 दिढ़ बंराग भए जिनराय ।
 देहु भोग ससार सरूप
 सब असार जानो जगभूप ॥

कविवर बुधजन कृत बारह भावना

(छहढाला, पहली ढाल से)

अनित्य—आयु घटत तेरी दिन रात
 हो निश्चिन्त रहो क्यों आत ।
 यौवन धन तन किकर नारि ।
 है सब जल बुदबुद उनहारि ॥१॥
 अशरण—पूरण आयु बध छिन नाहि
 दिए कोटि धन तीरथ माँहि ।
 इन्द्र चक्रपति भी कहा करें
 आयु अन्त में तेहू मरे ॥२॥
 संसार—यों ससार असार महान
 सार आप में आपा जान ।
 सुख से दुख दुख से सुख होय
 समता चारों गति नहीं कोय ॥३॥

एकत्व—अनंत काल गति गति दुख लहौ
 बाकी काल अनंतौ कहौ ।
 सदा अकेलो चेतन एक
 ते माही गुण बसत अनेक ॥४॥

अन्यत्व—तू न किसी का कोई न तोय
 तेरा सुख दुख तोको होय ।
 याते तो को तू उर धार
 परद्रव्यन से मोह निवार ॥५॥

अशुचि—हाइ मांस तन लिपटी चाम
 रुधिर मूत मल पूरित धाम ।
 सो भी धिर न रहे छय होय
 याको तजै मिलै शिवलोय ॥६॥

आस्रव—हित अनहित तन कुल जन माहि
 खांटी वान हरो क्यों नाहि ।
 याते पुद्गल करमन याग
 प्रणव दायक सुख दुख रोग ॥७॥

सवर—पाचो इन्द्रिय का तज फल
 चित्त निरोधि लागि शिव गल ।
 तुम में तेरी तू कर शैल
 रह्यो कहा त्वं कोलू बल ॥८॥

निर्जरा—तज कषाय मन की चल चाल
 ध्यावो अपना रूप रसाल ।
 भरै करम बन्धन दुख दान
 बहुरि प्रकाश केवल ज्ञान ॥९॥

लोक—तेरी जनम हुआ नाह जहाँ
 ऐसो खतर हं नहि कहाँ ।
 याही जनम भूमिका रचो
 चलो निकसि तो विधि से बचो ॥१०॥

बोधिदुर्लभ—सब व्योहार क्रिया का ज्ञान
 भयो अनन्ते बार प्रधान ।
 निपट कठिन अपनी पहचान
 ताको पावत होत कल्याण ॥११॥

धर्म—धरम सुभाव आप सरधान
 धर्म न शील न न्हौन न दान ।
 बुधजन गुरु की सीख विचार
 गहो धर्म आतम हितकार ॥१२॥

महाकवि अनूप (वर्द्धमान महाकाव्य से)

अनित्य—मनुष्य का जीवन मृत्यु से घिरा
 युव-अवस्था परिणाम में जरा,
 शरीर है आलय रोग-सर्प का
 अनित्य है इन्द्रिय सौख्य-सम्पदा । १
 स्वकर्म के ही परिपाक से सदा
 मनुष्य के कीलित जन्म मृत्यु है,
 मनुष्य ही क्या सब जीव मात्र में
 अनित्यता है, क्षति है, निपात है । २
 जगत्रयी की सब मौख्य संपदा
 विनष्ट होती दिन चार-पाँच में,
 कही अभी या कल, या परश्व ही
 समस्त भू की मिटती यथार्थता । ३
 मनुष्य ऐसे, जिनके निमेष से
 अशेष होते प्रलयोदयादि हैं,
 रहे न वे भी इस जीवलोक में
 पुनः कथा क्या कृमि कीट की कहे । ४
 समुद्र के बुद्बुद तुल्य शीघ्र ही
 विनष्ट होते जब लक्ष इन्द्र भी,
 हमें कहाँ जीवन दीर्घ प्राप्त हो
 खड़ा महा काल समक्ष ही सदा । ५
 विनष्ट होती अचला धरा जहाँ
 विशीर्ण होते हिमवान विन्ध्य भी,
 विहीन होते जल से समुद्र हैं
 पुनः कथा क्या नरदेह की कहे । ६
 हमें मही में जितने पिता मिले
 मिले यहाँ पै जितने स्वबंधु भी,
 न भूमि में हैं उतने कणांशु या
 भू-चक्र में हैं उतने न ऋक्ष भी । ७
 मनुष्य अव्यक्त स्वजन्म पूर्व में
 तथैव हैं वे सब व्यक्त मध्य में,
 पुनश्च अव्यक्त विनाश के परे
 अतः वृथा है परिदेवना सभी । ८
 सुपुत्र, पत्नी, धन, कीर्ति जीव को
 प्रमोद देते यह बात सत्य है,

परन्तु हा ! जीवन तो मनुष्य का
 प्रमत्त-नारी-दृगपांग-लोल है । ९
 सहस्र माता, शत कोटि पुत्र भी,
 पिता असख्यात कलत्र मित्र भी,
 अनंत उत्पन्न हुए, जिए, मरे,
 न मैं किसी का, वह भी न मामकी । १०
 यथैव भू की हरिता तृणावली
 स-हर्ष खाते बलि-जीव जन्तु हैं,
 तथैव भूला यम यातना, अहो !
 मनुष्य भारी भ्रम भोग भोगता । ११
 प्रसन्न होते मति-मंद द्रव्य से
 तथैव रोते वन रंक अत में,
 विवेक द्वारा यदि वे विलोकले,
 अतथ्य सपत्ति, विपत्ति भी वृथा । १२
 समुच्च बातायन गोपुरादि से
 सुसज्जिता तुंग-शिखर हवेलियाँ;
 विनष्ट होती क्षण एक में, तदा
 कहो, कहें क्या, नरदेह की कथा । १३
 सरोज-पत्रस्थित नीर बुन्द सी
 मनुष्य की आयु अतीव चंचला,
 अवश्य ही दंशित व्याधि व्याल से
 दशा महाशोक हता त्रिलोक की । १४
 मनोहरा स्त्री, अनुकूल मित्र भी,
 महासुधी वांघव योग्य भृत्य भी,
 गजेन्द्र बाजी सब नाशवान हैं
 नरेन्द्र मंत्री सब हासवान हैं । १५
 इसीलिए जीव सुधी वरुण्य जो
 प्रवृत्त होते जिन-धर्म-मार्ग में,
 न विश्व में सतत सौख्य लाभ है
 अतः विचिन्त्या परमार्थ-साधना । १६
 अशरण—जिस प्रकार फसा हरि दष्ट में
 अबल बालक युक्ति विहीन हो,
 उस प्रकार बंधा नर विश्व में
 शरण पा सकता न अधर्म की । १७
 अतः सुधी मानव को त्रिलोक में
 शरण्य अर्हन्त पदाब्ज हैं सदा,

जिनेन्द्र-पूजा, तप, दान जाप ही
 अजस्र रत्नत्रय प्रेय हैं उसे । १८
 जिनेन्द्र के ही उपदेश गेय हैं,
 मुनीन्द्र के ही पद पद्य ध्येय हैं,
 जिनेन्द्र सिद्धांत सदैव श्रेय हैं,
 अतः धरो ध्यान मुनीन्द्र मार्ग का । १९
 सदैव मोक्षप्रद जैन धर्म है
 तथैव रत्नत्रय-साध्य मोक्ष है,
 वितान है मोक्ष अनंत सौख्य का
 प्रतान है सौख्य अनादि शक्ति का । २०
 मनुष्य जो केवल ज्ञानदेव को
 विहाय सेते सुर नाम मात्र के,
 सदैव पाते गति दुर्दशामयी
 न मुक्त होते भव-रोग-दोष से । २१
 अमोघ रत्नत्रय के प्रभाव से
 अवाप्त होती वह मुक्ति जीव को,
 अनंत आनंद समुद्र रूपिणी
 प्रसिद्ध है जो जिन धर्म शास्त्र में । २२
 संसार—मनुज को भव दो, मृत एक है
 अपर में न तु संभव शक्ति ही,
 भटकता युग संसृति मध्य में
 शरण-हीन अनाहत जन्तु-सा । २३
 अज्ञादि है विश्व, अनंत लोक है
 (सुना गया भव्य-अभव्य जीव से)
 विमूढ को जो सुख-दुःख-पूर्ण है
 नितान्त दुःखाश्रय विज्ञ मानते । २४
 विमूढ पाते सुख भोग में सदा
 नविज्ञ होते विषयादि लुब्ध हैं,
 प्रतीति सारे भय-रोग की अहो !
 निकृष्ट होती नरकादि हेतु है । २५
 मनुष्य के कर्म शरीर धर्म भी
 यहाँ न ऐसे जिनको यथार्थ ही,
 किए नही व्यक्त गृहीत जीव ने
 प्रसिद्ध ऐसा यह द्रव्य लोक है । २६
 प्रदेश ऐसा इस लोक में नहीं
 न जीव उत्पन्न हुए, मरे जहाँ,

सुविज्ञ प्राणी-गण मे इसीलिये
 प्रसिद्ध प्रामाणिक क्षेत्र लोक है । २७
 न काल ऐसा इह लोक में बचा
 न जीव उत्पन्न हुए, मरे जहाँ ।
 इसीलिए विज्ञ समाज में यहाँ,
 प्रसिद्ध वैज्ञानिक काल लोक है । २८
 न योनि ऐसी इस भूमि में बची
 जिसे न संप्राप्त हुआ स्व जीव हो,
 अतः जिसे पंडित विश्व मानते,
 प्रसिद्ध भू में भवलोक है वही । २९
 सदैव प्राणी भ्रमते त्रिलोक में
 स्वकर्म मिथ्यात्व समेत पालते,
 समेटते अर्जित पाप पुंज हैं,
 प्रभावशाली यह भाव लोक है । ३०
 विमुक्तिदाता जिन-धर्म-श्रेष्ठ है
 अतः करो पालन यत्न से इसे
 अनूप रत्नत्रय रूप मोक्ष का
 निधान है केवलज्ञान सर्वशः । ३१
 एकत्व—सुहृद संग सदा रहना हमें
 वितरता बल बुद्धि विवेक है,
 पर असंग-प्रसंग परेश का
 बिदित आत्म समुन्नत हेतु है । ३२
 सदैव प्राणी इस मर्त्यलोक मे
 रहा अकेला, रहता असंग है;
 रहा करेगा यह संगहीन ही
 प्रसंग होगा इसका न अन्य से । ३३
 असंग लेता नर जन्म विश्व में
 असंग ही है मरता पुनः पुनः,
 सदा अकेला सुख-दुःख भोगता
 न अन्य साभी उसका त्रिलोक में । ३४
 अ-संग ही सौख्यद भोग भोगता
 असंग ही दुःखद रोग भोगता,
 सदैव प्राणी यमराज संग में
 असंग जाता, फिरता असंग है । ३५
 सदा अकेला करता कुकर्म है
 कुटुम्ब के पालन हेतु विश्व में,

इसीलिए पुद्गल-पाप-बंध से
अवश्य पाता नरकाधिकार है ।३६
परन्तु जो मानव मुक्त संग हो
लगे हुए सम्यक् दर्शनादि में,
व्यतीत भू में करते स्वकर्म है,
कहे गये केवलज्ञान संयमी ।३७
असंग भू में करते व्रतादि हैं
असंग सारे तप जाप साधते,
बही महा विज्ञ मनुष्य अंत में,
अतीव पाते सुख पुण्य बंध से ।३८
विभूतियाँ जो सुर-लोक-सिद्ध है
महान निःश्रेयस सपदा तथा
विशुद्ध कैवल्य-प्रदा त्रिलोक में
अवाप्त होतीं गतियाँ विदग्ध को ।३९
मनुष्य रत्न-त्रय से अवश्य ही
विनाशता कर्म-अकर्म भावना,
सदैव एकत्व प्रधान भाव ही
प्रभावशाली अपवर्ग हेतु है ।४०

अन्यत्त्व—मनुज है प्रकृतिस्थ अवश्य, पै
इतर है जग आत्म स्वरूप से,
जगत है जड़, चेतन जीव है
परम पुद्गल तत्त्व अतत्त्व है ।४१
मनुष्य ! तू अन्य समस्त जीव से
स्वकर्म से भी अतिरिक्त है सदा,
पदार्थ सारे महि-नाक-पाक के
सखे ! असबद्ध त्वदीय प्राण से ।४२
सदैव कर्मोदय से मनुष्य को
अवाप्त होते जग-जाति-बंधु हैं,
पिता तथा पुत्र कलत्र मित्र भी
न साथ जाते, रहते न संग में ।४३
शरीर ही, जो निज अंतरंग-सा,
न साथ देता जब है मनुष्य का,
कहें कथा क्या बहिरंग-वत्तिनी
कुहंग-नेत्रा त्रिन्ता कलत्र की ।४४
स्वचित्त, जो पुद्गल-कर्म जन्म है,
स्व-चित्त-संकल्प-विकल्प-युक्त जो,

तथैव वाचा युग भौति की, सखे !
विभिन्न है निश्चय जीव तत्त्व से ।४५
मनुष्य के कर्म विभिन्न जीव से,
विभिन्न ही हैं परिणाम कर्म के,
सभी नरों के सुख-दुःख आदि भी।
विभिन्न हैं आत्म स्वरूप से सभी ।४६
विभिन्न है ज्ञान स्वरूप जीव से,
स्व-कर्म की साधन मात्र इन्द्रियाँ,
विभिन्न है सम्यक् राग द्वेष भी
विकर्म सारे अथवा अ-कर्म भी ।४७
अतः करो यत्न समेत भावना
शरीर द्वारा उस आत्म तत्त्व की,
अनादि, अक्षय्य अनंत जो सदा
निरीह निर्धारित निर्विकार जो ।४८

अशुचि—अशुचिपूर्ण शरीर मनुष्य का,
विदित जो मल-मूत्र प्रवाल है,
अगरु से न तु चदन-लेप से
विमलतामय भासित हो सका ।४९
शरीर है निर्मित सप्तधातु से,
निधान है जो मल-मूत्र आदि का;
स-मोह सेवा इसकी अकार्य है
सु-बुद्धि-संबोधित ज्ञानवान से ।५०
यहाँ बुभुक्षा जलती प्रकोप से :
यहाँ पिपासा जलती प्रदाह से,
विनाशती यौवन अग्नि काम की
जरा न जाती जब आचुकी यहाँ ।५१
शरीर ही है बिल काम सर्प की,
यही कुटी निश्चित रागद्वेष की,
कुगधिता है स्वयमेव ही नहीं,
वरन बनाती शुचि हीन वस्त्र भी ।५२
शरीर चाहे अति हृष्ट पृष्ट हो
तथैव हो सुन्दर शौर्यवान या
परन्तु होता परिणाम में सदा
अभूरि मुष्टिगत-भस्म तुल्य ही ।५३
शरीर का पालन रोग मूल है,
शरीर का पोषण योग दातृ है,

इसीलिए क्यों अपवित्र देह से
करो न संपन्न स्व-धर्म-साधना ।५४
अनित्य देह स्थित नित्य जीव है
करे न निश्चयस प्राप्त कार्य क्यों ?
अवस्थिता केवलज्ञान में सदा
नितान्त ही मुक्ति महा पवित्र है ।५५

आस्रव— सलिल आस्रव हो जिस कूप में
विगत नीर कभी बनता नहीं;
इस प्रकार सकर्म मनुष्य को
कब अवाप्त हुई गति निर्जरा ? ।५६
स-राग आत्म स्थित राग-भाव से
समागता पुद्गल राशि कर्म हो,
शरीर में आगत दुःखदायिनी
प्रसिद्ध है आस्रव नाम से सदा ।५७
स-छिद्र जैसे जलयान में जभी
प्रविष्ट होता जल डूबती तरी;
तथैव कर्मागम से मनुष्य का
अवश्य होता विनिपात अत में ।५८
अतः सुनो आस्रव-हेतु भी जिन्हें
महान ही दुष्कर नाशना हमें;
प्रमाद-उत्पन्न अनर्थ मूल जो
प्रसिद्ध मिथ्यात्व समस्त भूमि में ।५९
कहा गया पंच प्रकार का वही,
प्रधान है आस्रव हेतु कर्म का,
प्रसिद्ध जो द्वादश भाँति की यहाँ
अनर्थिनी घोर विराग-हीनता ।६०

प्रमाद जो पंचदशी विभक्ति का
तृतीय है हेतु, चतुर्थ और भी—
सभी कषाएं सब दुष्ट योग जो
न दूर होते शतशः प्रयत्न से ।६१
उन्हें सदा सम्यक् ज्ञान-हेति से
विनाशना ही ध्रुव वीर-धर्म है,
मुदीर्घ कर्मास्रवद्वार ज्ञान से
न बंद जो है करता प्रयत्न से ।६२
न पाप से मुक्ति मिली कभी उसे
न पा सका केवल-ज्ञान-लाभ सो,

मनुष्य कर्मास्रव रोकता तभी
विमुक्ति रत्न-त्रय से समेटता ।६३
संवर — मनुज योग-तपादिक यत्न से
निगम आगम के स्थिर ज्ञान से
कर निराश्रित आस्रव कर्म का
स-मुद रत्नत्रयी फल भोगते ।६४
मुनीश योग-व्रत-गुप्ति आदि में
स-यत्न कर्मास्रव द्वार रोकते;
वही क्रिया संवर नाम धारिणी
विमुक्ति संपादन में अमोघ है ।६५
चरित्र जो तेरह भाँति का, तथा
स्वधर्म, जो एक-नव प्रकार का
प्रसिद्ध जो बारह भावना यहाँ
परीषहाघातक हेतु ख्यात जो ।६६
विशुद्ध सामायिक पाँच भाँति का
विमर्श जो उत्तम ज्ञान-ध्यान का,
यही सभी सत्तम हेतु जानिए
अमोघ कर्मास्रव के निरोध में ।६७
मुनीश, जो संवर-दत्त चित्त हैं,
प्रकाशिता है जिनकी गुणावली,
वही मही के चल धर्म वृक्ष हैं
तथा उन्ही के अवदात ध्यान है ।६८
द्विविध कर्म-विनाश-प्रवृत्ति का
सुफल है वह सपत्ति-प्राप्ति जो,
न मिलती इस भूतल में उसे
कर न जो सकता प्रभु-भक्ति है ।६९
निर्जरा — अतीत से संचित कर्म राशि का
विनाश होना अविपाक निर्जरा;
कही गयी सिद्ध मुनीन्द्र से सदा
अवश्य ही संग्रहणीय साधना ।७०
स्वभाव से ही वह, जो मनुष्य के
स्वतंत्र कर्मोदय-काल में उठे,
सदा परित्याग करे स-यत्न सो
विकार-युक्ता सविपाक निर्जरा ।७१
यथा-यथा योग तपादि यत्न से
करे यती नित्य स्व-कर्म निर्जरा,

तथा-तथाही उसके समीप में
अवश्य आती शुभ मोक्षइन्दिरा ।७२
सभी सुखों की खनि ख्यात निर्जरा
विमुक्ति-योषा-प्रद ज्ञात निर्जरा,
विकर्म-यामा-कृत प्राप्त निर्जरा
सु-ध्यान-भू में अवदात निर्जरा ।७३

लोक —सलिल से, महि से, नभ से तथा
अनिल से जग पावक से बना,
भुवन सप्त अधोपरि राजते
सदन के सु-मनोहर खंड-से ।७४
यथा अधोलोक, तथैव अधि है
यथैव है मध्य तथैव नाभि है,
यथैव है उर्ध्व तथैव शीर्ष है
यथैव ब्रह्माण्ड तथैव पिण्ड है ।७५
त्रिलोक है, या जग सप्तलोक है,
अनन्त है सृष्टि या कि सात है,
दिनेश राकापति भी न जानते
समस्त तारे अनभिज्ञ-भेद है ।७६
निधान है स्वर्ग अनन्त सौख्य का,
विधान है नारक कोटि दुःख का
इसीलिए सात्त्विक धर्म ग्रथ में
प्रशंसनीया अपवर्ग साधना ।७७
सभी नगों की गणना असार है,
नदी-नदों का कहना निरर्थ है,
अयुक्त है सागर-मंथना अतः
स-सार है केवल ज्ञानभावना ।७८

बोधिदुर्लभ—परम् दुर्लभ संभव लोक में,
विदित है नर-योनि सुदुर्लभा,
अति अलभ्य शुभा गति धर्म की
बहु अलभ्य महापद बोधि का ।७९
चतुर्विधा जो गतियाँ कही गईं,
सुदुर्लभा है प्रथमा दशा उन्हें;
प्रसिद्ध जो मानव योनि नाम से
अलभ्य, चित्तामणि ज्यों समुद्र में ।८०
सुदुर्लभा भी यह आर्य्य भूमि है
अलभ्य उत्पत्ति मनुष्य की यहाँ,

सुदुर्लभा उत्तम वंश प्राप्ति भी,
सुदुर्लभा दीर्घ मनुष्य आयु है ।८१
अलभ्य पंचेन्द्रिय-पूर्णता यहाँ,
सुदुर्लभा निर्मल बुद्धि प्राप्ति भी;
अलभ्य है मंदकषाय भावना
सुदुर्लभा मुक्ति-प्रदा विभावना ।८२
तथा मही-मध्य अलभ्य श्रेष्ठता
अलभ्य है धार्मिकता मनुष्य को,
अलभ्य है सम्यक दर्श आत्म को
विशुद्धि, विज्ञान चरित्र आदि भी ।८३
इसीलिए धर्म महान श्रेष्ठ है
इसीलिए कर्मप्रधान विश्व भी
लगे हुए मानव धर्म-कर्म में
विचारते केवल ज्ञान मर्म हैं ।८४
विमुक्ति पाना इस जन्म मृत्यु से
महान निःश्रेयस ख्यात विश्व में,
सदैव श्रेयास स्वधर्म भावना,
तथैव प्रेयांस जिनेन्द्र वदना ।८५

धर्म— शिथिल जीव निकाल भवाब्धि से
अमित अर्हत् का पद दे; वही;
विदित है प्रभुता प्रभु धर्म की
विपुल मुक्ति प्रदायिनि लोक में ।८६
क्षमा-दया, सयम, सत्य-शौच से,
तपाऽर्ज्व त्याग-विराग भाव से,
कि युक्त जो मार्दव, ब्रह्मचर्य से
दशांग शोभी जिन-धर्म रूप है ।८७
स्वधर्म धर्मी यदि पालता रहे,
अ-कर्म कर्मी यदि घालता रहे,
अवश्य ही हो उसको अवाप्त तो
विमुक्ति-दात्री सुख-संपदा सदा ।८८
स्वधर्म ही श्रेय सभी प्रकार से
विधर्म ही हेय मुमुक्षु के लिए,
न इन्दिरा ही मिलती उसे, अहो !
अवाप्त होती जिनधर्म संपदा ।८९
अलभ्य जो संपत्ति है त्रिलोक में,
न भाग्य आमंत्रित जो हुई कभी,

कवि वर्द्धमान भट्टारक

पं० परमानन्द जी शास्त्री

ये मूल संघ बलात्कार गण और भारती गच्छ के विद्वान् थे । इनकी उपाधि 'परवादि पंचानन' थी । वरांग चरित की प्रशस्ति में कवि ने अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है :—

स्वस्ति श्रीमूलसंघे भुवि विविक्तगणे श्रीबलात्कारसंज्ञे ।
श्रीभारत्याख्य गच्छे सकलगुणविधिर्बद्धमानाभिधानः ॥
आसीद् भट्टारकोऽसौ सुचरितमकरोच्छीवराङ्गस्य राज्ञो ।
भग्यधेयांसि तन्वद् भुवि चरितनिबं वर्ततामार्कतारम् ॥

—वरांगचरित १३-८७ ।

वर्द्धमान नाम के दो विद्वानों का उल्लेख मिलता है । उनमें एक वर्द्धमान व्यायदीपिका के कर्ता धर्मभूषण के गुरु थे और 'दशमकल्यादि महाशास्त्र' के भी कर्ता थे और दूसरे वर्द्धमान हूमच शिलालेख के रचयिता है । इनका समय १५३० ई० के लगभग है । बिजयनगर के शक सं० १३०७ (सन् १३८५ ई०) में उत्कीर्ण शिलालेख

अवश्य होती वह स्वीय योषिता,
जिनेन्द्र के धर्म प्रभाव से सदा । ६०
सदा सवित्री-सविता स्वधर्म है,
स्वधर्म भ्राता, स्व-सखा स्वधर्म है,
स्वधर्म विद्याघन भी स्वधर्म है
स्वधर्म सर्वोत्तम सर्वश्रेष्ठ है । ६१
स्वधर्म चिन्तामणि कल्पवृक्ष है
स्वधर्म संपूजित कामधेनु भी,
स्वधर्म ही भू-गत स्वर्गलोक में,
स्वधर्म ही श्रेय, विधर्म हेय है । ६२
अतः करो मालन नित्य धर्म का
अदाऊ-प्रक्षालन सत्यधर्म का,
न प्राप्त होती जिसके बिना कभी
मनुष्य को केवल-ज्ञान-कल्पना । ६३

में भट्टारक धर्मभूषण के पट्टधर और सिंहनन्दी योगीन्द्र के चरणकमलों के अमर वर्द्धमान मुनि थे । उनके शिष्य धर्मभूषण हुए । जैसा कि उसके निम्न पद्यों से प्रकट है :—

पट्टे तस्य मुनेरासीवर्द्धमानमुनीश्वरः ।
श्रीसिंहनन्दि योगीन्द्रचरणाम्भोज षट्पदः ॥ १२
शिष्यस्तस्य गुरोरासीद्धर्मभूषणदेशिकः ।
भट्टारक मुनिः श्रीमान् शल्यत्रयविचर्जितः ॥ १३
इनके समय में शक सं० १३०७ (सन् १३८५ ई०)

की फाल्गुन कृष्णा द्वितीया को राजा हरिहर के मन्त्री चैत्र दण्डनायक के पुत्र इरुगप्प ने बिजयनगर में कुन्धुनाथ का मन्दिर बनवाया था ।

दशमकल्यादि शास्त्र के निम्न पद्य में उल्लिखित बिजयनगर नरेश प्रथम देवराज राजाधिराज परमेश्वर की उपाधि से विभूषित थे । इनका राज्य सम्भवतः सन् १४१८ ई० तक रहा है और द्वितीय देवराज का समय सन् १४१९ से १४४६ ई० तक माना जाता है ।

राजाधिराजपरमेश्वरदेवराय,
भूषात्ममौलिलसर्वांगसरोजयुग्मः ।
श्रीवर्द्धमानमुनिवत्सलभमौढ्यमुख्यः,
श्रीधर्मभूषण सुखी जयति क्षमाह्वयः ॥
भट्टारक धर्मभूषण ने व्यायदीपिका की अन्तिम प्रशस्ति में और पुष्पिका में भट्टारक वर्द्धमान का उल्लेख किया है :—

१. तस्य श्री चैत्रदण्डाभिनायकस्योर्जितश्रियः ।
आसीदिरुगदण्डेशो नन्दनो लोकनन्दनः ॥ २१
× × ×
तस्मिन्निष्कण्डेशः पुरे चारुशिलामयम् ।
श्री कुन्धुजिननाथस्य चैत्यालयमकीकृतम् ॥ २८

—बिजय नगर शि० नं० २

महामुखेर्बद्धमानेशो बद्धमानदयानिधेः ।

श्री पादस्नेहसम्बन्धात् सिद्धेयं न्यायदीपिका ॥

—न्यायदीपिका प्रशस्ति

इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है कि धर्मभूषण के गुरु वही भट्टारक ऋद्धमान है, जो वराग चरित के कर्ता है ।

बद्धमान भट्टारक का समय धर्मभूषण के गुरु होने के कारण ईसा की चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है ।

वराग चरित संस्कृत भाषा का लघुकाय ग्रन्थ है । इस काव्य में १३ सर्ग हैं जिनमें बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ के समकालीन होने वाले राजा वराग का चरित वर्णन किया गया है । यह जटिल कवि के वराग चरित का संक्षिप्त रूप है । कवि ऋद्धमान ने इसमें धर्मिक उपदेशों और कुछ वर्णनों को निकाल कर कथानक की रूप-रेखा ज्यों की त्यों रहने दी है, ऐसा डा० ए० एन० उपाध्याय ने लिखा है । जैसा कि ग्रन्थ के निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

गणेशकरैर्या कथिता क्रथावरा वराङ्गराजस्य सविस्तरं पुरः
मन्त्रादि, संक्षिप्त, च संव बध्यते, सुकाव्यबन्धेन सुबुद्धिर्विधनी ।

कवि ऋद्धमान ने राजा वराग के कथानक में धर्मोपदेश को कम कर दार्शनिक और धार्मिक चर्चाओं को बहुत संक्षिप्त रूप में दिया है । पर जटिल मुनि के वराग चरित का उस पर पूरा प्रभाव है । वराग का चरित इस प्रकार है :—

विनीत देश में रम्भा नदी के तट पर उत्तमपुर नामक नगर था । उसमें भोज वंश का राजा धर्मसेन राज्य करता था, उसकी गुणवती नाम की सुन्दर और रूपवती पटरानी थी । समय पाकर उसके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम वराग रक्खा गया । जब वह युवा हो गया, तब उसका विवाह ललितपुर के राजा देवसेन की पुत्री सुनन्दा, विध्यपुर के राजा महेन्द्रवत्स की पुत्री वपुष्मती, सिंहपुर के राजा द्विषन्तप की पुत्री यशोमती, इष्टपुरी के राजा सनत्कुमार की पुत्री वसुन्धरा, मलयदेश के अधिपति मकरध्वज की पुत्री अनन्तसेना, चक्रपुर के राजा समुद्रदत्त की पुत्री प्रियव्रता, गिरिव्रज नगर के राजा बाह्यायुध की पुत्री सुकेशी, श्री कोशलपुरी के राजा मुमित्रसिंह की पुत्री विश्वसेना, वराग देश के राजा बिनयन्वर की पुत्री प्रियकारिणी और व्यापारी की पुत्री धनदत्ता के साथ होता

है । वराग इनके साथ सांसारिक सुख का उपभोग करता है । एक दिन अरिष्टनेमि के प्रधान गणधर वरदत्त उत्तमपुर में आये । राजा धर्मसेन मुनि वन्दना को गया । राजा के प्रश्न करने पर उन्होंने आचारादि का उपदेश दिया । वराग के पूछने पर उन्होंने सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का विवेचन किया । उपदेश से प्रभावित ही वराग ने अणुव्रत धारण किये और उनकी भावनाओं का अभ्यास किया । तथा राज्य संचालन और अस्त्र-शस्त्र के संचालन में दक्षता प्राप्त की । राजा धर्मसेन वराग के श्रेष्ठ गुणों की प्रशंसा सुनकर प्रभावित हुआ और तीन सौ पुत्रों के रहते हुए वराग को युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया । वराग के अभ्युदय से उसकी सौतेली माँ सुषेणा तब सौतेले भाई सुषेण को ईर्ष्या हुई और मन्त्री सुबुद्धि से मिलकर उन्होंने षड्यन्त्र किया । मन्त्री ने एक सुशिक्षित घोड़ा वराग को दिया । वराग के उस पर बैठने ही वह हवा से बाते करने लगा । वह नदी, सरोवर, वन और अटवी को पार करता हुआ आगे बढ़ता है और वराग का एक कुएं में गिरा देता है । वराग किसी तरह कुएं से निकलता है और भूख-प्यास से पीड़ित हो आगे बढ़ने पर व्याघ्र मिलता है । हाथी की सहायता से प्राणों की रक्षा करता है और एक यक्षिणी अजगर से उसकी रक्षा करती है और वह उसके स्वदार सन्तोष व्रत की परीक्षा कर सन्तुष्ट हो जाती है । वन में भटकते हुए वराग को भील बलि के लिए पकड़ कर ले जाते हैं । किन्तु गर्व द्वारा दशित मिल्लराज के पुत्र का दिप दूर करने से उसे मुक्ति मिल जाती है । बृक्ष पर रात्रि व्यतीत कर प्रातः सागरबुद्धि सार्थपति से मिल जाता है । सार्थपति के साथ चलने पर मार्ग में बारह हजार डाकू मिलते हैं । सार्थवाह का उन डाकूओं से युद्ध होता है । सार्थवाह की सेना युद्ध से भागती है । इसमें सागर बुद्धि का बहुत दुःख हुआ । मकट के समय वराग ने सार्थवाह से निवेदन किया कि आप चिन्ता न करें, मैं सब डाकूओं को परास्त करता हूँ । कुमार ने डाकूओं को परास्त किया और सागरबुद्धि का प्रिय होकर सार्थवाहों का अधिपति बन ललितपुर में निवास करने लगता है ।

इधर घोड़े का पीछा करने वाले सैनिक और हाथी-घोड़े लोट आये, वराग का कहीं पता न चला । उससे धर्मसेन

को बड़ी चिन्ता हुई। राजा ने गुप्तचरो को कुमार का पता लगाने के लिए भेजा। वे कुछ मे गिरे हुए मृत अश्व को देखकर और कुमार के वस्त्रों को लेकर वापिस लौटे। उन्हें दूढ़ने पर भी कुमार का कोई पता न लगा। अतः अन्तःपुर में करुण विलाप का समुद्र उमड़ पड़ा।

मथुरा के राजा इन्द्रसेन का पुत्र उपेन्द्रसेन था। इस राजा ने एक दिन ललितपुर में देवसेन के पास अपना दूत भेजा और अप्रतिमल्ल नामक हाथी की माँग की। देवसेन द्वारा हाथी के न दिये जाने पर रुष्ट हो मथुराधिपति ने उस पर आक्रमण कर दिया। इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन दोनों की सेना ने बड़ी वीरता से युद्ध किया, जिससे देवसेन की सेना छिन्न-भिन्न होने लगी। कुमार वराग ने आकर देवसेन की सहायता की और इन्द्रसेन पराजित हो गया।

ललितपुर का राजा देवसेन कुमार के बल और पराक्रम से प्रसन्न होकर उसे अपनी पुत्री सुश्री सुनन्दा और आधा राज्य प्रदान करता है। एक दिन राजा की मनोरमा नाम की पुत्री कुमार के रूप सौन्दर्य को देखकर आसक्त हो जाती है और विरह से जलने लगती है। मनोरमा कुमार के पास अपना दूत भेजती है। पर दुराचार से दूर रहने वाला कुमार इनकार कर देता है। मनोरमा विरहाग्नि में जलने लगती है।

वराग के लुप्त हो जाने पर लुपेण उत्तमपुर के राज्य कार्य को सम्हालता है।

परन्तु वह अपनी अयोग्यताओं के कारण शासन में असफल हो जाता है। उसकी दुर्बलता और धर्मसेन की वृद्धावस्था का अनुचित लाभ उठाकर वकुलाधिपति उत्तमपुर पर आक्रमण कर देता है। धर्मसेन ललितपुर के राजा से सहायता माँगता है। वराग इस अवसर पर उत्तमपुर जाता है और वकुलाधिपति को पराजित कर देता है। पिता-पुत्र का मिलन होता है, और प्रजा वराग का स्वागत करती है। वह विरोधियों को क्षमा कर राज्य शासन प्राप्त करता है और पिता की अनुमति से दिग्विजय करने जाता है और अपने नये राज्य की राजधानी सरस्वती नदी के किनारे आनर्तपुर को बसाता है।

वराग ने आनर्तपुर में सिद्धायतन नाम का चैत्यालय निर्माण कराया और विधिपूर्वक उसकी प्रतिष्ठा सम्पन्न कराई।

एक दिन ब्राह्ममुहूर्त में राजा वराग तेल समाप्त होते हुए दीपक को देखकर देह-भोगों से विरक्त हो जाता है और दीक्षा लेने का विचार करता है। परिवार के व्यक्तियों ने उसे दीक्षा लेने से रोकने का प्रयत्न किया, किन्तु वह न माना और वरदत्त केवली के निकट दिगम्बर दीक्षा धारण की। और तपश्चरण द्वारा आत्म-साधना करता हुआ अन्त में तपश्चरण से सर्वार्थसिद्धि विमान को प्राप्त किया। उसकी स्त्रियों ने भी दीक्षा ले ली। उन्होंने भी अपनी शक्ति के अनुसार तपादि का अनुष्ठान किया और यथायोग्य गति प्राप्त की।

प्रकाशनों पर विशेष रियायत

वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज दिल्ली के प्रकाशन विभाग ने अनेक ग्रन्थ रत्नों को प्रकाशित कराया है। कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जो जैन सिद्धान्त के मूल तत्त्वों एवं उपदेशों पर संक्षेप में प्रकाश डालते हैं। ऐसी पुस्तिकाओं द्वारा जैन धर्म और उसके आत्म-कल्याणप्रद उपदेशों का प्रचार किया जा सकता है। जो सज्जन इस प्रकार की पुस्तकों को खरीद कर उन्हें प्रचारार्थ वितरण करना चाहें, उन्हें मूल्य में विशेष रियायत प्रदान की जायगी। खरीदने के इच्छुक सज्जन कार्यालय में मिलने या पत्र व्यवहार द्वारा निर्णय लेने की कृपा करें।

वीर सेवा मन्दिर द्वारा प्रकाशित विशेष ग्रन्थों की सूची अनेकान्त के प्रत्येक अंक में छपती है।

स्मृति-प्रखरता के प्रकार

मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी प्रथम

भारतवर्ष के श्रमण-निग्रन्थो व ऋषियों ने योग-साधना पर विशेष बल दिया है। इन्द्रियो का सग्रम, मन का निग्रह और वाणी के निरोध को अध्यात्म का मुख्य अंग माना है। किन्तु यह अध्यात्म ऐसा नहीं है, जो मनुष्य को जीवन से उपरत करे। भगवान महावीर ने कहा है : “जे अज्जत्थं जाणई, से वहिया जाणई, जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य को जानता है। इससे यह निष्कर्ष सहज ही निकलता है कि भारतीय ऋषियों का चिन्तन केवल पारलौकिक ही नहीं रहा है। उन्होंने जीवन के उभय पक्षों को साथ रखकर ही सोचा, पाया और नमाज को दिया।

अवधान विद्या उस साधना की एक विशेष उपलब्धि है, जो स्मृति के द्वार से प्रविष्ट होकर आत्मा तक पहुँचती है। पाँचो इन्द्रियों और मन, ज्ञान के मुख्य साधन हैं। किसी भी पदार्थ के देखने, सुनने, स्पर्श करने, सूँघने और चखने के साथ ही मन का उसमें लगाव होता है, जिसे “ग्रहण” कहा जाता है। आत्मा का जब उसके साथ घनिष्ट सम्पर्क स्थापित हो जाता है, तब उसे ‘धारणा’ कहा जाता है। जब वही ज्ञान तत्काल, कुछ समय बाद या लम्बे समय बाद दुहराया जाता है, तब वह उद्बोधन होता है। हम प्रतिदिन सैकड़ों वस्तुओं, मनुष्यों और प्राकृतिक दृश्यों को देखते हैं, परिचित और अपरिचित सैकड़ों शब्द सुनते हैं, किन्तु स्मृति में कुछ नहीं रह पाता। इसका तात्पर्य है कि ‘ग्रहण’ के बाद ज्ञान का धारणा में परिणमन नहीं हो सका। इस प्रकार धारणा के बिना प्रतिदिन दर्शन और श्रवण होता है और वह अपार्थक ही चला जाता है। बिना एकाग्रता के धारणा सम्भव नहीं होती। जब कार्यरत एक इन्द्रिय को मन के साथ योजित कर किसी विशेष स्थान पर केन्द्रित कर देते हैं, स्वतः ही वह ग्रहण के बाद धारणा बन जाता है। किन्तु धारणा में भी स्थायित्व तब आता है, जब एकाग्रता के साथ हमारी कल्पना शक्ति और अनुस्यूत हो जाती है। अर्थात् ज्ञान के ग्रहण के साथ अपने परिचित विचारों या तत्सम अन्य उपकरणों के साथ अहीत पदार्थ या शब्द का उचित संयोजन करना होगा, जो किसी भी परिस्थिति में स्मृति

से ओझल न हो सके। स्मृत प्रकरण स्वतः ही समय पर उद्बोधन का रूप ले लेता है।

स्मृति की दिलक्षणता में मानसिक एकाग्रता, कल्पना शक्ति की प्रवणता और बुद्धि की स्थिरता अनिवार्य हो जाती है। महर्षि पतंजलि ने चित्त की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं। १—क्षिप्त, २—भूढ़, ३—विक्षिप्त, ४—एकाग्र ५—निरुद्ध। क्षिप्त, भूढ़ और विक्षिप्त ये अवस्थाएँ विकृत मन की हैं। एकाग्र मन तब होता है, जब चिन्तन के लिए एक ही अवलम्बन होता है। निरुद्ध अवस्था में मानसिक स्थिरता के लिए किसी भी प्रकार के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। यह अत्युत्कृष्ट स्थिति है, जिसे योग-निरोधक मुनि ही पा सकते हैं। एकाग्रता की स्थिति सर्व-साधारण में लेकर विशिष्ट साधको तक से सम्बन्ध रखती है। एकाग्रता स्मृति का उपादान बनती है और कल्पना की पटुता और बुद्धि की महज स्थिरता निमित्त। किन्तु, यह निमित्त भी उपादान के समकक्ष पहुँच जाता है।

आज के युग में प्रत्येक व्यक्ति से यह सुना जा सकता है कि स्मरण-शक्ति बहुत कमजोर हो गई है। प्रातः सोचा गया कार्य सायं विस्मृत हो जाता है। इस अभाव की पूर्ति के लिए मनुष्य ने अपनी स्मृति को बढ़ाने के लिए विशेष उपक्रम नहीं किया। केवल एक साधन डायरी का आरम्भ किया। जिस दिन जो कार्य किया जाना है, उसे उस दिन के कोष्ठक में लिख दिया जाता है। किन्तु आफिस जाते हुए डायरी घर रह जाए और घर जाते हुए आफिस में रह जाए, तो उस स्थिति में क्या बीते? भुलक्कड़ के लिए यह भी तो एक समस्या होती है कि वह जहाँ जाए, उससे पहले डायरी को याद रखे।

मनुष्य बहुधन्वी है। उसके पास समय बहुत थोड़ा है और काम बहुत अधिक। वह एक साथ बहुत सारे कामों को निपटाने की सोचता है। यही उलझन उसकी विस्मृति का कारण बनती है। एक कार्य को करते हुए दूसरे कार्य को मस्तिष्क में न लाया जाये और सम्बन्धित विषय से अतिरिक्त और कुछ न सुना जाए, तो कोई कारण नहीं है कि स्मृति में कमजोरी आए। एक रील पर फोकस ठीक कर चुकने पर जब एक ही फोटो खींचा जाता है, तो वह

चित्र अच्छा आता है, किन्तु जब एक ही रील पर एक चित्र खींच चुकने पर दूसरा चित्र खींचा जाएगा, तो कोई भी चित्र ठीक नहीं बन पाएगा। इसी प्रकार यह हमारा मस्तिष्क है। एक साथ बहुत सारे कार्य सामान्यतया ग्रहण नहीं किए जा सकते। मस्तिष्क की तुलना इसी प्रकार टेपरिकार्ड से की जा सकती है।

अवधान का तात्पर्य है, सावधानीपूर्वक धारण करना। यह अवस्था ग्रहण के बाद की है। धारणा में यह स्वभावतः ही अनुस्यूत रहता है कि ग्रहीत पदार्थ को कल्पना के ताने-बाने के साथ सम्यक्तया अधिष्ठित कर स्थिरता की तिजोरी में उसे सजा दिया जाए। धारणा के बाद स्थिरता में यदि न्यूनता होती है, तो किसी भी समय विपर्यय या उसकी समाप्ति भी हो सकती है। फिर वहाँ हाथी और नीबू में कोई अन्तर नहीं रह जाता। एक आदमी किसी अपरिचित देश में गया। वहाँ उसने 'हाथी' और 'नीबू' ये दो चीजें पहली बार देखीं। दोनों नामों को उसने अपनी संकेत-पुस्तिका (डायरी) में अंकित कर लिया। बहुत वर्षों के बाद उसके गांव में हाथी आया। गांव के लोग सैकड़ों की सख्या में एकत्र होकर उसे विस्मयपूर्ण दृष्टि से देखने लगे। उस व्यक्ति ने कहा—यह प्राणी मेरे लिए नया नहीं है। मैंने पहले भी इसे देखा और इसका नाम भी मेरी संकेत-पुस्तिका में अंकित है। अज्ञात वस्तु को जानने की उत्कण्ठा सहज होती है। लोगो ने पूछा—भाई! इसका नाम हमें शीघ्र बताओ। चट से वह संकेत-पुस्तिका लाया। उममें लिखा था—'नीबू, हाथी'। वह असमंजस में पड़ गया। क्योंकि उसकी बुद्धि स्थिर नहीं थी। वह सोचने लगा—नीबू कौन-सा था और हाथी कौन-सा? लोगो से बोला—बन्धुओ! इस पशु का नाम या तो नीबू है या हाथी।

प्रश्न यह है, मनुष्य धारणा और स्थिरता को कैसे बढ़ाए? इन्द्रियों ज्ञान की साधन है और इन्द्रियाँ ही विस्मृति की साधन। अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता इसमें विशेष सहायक होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति स्मृति प्रगाढ़ बनना चाहता है, किन्तु, इन्द्रियों को अन्तर्मुखता की ओर नहीं; अपितु बहिर्मुखता की ओर ही बढ़ाता है। यहीं से स्मृति नाश का आरम्भ हो जाता है। धारणा और स्थिरता की शक्ति बढ़ाने के लिए सबसे पहली

आवश्यकता इन्द्रियों की अन्तर्मुखता की है, जिसे आत्म-संयम कहा जाता है। मन की शिथिलता संयम की घातक होती है। यही धारणा और स्थिरता पर आघात करती है। ऋषियों ने इसके लिए एक व्यवस्थित पद्धति दी है। उसके अनुसार सबसे पहले अपने मस्तिष्क को विचार शून्य और चिन्ता-मुक्त करने की आवश्यकता होती है। किसी व्यक्ति के प्रति लगाव, शारीरिक तनाव, मानसिक दुःख, व्यवसाय या कार्यालय के काम को निपटाने का उनावलापन आदि धारणा और स्थिरता को पूर्ण नहीं होने देते। इस स्थिति को गीताकार ने 'न किंचिदपि चिन्तयेत्' कहा है। अस्वास्थ्य भी इसमें बाधक होता है। उन्मुक्त और एक स्थान-स्थित नेत्र तथा मुँह में ममुच्चारित होने वाली आर्ष-भूक्तियाँ मानसिक एकाग्रता की विशेष हेतु बनती हैं।

इस युग में संयम का अभाव विशेषतः खटकता है। विचार-स्वातन्त्र्य के नाम पर इन्द्रियों को भी इतनी स्वतन्त्रता मिल गई है कि मन की एकाग्रता समूल ही भंग हो चुकी है। स्मृति प्रखरता के इच्छुक व्यक्ति को सर्वप्रथम संयम का साधक बनना होगा। आचार्य श्री तुलसी ने मन की चंचलता के नियमन के लिए अणुव्रत-आन्दोलन का एक विशेष मार्ग दिया है। आचार्य श्री तुलसी के समक्ष एक ओर जहाँ शैलीश्री-अवस्था प्राप्त ऋषियों का आदर्श है, वहाँ दूसरी ओर आज के मनुष्य का विक्षिप्त मानस भी है। इसके लिए मैं यह कह सकता हूँ कि महर्षि जनक के एक हार्थ पर जैसे चन्दन का विलेपन था और दूसरे हार्थ पर जली हुई अग्नि, उसी तरह स्वयं समाधिस्थ रहते हुए विक्षिप्त-चेता मनुष्य के रोग का निवारण करते जा रहे हैं। इसीलिए उनका घोष है—'संयमः खलु जीवनम्'। संयम ही जीवन है और असंयम ही मृत्यु। संयम का यह मार्ग जीवन की अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुति करता हुआ मनुष्य को स्मृति-प्रगाढ़ भी बनाता है। अपेक्षा यही है, कि संयम जीवन के प्रत्येक व्यवहार का अंग बने।

सभी महानुभाव यह चाहते ही होंगे कि उनकी स्मृति विशेष प्रखर हो। वकील, पत्रकार और विशेषतः योजनाओं में सम्बद्ध व्यक्तियों की यह चाह और अधिक हो सकती है। मेरा इस अवसर पर, यही विशेषतः कहना है कि संयम के द्वारा मानसिक एकाग्रता प्राप्त करें और उसके आधार पर अपनी स्मरण-शक्ति को बढ़ाएं।

कलाकार की साधना

श्री 'ठाकुर'

भारत में कई संस्कृतियाँ आईं और लुप्त हो गईं; अनेक राजवंश उभरे और नष्ट हो गये; अनेक राजसत्तक प्रणालियों का उदय हुआ और वे महाकाल के शाप से तिरोहित हो गईं। किन्तु अनन्त करुणा के आगार प्रभु 'वक्षिण कुबकुट जिन' गोम्मटेश्वर बाहुबलि दोड्डवेट्ट (इम्ब्रगिरि) पर एक हजार वर्ष से अडिग भाव से खड़े हुए स्मित मुद्रा में संसार पर अपनी अनन्त करुणा की वर्षा कर रहे हैं। किन्तु कौन था वह महाभाग शिल्पी, जिसकी कुशल उँगलियों के जादू ने कठोर पाषाणों को छाती चीरकर इस सौम्य और जीवित लगने वाले भगवान् का निर्माण किया? इस कथानक में उसी अमर शिल्पी की साधना का शब्द-चित्र खींचा गया है।

(१)

जंकणाचार्य द्रविड़ और होयसल शिल्पकला के आचार्य थे। भारत ही नहीं; सुदूर द्वीपों के शिल्पी उनके चरणों में बैठकर शिल्प कला की वारीकियों को समझने का अवसर प्राप्त करने के लिए महान प्रयत्न करते रहते थे और जिन्हें यह अवसर उपलब्ध हो जाता था, वे इसे अपने पूर्वजन्म के किसी मृतक का परिणाम मानते थे। उनकी ख्याति सुदूर देशों तक थी। बड़े-बड़े प्रतापी राज-वंश आचार्य के चरणों में विपुल वैभव बखेर कर भी उनकी कृपा और अनुग्रह पाने को लालायित रहते थे। किन्तु आचार्य के कुछ अपने सिद्धान्त थे। उनकी मान्यता थी कि कला एक साधना है, वह बाजार हाटों में बिकने वाली चीज नहीं है। कला का मोल सोने और चांदी के धटखरी से नहीं हो सकता। उनकी सारा जीवन ही कला के लिये समर्पित था। वे कला की साधना केवल स्वान्तः सुखाय करते थे, राजाओं और धनिकों के मनोरंजन के लिये नहीं। उनकी कला के गर्भ से महाकाव्यों के नव रसों की सृष्टि हुई थी। जिस पाषाण को उनकी उँगलियों ने स्पर्श कर दिया, वह पाषाण मानो बोलने लगा। उनके छेनी-हथौड़े के आगे पाषाण की कठोरता पिघलने लगती थी और तब वे कठोर पाषाण उनकी इच्छा के अनुसार रूप बदलने लगते थे। हलेविडु, वेणूर, सीमनोथपुर के कलापूर्ण मन्दिर आज भी उनकी शिल्प-

प्रतिभा का जयघोष कर रहे हैं।

एक बार उन्होंने एक देव-विग्रह के लिये एक पर्वत का चुनाव किया। देश देशान्तरो के शिल्पी वहाँ एकत्रित थे। जंकणाचार्य ने घोषणा की थी कि यह विग्रह उनके जीवन की सम्पूर्ण साधना का एक अमृत फल होगा। वह विग्रह ऐसा होगा, जिसकी समता संसार में कोई मूर्ति न कर सकेगी। आचार्य की इस घोषणा ने शिल्पी समाज में उत्सुकता जगा दी और उसका शिल्प-सौन्दर्य अपनी आंखों से देखने को शिल्पियों का एक विशाल परिकर वहाँ आजुटा। सभी शिल्पी आचार्य के हस्त-लाघव को देखना चाहते थे। और जब आचार्य ने उस विग्रह के लिये शिला का चुनाव किया तो वह शिल्पी-परिवार आचार्य की पसन्दगी पर मुग्ध हो गया।

आचार्य ने बड़े दम्भपूर्ण ढंग से कहा—'बन्धुओ! ललित कला का आधार निर्दोष शिला है। मैंने अंगणित शिलाओं में से जिस शिला का चयन किया है, वह शिल्प-शास्त्र की दृष्टि से सभी प्रकार निर्दोष है। एक सफल शिल्पकार की दृष्टि किननी सूक्ष्म होती है, यह आपने अनुभव किया होगा। मेरी सफलता का रहस्य यही है।'

शेष शिल्पियों ने आचार्य की बात को स्वीकार किया और प्रशंसात्मक हर्ष किया। किन्तु तभी एक अज्ञात कुल-शील शिल्पी खड़ा हो गया। उसके खड़े होने का ढंग बड़ा विनयपूर्ण था। उसके मुख पर शालीनता विराजमान

थी। आचार्य की दृष्टि उस पर पड़ी। वे बोले—‘भद्र ! कुछ कहना है ?’

युवक बोला—‘अविनय क्षमा करें आचार्य ! मेरे विनम्र मत में शिला निर्दोष नहीं है, इसलिये इससे जो विग्रह बनेगा, वह शिल्प-विधान के अनुसार निर्दोष नहीं बन पायगा।’

युवक की बात सुनकर सारे उपस्थित शिल्पी-समाज में हलका सा कोलाहल होने लगा। सबके मुखों पर तिरस्कार के भाव उभर आये। आचार्य के अपमान से कुछ लोग इस दुस्साहसी युवक के प्रति रोषपूर्ण भावा भी बोलने लगे। किन्तु आचार्य ने संकेत से सबको शान्त करते हुए पूछा—‘भद्र ! इस शिला में क्या दोष है, क्या तुम बता सकते हो ?’

‘अवश्य। आचार्यपाद ने जिस शिला का चयन किया है, उसके भीतर एक जीवित मेढक है। इस प्रकार की शिला देव-विग्रह के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। यदि मेरे कथन में कोई सन्देह है तो आचार्य इसकी परीक्षा कर सकते हैं।’ युवक ने अत्यन्त निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया।

युवक का यह अद्भुत उत्तर सुनकर कुछ के मुख तिरस्कार से विकृत हो गये, किसी के मुख पर व्यग्य भरा हास्य उभर आया। आचार्य के मुख पर भी एक क्षण को युवक के औद्धत्य से विकार की रेखायें खिच गईं। किन्तु उन्होंने अपने आप पर संयम रक्खा और उस उद्धत युवक को उचित शिक्षा देने के लिए युवक के द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर शिला को भंग किया। किन्तु सभी स्तब्ध रह गये, जब शिला टूटते ही एक जीवित मेढक फटकर निकला। अब तिरस्कार और रोष के स्थान पर सबके मुख पर आश्चर्य के भाव थे और उस जादूगर युवक ने श्रण भर में सबका आदर प्राप्त कर लिया था।

आचार्य भी हैरान थे उसके शिल्प-ज्ञान की गहराई पर। उन्होंने पूछा—‘अद्भुत ज्ञान पड़ते हो तुम। युवक ! क्या नाम है तुम्हारा ?’

आचार्य के इस प्रश्न में ममता और आदर के भाव थे। युवक ने बड़ी विनम्रता से उत्तर दिया—‘मुझे अरिहनेमि कहते हैं। गुरुपाद का अनुगत शिष्य बनने की मेरी कामना है। आर्य मुझ पर प्रसन्न हो।’

जकणाचार्य उस युवक शिल्पकार की विनय और शालीनता से बड़े प्रभावित हुए। वे बोले—‘भद्र ! तुमने मेरा दम्भ चूर-चूर कर दिया। शिल्प विधान एक महासागर है। मैं अपने आपको इस महासागर का पारगामी तैराक समझता था। किन्तु तुम्हारा ज्ञान विशाल है। सब कोई सुनें। आज से जकण आचार्य नहीं है, अरिहनेमि आचार्य है। यदि कभी सुयोग मिला तो आचार्य अरिहनेमि की किसी कृति के चरणों में मैं भी कोई छोटी-मोटी रचना करूँगा, जिससे मेरी आज की घोषणा पर इतिहास की मुहर लग जाय।

सभी शिल्पकारों ने शिल्पाचार्य अरिहनेमि का जयनाद किया।

(२)

गगवाडी के गगवशीय प्रतापी नरेश राचमल्ल के सेनापति वीरवर चामुण्डराय चन्द्रगिरि पर्वत पर चिन्तामग्न बैठे थे। उनके निकट ही उनके दीक्षा गुरु आचार्य अजितसेन और गुरुवर भट्टारक नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती बैठे हुए अपने शिष्य के चिन्ताम्लान मुख को देख रहे थे। आचार्यद्वय अपने विनीत शिष्य के हृदय में चिन्ता के उठने वाले तूफान से अपरिचित नहीं थे। तभी आचार्य अजितसेन बड़े वात्सल्य के साथ बोले—‘वत्स ! चिन्ता करने से भगवान् बाहुबली के दर्शन नहीं हो सकेंगे। धर्म की साधना आर्तध्यान से कभी नहीं होती।’

चामुण्डराय ने करुण दृष्टि से गुरु की ओर देखा। उनकी दृष्टि अत्यन्त म्लान थी। वे बड़े निराशा भरे स्वर में बोले—‘गुरुदेव ! चिन्ता के अतिरिक्त शेष ही क्या बचा है। इतने दिन गोम्मटेश्वर की तलाश करते हुए बीत गये, किन्तु कुछ पता नहीं चल पाया। मेरी माता गोम्मटेश्वर के दर्शनो के बिना ही प्राण त्याग देंगी ! मैं उनकी इस एकमात्र इच्छा की पूर्ति न कर सका। मैंने युद्ध में प्रतापी पल्लववंशी नोलम्बनरेश को परास्त किया। उछंगी के अजेय दुर्ग को धराशायी किया। वज्जलदेव ने मेरी तलवार का लोहा माना। वागेपुर के त्रिभुवनवीर को मार कर मैंने अपने भाई की हत्या का बदला चुकाया। किन्तु आज मेरी भुजाओं की वह शक्ति और मेरे इन दुर्दम वीरों का बल भी मेरी पूज्य माता का आदेश पूरा करने में असफल रहे हैं।

यो कह कर वीर मार्तण्ड चामुण्डराय वेदना से कराह उठे। आचार्य ने बड़ी ममता से उनके सिर पर हाथ फेरा और आश्वासन भरे स्वर में बोले—‘पुत्र ! करुणा सिधु बाहुबली शक्ति से नहीं, भक्ति से प्रसन्न होते हैं। भक्ति हो तो वे अवश्य दर्शन देंगे।’

‘ठीक कह रहे हैं प्रभु !’ बिषाद और चिन्ता की अधियारी में मुझे कुछ नहीं सूझ रहा था। आपने मुझे राह दिखाई है। किन्तु भक्ति के साथ-साथ क्या कोई युक्ति नहीं, जिससे मुझे इस चिन्ता से मुक्ति मिल सके? आश्वासन पाकर बड़े उत्साह ने सेनापति बोले।

निमित्त ज्ञानी आचार्य सुनकर मुस्कराये, मानो कुन्द कली पर शुभ्र चाँदनी बिखर गई। वे कहने लगे—‘वत्स ! उन्हीं करुणामय प्रभु का ध्यान करो। युक्ति भी वे ही बतायेंगे। वे करुणा के आगार हैं। उनकी करुणा का कोई अन्त नहीं है। लगता है, अब तुम्हारी चिन्ता का अन्त होने वाला है।’

चामुण्डराय कुछ कह पाने, उससे पूर्व ही आचार्यद्वय ध्यानमग्न हो गये। किन्तु गुरुदेव के वचनों से शिष्य का हृदय आशा और भक्ति से भर गया। उनके मानस नेत्रों में पोदनपुर के महायोगी बाहुबली का चित्र नाचने लगा। उन्होंने भक्ति प्लावित हृदय से उन्हें भाव नमस्कार किया। चिन्ता का ज्वार उतर गया और उनके मन में वह रूप उभर आया, जब चक्रवर्ती भरत महामुनि बाहुबली के चरणों का भक्ति विह्वल नेत्रों से बरसते आसुओं से प्रक्षालन कर रहे हैं और आत्मा के सहज आनन्द में लीन बाहुबली स्वामी के नेत्रों से निकलने वाले आनन्दाश्रुओं की बूँदें चक्रवर्ती के सिर पर गिर कर मानो उनका राज्याभिषेक कर रही हैं।

इस भाव धारा में बहते हुए चामुण्डराय को बाह्य जगत का बोध ही नहीं रहा। भाव लोक में विचरण करते हुए उन्हें लगा कि बाहुबली भगवान् के चरणों में सम्राट् भरत नहीं, वे स्वयं लोट रहे हैं और भगवान् उन पर अपनी सहज करुणा का दान कर रहे हैं। इस भाव मूर्च्छा में उन्हें कब निद्रा आ गई, इसका उन्हें पता ही नहीं चला। किन्तु निद्रित अवस्था में उन्हें स्वप्न में दिखाई पड़ा—कोई दिव्य पुरुष खड़ा है। उसके शरीर से

स्निग्ध प्रभा विकीर्ण हो रही है। जल, थल सब उस प्रभा में नहा रहे हैं। दिव्य पुरुष ने आशीर्वाद की मुद्रा में एक हाथ उठाया और बोला—‘भक्तवर ! मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। तू चिन्ता त्याग और स्वर्ण धनुष पर स्वर्ण वाण चढ़ा कर सामने दोडुवेट्ट पर्वत पर सन्धान कर। वाण जहाँ गिरेगा, वही पर महाप्रभु बाहुबली प्रगट होंगे। तेरी माता का प्रण पूरा होगा और तेरी चिन्ता का अन्त होगा।’

चामुण्डराय की निद्रा भग हुई। उन्होंने नेत्र पसार कर देखा किन्तु वहाँ कोई न था। दिव्य पुरुष अन्तर्धान हो गया था। उनके निकट केवल ध्यानलीन गुरु थे। भक्ति से उन्होंने गुरुओं को नमस्कार किया।

(३)

चामुण्डराय ने राजदूतों को भेजकर देश और विदेश से प्रख्यात मूर्तिकारों और शिल्पियों को बुलाया। जकणाचार्य, आदिराजय्य, देवण्णा, नेमिनाथ, ऐण्टोनियो आदि कितने ही शिल्पकला में पारंगत कलाकार आये। वहाँ कलाविदों का मेला लग गया। चामुण्डराय ने उन्हें एकत्रित करके अपनी इच्छा व्यक्त की—‘विज्ञजनों ! आप लोग शिल्प विधान के निष्णात आचार्य हैं। आपकी कला कठोर पापाणों में मुखरित हुई है। आपकी कला ने जीवन्त काव्यों की सृष्टि की है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि इस युग के प्रथम सिद्ध भगवान् बाहुबली की वह मूर्ति आपकी दिव्य कला से निःसृत हो, जिसकी रचना प्रथम चक्रवर्ती महाभाग भरत ने कराई थी और जिसके दर्शन मुझे भाव लोक में हुए हैं। राज्य का सम्पूर्ण कोष और समूचे साधन इसके लिए प्रस्तुत हैं। आप लोग अपने मौडल प्रस्तुत करें। इसके लिए एक सप्ताह का समय निर्धारित किया जाता है। जिनका मौडल सर्वश्रेष्ठ होगा, उन्हें इस विग्रह के निर्माण का भार सौंपा जायगा और निर्माण होने पर राज्य की ओर से विपुल पुरस्कार और समुचित सम्मान दिया जायगा।’

कलाविदों ने मौडल बनाये एक से एक सुन्दर, किन्तु चामुण्डराय के भावलोक की उस दिव्य प्रतिमा के अनुरूप एक भी मौडल नहीं था। कलाकारों के इस निष्फल प्रयास पर वे खिन्न हो गये। उन्होंने उस युग के सर्वश्रेष्ठ शिल्पकार जकणाचार्य को बुलाकर बड़े विषादपूर्ण स्वर में कहा

थी। आचार्य की दृष्टि उस पर पड़ी। वे बोले—‘भद्र ! कुछ कहना है ?’

युवक बोला—‘अविनय क्षमा करें आचार्य ! मेरे विनम्र मत में शिला निर्दोष नहीं है, इसलिये इससे जो विग्रह बनेगा, वह शिल्प-विधान के अनुसार निर्दोष नहीं बन पायगा।’

युवक की बात सुनकर सारे उपस्थित शिल्पी-समाज में हलका सा कोलाहल होने लगा। सबके मुखों पर तिरस्कार के भाव उभर आये। आचार्य के अपमान से कुछ लोग इस दुस्साहसी युवक के प्रति रोषपूर्ण भाषा भी बोलने लगे। किन्तु आचार्य ने सकेत से सबको शान्त करते हुए पूछा—‘भद्र ! इस शिला में क्या दोष है, क्या तुम बता सकते हो ?’

‘अवश्य। आचार्यपाद ने जिम शिला का चयन किया है, उसके भीतर एक जीवित मेढक है। इस प्रकार की शिला देव-विग्रह के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। यदि मेरे कथन में कोई सन्देह है तो आचार्य इसकी परीक्षा कर सकते हैं’ युवक ने अत्यन्त निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया।

युवक का यह अद्भुत उत्तर सुनकर कुछ के मुख तिरस्कार से विकृत हो गये, किसी के मुख पर व्यग्य भरा हास्य उभर आया। आचार्य के मुख पर भी एक क्षण को युवक के अद्वैत्य से विकार की रेखायें खिच गईं। किन्तु उन्होंने अपने आप पर समय रक्खा और उस उद्धत युवक को उचित शिक्षा देने के लिए युवक के द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर शिला को भंग किया। किन्तु सभी स्तब्ध रह गये, जब शिला टूटते ही एक जीवित मेढक फटक कर निकला। अब तिरस्कार और रोष के स्थान पर सबके मुख पर आश्चर्य के भाव थे और उस जादूगर युवक ने क्षण भर में सबका आदर प्राप्त कर लिया था।

आचार्य भी हैरान थे उसके शिल्प-ज्ञान की गहराई पर। उन्होंने पूछा—‘अद्भुत जान पड़ते हो तुम। युवक ! क्या नाम है तुम्हारा ?’

आचार्य के इस प्रश्न में ममता और आदर के भाव थे। युवक ने बड़ी विनम्रता से उत्तर दिया—‘मुझे अरिहनेमि कहते हैं। गुरुपाद का अनुगत शिष्य बनने की मेरी कामना है। आर्य मुझ पर प्रसन्न हों।’

जकणाचार्य उस युवक शिल्पकार की विनय और शालीनता से बड़े प्रभावित हुए। वे बोले—‘भद्र ! तुमने मेरा दम्भ चूर-चूर कर दिया। शिल्प विधान एक महासागर है। मैं अपने आपको इस महासागर का पारगामी तैराक समझता था। किन्तु तुम्हारा ज्ञान विशाल है। सब कोई सुनें। आज से जकण आचार्य नहीं है, अरिहनेमि आचार्य है। यदि कभी सुयोग मिला तो आचार्य अरिहनेमि की किसी कृति के चरणों में मैं भी कोई छोटी-मोटी रचना करूँगा, जिससे मेरी आज की घोषणा पर इतिहास की मुहर लग जाय।

सभी शिल्पकारों ने शिल्पाचार्य अरिहनेमि का जयनाद किया।

(२)

गगवाडी के गगवशीय प्रतापी नरेश राचमल्ल के सेनापति वीरवर चामुण्डराय चन्द्रगिरि पर्वत पर चिन्तामग्न बैठे थे। उनके निकट ही उनके दीक्षा गुरु आचार्य अजितसेन और गुरुवर भट्टारक नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती बैठे हुए अपने शिष्य के चिन्ताम्लान मुख को देख रहे थे। आचार्यद्वय अपने विनीत शिष्य के हृदय में चिन्ता के उठने वाले तूफान से अपरिचित नहीं थे। तभी आचार्य अजितसेन बड़े वात्सल्य के साथ बोले—‘वत्स ! चिन्ता करने से भगवान् बाहुबली के दर्शन नहीं हो सकेंगे। धर्म की साधना आतंघ्यान से कभी नहीं होती।’

चामुण्डराय ने करुण दृष्टि से गुरु की ओर देखा। उनकी दृष्टि अत्यन्त म्लान थी। वे बड़े निराशा भरे स्वर में बोले—‘गुरुदेव ! चिन्ता के अतिरिक्त शेष ही क्या बचा है। इतने दिन गोम्मटेश्वर की तलाश करते हुए बीत गये, किन्तु कुछ पता नहीं चल पाया। मेरी माता गोम्मटेश्वर के दर्शनों के बिना ही प्राण त्याग देगी ! मैं उनकी इस एकमात्र इच्छा की पूर्ति न कर सका। मैंने युद्ध में प्रतापी पल्लववंशी नोलम्बनरेश को परास्त किया। उछंगी के अजेय दुर्ग को घराशायी किया। वज्जलदेव ने मेरी तलवार का लोहा माना। वागेपुर के त्रिभुवनवीर को मार कर मैंने अपने भाई की हत्या का बदला चुकाया। किन्तु आज मेरी भुजाओं की वह शक्ति और मेरे इन दुर्दम वीरों का बल भी मेरी पूज्य माता का आदेश पूरा करने में असफल रहे हैं।

यो कह कर वीर मार्तण्ड चामुण्डराय वेदना से कराह उठे। आचार्य ने बड़ी ममता से उनके सिर पर हाथ फेरा और आश्वासन भरे स्वर में बोले—‘पुत्र ! करुणा सिंधु बाहुबली शक्ति से नहीं, भक्ति से प्रसन्न होते हैं। भक्ति हो तो वे अवश्य दर्शन देंगे।’

‘ठीक कह रहे हैं प्रभु ! विषाद और चिन्ता की अधियारी में मुझे कुछ नहीं सूझ रहा था। आपने मुझे राह दिखाई है। किन्तु भक्ति के साथ-साथ क्या कोई युक्ति नहीं, जिससे मुझे इस चिन्ता में मुक्ति मिल सके’ आश्वासन पाकर बड़े उत्साह से सेनापति बोले।

निमित्त जानी आचार्य मुनकर मुस्कगये, मानो कुन्द कली पर शुभ्र चाँदनी बिखर गई। वे कहने लगे—‘वत्स ! उन्हीं करुणामय प्रभु का ध्यान करो। युक्ति भी वे ही बतायेंगे। वे करुणा के आगार हैं। उनकी करुणा का कोई अन्त नहीं है। लगता है, अब तुम्हारी चिन्ता का अन्त होने वाला है।’

चामुण्डराय कुछ कह पाते, उससे पूर्व ही आचार्यद्वय ध्यानमग्न हो गये। किन्तु गुरुदेव के वचनों से शिष्य का हृदय आशा और भक्ति से भर गया। उनके मानस नेत्रों में पोदनपुर के महायोगी बाहुबली का चित्र नाचने लगा। उन्होंने भक्ति प्लावित हृदय से उन्हें भाव नमस्कार किया। चिन्ता का ज्वार उतर गया और उनके मन में वह रूप उभर आया, जब चक्रवर्ती भरत महामुनि बाहुबली के चरणों का भक्ति विह्वल नेत्रों से बरसते आसुओं से प्रक्षालन कर रहे हैं और आत्मा के सहज आनन्द में लीन बाहुबली स्वामी के नेत्रों से निकलने वाले आनन्द-श्रुओं की बूंदें चक्रवर्ती के सिर पर गिर कर मानो उनका राज्याभिषेक कर रही हैं।

इस भाव धारा में बहते हुए चामुण्डराय को बाह्य जगत का बोध ही नहीं रहा। भाव लोक में विचरण करते हुए उन्हें लगा कि बाहुबली भगवान् के चरणों में सज्जद भरत नहीं, वे स्वयं लोट रहे हैं और भगवान् उन पर अपनी सहज करुणा का दान कर रहे हैं। इस भाव मूर्च्छा में उन्हें कब निद्रा आ गई, इसका उन्हें पता ही नहीं चला। किन्तु निद्रित अवस्था में उन्हें स्वप्न में दिखाई पड़ा—कोई दिव्य पुरुष खड़ा है। उसके शरीर से

स्निग्ध प्रभा विकीर्ण हो रही है। जल, थल सब उस प्रभा में नहा रहे हैं। दिव्य पुरुष ने आशीर्वाद की मुद्रा में एक हाथ उठाया और बोला—‘भक्तवर ! मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। तू चिन्ता त्याग और स्वर्ण धनुष पर स्वर्ण वाण चढ़ा कर सामने दोडुवेट्ट पर्वत पर सन्धान कर। वाण जहाँ गिरेगा, वही पर महाप्रभु बाहुबली प्रगट होंगे। तेरी माता का प्रण पूरा होगा और तेरी चिन्ता का अन्त होगा।’

चामुण्डराय की निद्रा भंग हुई। उन्होंने नेत्र पसार कर देखा किन्तु वहाँ कोई न था। दिव्य पुरुष अन्तर्धान हो गया था। उनके निकट केवल ध्यानलीन गुरु थे। भक्ति से उन्होंने गुरुओं को नमस्कार किया।

(३)

चामुण्डराय ने राजदूतों को भेजकर देश और विदेश से प्रख्यात मूर्तिकारों और शिल्पियों को बुलाया। जकणाचार्य, आदिराजय्य, देवण्णा, नेमिनाथ, ऐण्टोनियो आदि कितने ही शिल्पकला में पारंगत कलाकार आये। वहाँ कलाविदों का मेला लग गया। चामुण्डराय ने उन्हें एकत्रित करके अपनी इच्छा व्यक्त की—‘विज्ञानों ! आप लोग शिल्प विधान के निष्णात आचार्य हैं। आपकी कला कठोर पाषाणों में मुखरित हुई है। आपकी कला ने जीवन काव्यों की सृष्टि की है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि इस युग के प्रथम सिद्ध भगवान् बाहुबली की वह मूर्ति आपकी दिव्य कला से निःसृत हो, जिसकी रचना प्रथम चक्रवर्ती महाभाग भरत ने कराई थी और जिसके दर्शन मुझे भाव लोक में हुए हैं। राज्य का सम्पूर्ण कोष और समूचे साधन इसके लिए प्रस्तुत हैं। आप लोग अपने मॉडल प्रस्तुत करें। इसके लिए एक सप्ताह का समय निर्धारित किया जाता है। जिनका मॉडल सर्वश्रेष्ठ होगा, उन्हें इस विग्रह के निर्माण का भार सौंपा जायगा और निर्माण होने पर राज्य की ओर से विपुल पुरस्कार और समुचित सम्मान दिया जायगा।’

कलाविदों ने मॉडल बनाये एक से एक सुन्दर, किन्तु चामुण्डराय के भावलोक की उस दिव्य प्रतिमा के अनुरूप एक भी मॉडल नहीं था। कलाकारों के इस निष्फल प्रयास पर वे खिन्न हो गये। उन्होंने उस युग के सर्वश्रेष्ठ शिल्पकार जकणाचार्य को बुलाकर बड़े विषादपूर्ण स्वर में कहा—

—‘आचार्य ! क्या मेरी कामना की बेल यो ही मुर्झा जायगी । आप पर देश को अभिमान है । आपके हाथों की कला युग-युगों तक आपकी कीर्ति-गाथायें कहती रहेगी । किन्तु क्या आप भी मेरे भावलोक के उस प्रभु को कोई रूप नहीं दे सकते । क्या मेरा सपना पूर्ण नहीं होगा ? क्या कोई भी आशा शेष नहीं है ?’

जकणाचार्य सुनकर चिन्तामन् हो गये—क्या रूप हो सकता है भावलोक की उस प्रतिमा का । किन्तु कोई स्पष्ट रूप मन में न उभर सका । तभी उनके मन में एक क्षीण-सा प्रकाश हुआ । मुख पर प्रकाश की रेखाएँ उभरी । वे विनय से बोले—‘देव ! आशा न हो । आशा की ज्योति अभी क्षीण नहीं हुई । एक कलाविद् अभी शेष है, जो आपकी कल्पना को अस्तिमान कर सकता है ।’

चामुण्डराय के मन में आशा का संचार हुआ । वे आलुरता से बोले—‘कौन है वह महाभाग ?’

‘वे हैं जिनपुर के आचार्य अरिहनेमि । वे अवश्य आपकी कामना को साकार कर सकेंगे ।’

अविलम्ब बहुमूल्य उपहारों के साथ राजदूत दौड़ाये गये । उन्होंने शिल्पकार अरिहनेमि को राजाज्ञा सुनाई और उपहार रखकर बड़े अनुनय के साथ चलने का अनुरोध किया । अरिहनेमि ने उपहार तो स्वीकार नहीं किये, किन्तु वह राजदूत के साथ चल अवश्य दिया ।

लौटे हुए उपहार देखकर राज्य के प्रधानाचार्य और सेनापति चामुण्डराय के मन में क्षोभ की कड़वाहट फैल गई । किन्तु सामने खड़े हुए युवक शिल्पकार की विनय और शालीनता देखकर क्षोभ दूर हो गया । उन्होंने समुचित आदर करके शिल्पकार को अपनी कामना बताई और भावलोक में देखी हुई मूर्ति का मॉडल बनाने का अनुरोध किया । युवक शिल्पी सुनकर हैरान नहीं हुआ । वह जाकर एकान्त में बैठ गया । वह मन की सम्पूर्ण एकाग्रता से, भक्तिनिष्ठा से भगवान् बाहुबली की उस छवि की कल्पना करने लगा, जो सम्राट् भरत की भक्ति ने सृजन की थी । दृश्य उभरा—राज्य से विरक्त बाहुबली घोर तपस्या में लीन है । अंतर्बाह्य परिग्रह से रहित, निर्विकार । अधोन्मीलित नयन, नासाग्र दृष्टि । दिनों की क्या गिनती, महानों बीत गये, किन्तु ध्यानलीन खड़े हैं

तन से बेसुध । शरीर पर बामी चढ़ गई, बालियों में सप आ डटे । वे फन फैलाये इस महायन्त्री को आश्चर्य मुग्ध में निहार रहे हैं । मिट्टी में माधवी लतायें विकसित हो रही हैं । वे बाँधों को लपेटती हुई महाबली की शृङ्गाओं को भी लपेट रही है । कामदेव का मनोहर रूम है । मुख पर असीम शांति और सौम्यता है, सहज मुस्कान भी है किन्तु विराग भी अंकित है ।

शिल्पकार भावभारा में बहने लगा । प्रभु के इस त्रिभुवन मोहन रूप के आगे वह लोट गया । भक्ति के प्रतिरेक में उसकी आंखों से आशुधारा बहने लगी । वह यो कितनी देर अश्रुधारा बहाता रहा, इसकी उसे कुछ सुध नहीं । किन्तु जब उसकी तन्द्वा टूटी तो चकित नेत्रों में आरों और निहारने लगा—कहाँ हो प्रभु !

तभी उसे अपने दायित्व का स्मरण हुआ और उसने एक मॉडल तैयार किया । भाव लोक में प्रभु का जो रूप उभरा था, उसे ही उसने आकार प्रदान किया था । जिस समय चामुण्डराय ने मॉडल देखा तो हर्ष से उन्मत्त होकर वे झिल्लाये—‘ये ही थे प्रभु, जिनके दर्शन मैंने कल्पना में किये थे । वही रूप, वही सौन्दर्य, वही मधुर मुसकान । आचार्य ! मेरे सपनों को तुमने सही रूप दिया है । तुम्हीं मेरी कामना को सम्कार कर सकते हो । आजकल लुटा दूंगा इसके लिए । तुम्हें रत्न-स्वर्ण से सज्जामाल कर दूंगा ।’

न जाने हर्ष में वे क्या-क्या कहते । किन्तु मुक्क ने बाधा देते हुए कहा—‘देव ! संयत हों । अविनय क्षमा हो । जो आपके प्रभु है, वे मेरे भी आराध्य है । उनके लिये मैं क्या मूल्य लूँगा !’

चामुण्डराय संयत होकर बोले—‘आचार्य ! मूल्य प्रभु का नहीं, कला का तो होगा ही ।’

‘नही देव ! कला का मूल्य रत्न-स्वर्ण नहीं होता । कला का वास्तविक मूल्य स्वान्तःमुख है । उसी के लिये मैं कला की आराधना करता हूँ । जीवन के लिये कला नहीं है, किन्तु कला के लिये ही मेरा जीवन है । वह मेरी साधना है और वही मेरी सिद्धि है ।’

चामुण्डराय को आज एक सच्चे कलाविद् के दर्शन हुये थे । श्रद्धा से उनका मस्तक उस कला तपस्वी के आगे झुक गया ।

(४)

भट्टारक नेमिचन्द्र के तत्वावधान में शुभ लगन, शुभ मुहूर्त में भूमि-शुद्धि की गई। किन्तु जब शिला के पूजन-विधान का अवसर आया तो एक बाधा आ गई। जकणा-चार्य ने सुझाव दिया कि विग्रह के लिये पहले एक धिशाल शिला की खोज होनी चाहिये। उसी का पूजन होना श्रेष्ठ रहेगा। अन्य कलाकारों ने भी इस सुझाव का समर्थन किया। चामुण्डराय ने अरिहनेमि की ओर देखा—‘आचार्य का इस विषय में क्या अभिमत है?’

अरिहनेमि गंभीरता से बोले—‘आर्य! यह तो निर्णीत विषय है। आपके स्वप्न में देव पुरुष ने वाण-सधान का आदेश दिया था। अतः वाण जिस स्थान पर गिरा था, विग्रह वही स्थापित होगा और पूजन-विधान भी उसी स्थान का होना चाहिये।’

जकणाचार्य बोले—‘शिल्पिवर्य! यह सत्य है कि पूजन-विधान उस स्थान का होना चाहिये। किन्तु विग्रह के लिये शिला की खोज होना तो आवश्यक है। विग्रह तैयार होने पर उसकी स्थापना उसी स्थान पर कर दी जायगी।’ अनुभवी जकणाचार्य की बात तर्कसंगत थी। सभी ने उसे स्वीकार किया। किन्तु अरिहनेमि के मुख पर असहमति के भाव देखकर सब उनके मुख की ओर देखने लगे। सब शिल्पाचार्य उनके मन के भाव और उनकी योजना जानने को उत्सुक थे। क्षण भर विचार करके अरिहनेमि बोले—‘आर्य! वाण जहाँ गिरा, प्रभु दर्शन भी वही देंगे। करुणामय प्रभु इसी पर्वत को भेद कर प्रकट होंगे।’

‘तब क्या आपकी योजना सारे पर्वत को तराशने की है? यह कार्य तो बड़ा श्रमसाध्य होगा। इसमें समय भी अधिक लगेगा। क्यों न कोई पवित्र शिला ही इसके लिये तलाश की जाय?’

‘आर्य श्रेष्ठ! जिस पर्वत पर अनेक श्रमणों ने तपस्या की है, उससे अधिक पवित्र स्थान और कौन सा होगा! फिर विग्रह या विग्रह का ढोल इतने ऊँचे पर्वत के ऊपर ले जाना कितना कष्टसाध्य होगा। आप यह सोचिये। अतः इस पर्वत को तराश कर ही महाबाहु बाहुबली स्वामी की मूर्ति का निर्माण करना समुचित होगा। मेरी आखों

के आगे प्रभु खड़े हुए हैं। मेरी कामना है कि इस युग के प्रथम कामदेव उन प्रभु की मूर्ति उन जैसी त्रिभुवन मोहन हो। वे प्रभु मुझे इसी पर्वत में से प्रकट होने का आदेश दे रहे हैं।’

शिल्पाचार्य की वाणी में संकल्प की दृढ़ता थी, भक्ति की मुखरता थी और तर्क की तीक्ष्णता थी। उनका मुख एक दिव्य आभा से प्रदीप्त था। ऐसा लगता था, मानो स्वप्न लोक का देव पुरुष ही उनके मुख से बोल रहा है।

चामुण्डराय को लगा कि स्वप्न में उन्हें जिस देव पुरुष ने दर्शन देकर आदेश दिया था, वह अन्य कोई नहीं, स्वयं शिल्पाचार्य अरिहनेमि ही थे। उनका निर्णय ही देव पुरुष का आदेश था। उन्होंने शिल्पाचार्य की बात का समर्थन किया। आचार्य नेमिचन्द्र ने भी इसे स्वीकार किया। अपने युग में द्रविड और होयसल कला के सर्व श्रेष्ठ शिल्पकार आचार्य जकण ने गहराई से इस पर विचार किया। अन्त में बोले—‘आचार्य अरिहनेमि! आपका निर्णय साधु है। देव पुरुष की भी यही इच्छा है। एक बार आपने विग्रह के लिये मेरी पसन्द की हुई शिला को सदोप सिद्ध किया था और उसमें एक जीवित मेढक निकाल कर मूर्ति कला सम्बन्धी मेरे ज्ञान के मद को चूर-चूर किया था, मैं तभी से आपको अपना गुरु मानने लगा हूँ। इस युग में इस कला के आप पारगामी आचार्य हैं। आपकी सूक्ष्म दृष्टि को कोई चुनौती दे सके, ऐसा कला-विद् मेरी दृष्टि में नहीं आया। आपकी योजना निर्दोष है। मुझे आपका निर्णय स्वीकार है।’

जब स्वयं जकणाचार्य ने अरिहनेमि की योजना का समर्थन कर दिया तब सभी शिल्पकारों ने उसके आगे अपना मस्तक झुका दिया। निर्णय सर्वसम्मत था। अतः भट्टारक नेमिचन्द्र के आदेश से जहाँ वाण गिरा था, उसी शिला का पूजन किया गया। तभी अरिहनेमि आचार्य नेमिचन्द्र के सन्मुख हाथ जाड़कर खड़े हो गये। आचार्य ने जिज्ञासा से शिल्पाचार्य की ओर देखा। शिल्पाचार्य अत्यन्त विनय से बोले—‘प्रभु! मुझे आशीर्वाद दें कि मैं प्रभु बाहुबली के समान ही उनकी त्रिलोकमुद्र मूर्ति बनाने में सफल हो सकूँ। भगवान् मुझे ब्रह्मवर्ष व्रत दे।’

सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य सुनकर अत्यन्त आल्हादित हुये। उन्होंने आशीर्वाद दिया—‘तुमने ब्रह्मचर्य व्रत का सकल्प करके शास्त्रानुमोदित पद्धति का ही पालन किया है। मूर्ति में अतिशय तभी प्रगट होता है, जब शिला निर्दोष हो, मूर्तिकार ब्रह्मचर्य व्रत पूर्वक और निर्लोभ वृत्ति से मूर्ति निर्माण करे, और प्रतिष्ठाकारक एवं प्रतिष्ठाचार्य के मन में अहंकार और धन लिप्सा न हो। केवल बाह्य क्रियाकाण्डों से ही पाषाण भगवान् नहीं बनते। बलात् भगवान् बना भी दें तो उससे जीवों का कल्याण नहीं होता। भगवान् के बिम्ब में भगवान् का सा चमत्कार आता है मूर्तिकार, प्रतिष्ठाकारक और प्रतिष्ठाचार्य की तपःपूत साधना और मनःशुद्धि से। तुम जिस बिम्ब का निर्माण करना चाहते हो, वह लोक का अप्रतिम, अद्भुत और सर्वश्रेष्ठ बिम्ब हो, यह मेरा आशीर्वाद है।’

वातावरण आनन्द और उत्साह से भर गया। चन्दन और नारियल के वृक्ष भूम उठे। मलयगिरि की शीतल पवन ने चारों ओर सुरभि फैला दी। सबके मन जड़ता और अवसाद से मुक्त होकर उत्साह से तरंगित हो गये। ऐसे हर्ष तरंगित वातावरण में चामुण्डराय भी अपने आपको रोक न सके। वे अपने गुरु के चरणों में झुककर निवेदन करने लगे—‘भगवन् ! मुझे भी ब्रह्मचर्य व्रत का नियम देकर अनुगृहीत करें।’ हर्ष से उनके कपोलों पर अश्रुबिन्दु बहने लगे। गुरु ने मयूरपिच्छिका उठाकर उन्हें आशीर्वाद दिया और शिला का पूजन कराया।

अरिहनेमि के निर्देशन में शताधिक शिल्पी पर्वत को तराशने में जुट पड़े। विस्तृत पर्वत की छाती छिल-छिल कर लम्बायमान ढोल बनने लगा। अरिहनेमि के छैनी-हथौड़े के जादू से कठोर शिला की पपड़ियाँ उतरने लगीं और उमंग से आकार उभरने लगा। शीश पर धुंधराले कुन्तल उभरे। फिर प्रभु का मुख प्रगट हुआ। कामदेव ध्यानमुद्रा में है। नेत्र अर्धनिमीलित हैं। होठों पर मुसकराहट भी है और कुछ वितृष्णा मिश्रित विराग के भाव भी है, मानो प्रभु बाहुवली ससारी जनो पर मुसकरा कर अपनी अनन्त करुणा की वर्षा कर रहे हैं। साथ ही अनादिकाल की अपनी अतृप्त भोगाकांक्षा से वितृष्णा हो रही है और ससार, शरीर एवं भोगों से मन

में अपार वैराग्य उत्पन्न हो रहा है। किन्तु इससे उनके मन में आकुलता नहीं, अखण्ड शान्ति विराजमान है और वह मुख पर भी स्पष्ट अंकित है।

भगवान् का मुख प्रगट होते ही चामुण्डराय की मां ने उन्हें नमस्कार किया। उनकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो चुकी थी। उनके आज्ञाकारी पुत्र ने अन्न त्याग करने वाली अपनी माता को राजकीय समारोह में भोजन कराकर अपने जीवन को कृतकृत्य माना। सारा राज्य उल्लास से विभोर हो उठा।

(५)

आचार्य अरिहनेमि मूर्ति-निर्माण में तन्मय थे। काल का रथ द्रुतगति से उड़ा जा रहा था, किन्तु आचार्य को इसका कोई ज्ञान नहीं था। मुख के बाद त्रिश्रवली वेष्टित ग्रीवा उभरी, श्रीवत्स लाञ्छन मंडित विशाल वक्ष और माधवी लता मण्डित आज्ञानु बाहु प्रगट हुई।

हथौड़े और छैनी के जादू से जघाये दिखाई पड़ी जो माधवी लताओं से सुशोभित थी।

ज्यों ज्यों विग्रह उभरने लगा, शिल्पाचार्य के नेत्रों में दिव्य ज्योति प्रस्फुटित होने लगी। वह नित्यप्रति अपने आराध्य प्रभु के महिमान्वित रूप के आगे अपनी भक्ति के आंसुओं का अर्घ्य चढ़ाने लगा। वह अर्हतिश काम करता रहता। जब थक जाता तो प्रभु की छवि निहारने लगता। उसकी पत्नी भोजन लाती और वह भोजन या पत्नी की ओर देखे बिना बायें हाथ से भोजन करता, किन्तु तब भी उसका दाया हाथ निर्माण में लगा रहता।

पत्नी अपनी इस चिर उपेक्षा के कारण क्षोभ में भर उठी। एक दिन उसने चामुण्डराय की पत्नी अजिता देवी से शिकायत की—‘देवी ! आर्यपुत्र को मेरे प्रति कोई स्नेह नहीं रह गया है। इस मूर्ति ने उन्हें मुझसे विलग कर दिया है।’

सुनकर अजिता देवी को बड़ा विस्मय हुआ। वे बोली—‘भद्रे ! विश्वास नहीं होता मुझे। अभी आचार्य-पाद की अवस्था ही क्या है ?’

‘अवस्था की बात नहीं है देवी ! बात उनकी मनो-दशा की है। आजकल वे दिन में केवल एक बार भोजन करते हैं। मध्याह्न में मैं स्वयं भोजन लेकर उनके पास

तीर्थंकर और प्रतीक-पूजा

पं० बलभद्र जैन

जन-मानस में तीर्थंकरों के लोकोत्तर व्यक्तित्व की छाप बहुत गहरी रही है। उन्होंने जन-जन के कल्याण और उपकार के लिए जो कुछ किया, उस अनुग्रह को जनता ने बड़ी श्रद्धा के साथ स्वीकार किया। जब जो तीर्थंकर विद्यमान थे, उनकी भक्ति, पूजा और उपदेश श्रवण करने के लिए जनता का प्रत्येक वर्ग उनके चरण-सन्निध्य में पहुँचता था और वहाँ जाकर अपने हृदय की भक्ति का अर्घ्य उनके चरणों में समर्पित करके अपने आपको धन्य मानता था। किन्तु जब उस तीर्थंकर का निर्वाण हो गया, तब जनता का मानस उनके अभाव को तीव्रता के साथ अनुभव करता और अपनी भक्ति के पुष्प समर्पित करने को आकुल हो उठता था। जनता के मानस की इसी तीव्र अनुभूति ने प्रतीक-पूजा की पद्धति को जन्म दिया।

प्रतीक दो प्रकार के रहे—अतदाकार और तदाकार। ये दोनों ही प्रतीक अविद्यमान तीर्थंकरों की स्मृति का पुनर्नवीकरण करते थे और जन-मानस में तीर्थंकरों के आदर्श की प्रेरणा जागृत करते थे। इन दोनों प्रकार के प्रतीकों में भी शायद अतदाकार प्रतीकों की मान्यता सर्व-प्रथम प्रचलित हुई। ऐसा विश्वास करने के कुछ प्रबल कारण हैं। सर्वप्रथम आधार मनोवैज्ञानिक है। मानव की वृद्धि का विकास क्रमिक रूप से ही हुआ है। प्रतीकों का जो रूप वर्तमान में है, वह सदा काल से नहीं रहा। हम आगे चलकर देखेंगे कि तदाकार मूर्ति-शिल्प में समय, वानावरण और वृद्धि-विकास का कितना योगदान रहा है। अतदाकार प्रतीक से ही तदाकार प्रतीक की कल्पना का जन्म सम्भव हो सकता है। दूसरा प्रबल कारण है पुरातत्त्विक साक्ष्य। पुरातत्त्विक साक्ष्य के आधार पर

जाती हूँ, किन्तु कभी एकबार भी उन्होंने मेरी ओर दृष्टि उठाकर नहीं देखा। और तो क्या, भोजन करते-करते भी वे अपने काम में लगे रहते हैं।'

रानी को आचार्य-पत्नी की बात पर विश्वास नहीं हो सका और निश्चय हुआ कि कल तुम्हारे स्थान पर मैं भोजन की थाली लेकर जाऊँगी।

निश्चयानुसार दूसरे दिन रानी अजिता देवी भोजन लेकर पहुँची। वे कुछ क्षणों तक वहाँ खड़ी रही, फिर उन्होंने थाली आगे को सरका दी। किन्तु आचार्य ने एक बार भी दृष्टि उठाकर न रानी की ओर ही देखा और न भोजन की थाली को ही। रानी इस असह्य उपेक्षा से क्षुब्ध हो गई और मन में तिक्तता लिये वे सीधे अपने आवास में पहुँचीं। यह अपमान साधारण न था। रह-रहकर उनके मन में अपमान के काँटें चुभने लगते। वे किसी प्रकार भी अपने मन को सान्त्वना न दे सकीं।

वे अपने प्रतापी पति से भी शिकायत करने पहुँची किन्तु पति ने उत्तर दिया—'देवी! जिन्हें अपने भोजन तक की भी सुख नहीं है, वे महान् साधक हैं। तुम्हें उनके व्यवहार पर खिन्न या क्षुब्ध नहीं होना चाहिए, उस पर तो तुम्हें गर्व होना चाहिए। उनकी साधना से जो कृति निष्पन्न होगी, वह संसार में अप्रतिम होगी। तुम्हें तो जाकर अपने क्षोभ के लिए उनसे क्षमा माँगनी चाहिए।'

अजिता देवी का क्षोभ गल गया। वे श्रद्धा लेकर आचार्य के चरणों में पहुँची। उन्होंने जाकर देखा—आचार्य गोमटेश्वर को अपलक निहार रहे हैं। पाषाण के प्रभु के समान आचार्य भी मानो पाषाण हो गये हैं। रानी ने निवेदन किया, क्षमा-याचना की, किन्तु आचार्य अपने प्रभु की मोहिनी में मानो सजाहीन होकर बैठे थे। करुणामय प्रभु अपने भक्त पर मधुर मुस्कान बिखेरते हुए अनन्त करुणा की वर्षा कर रहे थे।

माना गया है कि तदाकार प्रतीक के रूप (मन्दिर और मूर्ति के रूप में) बहुत अधिक प्राचीन नहीं है और वे हमें ईसा पूर्व की सात-आठ शताब्दियों से पूर्व काल तक नहीं ले जाते, जबकि अतदाकार प्रतीक इससे पूर्व के भी उपलब्ध होते हैं। यदि हड़प्पा काल की शिरोहीन ध्यानमग्न मूर्ति को निर्विवाद रूप से तीर्थङ्कर प्रतिमा होने की स्वीकृति हो जाती है तो तदाकार प्रतीक का काल ईसा पूर्व तीन सहस्राब्दी स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इसके साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि उस काल में भी तदाकार प्रतीकों का बाहुल्य नहीं था। एक शिरोहीन मूर्ति तथा कुछ मुद्राओं पर अकिन ध्यानलीन योगी जिन के रूपाङ्कन के अतिरिक्त उस काल में विशेष कुछ नहीं मिला। ऐसी स्थिति में यह भी विचारणीय है कि हड़प्पा संस्कृति अथवा सिन्धु सभ्यता के काल में मौर्य काल तक के लम्बे अन्तराल में तदाकार प्रतीक विधा की कोई कला-वस्तु क्यों नहीं मिली? इसका एक ही बुद्धिसंगत कारण हो सकता है कि तदाकार प्रतीक-विधान का विकास तब तक नहीं हो पाया और उसने पर्याप्त समय लिया।

जैन धर्म के अतदाकार प्रतीकों में स्तूप, त्रिरत्न, चैत्य-स्तम्भ, चैत्य वृक्ष, पूर्ण घट, शराव सम्पुट, पुष्पमाला, पुष्प पडलक, आदि मुख्य हैं। अष्ट मंगल द्रव्य—यथा स्वस्तिक, धर्मचक्र, नन्द्यावर्त, वर्धमानक्य, श्रीवत्स, मीन-युगल, पद्म और दर्पण—तथा तीर्थङ्करों के लाक्षण भी अतदाकार प्रतीकों में माने गये हैं। अष्ट प्रातिहार्य एवं आयागपट्ट भी महत्त्वपूर्ण प्रतीक माने गये हैं। कला के प्रारम्भिक काल में इन अतदाकार प्रतीकों का पर्याप्त प्रचलन रहा है।

किन्तु जैसे-जैसे कला-बोध विकसित हुआ, त्यों-त्यों प्रतीक की तदाकारता को अधिक महत्त्व मिलने लगा। इसी काल में तीर्थङ्करों की तदाकार मूर्तियों का निर्माण होने लगा। प्रारम्भ में प्रकृत भूमि से कुछ ऊँचे स्थान पर देव-मूर्ति स्थापित की जाती थी। उसके चारों ओर वेदिका (बाड़े) का निर्माण होता था। धीरे-धीरे वेदिका को ऊपर से आच्छादित किया जाने लगा। यही देवायतन, देवालय या मन्दिर कहे जाने लगे। प्रारम्भ में देवायतन सीधे-सादे रूप में बनाये जाते थे। पुरातत्त्वावशेषों में कई

मूर्तियों, सिक्कों, मुद्राओं आदि पर देवायतनों का अंकन मिलता है। उससे ही ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में मंदिरों का रूप अत्यन्त सादा था। कालान्तर में कलात्मक रुचि में अभिवृद्धि के साथ-साथ देवायतनों के स्वरूप में विकास होता गया। मूर्ति-स्थापना के स्थान पर गर्भगृह को परि-वेष्टित करने के अतिरिक्त उसके बाहर चारों ओर प्रदक्षिणा पथ का निर्माण हुआ। गर्भगृह के बाहर आच्छादित प्रवेश द्वार या मुख्य मण्डप का निर्माण हुआ। धीरे-धीरे गर्भगृह के ऊपर शिवर तथा बाहर मण्डप, अर्धमण्डप, महामण्डप आदि का विधान हुआ। गुप्त काल में आकर मन्दिर शिल्प और मूर्ति-शिल्प के शास्त्रों की रचना भी होने लगी, जिनके आधार पर मन्दिर और मूर्तियों की रचना मुनियोजित ढंग से होने लगी।

मन्दिर-निर्माण की पृष्ठभूमि

प्रागैतिहासिक काल के पूर्व पाषाण युग में, जिसे जैन शास्त्रों में भोगभूमि बताया है, मानव अपनी जीवन-रक्षा के लिये वृक्षों पर निर्भर था। वृक्षों के नीचे रहता था, वृक्षों से ही अपने जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। कुलकरों के काल में मानव की बुद्धि का विकास हुआ और उस काल में मानव को जीवन-रक्षा के लिये संघर्ष करना पड़ा। अतः जीवन-रक्षा के कुछ उपाय ढूँढ़ने को बाध्य होना पड़ा। छुटपुट रहने के स्थान पर कवीलों के रूप में रहने की पद्धति अपनाई गई। किन्तु इस काल में भी वृक्षों की निर्भरता समाप्त नहीं हुई, बल्कि वृक्षों के कारण कवीलों में पारस्परिक संघर्ष भी होने लगे। प्रकृति में तेजी से परिवर्तन हो रहे थे। वृक्ष घट रहे थे, मानव की आवश्यकताएँ बढ़ रही थी। कुलकरों ने वृक्षों का विभाजन और सीमांकन कर दिया। किन्तु फल वाले वृक्षों की संख्या कम होते जाने से जीवन-यापन की समस्या उठ खड़ी हुई। वन्य पशुओं से रक्षा के लिए सुरक्षित आवास की आवश्यकता भी अनुभव की जाने लगी।

तब ऋषभदेव का काल आया। इसे नागरिक सभ्यता का काल कहा जा सकता है। इस काल में तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने जीवन-निर्वाह के लिए कर्म करने की प्रेरणा दी और मानव समाज को अग्नि, मसि, कृषि, विद्या,

आणिज्य और शिल्प की शिक्षा दी। इन्द्र ने अयोध्या नगरी की रचना की। ऋषभदेव ने भवन-निर्माण करने की विद्या बताई, जिससे भवनो का निर्माण होने लगा। इस काल में सघटित जीवन की परम्परा प्रारम्भ हुई, जिसने ग्रामो, पुरो, नगरो को जन्म दिया। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और जीवन की प्रत्येक आवश्यकतापूर्ति के लिए ऋषभदेव ने जो विविध प्रयोग करके मानव समाज को बताये और उसे व्यवस्थित नागरिक जीवन बिताने की जो शिक्षा दी, उसके कारण तत्कालीन सम्पूर्ण मानव समाज ऋषभदेव के प्रति हृदय से कृतज्ञ था। और जब ऋषभदेव ने संसार से विरक्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली तथा दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि के रूप में घोर तप करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया, उसके पश्चात् समवसरण में, गन्धकुटी में सिंहासन पर विराजमान होकर उन्होंने धर्म-देशना दी। मानव-समाज के लिए वह धर्मदेशना अश्रुतपूर्व थी, समवसरण की वह रचना अदृष्टपूर्व थी। उनका उपदेश कल्याणकारक था, हितकारक था, सुखकारक था और शान्तिकारक था। इससे सम्पूर्ण मानव-समाज के मन में तीर्थंकर ऋषभदेव के प्रति श्रद्धा और भक्ति की अजस्र धारा बहने लगी। वे सम्पूर्ण मानव-समाज के आराध्य बन गये और उसके मन में समवसरण की प्रतिकृति बना कर उसमें ऋषभदेव की तदाकार मूर्ति बना कर उसकी पूजा करने की ललक जागृत हुई।

इन्द्र ने अयोध्या का निर्माण करते समय नगर की चारो दिशाओं में और नगर के मध्य में पाँच देवालयों या जिनालयों की रचना करके जिनभवनो का निर्माण करने और उसमें मूर्ति-स्थापना करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

एक बार जब सम्राट् भरत कैलाश गिरि पर भगवान् ऋषभदेव के दर्शन करके अयोध्या लौटे तो उनका मन भगवान् की भक्ति से ओत-प्रोत था। उन्होंने भगवान् के दर्शन की उस घटना की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिये कैलाश शिखर के आकार के घण्टे बनवाये और उन पर भगवान् ऋषभदेव की मूर्ति का अंकन कराया। ये घण्टे नगर के चतुष्पथो, गोपूरो, राजप्रासाद के द्वारों और

इयोदियों में लटकवाये। यह मानवकृत प्रथम अतदाकार प्रतीक स्थापना थी।

किन्तु इतने से सम्राट् भरत के मन की सन्तुष्टि नहीं हुई। इससे भगवान् की पूजा का उनका उद्देश्य पूरा नहीं होता था। तब उन्होंने इन्द्र द्वारा बनाये हुए जिना-यतनों से प्रेरणा प्राप्त करके कैलाशगिरि पर ७२ जिना-यतनो का निर्माण कराया और उनमें अनर्घ्य रत्नों की प्रतिमायें विराजमान कराईं। मानव के इतिहास में तदा-कार प्रतीक-स्थापना और उसकी पूजा का यह प्रथम सफल उद्योग कहलाया। अतः साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर यह स्वीकार करना असंगत न होगा कि नागरिक सभ्यता के विकास-काल की उपा-वेला में ही मन्दिरों, मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था।

पौराणिक जैन साहित्य में मन्दिर और मूर्तियों के उल्लेख विभिन्न स्थलो पर प्रचुरता में प्राप्त होते हैं। सगर चक्रवर्ती के माठ हजार पुत्रो ने भरत चक्रवर्ती द्वारा बनाये हुए इन मन्दिरों की रक्षा के लिए भारी उद्योग किया था और उनके चारों ओर परिखा खोदकर भागीरथी के जल से उसे पूर्ण कर दिया था। लंकाधिपति रावण इन मन्दिरों के दर्शन के लिए कई बार आया था। लंका में एक शान्तिनाथ जिनालय था, जिसमें रावण पूजन किया करता था और लंका-विजय के पश्चात् रामचन्द्र, लक्ष्मण आदि ने भी उसके दर्शन किये थे।

साहित्य में ई० पू० ६०० से पहले के मन्दिरों के उल्लेख मिलते हैं। भगवान् पार्श्वनाथ के काल में किसी कुबेरा देवी ने एक मन्दिर बनवाया था, जो बाद में देव-निर्मित बोद्ध स्तूप कहा जाने लगा। यह सातवे तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के काल में सोने का बना था। जब लोग इसका सोना निकाल कर ले जाने लगे, तब कुबेरा देवी ने इसे प्रस्तर खण्डो और ईंटो से ढक दिया। (विविध तीर्थकल्प-मथुरापुरीकल्प)। स्थापत्य की इस अनुपम कलाकृति का उल्लेख ककाली टीला (मथुरा) से प्राप्त भगवान् मुनिसुव्रत की द्वितीय सदी की प्रतिमा की चरण-चौकी पर अंकित मिलता है।

भगवान् पार्श्वनाथ के पश्चात् दन्तिपुर (उड़ीसा) नरेश करकण्डु ने तेरापुर गुफाओं में गुहा-मन्दिर (लयण)

बनवाये और उनमें पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर की पाषाण प्रतिमा विराजमान कराई। ये लयण और प्रतिमा अब तक विद्यमान हैं। 'करकण्डुचरित' आदि ग्रन्थों के अनुसार तो ये लयण और पार्श्वनाथ प्रतिमा करकण्डु नरेश से भी पूर्ववर्ती हैं।

आवश्यक चूर्ण, निशीथचूर्ण, वसुदेव हिण्डी, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित आदि ग्रन्थों में एक विशेष घटना का उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार है—

'सिन्धु भौवीर के राजा उदायन के पास जीवन्त स्वामी की चन्दन की एक प्रतिमा थी। यह प्रतिमा भगवान महावीर के जीवन-काल में ही बनी थी। इसलिए उसे जीवन्त स्वामी की मूर्ति कहते थे। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत ने अपनी एक प्रेमिका दासी के द्वारा यह मूर्ति चोरी से प्राप्त कर ली और उसके स्थान पर तदनु रूप काष्ठमूर्ति स्थापित करा दी थी।

किन्तु यह मूर्ति किसी देवालय में विराजमान थी, ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

आश्चर्य है कि पुरातत्त्व वेत्ताओं ने अभी तक इन मन्दिरों और मूर्तियों को स्वीकृति प्रदान नहीं की।

मूर्ति-निर्माण का इतिहास

पुरातत्त्ववेत्ताओं की धारणा है कि प्रारम्भ में मूर्तियाँ मिट्टी की बनाई जाती थीं। बहुत समय तक इन मृण्मूर्तियों का प्रचलन रहा। उत्खनन द्वारा जो पुरातत्त्व सामग्री उपलब्ध हुई है उसमें इन मृण्मूर्तियों का बहुत बड़ा भाग है। हड़प्पा, कौशाम्बी, मथुरा आदि में बहुसंख्या में मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। किन्तु मृण्मूर्तियाँ अधिक विरम्यायी नहीं रहती थीं। अतः मृण्मूर्तियाँ भी स्थायित्व की दृष्टि से असफल रही; तब पाषाण की मूर्तियाँ निमित होने लगीं।

प्रारम्भ में पाषाण-मूर्तियाँ किसी देवता या तीर्थङ्कर की नहीं बनाई गईं, बल्कि यक्षों की पाषाण-मूर्तियाँ प्रारंभ में बनाई गईं। इस काल में पाषाण में तक्षण-कला का विकास नहीं हुआ था। अतः यक्षों की जो प्रारम्भिक पाषाण-मूर्तियाँ मिलती हैं, उनमें सौंदर्य-बोध का प्रायः अभाव है। एक प्रकार से ये मूर्तियाँ बेडौल हैं, मानों किन्हीं नौसिविये हाथों ने इन्हें गढ़ा हो। मथुरा में कंकाली टीला, परखम आदि स्थानों से इसी प्रकार की विशालकाय बेडौल यक्ष-

मूर्तियाँ मिली हैं। यह कहा जा सकता है कि मृण्मूर्तियों में तो कला के दर्शन होते हैं, किन्तु इन प्रारम्भिक यक्ष प्रतिमाओं में कला नाम की कोई चीज नहीं मिलती। मृण्मूर्तियों में कला का विकास शनैः-शनैः हुआ। इसलिए पाषाण-मूर्तियों के प्रारम्भिक निर्माण काल में भी मृण्मूर्तियों में वैविध्य के दर्शन होते हैं। स्त्री-पुरुषों के अलंकृत केश-विन्यास, पशु-पक्षियों के रूप, पंचशर कामदेव, विभिन्न मुद्राओं में स्त्रियों के नाना विध रूप इन मृण्मूर्तियों की विशेषता है। दूसरी ओर पाषाण-मूर्तियाँ प्रारम्भ में अविकसित रूप में दीख पड़ती हैं।

पुरातत्त्ववेत्ताओं के मत में लोहानीपुर (पटना का एक मुहल्ला) में नाना खोदते समय जो तीर्थङ्कर-प्रतिमा उपलब्ध हुई है, वह भारत की मूर्तियों में प्राचीनतम है। यह आजकल पटना म्यूजियम में सुरक्षित है। इसका सिर नहीं है। कुहनियों और घुटनों से भी खण्डित है। किन्तु कन्धों और बाहों की मुद्रा से यह खड्गासन सिद्ध होती है तथा इसकी चमकीली पालिश से मौर्य काल (३२०-१८५ ई० पूर्व) की माना गया है। हड़प्पा में जो खंडित जिन प्रतिमा मिली है, उससे लोहानीपुर की इस जिन-प्रतिमा में एक अद्भुत सादृश्य परिलक्षित होता है और इसी सादृश्य के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय मूर्ति-कला का इतिहास वर्तमान मान्यता से कहीं अधिक प्राचीन है। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला गया है कि देव-मूर्तियों के निर्माण का प्रारम्भ जैनो ने किया। उन्होंने ही सर्वप्रथम तीर्थङ्कर मूर्तियों का निर्माण करके धार्मिक जगत को एक आदर्श प्रस्तुत किया। उन्हीं के अनुकरण पर शिव-मूर्तियों का निर्माण हुआ। विष्णु, बुद्ध आदि की मूर्तियों के निर्माण का इतिहास बहुत पश्चात्कालीन है।

एक अन्य मूर्ति के सम्बन्ध में उदयगिरि की हाथी गुफा में एक शिलालेख मिलता है। इस शिलालेख के अनुसार कलिंग नरेश खारवेल मगध नरेश बृहसतिमित्र को परास्त करके छत्र-भृङ्गारादि के साथ 'कलिंग जिन ऋषभदेव की वह मूर्ति वापिस कलिंग में लाये थे जिसे नन्द सम्राट् कलिंग से पाटलिपुत्र ले गये थे। सम्राट् खारवेल ने इस प्राचीन मूर्ति को कुमारी पर्वत पर अर्हत्प्रासाद बनवा-

कर विराजमान किया था। इस ऐतिहासिक शिलालेख की इस सूचना को अत्यन्त प्रामाणिक माना गया है। इसके अनुसार मौर्य काल से पूर्व में भी एक मूर्ति थी, जिसे 'कलिग-जिन' कहा जाता था। 'कलिग-जिन' इस नाम से ही प्रगट होता है कि सम्पूर्ण कलिगवासी इस मूर्ति को अपना आराध्य देवता मानते थे। नन्द सम्राट् इसे अपने साथ केवल एक ही उद्देश्य से ले गये थे और वह उद्देश्य था कलिग का अपमान। लगभग तीन शताब्दियों तक कलिगवासी इस अपमान को भूले नहीं और अपने राष्ट्रीय अपमान का प्रतीकार कलिग सम्राट् खारवेल ने किया। वह मगध की विजय करके अपने साथ अपने इस राष्ट्र-देवता की मूर्ति को वापिस ले गया। किन्तु यह कितने आश्चर्य की बात है कि अब तक एक भी पुरातत्व-वेत्ता और इतिहासकार ने इस ऐतिहासिक मूर्ति के सम्बन्ध में कोई खोज नहीं की। आखिर ऐसी ऐतिहासिक मूर्ति कुमारी पर्वत से कब किस काल में किसने कहाँ स्थानान्तरित कर दी? यदि यह मूर्ति उपलब्ध हो जाय तो इससे लोहानीपुर की मूर्ति को प्राचीनतम मानने वाले पुरातत्ववेत्ताओं के मत को न केवल असत्य स्वीकार करना पड़ेगा, वरन् मूर्ति निर्माण का इतिहास और एक-दो शताब्दी प्राचीन मानना होगा। कुछ अनुसन्धानकर्ता विद्वानों की धारणा है कि जगन्नाथपुरी की मूर्ति ही वह 'कलिग-जिन' मूर्ति है। किन्तु इस सम्बन्ध में अभी साधिकार कुछ कहा नहीं जा सकता।

इसके पश्चात् शक-कुषाण काल में मूर्ति कला का द्रुत वेग से विकास हुआ। इस काल में भी सर्वप्रथम तीर्थंकर मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। मथुरा इस काल में मूर्ति कला का केन्द्र था। तीर्थंकर मूर्तियों में भी अधिकांशतः पद्मासन ही बनाई जाती थीं। इस काल की तीर्थंकर मूर्तियों के वक्ष पर श्रीवत्स लाछन और अष्ट प्रातिहार्य का प्रचलन प्रायः नहीं दीखता। तीर्थंकर मूर्तियों में अलंकरण का भी अभाव था। मूर्तियों की चरण-चौकी पर अभिलेख अंकित करने की प्रथा का जन्म हो चुका था। जिस वोद स्तूप की चर्चा ऊपर आ चुकी है, उसकी सूचना भी भगवान् मुनिसुव्रतनाथ की चरण-चौकी के अभिलेख से ही मिलती है। इस काल की तीर्थ-

ंकर प्रतिमाओं का अध्ययन करने पर एक बात की ओर ध्यान आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता। ईसा की इन प्रथम द्वितीय शताब्दियों में भी आदिनाथ, शान्तिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि तीर्थंकरों के समान जनता में नेमिनाथ की भी मान्यता बहुप्रचलित थी। इस काल की भगवान् नेमिनाथ की तीन प्रतिमायें विभिन्न स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। एक में नेमिनाथ पद्मासन लगाये ध्यान-मुद्रा में अवस्थित है और उनके दोनों ओर बलराम और कृष्ण खड़े हैं। दोनों ही द्विभुजी हैं। दूसरी प्रतिमा में ध्यानमग्न नेमिनाथ के एक ओर शेषनाग के अवतार के रूप में चतुर्भुजी बलराम खड़े हैं। उनके सिर पर शेषनाग का प्रतीक फण-मण्डप है। दूसरी ओर विष्णु के अवतार के रूप में चतुर्भुजी कृष्ण खड़े हैं। उनके हाथों में चक्र, पद्म आदि सुशोभित हैं। तीसरी मूर्ति अर्धभग्न है। इसमें नेमिनाथ ध्यानावस्थित है। एक ओर बलराम खड़े हैं। इनका हल-भूसल उनके कन्धे पर विराजित है। इन मूर्तियों की प्राप्ति पुरातत्व की महान् उपलब्धि मानी जाती है। इससे नारायण कृष्ण की ऐतिहासिकता के समान उनके चचेरे भाई भगवान् नेमिनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष मानने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

इस काल में तीर्थंकर प्रतिमाओं के अतिरिक्त आयागपट्ट, स्तूप, यक्ष-यक्षी, अजमुख हरिनैगमेशी, सरस्वती, सर्वतोभद्रिका प्रतिमा, मार्गलिक चिह्न, धर्मचक्र, चैत्य-वृक्ष आदि जैन कला की विविध कृतियों का भी निर्माण हुआ। इन कलाकृतियों के वैविध्य और प्राचुर्य से प्रभावित कुछ विद्वान् तो यह भी मानने लगे हैं कि जैन मूर्ति-पूजा का प्रारम्भ ही मथुरा से हुआ है। यद्यपि यह सर्वा-शतः सत्य नहीं क्योंकि जैन मूर्तियों और मूर्ति-पूजा के प्रमाण इससे पूर्व काल में भी उपलब्ध होते हैं। इतना अबश्य माना जा सकता है कि जैन धर्म का प्रचार करने और उसे लोकप्रिय बनाने में मथुरा की जैन कला का विशेष योगदान रहा है।

मथुरा की तीर्थंकर मूर्तियों के अध्ययन से एक परिणाम सहज ही निकाला जा सकता है। दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय-भेद यद्यपि ईसा से तीन शताब्दी पूर्व हो चुका था, किन्तु उसका कोई प्रभाव मथुरा की तीर्थंकर

मूर्तियों पर नहीं दिखाई पड़ता। यहाँ तक कि श्वेताम्बरों द्वारा प्रतिष्ठित तीर्थङ्कर प्रतिमायें भी दिगम्बर ही बनाई जाती थी और यह क्रम उत्तर मध्य काल तक चलता रहा।

कुषाणकालीन तीर्थङ्कर प्रतिमाओं के साथ यक्ष-यक्षी भी प्राप्त नहीं होते। प्रतिमाओं के आजू-बाजू खड़े चमर-धारी यक्षों का भी अभाव मिलता है। इन यक्षों के स्थान पर इस काल की प्रतिमाओं में दाता उपासक, उनकी पत्नी, मुनि और आर्थिकाओं का अंकन मिलता है। जिन प्रतिमा के सिंहासन के दोनों कोनों पर एक-एक सिंह और बीच में धर्मचक्र अंकित होता है जिसके दोनों ओर मुनि, अजिका, श्रावक और श्राविका अंकित रहते हैं।

कुषाण काल के पश्चात् गुप्त काल में जैन मूर्ति कला का बहुत निखार हुआ। इस काल की मूर्तियों में सौन्दर्य पर विशेष ध्यान दिया गया। मूर्ति के अलंकरण पर बल दिया गया। अब मूर्तियों पर श्रीवत्स, लाछन और अष्ट प्रातिहार्य की योजना भी की जाने लगी। द्वि-मूर्तिकायें, त्रिमूर्तिकायें, सर्वतोभद्रिका, चतुर्विंशति तीर्थङ्कर प्रतिमायें, तीन-चौबीसी, सहस्रकूट स्तम्भ आदि की संरचना होने लगी। मूर्तियों के केश-कुतल अत्यन्त कलापूर्ण बने। आदिनाथ के जटा-जूटों के नानाविध रूप उभरे। इस काल में तीर्थङ्करों के अतिरिक्त तीर्थङ्कर-माता, तीर्थङ्करों के सेवक-सेविका के रूप में यक्ष-यक्षियों, विद्या देवियों, पंचपरमेष्ठियों, भरत-बाहुबली की मूर्तियों का निर्माण भी प्रचुरता से हुआ। इसके अतिरिक्त अष्ट मंगल द्रव्य, अष्ट प्रातिहार्य, सोलह स्वप्न, नव ग्रह, नवनिधि, मकरमुख, कीर्तिमुख, कीचक, गंगा-यमुना, नाग-नागी आदि के अंकन की परम्परा भी विकसित हुई। इस काल में देवी-मूर्तियों के अलंकार और उनकी साज-सज्जा पर विशेष ध्यान दिया गया। कुछ देवियाँ द्विभुजी, चतुर्भुजी, षड्भुजी, दशभुजी, बारहभुजी, विंशतिभुजी और चतुर्विंशतिभुजी भी मिलती हैं। देवगढ़ की बिकसित मूर्ति-कला पर गुप्त कला का प्रभाव है।

गुप्त काल के पश्चात् गुर्जर-प्रतिहार काल में तथा कलचुरि काल में श्वेताम्बर परम्परा की तीर्थङ्कर प्रति-

माओं का निर्माण प्रारम्भ हो गया। इससे पूर्व तक श्वेताम्बर प्रतिमाओं का विशेष प्रचलन नहीं मिलता। सभी जैन प्रतिमायें दिगम्बर रूप में ही बनाई जाती थी।

इस प्रकार जैन मूर्तियों के रूप, शिल्प-विधान और उनकी संरचना का एक क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। इससे उत्खनन में प्राप्त जैन मूर्तियों के काल-निर्णय में बहुत सहायता प्राप्त हो सकती है।

जैन मन्दिरों की संरचना और उनका क्रमिक विकास

मन्दिरों का निर्माण कब प्रारम्भ हुआ, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। पुरातात्विक साक्ष्यों के अनुसार जैन मन्दिरों का निर्माण-काल जैन प्रतिमाओं के निर्माण-काल से प्राचीन प्रतीत नहीं होता। लोहानीपुर, श्रावस्ती, मथुगा, आदि में जैन मन्दिरों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं, किन्तु अब तक सम्पूर्ण मन्दिर कहीं पर भी नहीं मिला। इसलिए जैन मन्दिरों का प्राचीन रूप क्या था, यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता।

किन्तु गुहा-मन्दिर और लयण ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी तक के मिलते हैं। तेरापुर के लयण, उदयगिरि-खण्डगिरि के गुफामन्दिर, अजन्ता-ऐलोरा और बादामी की गुफाओं में उत्कीर्ण जैन मूर्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि गुफाओं में मन्दिरों का रूप प्रदान कर उनका धार्मिक उपयोग ईसा पूर्व से होने लगा था। इन गुफा मन्दिरों का विकास भी हुआ। विकास का यह रूप केवल इतना ही था कि कहीं कहीं पर गुफाओं में भित्ति-चित्रों का अंकन किया गया। ऐसे कलापूर्ण चित्र सित्तल बासल आदि गुफाओं में अब भी मिलते हैं।

गुहा मन्दिरों में सामान्य मन्दिरों की अपेक्षा स्थायित्व अधिक रहा। इसलिए हम देखते हैं कि ईसापूर्व का कोई मन्दिर आज विद्यमान नहीं है, जबकि गुहा मन्दिर आज भी मिलते हैं। लगता है कि उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में मन्दिरों की सुरक्षा और स्थायित्व की ओर अधिक ध्यान दिया गया। इसके दो ही कारण हो सकते हैं। प्रथम तो यह कि दक्षिण को उत्तर की अपेक्षा मूर्ति-विध्वंसक मुसलिम आक्रान्ताओं का कोप कम सहना पड़ा। दूसरे यह कि दक्षिण में मन्दिरों की भव्यता और विशालता के साथ उसे चिरस्थायी बनाने की भावना भी

काम करती रही। दक्षिण के अधिकांश मन्दिर राजाओं, रानियों, राज्याधिकारियों और राज्यश्रेष्ठियों द्वारा निर्मित हुए, जबकि उत्तर के मन्दिरों का निर्माण सामान्य जनो ने कराया। शक कुपाणकाल के मथुरा के मूर्ति लेखों से प्रकट है कि वहाँ के आयागपट्ट, प्रतिमा और मन्दिर स्वर्णकार, वेश्या आदि ने ही बनवाये थे। ककुभग्नम का गुप्तकालीन मानस्तम्भ एक सुनार ने बनवाया था। अस्तु !

पुरातत्वज्ञों के मतानुसार महावीर काल में जिनायतन नहीं थे, बल्कि यक्षायतन और यक्ष-चैत्य थे। श्वेताम्बर सूत्र-साहित्य में किसी जिनायतन में महावीर के ठहरने का उल्लेख नहीं प्राप्त होता, बल्कि यक्षायतनों में उनके ठहरने के कई उल्लेख मिलते हैं। इन यक्षायतनों और चैत्यों के आदर्श पर जिनायतन या जिन मन्दिरों की रचना की गई, यक्ष-मूर्तियों के अनुकरण पर जिन मूर्तियाँ निर्मित हुई और यक्ष एवं नाग पूजा पद्धति से जिन मूर्तियों की पूजा प्रभावित हुई।

किन्तु दिगम्बर साहित्यिक साक्ष्य के अनुसार कर्मभूमि के प्रारम्भिक काल में इन्द्र ने अयोध्या में पाँच मन्दिरों का निर्माण किया, भरत चक्रवर्ती ने ७२ जिनालय बनवाये; शत्रुघ्न ने मथुरा में अनेक जिन-मन्दिरों का निर्माण कराया। जैन मान्यतानुसार तो तीन लोकों की रचना में कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों प्रकार के चैत्यालयों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नन्दीश्वर द्वीप के बाबन अकृत्रिम चैत्यालयों का पूजा विधान जैन परम्परा में अब तक सुरक्षित है। इसलिए यह माना जा सकता है कि जैन परम्परा में जिन चैत्यालयों की कल्पना बहुत प्राचीन है।

किन्तु पुरातत्व को ज्ञात जैन मंदिरों का प्रारम्भिक रूप विधान कैसा था, इसमें अवश्य मतभेद दृष्टिगोचर होता है। लगता है, प्रारम्भ में मंदिर सादे बनाये जाते थे। उन पर शिखर का विधान पश्चात्काल में विकसित हुआ। शिखर सुमेरु और कैलाश के अनुकरण पर बने। अनेक प्राचीन सिक्कों पर मंदिरों का प्रारम्भिक रूप देखने में आता है। मथुरा की वेदिकाओं पर मंदिरा-कृतियाँ मिलती हैं, जिन्हें विद्वानों ने मंदिरों का प्रारम्भिक रूप माना है। ई०पू० द्वितीय और प्रथम शताब्दी के मथुरा जिनालयों में दो विशेषताएँ दिखाई देती हैं— प्रथम वेदिका और द्वितीय शिखर। इस सम्बन्ध में प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी का अभिमत है कि मंदिर के चारों ओर वृक्षों की वेष्टनी बनाई जाती थी, इसे ही वेदिका कहा जाता था। बाद में यह वेष्टनी प्रस्तर निर्मित होने लगी।

विभिन्न कालों में मंदिरों के रूप और कला में विभिन्न परिवर्तन होने रहे। कला एक रूप होकर कभी स्थिर नहीं रही। समय के प्रभाव से वह अपने आपको मुक्त भी नहीं कर सकी। एक समय था, जब तीर्थकर-प्रतिमा अष्ट प्रातिहार्ययुक्त बनाई जाती थी। किन्तु आज तो तीर्थकरों के साथ अष्ट प्रातिहार्य का प्रचलन ही समाप्त हो गया है, जबकि शास्त्रीय दृष्टि से यह आवश्यक है।

१. मन्दिरों के विकास-प्रकरण में प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी के विभिन्न लेखों और डा० भागचन्द की 'देवगढ़' पुस्तक में महायता ली गई है। इसके लिए दोनों विद्वानों के प्रति हम आभारी हैं। —लेखक

अनेकान्त के ग्राहक बनिये

'अनेकान्त' जैन समाज की एकमात्र शोध-पत्रिका है। जैन साहित्य, जैन आचार्यों और जैन परम्परा का इतिहास लिखने वाले विद्वान् 'अनेकान्त' की ही सहायता लेते हैं। इसका प्रत्येक लेख पठनीय और प्रत्येक अंक सग्रहणीय होता है। प्रत्येक मन्दिर और वाचनालय में इसे अवश्य मगाना चाहिये। मूल्य केवल ६) रुपया।

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज,
दिल्ली-६

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, गोध-खोज के विद्वानों के लिए अनीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द।	१५-००
प्राप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द।	८-००
स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित।	२-००
स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुस्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित।	१-५०
अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित	१-५०
पुस्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द।	१-२५
श्रीपुरपाश्वर्नाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की रक्षित, हिन्दी अनुवाद-सहित।	७५
शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १६५ पंक्तियों की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित	१-५
समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द।	३-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और ५० परमानन्द शास्त्रों की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना में अलंकृत, सजिल्द।	४-००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	४-००
अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दी की महत्त्व की रचना, मुस्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित	१-२५
तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रोय) — मुस्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त।	१-२५
अवगवेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ।	१-२५
महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा ब्राह्मली पूजा प्रत्येक का मूल्य	१-१६
अध्यात्मरहस्य : प० आशाधर की सुन्दर कृति, मुस्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित।	१-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अवध-प्रश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द।	१२-००
न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०।	७-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द	५-००
कसायपाण्डुसुत : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णसूत्र लिखे। सम्पादक पं. हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द।	२०-००
Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द	६-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया	५-००

प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

१४/२/३

३

द्विमासिक शोध-पत्रिका

अ ने का न्त

जुलाई-अगस्त

१९७३

सम्पादक मण्डल :

डॉ० आ० ने० उपाध्ये

डॉ० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन

श्री प्रकाशचन्द्र जैन

वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली का मुख-पत्र

• ॐ अहम् •

अनेकान्त

परमाणुस्य बीज निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २६ किरण ३	व. २-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण संवत् २४६६, वि० सं० २०३०	जुलाई, अगस्त १९७३
-------------------	---	----------------------

श्रुत देवता स्तुतिः

जयत्यशेषामरमौलिखालितं सरस्वति त्वत्पदपङ्कजद्वयम् ।
हृदि स्थितं मञ्जनजाड्यनाशनं रजोविमुक्तं श्रयतीत्यपूर्वताम् ॥
अपेक्षते यन्न दिनं न यामिनीं न चान्तरं नैव बहिश्च भारति ।
न तापकुञ्जाड्यकरं न तन्महः स्तुवे भवत्याः सकलप्रकाशकम् ॥ (१५-१)

—मुनि पद्मनन्दि

हे सरस्वती ! जो तेरे दोनों चरण कमल हृदि में स्थित होकर लोगों की जड़ता (अज्ञानता) को नष्ट करने वाले तथा रज (पाप रूप धूलि) से रहित होते हुए उस जड़ और धूलि युक्त कमल की अपेक्षा अपूर्वता (विशेषता) को प्राप्त होते हैं वे तेरे दोनों चरण कमल समस्त देवों के मुकुटों से स्पर्शित होते हुए जयवन्त होंगे । हे सरस्वती ! तेरा जो तेज न दिन की अपेक्षा करता है और न रात्रि की भी अपेक्षा करता है, न अभ्यन्तर की अपेक्षा करता है और न बाह्य की अपेक्षा करता है तथा न सन्ताप को करता है और न जड़ता को भी करता है, उस समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाले तेरे तेज की मैं स्तुति करता हूँ ।

विषय-सूची

क्रम	विषय
१.	श्रुत देवता स्तुति:—मुनि पद्मनन्दि
२.	क्या चारणव्य जैन था ?— मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी 'प्रथम'
३.	दीवान हाफिज का पद्यानुवाद गुमानीराम भावसा का नहीं है— श्री अग्ररचन्द नाहटा
४.	कलकुरि काल में जैन धर्म की स्थिति— प्रो० शिवकुमार नामदेव डिंडोरी (मंडला)
५.	प्राचीन जैन श्रावक—डॉ० भिनकू यादव
६.	महायान बौद्धदर्शन में निर्वाण की कल्पना—धर्मचन्द्र जैन, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
७.	जैन धर्म में नीति धर्म और साधना— रामजीसिंह, एम०ए०
८.	बङ्गाल के जैन पुरातत्त्व की शोध में पाँच दिन—भैरवलाल नाहटा
९.	जैन तीर्थ श्रावस्ती—पं० बलभद्र जैन
१०.	कवि धनपाल - पं० परमानन्द जैन शास्त्री
११.	प्रमेय रत्नालङ्कार एक परिचय— प्रकाशचन्द्र जैन



दानियों के लिए सुनहरा अवसर

वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली द्वारा कुछ छोटी-मोटी पुस्तकों समय समय पर प्रकाशित की गई है। सभी पुस्तकों बड़ी उपयोगी तथा प्रतिष्ठित विद्वानों की देख-रेख में प्रकाशित हुई हैं।

जो सज्जन इन पुस्तकों को हम से खरीद कर निःशुल्क वितरण करना चाहते हैं, उन्हें हमने विशेष रियायत देने की योजना बनाई है। उन्हें हम ३३% प्रतिशत कमीशन देकर पुस्तकें भेज सकते हैं। आशा है समाज के दानी बन्धु इस अवसर का अवश्य लाभ उठावेंगे।

पुस्तकें निम्नलिखित हैं:—

	मूल्य
मेरी भावना	१० पैसे
महावीर जिन पूजा (सचित्र)	२० पैसे
महावीर का सर्वोदय तीर्थ	२० पैसे
सेवा धर्म	१५ पैसे
समन्तभद्र विचार दीपिका (प्रथम भाग)	२० पैसे
सरसाधु स्मरण मङ्गल पाठ	५० पैसे
अनेकान्त रस लहरी	२५ पैसे
श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र	७५ पैसे

सभी पुस्तकें श्री जुगलकिशोर मुस्तार 'युगवीर' के सम्पादकत्व में छपी हैं। लाभ लेने के इच्छुक सज्जन कृपया निम्न पते पर सम्पर्क स्थापित करें।

महासचिव
वीर सेवा मन्दिर
२१ दरियागंज, दिल्ली-६

ऐतिहासिक नई शोध

क्या चाणक्य जैन था ?

—मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी 'प्रथम'

अतीत का आधार :

अतीत श्रुति, स्मृति तथा ग्रन्थों के आधार पर जीवित रहता है। कुछ शताब्दियों तक वह श्रुति और स्मृति का आश्रय पाकर फलता फूलता रहता है और बाद में कुछ प्रबुद्ध चेता उसे ग्रन्थों की परिधि में डालकर धरोहर के रूप में संजो देते हैं। भविष्य उसका अनुसन्धान करता है और नाना फलितार्थ निकाल कर उसे सजाने सवारने का काम करता है। इस प्रक्रिया में कभी-कभी यथार्थता परतों की तह में दबी रह जाती है और कभी-कभी वह प्रकट भी हो जाती है।

श्रुति और स्मृति के आधार पर चलने वाले अतीत के सन्दर्भ में कई बार वक्ता की कुशलता के परिणामस्वरूप भी यथार्थता पर सघन वातावरण पड़ जाता है, जिसे दूर करने में अत्यन्त श्रम अपेक्षित हो जाता है। वह अपने वाक्-चातुर्य तथा तत्कालीन परिस्थितियों के समावेश से नया ही रंग दे देता है। मूल जहाँ का तहाँ रह जाता है। कुछ समय बाद वहाँ स्व की मान्यता का रूढ़ आग्रह तथ्यों को मुठलाता ही जाता है, जो तटस्थता का सर्वथा प्रति-रोधी होता है। ऐसा ही कुछ जैन परम्परा के इतिहास के साथ हुआ है। भगवान् महावीर से वर्तमान तक अनेक शताब्दियाँ ऐसी बीती हैं, जो जैन इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों की हृदयभू साक्षी हैं, पर उन्हें स्वीकार करने के लिये वर्तमान युग के विद्वान् प्रस्तुत नहीं हैं। ढाई अजार वर्ष की इस अवधि में जैन परम्परा में सैकड़ों-हजारों प्रभावक आचार्य, मुनि तथा श्रावक हुए हैं, जिन्होंने न केवल धार्मिक क्षेत्र में, अपितु राजनैतिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में नये कीर्तिमान स्थापित कर इतिहास को नया मोड़ दिया है, पर वह सब कुछ समय की परतों में दबता गया

है। जैन विद्वान् इस ओर उदासीन रहे। इसी बीच सम्प्रदायवाद की प्रधानता देकर चलने वाले कुछ विद्वानों ने अवसर का लाभ उठाया और जैन इतिहास की स्वर्णिम घटनाओं को भाण्डागारों की परतों में दबाने में वे सफल हो गये।

वर्तमान युग जैन विद्वानों में नये मृजन तथा अतीत के अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है। पर, अपने अनेकान्त दृष्टिकोण को सुरक्षित रखते हुए वे इस दिशा में अग्रसर हो। साम्प्रदायिक व्यामोह में पड़कर तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर अभिलषित मजिल को पाने का प्रयत्न उन्हें नहीं करना है और न उपलब्ध ठोस प्रमाणों को प्रस्तुत करते हुए कतराने की भी अपेक्षा है। सत्य-प्राप्ति और उसकी अनुभूति का हमारा लक्ष्य है और उसी ओर चरण-न्यास पुनीत कर्तव्य है।

ऐतिहासिक सत्य की समीपता :

इतिहास का विद्यार्थी रहा हूँ, अतः प्रत्येक घटना को उसी सूक्ष्म दृष्टि से देखने की वृत्ति हो गई है। जब तक सही निष्कर्ष उपलब्ध नहीं हो जाता, अनुसन्धान की प्रक्रिया चालू ही रहती है। साम्प्रदायिक मान्यताओं को ग्रहमन्यता न देकर यथार्थता पाने की ही सदा सजग रहा हूँ। प्रस्तुत उपक्रम में भी कुछ ऐसे तथ्यों की ओर विद्वानों की दृष्टि आकर्षित करना चाहूँगा, जो अनुसन्धान के परि-वेश में अभी तक समाविष्ट नहीं हो पाये हैं। मैं केवल प्राप्त प्रमाणों को समुद्धृत करना ही चाहूँगा और विद्वानों से अपेक्षा रखूँगा कि वे पक्ष तथा द्विपक्ष में जो भी ठोस प्रमाण हों, प्रस्तुत करने का उपक्रम करे, जिससे हम ऐतिहासिक सत्य के समीप पहुँच सकें।

सन् ६८-६९ में मेरा चातुर्मास-प्रवास जयपुर में था।

उन्ही दिनों "राजस्थान इतिहास कांग्रेस" का तृतीय अधिवेशन वहाँ हो रहा था। मैंने भी उस समायोजन में 'राजस्थान के जैन साहित्य का एक ऐतिहासिक अवलोकन' शीर्षक से शोध-पत्र पढ़ा। प्रसंगोपरान्त उसमें एक उल्लेख था, सम्राट् चन्द्रगुप्त जैन थे। प्रश्नोत्तर काल में विद्वानों ने सबसे अधिक इसी पहलू को अपना केन्द्र बनाया। विचार चर्चा सरसता के साथ कुछ लम्बी हो रही थी, अतः यह निर्णय रहा, इस पहलू पर कभी स्वतन्त्र रूप से चर्चा की जाये। कुछ ही दिनों बाद राजस्थान विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग की ओर से एक संगोष्ठी का आयोजन हुआ, जिसका विषय रखा गया, "सम्राट् जैन या हिन्दू?" एक घण्टे के मेरे भाषणोपरान्त डेढ़ घण्टे की सरस प्रश्नोत्तरी चली। विषय का पूर्ण मन्थन हुआ। विभागाध्यक्ष डॉ० जी० सी० पाण्डे ने उपसंहार भाषण में कहा— "मुनिश्री द्वारा प्रस्तुत तर्कों को खण्डित करने के लिये तीन चार वर्ष के गहरे अनुसन्धान की अपेक्षा होगी। उसके अनन्तर भी मुनिश्री के तर्कों का समाधान हम दे पाने में सफल हो पायेंगे, यह भी संदिग्ध है।"

मेरा भी अपना अध्ययन चलता रहा। पक्ष विपक्ष के प्रमाणों पर तटस्थ समीक्षा करता रहा। मन में विश्वास था, सम्राट् चन्द्रगुप्त जैन थे, महामात्य चाणक्य जैन नहीं था। यह मेरे अध्ययन की धुरी थी। पर, कहना होगा, चन्द्रगुप्त के जैनत्व को प्रमाणित करने के उपक्रम में चाणक्य भी परम्परागत जैन था, ये प्रमाण भी उपलब्ध होने लगे। मैं उन्हें एकत्र करने लगा। अनेक प्रमाणों की उलब्धि ने सहज ही प्रस्तुत निष्पत्ति की ओर अग्रसर कर दिया। समीक्षणीय दृष्टि से उन्हें प्रस्तुत करते हुए विशेष हर्षानुभूति है। इसी के साथ चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, सातवाहन आदि नरपतियों के जैनत्व के बारे में भी यथासमय तथा यथाप्रसंग तर्कणा की जायेगी।

परम सन्तोषी तथा तत्त्वज्ञानी :

जैन साहित्य में चाणक्य के जीवन-प्रसंग प्राचीनता की दृष्टि से आवश्यक जूँट (पृ० ५६३ से ५६५) में प्राप्य हैं। यद्यपि विशेषावश्यक भाष्य में भी उल्लेख है, किन्तु वहाँ जीवन प्रसंगों के अभाव में धार्मिक अनुबन्ध के बारे में

प्रामाणिकता से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आवश्यक जूँट की कथावस्तु स्पष्ट है, अतः उसके आधार पर दृढ़ता से कहा जा सकता है, चाणक्य परम्परागत जैन होने के साथ-साथ तत्त्वज्ञान सम्पन्न तथा परम सन्तोषी श्रावक था।^१ उसके पिता भी परम श्रावक थे।^२ संक्षेप में उस कथावस्तु का सार इस प्रकार है—गोल देश में चणक ग्राम था। चणी बाह्याण वहाँ का प्रवांक्षी था। वह श्रावक था। उसके घर जैन श्रमण ठहरे। उन्ही दिनों चणी के घर एक पुत्र का जन्म हुआ। उस बालक में विचित्रता थी। जन्म से ही उसके दाँत समुद्रगत थे। चणी ने बालक को श्रमणों के चरणों में प्रस्तुत करते हुए प्रश्न किया— 'सदन्त बालक का भविष्य कैसा होगा?' श्रमण ने कहा— "यह बालक के राजा होने की सूचना है।" चणी का चिन्तन उधरा, राजा को राज्य के संरक्षण में अनेक प्रकार के पाप-कार्य करने होते हैं। पापकारी कार्यों का परिणाम आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्गति है। मेरा पुत्र दुर्गतिगामी न हो, इस अभिप्राय से उसने दाँत घिस दिये। चणी ने श्रमण से पुनः प्रश्न किया तो श्रमण ने कहा— "अब यह विम्बा-न्तर्गत राजा होगा।"

बालक का नाम चाणक्य रखा गया। शिशु की देहली को पार कर जब उसने किशोरावस्था में प्रवेश किया, चौदह प्रकार की विद्याओं का अध्ययन किया। तत्त्व-ज्ञान में भी वह प्रवीण हुआ। वह श्रावक बना तथा परम सन्तोषी जीवन जीने लगा।

इसी सदर्भ में चाणक्य की पत्नी के पीहर में अपमान, राजा नन्द की सभा में चाणक्य का गमन, दासी द्वारा अपमान, चाणक्य द्वारा नन्द साम्राज्य के उन्मूलन की प्रतिज्ञा, मौर्य सन्निवेश में चन्द्रगुप्त की माता के चन्द्रपान के दोहद की पूर्ति, चन्द्रगुप्त का अविग्रहण, राजा पर्वत के साथ मैत्री, राजा नन्द के साथ युद्ध, नन्द का पतन, नन्द की राजकुमारी का चन्द्रगुप्त के साथ विवाह

१. उद्युक्क बाल मावेण चौहस विजाठाणाणि आगमि-याणि, सोवि सावओ संतुट्ठे—पृ० ५६३

२. चाणक्ये गोख्ख विसए चणिएगामो, तत्थ चणिएओ माहणो, सो य सावओ।—पृ० ५६३

राजा नन्द के विश्वासपात्र व्यक्तियों का क्रमशः उच्छेद, कोश की अभिवृद्धि आदि का विस्तृत वर्णन है। प्रत्येक घटना में चाणक्य की दूरदर्शिता पूर्ण कूटनीति के वहाँ स्पष्ट दर्शन होते हैं।

जैन श्रमणों का चाणक्य के पिता के घर प्रवास करना इस तथ्य की पुष्टि है कि चण्णी जैन धर्म में परम निष्ठा रखने वाला विशिष्ट श्रावक था। जिस गृहस्थ के मकान में जैन श्रमण प्रवास करते हैं, उसे “शय्यातर” कहा जाता है। शय्यातर का सुयोग श्रावकों में से भी किसी विरल व प्रमुख को ही मिलता है। चण्णी को अपने ग्राम के श्रावकों में अग्रगण्यता से चाणक्य का जैन धर्म में संस्कारित होना नैसर्गिक था।

चाणक्य में जहाँ धार्मिक संस्कार पितृक परम्परा से आये, वहाँ उसने तत्त्व-ज्ञान के अर्जन, संरक्षण व संवर्धन से उसमें अभिवृद्धि भी की। त्रय-वारक श्रावक का जहाँ महत्त्व है, वहाँ तत्त्वज्ञान सम्पन्नता उसकी विशिष्टता को विशेष निखार देती है। चाणक्य श्रावक होने से परम सन्नोधी तथा तत्त्वज्ञान में पारंगत भी था।

आवश्यक मलयगिरि वृत्ति आवश्यक चूर्णि के प्रति-पाद्य को विशेष पुष्ट करती है। वहाँ कथानक की समानता है, किन्तु चण्णी के श्रावकत्व को संदर्शित करने वाला एक विशेषण विशेषतः प्रयुक्त किया गया है। वहाँ कहा गया है—“चण्णी ब्राह्मण जीव-अजीव आदि नव-तत्त्वों का ज्ञाता था।”^१

चाणक्य के बारे में वहाँ कहा गया है—“वह चौदह प्रकार की विद्याओं एवं तत्त्वज्ञान में निष्णात परम

१. (क) तत्स घरे साहू ठिया। —आवश्यक चूर्णि,

पृ० ५३१ अ०

(ख) नीसेस पुरिसलक्ष्ण विद्याणा सूरिणो घरे तत्स कहवि बिहारवसाओ ठिया सुओ तत्थ सृजाओ।

—उपदेश पद, पृ० १०६ अ०

२. तत्थ चणितो माहणो, सो अवगय जीवाजीव उवलद्ध पुप्फ पावासव संबर निजराहिरण बन्धपमोक्क कुसलो।—पृ० ५३१

सन्नोधी श्रावक था।”^१

श्रावकत्व तथा निर्विण्णता :

आचार्य हरिभद्र सूरि ने “उपदेशपद” में चाणक्य के जीवन-प्रसंगों पर विस्तार से अनुचिन्तन किया है। उन्होंने वहाँ प्रत्येक घटना के हार्दिक उद्घाटित किया है। वहाँ चाणक्य के पिता चण्णी का श्रावक^२ होना तथा उसके घर पर समस्त पुरुष-लक्षणों के विज्ञाता साओ का प्रवासी होना उल्लिखित है। दन्त-घर्षण की कथा के अनन्तर चाणक्य के बारे में उन्होंने अपना अभिमत व्यक्त किया है—“कैशोर्य में प्रविष्ट होते ही वह अध्ययन में निष्णात हुआ। श्रावकत्व को स्वीकार किया और निर्विण्ण हुआ। वह परम सन्तुष्ट तथा आनन्दित था। निष्ठुर सावद्य कार्यों के परित्याग में वह उत्सुक रहता था।

चाणक्य का श्रावकत्व, निर्विण्णता तथा सावद्य कार्यों से उपरति की सूचना जैन परम्परा की सबल घोषक है।

आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक चूर्णि की कथावस्तु को समग्रता प्रदान की है। आवश्यक चूर्णि में चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण तथा अवधबाध राज्य संचालन में चाणक्य की कूटनीतिक सफल घटनाओं का ही आकलन है। चाणक्य के कैशोर्य की घटनाओं के अतिरिक्त जीवन के अन्य प्रसंगों में अधिकांशतः मौन ही साधा गया है। किन्तु आचार्य हरिभद्र सूरि ने इस अभाव को भरा है। उन्होंने समग्र जीवन पर एक अवलोकन प्रस्तुत किया है। इससे अनेक नवीन रहस्यों का उद्घाटन हो जाता है।

संघ-पालक तथा संघ-हित-चिन्तक :

आचार्य सम्भूत विजय^३ के समय एक बार भयङ्कर

१. उमुक्क बालमाधेण चौहसवि विज्जाठाराणि प्राण-मियाणि, सोष सावगो संतुटो।—पृ० ५३१

२. नामेण चण्णी तत्थासि माहणो सावगो सो य।

—पृ० १०६ अ०

३. पट्टियाणि सावगतं पट्टिवन्नो भावन्नो निवन्नो।

अणुलुब्धा अइमद्दय माहणवसुग्गया तेण ॥८

परिणीया एण कल्ला य संतुटु माणसो घणियं।

बिद्धइ निट्ठुर सावज्जकज्ज परिवज्जणुज्जुतो। ९

—पृ० १०६ अ०

४. अनुवंशपूर्वों आचार्य यशोभद्र के उत्तरवर्ती तथा आचार्य मन्त्रबाहु के पूर्ववर्ती आचार्य सम्भूत विजय से ये भिन्न हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व में इस प्रसंग पर आचार्य सुस्थित का उल्लेख किया है। वहाँ कहा गया है—“आचार्यः सुस्थितो नाम चन्द्रगुप्तपुरेव्यसत्।”

दुष्काल पड़ा। साधुओं को आहार-प्राप्ति दुर्लभ हो गई। आचार्य सम्भूत विजय वृद्ध थे, अतः वे सुदूरवर्ती प्रदेश की ओर प्रस्थान न कर सके। किन्तु अन्य शिष्यों को उन्होंने समुद्र के तटवर्ती प्रदेश में भेज दिया, जहाँ कि सुमिक्ष था। दो बालक साधुओं ने भी अन्यत्र विहार के लिये प्रस्थान किया, किन्तु गुरु-भक्ति से प्रेरित होकर वे वापस आ गये। आचार्य सम्भूत विजय किसी समय भावी आचार्य को मन्त्र-तन्त्र विद्या का ज्ञान प्रदान कर रहे थे। दूर बैठे हुए बालक साधुओं ने भी उन्हें सुनकर उनका गुप्त अभ्यास कर लिया। आहार की अप्राप्ति से खिन्नता होने लगी। आचार्य सम्भूत विजय जो भी आहार मिला, उससे पहले शिशु साधुओं को सन्तुष्ट करते। बचा-खुवा स्वयं खाते। पर्याप्त आहार की अप्राप्ति से उनका शरीर क्षीण होने लगा। बालक साधुओं को चिन्ता हुआ। आहार-प्राप्ति का उन्होंने अन्य प्रकार खोज निकाला। मन्त्र-बल से वे राजा चन्द्रगुप्त के यहाँ पहुँच जाते और उसके लिये परोसे गये भोजन का गुप्त रीति से सहरण कर लेते। साधु तृप्त हो जाते, किन्तु राजा चन्द्रगुप्त सदैव भूखा रह जाता। भूख से उसका भी शरीर कुश होने लगा। एक दिन चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से प्रश्न किया तो उसने बताया, मेरे लिये परोसे हुए थाल से भोजन का सहरण होता है। भूख के कारण कुशता तथा दुर्बलता बढ़ती जा रही है।

चाणक्य ने सूझ-बूझ से काम लिया। उसने रासायनिक प्रयोग के माध्यम से साधुओं का छद्म जान लिया। आचार्य सम्भूत विजय को निवेदन करने के अभिप्राय से वह उपाश्रय में आया। उसने साधुओं को साधिकार उपा-लम्भ दिया। आचार्य सम्भूत विजय ने प्रतिवाद में चाणक्य को कहा—“तेरे जैसे संघ-पालक के होते हुए भी यदि धृष्टा से पीड़ित होकर ये साधु धर्मच्युत होते हैं तो यह तेरा ही अपराध है, अन्य किसी का नहीं।”^१

प्रांजलिपुट होकर चरणों में गिरते हुए चाणक्य ने अपना अपराध स्वीकार किया और निवेदन किया—“मेरे

१—जात गुरुणा मणिगो तद्द सासणपालो सते । १२६

ए ए छुहापरद्धा निद्धम्मा होउमेरिसायारा ।

जो जाया सो सब्बो तवावरा हो न अन्नस्त । १२७

—पृ० ११३ अ०

अपराध को क्षमा करे। अब से प्रवचन (संघ) की सारी चिन्ताओं का निर्वहन मैं करूँगा।”^२

आचार्य सम्भूत विजय का चाणक्य को संघ-पालक के रूप में सम्बोधित करना तथा चाणक्य द्वारा प्रवचन (संघ) की सारी चिन्ताओं का भार अपने पर लेना, मात्र औपचारिकता का ही सूचक नहीं है, अपितु जैन परम्परा के साथ प्रगढ़ता की गहरी अभिव्यक्ति है।

‘इगिनी मरण’ अनशन :

कथा के विस्तार में आचार्य हरिभद्र ने चाणक्य की अन्तिम जीवन भाँकी की प्रस्तुति भी बहुत रोचकता से की है। उसमें रहे हुए तथ्य चाणक्य के जैनत्व की पुष्टि में विशेष हेतुभूत हो जाते हैं। चाटुकारों तथा चुगलों ने राज-माता की हत्या के कृत्रिम अभियोग द्वारा बिन्दुसार को चाणक्य के प्रति अमित तथा विमुख कर दिया। चाणक्य उस समय तक वृद्ध हो चुका था। उपेक्षित तथा अपमानित जीवन जीना उसकी प्रकृति के विरुद्ध था। उसने जीवन की प्राप्ति और मृत्यु के भय से उपराम लेने का निश्चय किया। “सभी स्वजनों से क्षमा-याचना कर तथा स्वयं को जिनेन्द्र धर्म में नियोजित कर वह अरण्यवर्ती गोकुल में में पहुँचा। वहाँ उसने ‘इगिनी^३ मरण’ अनशन आरम्भ कर दिया।”^३

राजा बिन्दुसार को धाय-माता के द्वारा चाणक्य की यथार्थता का जब ज्ञान हुआ, उसे बहुत पश्चात्ताप हुआ। वह चाणक्य को पुनः राज्य में लौटने के लिये तथा पूर्ववत् राज्य-धुरा का वहन करने के लिये अनुनय करने के लिये गोकुल में पहुँचा। अपने अपराध की क्षमा माँगी तथा महामात्य का सम्मानित पद स्वीकार करने के लिये आग्रह करने लगा। चाणक्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा—“सब प्रकार

१—अगो पाएशु इमो खामह अवराहमेगमेयमे ।

एत्तो पमिई सव्वा बिता मे पवयणस्सावि । १ पृ० ११३

२—चतुर्विध आहार के प्रत्याख्यान पूर्वक अनशन के समय आरक्षित क्षेत्र से बहिर्गमन न करना ।

३—खामिस्ता सयणज्जणं जित्तिवधम्मं निजोज्जिऊणं च ।

रण्णो गोउलठाणो इंगिणिमरणं पवणो सो ॥ १५१

—पृ० ११३ अ०

के सगों से विप्रमुक्त होकर मैंने आजीवन अनशन^१ स्वीकार कर लिया है। राज्य से मेरा अब क्या प्रयोजन ?”

चाटुकार और पिशुन अमात्य मुबन्धु के द्वारा अपने विरोध में की गई सारी धूर्तता को चाणक्य जानता था, पर उसने उस सम्बन्ध में राजा बिन्दुसार से कोई उल्लेख नहीं किया।^२

निराश राजा बिन्दुसार राजमहल में लौट आया। उसका मन खिन्न रहने लगा। अमात्य मुबन्धु ने सोचा, राजा का आकर्षण चाणक्य के प्रति बढ़ रहा है। कहीं ऐसा न हो जाये कि मेरी कलाई खुन जाये। उसने भी अवसर का लाभ उठाते हुए राजा से विज्ञप्ति की, यदि आपका आदेश हो तो महामात्य चाणक्य को प्रसन्न कर मैं राजधानी ले आऊँ। राजा बिन्दुसार ने उसे आदेश प्रदान कर दिया। उसका अन्य षड्यन्त्र भी सफलता की ओर बढ़ गया। मुबन्धु ने धूप से चाणक्य का सम्मान किया और उसके चारों ओर फैले उपलों में उसे (धूप को) डाल दिया। उपलों ने आग पकड़ ली। वे धधकने लगे और चाणक्य के शरीर को परितप्त करने लगे।

अन्तिम आत्मालोचन :

आचार्य हरिभद्र सूरि ने उस समय के चाणक्य के विशुद्ध गिरणामो का बहुत ही हृदयग्राही विवेचन किया है। उस विवेचन में जैनत्व के गहरे स्स्कारों की स्पष्ट झलक है। उन्होंने लिखा है:—“उस समय चाणक्य की शुद्ध लक्ष्मी थी। धार्मिक अनुचिन्तन में वह अनुरक्त था। वह सर्वथा अचल था। अग्नि में सुलगते हुए भी उसका मन अनुकम्पा से ओत-प्रोत था। उस समय वह अध्यात्म में पूर्णतः लीन हो रहा था। उसके विचार उभर रहे थे वे प्राणी धन्य हैं जिन्होंने अनुत्तर मोक्ष स्थान को प्राप्त किया है। वे किसी प्राणी के लिये दुःखद नहीं होते। मेरे जैसे प्राणी बहुत प्रकार के आरम्भ-समारम्भ में आसक्त रहते हुए अपना जीवन पाप में ही व्यतीत करते हैं।

१-परिव्रजणसणो ह विमुक्कसंगो य वट्ठापि । १५६

—पृ० ११४ अ०

२-न य नाऊण वि सिट्ठं सुबंघुद्विवलसियं तथा रओ ।

चाणक्येण पेसुसकडुविवाग मुणत्तेण ॥ १६०

—पृ० ११४ अ०

जिनेश्वर-वाणी को जानते हुए भी मोहरूप महाशय्य से मैं बीधा हुआ रहा, अतः इस जीवन और भावी जीवन के विरुद्ध मैंने अनेक प्रवृत्तियाँ की। मेरा जन्म कैसा बीता ? इस जन्म में तथा अन्य जन्मों में किसी भी प्राणी को उत्तत किया हो तो वे मुझे क्षमा प्रदान करें। मैं भी उन्हें क्षमा प्रदान करता हूँ। राज्य-संचालन के समय पापाधीन होकर मैंने जिन अधिकरणों का सग्रह किया है, त्रिकरण तथा त्रिकाग पूर्वक उनका त्याग करता हूँ।

अग्नि ज्यो-ज्यो बल पकड़ती जा रही थी, त्यो-त्यो चाणक्य का शरीर भी उसमें उत्तत हो रहा था। साथ ही साथ उसके क्रूर कर्म भी भस्मीभूत हो रहे थे। शुभ भावना युक्त परमेष्ठि पत्रक के स्मरण में अनुरक्त, अविचल, समाधि सम्पन्न उसने मृत्यु का वरण किया। स्वर्ग में वह महर्द्धिक देव हुआ।^३

भक्तपङ्कजा^२, सधारग पङ्कजा^३ तथा मरण विधि^४ भी उपरोक्त घटना तथा तथ्य की मुक्त पुष्टि करती हैं। चाणक्य का विरत होकर गोकुल में पहुँचना वहाँ ‘इगिनी मरण’ प्रायोपगमन स्वीकार करना तथा मुबन्धु (मुबुद्धि) द्वारा उसे भस्म करना आदि प्रसंगों का विशद उल्लेख है।

चाणक्य की अन्तिम जीवन भाँकी वास्तु ही बहुत मर्मस्पर्शी है। मगध के एकछत्र महामात्य को जीवन की

१-उपवेशपद, गा० १६३ से १७१ के आधार पर, पृ० ११४ अ० तथा ब०

२-गुट्ठे पाओवगओ सुबंघुणा गोमए पलिवियम्मि ।

उज्झन्तो चाणकको पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥

—मत्त पङ्कजा, गा० १६२

३-पाडलि पुत्तम्मि पुरे चाणकको नाम विस्सुओ आसि ।

सव्वारंमनिअत्तो इंगिणी मरण अह निवन्नो ॥

अणुलोम पूअणाए अह सा सत्तुं जओ उहह बेह ।

सोवि तह उज्झमाणो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठ ।

गुट्ठे पाओवगओ सुबंघुणा गोमए पलिवियम्मि ।

उज्झन्तो चाणकको पडिवन्नो उत्तमं अट्ठ

—सधारग पङ्कजा, गा० ७३-७५

४-परिणीयताए कोई, अग्नि से सञ्चत्ये पडेज्जाहि ।

पावोवगए सन्ने, जह चाणकस्स य करोसे ॥

—मरण विधि पङ्कजा, गा० ५६६

सन्ध्या में इतनी कड़वी घूँट पीने के लिये विवश होना पड़ेगा, यह कल्पना से परे का प्रसङ्ग है। किन्तु उत्थान और पतन की क्रमभावितता का अपवाद चाणक्य भी न हो सका। विवशता को भी आत्म-रति में परिणत करने की प्रक्रिया जैन साधक जानते थे। ऐसी परिस्थिति में भी जीवन से ऊँचकर पलायन करने का मार्ग वे नहीं सोच सकते थे। 'इगिनी मरण' अनशन स्वीकार कर यही आदर्श चाणक्य ने प्रस्तुत किया था। जीवित ही जब दाह ने घेर लिया, विरोधी के प्रति सम परिणाम, विशुद्ध अद्य-वसाय तथा आत्म-चिन्तन की उच्चता का जो विवेचन किया गया है, वह जैन परम्परा की एक उज्ज्वल कड़ी में गजसकुमाल, मेलार्थ आदि मुनियों के विरल उदाहरणों की तरह श्रावकों में चाणक्य का भी विशिष्ट उदाहरण बन गया है। इससे प्रतिभासित होता है, चाणक्य सामान्य श्रावक न होकर दृढधर्मा, सर्वतः धर्मानुरक्त तथा भाव श्रावक था।

दीक्षा-ग्रहण :

वृहत्कथाकोष, कथानक संख्या १४३ में आचार्य हरिषेण ने चाणक्य के जीवन-प्रसंगों का विस्तार में उल्लेख किया है। यद्यपि आचार्य हरिभद्र सूरि और आचार्य हरि-पेण द्वारा सदृश कथावस्तु में कुछ अन्तर आ जाता है, पर चाणक्य के जैनत्व में कोई अन्तर नहीं आता। आचार्य हरिषेण के अभिमतानुसार तो अपने सान्ध्यकाल में चाणक्य भागवती जैनी प्रव्रज्या^१ स्वीकार करता है तथा पाँच सौ साधुओं के साथ शुक्ल ध्यान में रमण करते हुए पादोपगमन अनशन^२ पूर्वक देहोत्सर्ग करता है। वृहत्कथा कोष के अनुसार वह घटना क्रम इस प्रकार है—“नन्द राजा को पराजित करने के अनन्तर चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने पाटलि-पुत्र का राज्य अधिगृहीत किया। लम्बे समय तक राज्य संचालन के अनन्तर चाणक्य विरक्त हुआ। जैन धर्म का

श्रवण कर उसने सब प्रकार के परिग्रह का परित्याग किया। अन्तिम समय में साधु बना। एक बार पाँच सौ साधुओं के परिवार से दक्षिणापथ में विहरण करता हुआ एक ग्रन्थ में पहुँचा। वहाँ गोकुल में कायोत्सर्ग पूर्वक ठहरा। गोकुल के पूर्व में क्रौंचपुर था। सुमित्र वहाँ का राजा था। अमात्य सुबन्धु राजा नन्द की मृत्यु के अनन्तर राजा सुमित्र की शरण में आ गया था। नन्द राज्य के पतन से सुबन्धु का चाणक्य के प्रति रोष का उभरना सहज था। वह चाणक्य के पराभव के लिये उसके दुर्बल स्थानों की खोज में था। मुनिवर चाणक्य के गोकुल में आगमन के सवाद से राजा सुमित्र को प्रसन्नता हुई। वह अभिवन्दन के लिये आया। धार्मिक पर्युपासना के अनन्तर राजा नगर में आ गया। मुनि चाणक्य ने पादोपगमन अनशन आरम्भ कर दिया। सुबन्धु ने वहाँ उपलों को सङ्गृहीत कर उनमें आग लगा दी। संयोग से सुबन्धु भी ज्वाला की चपेट में आ गया। उसकी भी वहाँ अन्त्येष्टि हो गई। चाणक्य प्रभृति पाँच सौ मुनियों ने शुक्ल ध्यान की साधना करते हुए तथा उपसर्ग को सहन करते हुए पादोपगमन युक्त समाधिमरण का वरण किया।”

परिग्रह परित्याग के साथ दीक्षा ग्रहण एवं पादोपगमन अनशन का स्वीकरण चाणक्य के जैनत्व को प्रमाणित करने के सबल आधार है।

संघ-परूष तथा प्रवचनोपहास-भीरु :

आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व, अष्टम सर्ग में चाणक्य और चन्द्रगुप्त के जीवन वृत्त पर विस्तार में विमर्षण किया है। उन्होंने चाणक्य के पिता चणो^१ ब्राह्मण तथा चाणक्य का श्रावक^२ होना स्पष्टतः स्वीकार किया है। परिशिष्ट पर्व की कथावस्तु का आधार आचार्य हरिभद्र सूरि का उपदेश ही ज्ञात होता है। अन्तर इतना ही है कि उपदेशपद की भाषा प्राकृत तथा शैली सक्षिप्त है। परिशिष्ट पर्व की भाषा प्राञ्जल सस्कृत है तथा शैली में विस्तृति है। आचार्य हेमचन्द्र ने चाणक्य को श्रावक

१-कृत्वा राज्यं चिरकालं अमिषिचयात्र तं नरम्।

श्रुत्वा जिनोवित् धर्मं हित्वा सर्वं परिग्रहम्। ७२

मतिप्रधान साध्वन्ते महर्षैराग्यसंयुतः।

दीक्षां जप्राह चाणक्यो जिनेश्वर निवेदिताम्। ७३

२-चाणक्याख्यो मुनिस्तत्र शिष्यपञ्चशतैः सह।

पादोपगमनं कृत्वा शुक्लं ध्यानमुपेयिवान्। ८३

१-बभूव जन्मप्रभृति श्रावकत्वं चणइचणो।

—अष्टम सर्ग, श्लोक १०५

२-चाणक्योपि श्रावकोभूत, सर्वविद्याधि पारगः।

अमरलोपासकत्वेन स सन्तोष धनः सदा॥

सम्बोधन के साथ २ सघपुरुष^१ प्रवचनोपहास भीरू^२ निर्भरोद्धत^३ आदि शब्दों से भी अभिहित किया है। चन्द्रगुप्त के लिये परोसे हुए थाल से भोजन के सहरण को आहार संविभाग बतला कर श्रावक के बारहवें प्रतिष्ठा संविभाग व्रत की ओर संकेत किया है। इस प्रसङ्ग पर चाणक्य ने आचार्य के उपमात में यह अभिग्रह भी ग्रहण किया था कि राज से यथावश्यक आहार, पानी, उपकरण आदि श्रमण भेरे घर से ग्रहण कर मुझे लाभान्वित करे।

संघपुरुष शब्द का प्रयोग सामान्य श्रावक के लिये नहीं होता। उसमें धार्मिक योग्यता तथा प्रभाव-सम्पन्नता अन्तर्भावित होती है। प्रवचन के उपहास से बचना तथा निर्जरा के लिये उद्यत रहना धार्मिक सजगता का ज्वलन्त उदाहरण है। आहार-ग्रहण के लिये अभिग्रहपूर्वक निवेदन करना भी जैन श्रमण संघ के साथ एकनिष्ठता का द्योतक है।

चन्द्रगुप्त का जैनत्व :

आचार्य हेमचन्द्र के अभिमतानुसार चन्द्रगुप्त को जैन बनाने में चाणक्य का महान् योगदान था। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त का केवल राजनैतिक मार्गदर्शन ही नहीं किया, अपितु धार्मिक मार्गदर्शन करके भी उसे पाण्ड्य से बचाया था। चन्द्रगुप्त सहसा धर्म परिवर्तन करना नहीं चाहता था। चाणक्य ने अश्वेष्ठ तथा श्रेष्ठ धर्म के प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत किये। चन्द्रगुप्त को जब दृढ प्रत्यय हो गया, पूर्व धर्म का परिहार कर उसने जैन धर्म को स्वीकार किया।^४

एक अवलोकन :

आवश्यक चूर्णि, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, उपदेशपद, वृहत्कथा कोष भतपरिणामा, मरण विधि, संधारण पट्टण्णा तथा परिशिष्ट पर्व आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों द्वारा एक स्वर से चाणक्य का जैनत्व स्वीकृत है। अनुसन्धाता

१—अष्टम सर्ग, श्लोक ४११

२—अष्टम सर्ग, श्लोक ४०५

३—अष्टम सर्ग, श्लोक ४५८

४—उत्पन्न प्रत्ययः सप्तान् गुरुन् मेनेय पाण्डवः

पाण्डिष्ठु विरस्तो वृद्धिबोधिव योगवित्

—अष्टम सर्ग, श्लोक ४३५

विद्वानों की सूक्ष्म दृष्टि से उपर्युक्त ग्रन्थों के ये स्पष्ट तथा मुखर अवतरण अब तक कैसे बच पाये, यह महान् आश्चर्य है।

चाणक्य के बारे में अनुचिन्तन करते हुए परित्राजकता यज्ञोपवीत, कमण्डलु, ब्राह्मणत्व आदि को तो दृष्टिगत रखा गया, किन्तु अन्य जीवन-प्रसङ्गों को नहीं। यही कारण हो सकता है कि अब तक का अनुसन्धान और उसमें फलित निष्कर्ष एकांगी ही रहे। किसी भी व्यक्ति के बारे में चिन्तन करते समय यदि समग्र पहलुओं का विश्लेषण किया जाता है तो ऐतिहासिक सत्य के समीप सुगमता से पहुँचा जा सकता है।

ब्राह्मणत्व, यज्ञोपवीत, परित्राजकता आदि जैन परम्परा के कभी भी विरोधी नहीं रहे। कहना चाहिये, ये सभी जैन परम्परा के अङ्ग बनकर रहे हैं। जैन विचार-धारा जातीयता में विश्वास नहीं करती। वह मानसिक पवित्रता को प्रधानता देती है, अतः वहाँ क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र आदि जातियों का प्रश्न ही व्यर्थ है। विगत में अनेकानेक प्रभावक आचार्य तथा विद्वान् मुनि ब्राह्मण वर्ग से दीक्षित हुए हैं।

मगध में जब से नन्दों का शासन-काल प्रारम्भ होता है, प्रथम नन्द की सूक्तबूक्त सम्पन्न एक महामात्य की उपेक्षा हुई। कल्पक पर उसकी दृष्टि केन्द्रित हुई। नन्द ने कल्पक से महामात्य-मुद्रा ग्रहण करने का अत्यन्त आग्रह किया, किन्तु धार्मिकता में अग्रणी होने के कारण उस प्रस्ताव की सर्वथा अवगणना कर वह अपने निवास पर आ गया। नन्द ने फिर भी अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा। एक विशेष घटना-प्रसङ्ग पर विवश होकर कल्पक को महामात्य मुद्रा स्वीकार करनी पड़ी। कल्पक के धार्मिक अनुबन्ध के बारे में चिन्तन करते आचार्य हरिभद्र^१ तथा आचार्य हेमचन्द्र ने उनका जैनत्व प्रमाणित किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने तो कल्पक का श्रावकत्व उसी तरह का माना है, जैसा कि सहोदर हो^२। कल्पक के पिता भी जैन

१—उपदेशपद, पृष्ठ ७३ अ० से ७७ अ० के आचार्य पर्व

२—सर्वभ्रातृकत्वेन सदा सन्तोषधारकः।

न परिग्रह नृपस्त्वन्नोरथमपि ध्यायात्।

—परिशिष्ट पर्व, सप्तम सर्ग, श्लोक २६

श्रावक^१ थे ।

नन्द वंश में क्रमशः सात नन्द राजा हुए । कल्पक की वंश-परंपरा में भी अनेक प्रजा-संपन्न व्यक्ति हुए और उन सभी ने महामात्य-मुद्रा ग्रहण की । सप्तम नन्द राजा के समय महामात्य शकडाल हुआ । उसने महामात्य-पद की गरिमा का निर्वहन करते हुए कल्पक से चली आने वाली धार्मिकता का भी सम्यक् अनुगमन किया ।^२

मगध साम्राज्य के महामात्यों की परंपरा में ब्राह्मण-त्व तथा श्रावकत्व अनुस्यूत रहा है । चाणक्य ने कल्पक वंश में जन्म न लेने पर भी श्रावकत्व को अधुष्ण रखते हुए राज्य व्यवस्थाओं का दूरदर्शिता पूर्ण संचालन किया, उपर्युक्त घटनाये इस तथ्य की विशेष साक्षी हैं ।

पौराणिक मान्यता के अनुसार यज्ञोपवीत का प्रचलन प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव के युग में प्रथम चक्रवर्ती भरत द्वारा किया गया था ।^३ उस समय तथा उसके बाद विशिष्ट श्रावक ही इसका उपयोग करते थे । आज भी बहुत सारे जैन यज्ञोपवीत का प्रयोग करते हैं । यज्ञोपवीत वैदिकत्व का ही प्रतीक नहीं है ।

श्रमण और वैदिक, दोनों ही परंपराओं में परिव्राजकता प्रचार तथा कार्य-सुगमता का माध्यम रही है । चाणक्य को राजा नन्द से प्रतिशोध लेना था । वह तभी संभव था, जबकि जन-सहयोग प्राप्त किया जा सके । परित्राजकता इसमें विशेष हेतुभूत हो सकती थी । जन-सहयोग के आधार पर ही चाणक्य ने राजा पर्वत को भी मित्र बनाया तथा उसे नन्द साम्राज्य के विरुद्ध भड़काया । राजा पर्वत ने चाणक्य का साथ दिया । चाणक्य अपने उद्देश्य में सफल हुआ । राज्य-प्रति के बाद भी उसके गुचारू वहुन के लिये जन-भावना का अङ्कन आवश्यक था । उसके अभाव में जन-विद्रोह की भी आशङ्का थी । चाणक्य कूटनीति के माध्यम से हर पहलू के सुदूर तक पहुँचता था । उसने एक ओर महामात्य-पद के गुरुतर दायित्व का

निर्वहन किया तो दूसरी ओर जन-भावना को जानने के लिये परिव्राजकता के क्रम को भी चालू रखा ।

चाणक्य महामात्य होते हुए भी परम सन्तोषी वृत्ति में था । आवश्यक चूणिकार आचार्य हेमचन्द्र तथा आचार्य हरिभद्र ने श्रावक के विशिष्ट लक्षणों से चाणक्य को उपलक्षित करते हुए इसी सन्तोष वृत्ति का उल्लेख किया है और यह वृत्ति जीवन-पर्यन्त तद्रूप ही रही । मुद्राराक्षस नाटक में महामात्य-पद पर आसीन चाणक्य की उसी सन्तोष वृत्ति का गौरव के साथ समुल्लेख करते हुए लिखा गया है:—

उपल सकल मेतद् मेवकं गोमयानां

वटुभिरूपहतानां बहिणां स्तोम एव

शरणमपि समिद्धिः शुष्यमाणामि रामि

विनमित पठलान्तं दृश्यते जीरां कुड्यम् ।

“कण्ठे तोड़ने के लिये एक छोटा सा पत्थर, विद्यार्थियों द्वारा उपहृत दूर्वा-समूह तथा एकत्रित ईन्धन राशि ही सब कुछ है । भुके हुए छज्जे व टूटी-फूटी दीवार की कुटिया है ।”

चाणक्य के जैनत्व के विरुद्ध एक तर्क यह भी दिया जाता है कि उसने जिस अर्थशास्त्र का प्रतिपादन किया है, उसमें वर्णाश्रम व्यवस्था पर विशेष बल दिया गया है । इस सन्दर्भ में भी कुछ तथ्य विमर्शणीय हैं । वर्णाश्रम व्यवस्था सामाजिक स्वस्थता को वृद्धिमत करने की सामयिक पद्धति थी । युगानुरूप उसमें परिवर्तन तथा परिवर्धन होता रहा है । चाणक्य ने अपने समय में इस व्यवस्था को उपयोगी समझा था । अन्य भी समाज व्यवस्थापकों ने समय समय पर इसका अवलम्बन लिया था । जैन परंपरानुसार इस व्यवस्था का आरम्भ भगवान् ऋषभदेव के युग में हो चुका था । आवश्यकतानुसार उसमें उद्वर्तन तथा अवर्तन होता रहा है ।

एक तर्क यह भी प्रस्तुत किया जाता है कि चाणक्य शिखाधारी था । शिखा का प्रचलन जैन समाज में नहीं है, अतः इस परंपरा से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता । वर्तमान में यह किसी उपेक्षा से सज्जन कहा जा सकता है । किन्तु, इसके लिये प्राचीन परंपराओं का अनुशीलन भी आवश्यक होगा । प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव प्रव्रजित होने के लिये जब

१—वही, श्लोक १३, १४ तथा १८

२—विस्तार के लिए देखें, परिशिष्ट पर्व, अष्टम सर्ग

३—विस्तार के लिये देखें ‘मरत-मुक्ति’ पुस्तक में लेखक द्वारा लिखित ‘मरत मुक्ति: एक अध्ययन’ पृ० ६५, ६६

लुंचन कर रहे थे, इन्द्र के अनुनय पर उन्होंने शिखा का लुंचन नहीं किया। जीवन पर्यन्त उनके मस्तक पर वह शिखा ज्यों की त्यों रही। बहुत सारी प्राचीन मूर्तियाँ इस तथ्य की स्पष्ट साक्षी हैं।

चाणक्य कूटनीतिक क्षेत्र में विरुधात है। कूटनीति के साथ छल प्रबंध, विश्वासघात आदि अनुस्यूत रहते हैं। कुछ विद्वान् इसलिये भी चाणक्य को जैन मानने के लिये प्रस्तुत नहीं हैं कि अहिंसा-व्रत का धारक जैन उपासक कूटनीति का खल कर प्रयोग कैसे कर सकता है? जो करता है, वह जैन कैसे हो सकता है? इसका दूसरा पक्ष यह भी हो सकता है कि क्या वैदिक धर्म में कूटनीतिक दाव-पेंव सम्मिलित है? संभवतः कोई भी ऐसा धर्म नहीं है, जो छल-छपा को मान्यता दे। फिर भी विगत में हुए बड़े-बड़े राजा, सेनापति, महामात्य आदि जैन, बौद्ध, वैदिक आदि किसी न किसी धर्म से अवश्य सम्बद्ध रहे हैं। उन्होंने बड़े से बड़े युद्ध लड़े हैं तथा आक्रमण-प्रत्याक्रमण भी किये हैं। फिर भी उनकी धार्मिकता की ओर कोई झंगुली नहीं उठी। उस अवस्था में चाणक्य की कूटनीति उसके जैनत्व में कैसे बाधक हो सकती है? जैन उपासक समाज तथा राष्ट्र से जब सेवा लेते हैं तो वे सेवा के प्रत्यर्पण में कभी पीछे रहने वाले नहीं होते। वे उसे अपना सामाजिक तथा राष्ट्रीय कर्तव्य मानकर उस क्षेत्र में भी अग्रणी रहते हैं। चाणक्य भी इसी परंपरा का सबल वाहक था।

इतिहास में जैन परंपरा की जब कोई नई कड़ी जुड़ती

है, कुछ विद्वान् उसे तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किये गये प्रमाणों का करार बेकस आँखमिचोनी करने का अना-बश्यक उपक्रम करते हैं। वे अपने चिन्तनकार को अनुद-घाटित रखना ही उपयुक्त समझते हैं। पर इतिहास तो सदैव नई करबट लेता रहता है। हर विद्वान् अपनी तटस्थ शोध के आधार पर पूर्व अधीत में कुछ नया जोड़ता है। सर्वत्र ग्रन्थों की बहुलता है। उनमें संगुप्त इतिहास की परतों को जब भेदा जाता है, नये ही तथ्य हस्तगत होते हैं। यह क्रिया जैन-अज्ञेन किसी भी विद्वान् द्वारा की जा सकती है। फिर भी उसमें से सम्प्राप्त कुछ तथ्य तो अपनाये जायें तथा कुछ भुड़लाये जाये, यह कैसे संगत हो सकता है। सांप्रदायिक अभिनिवेश का बहिष्कार सर्वत्र होना चाहिए, पर किसी भी ऐतिहास्य सत्य पर सांप्रदायिकता वा मुखोटा नहीं लगाना चाहिए।

जैन ग्रन्थ अब तक आण्डागारों में दबे रहे अतः ऐतिहासिक दृष्टि से उनका अनुशीलन बहुत कम हो पाया। युग की माँग के साथ वे बाहर आ रहे हैं, अतः नये तथ्य उजागर हो रहे हैं। कहना चाहिए, ऐतिहास्य तथ्य कुछ स्पष्टता तथा ठोस आधार लेकर आ रहे हैं। आवश्यकता है, विद्वान् इस वास्तविकता को समझें और अपेक्षित हो तो इतिहास को नया परिधान भी दें। चाणक्य से सम्बद्ध जैन ग्रन्थों के कुछ प्रमाण समीक्षणीय दृष्टिकोण से मैंने प्रस्तुत किये हैं। आशा है, विद्वान् इनके बलाबल को परखने में मेरे सहभागी बनेंगे।

प्रेषक :

कन्हैयालाल दूगड़

प्रधान मन्त्री

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१

दीवान हाफिज का पद्यानुवाद गुमानीराम भांवसा का नहीं है

—श्री अग्ररचन्द नाहटा

‘अनेकान्त’ के मई जून १९७३ के अङ्क में डॉ० गजानन्द मिश्र का लेख—‘राजस्थान के जैन कवि और उनकी रचनाएँ’ नामक प्रकाशित हुआ है। इसमें सर्वप्रथम गुमानीराम भांवसा का परिचय देते हुए उनका जन्म १८१८ के आस-पास बताया है, जो कि पं० टोडरमल जी के जन्म संवत् एव आयु सम्बन्धी पुरानी मान्यता पर आधारित लगता है। श्री डॉ० हुसमचन्द भारिल्ल का शोध प्रबन्ध—‘पं० टोडरमल व्यक्तित्व और कृतित्व’ नामक प्रकाशित हुआ है, उसके अनुसार वह ठीक नहीं लगता। नई खोज के अनुसार पं० टोडरमल जी का जन्म सं० १७७६-७७ और मृत्यु १८२३ अर्थात् ४७ वर्ष की आयु थी। अतः गुमानीराम का जन्म सं० १८०० के आस-पास होना संभव है।

डॉ० गजानन्द मिश्र ने गुमानीराम की रचनाओं के सम्बन्ध में लिखा है कि “ये फारसी भाषा के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने महाराजा सिंह की आज्ञा से कार्तिक सु० ५ सं० १८४६ में दीवान हाफिज का पद्यानुवाद किया था। इनके नाम से सत्ता स्वरूप नामक रचना तथा अनेक पद्य भी लिखते (मिलते) हैं।” पर वास्तव में दीवान हाफिज का अनुवाद टोडरमल के पुत्र गुमानीराम भांवसा रचित नहीं है, वह तो गुमानीराम कायस्थ का किया हुआ है, जिन्होंने आईने-अकबरी का भी अनुवाद किया था। राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार नामक ग्रन्थ सन् २००१ में जयपुर से प्रकाशित हुआ था, उसके पृष्ठ १६१ में महासज्ज प्रतापसिंह के आश्रित और दरबार के लेखकों का विवरण देते हुए लिखा है कि “इन्हीं काव्य-मर्मज्ञ तथा गुणग्राही नरेश के राज्यकाल में गुमानीराम कायस्थ द्वारा अतुल-फजल कृत आईने अकबरी का जयपुरी भाषा में अनुवाद किया। दीवान हाफिज का भी वही पद्यानुवाद हुआ। इनमें

से आईने अकबरी की प्रति तो बीकानेर के राजकीय ग्रन्थ सङ्ग्रहालय में मैंने स्वयं देखी है। इस ग्रन्थालय के राजस्थानी विभाग की प्रकाशित सूची में प्रति नं० १७६ के विवरण में इस ग्रन्थ का ‘कायस्थ गुमानीराम लिखित। सं० १८५२ में लिखित।’ होने का उपा है। सूची में रचयिता का नाम मुशीलाल हीरालाल लिख दिया है, पर वास्तव में हीरालाल के कहने पर गुमानीराम कायस्थ ने ही इसे लिखा था। दीवान हाफिज के पद्यानुवाद की भी मैंने अपने ग्रन्थालय के लिये नकल करवायी थी, पर अभी वह इधर-उधर रखी होने से मिल नहीं रही है। अतः विशेष विवरण नहीं दे सका।

डॉ० गजानन्द मिश्र ने सत्ता स्वरूप भी इनकी रचना होने का उल्लेख किया है, वह भी गुमानीराम की रचना नहीं है। भागवन्द छाजेड़ के नाम से यह रचना हिन्दी में तथा इसका गुजराती अनुवाद सोनगढ में छप चुका है। राजस्थान दि० शास्त्र भण्डारों की सूची में ‘सत्ता स्वरूप’ की कई प्रतियों का विवरण है, पर वहाँ इसके कर्ता का नाम नहीं दिया गया है। गुमानीराम के ‘पद’ अक्षय मिलते हैं। राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की सूची भाग-५ पृष्ठ ७३० में गुमानीकृत ‘दर्शन पञ्चोत्ती’ पत्र ११ का विवरण दिया है, पर उसके रचयिता गुमानीराम भांवसा ही थे या अन्य, यह निश्चित कहना बाकी है।

डॉ० मिश्र ने टेकचन्द का परिचय नहीं दिया पर उसके सम्बन्ध में तो मेरे कई लेख एवं ग्रन्थों के लेख भी प्रकाशित हो चुके हैं।

डॉ० मिश्र ने रत्नचन्द की रचनाओं का संग्रह रत्नचन्द मुक्तावली में प्रकाशित होने का लिखा है। सो इस ग्रन्थ के मिलने का पता मुझे सूचित करने का कष्ट उठावे।

कलचुरि काल में जैन धर्म की स्थिति

—प्रो० शिवकुमार नामदेव डिंडोरी (मडला)



राजनैतिक दृष्टिकोण से प्राचीन इतिहास में कलचुरि नरेश का महत्वपूर्ण योगदान है। ६ वीं शताब्दी से लेकर ११ वीं शताब्दी तक इन नरेशों ने भारत के उ० अथवा द० किसी न किसी भूभाग पर शासन किया।

कलचुरि नरेश धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु थे अतः अन्य धर्मों के साथ २ जैन धर्म भी उस काल में पल्लवित हुआ। कलचुरि काल में जैन धर्म, बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक समृद्ध था। स्व० पूज्य ब्र० शीतलप्रसाद जी ने 'कलचुरि' नाम का ग्रन्थयार्थ उनके जैनत्व का द्योतक बताया था। उनका कथन था कि कलचुरि नरेश जैन मुनिव्रत धारण करते और कर्मों को नष्ट करके शरीर बंधनों से मुक्त होते थे। इसलिये वे कलचुरि कहलाते थे। 'कल' का अर्थ शरीर है जिसे वे चूर मूर (चूरी) कर देते थे। निःसंदेह कलचुरि वंश जैन धर्म का पोषक था। उसके आदि पुरुष सहस्ररश्मि कार्तवीर्य ने मुनि होकर कर्मों के नष्ट करने का उद्योग ही किया था।^१

कलचुरि नरेश प्रारंभ में जैन धर्म के पोषक थे। ५ वीं ६ वीं शताब्दी के अनेक पल्लव एवं पाण्ड्य लेखों में वर्णित है कि 'कलभ्र' लोगों ने तामिल देश पर आक्रमण कर चोल चेर एवं पाण्ड्यो को परास्त कर अपना राज्य स्थापित किया था। प्रो० रामस्वामी आयंगर^२ ने बेल्लि कुडी

१—संक्षिप्त जैन इतिहास भाग ३ खण्ड ४ (दक्षिण भारत का मध्यकालीन अंतिम पाद का इतिहास) कामलाप्रसाद जैन पृष्ठ ६।

२—स्टेडोज इन साउथ इंडियन जॉर्निज्म पृ० ५३-५६।

के ताम्रपत्र तथा तामिल भाषा के पेरियपुराणम् से यह सिद्ध किया है कि ये 'कलभ्र' प्रतापी राजा जैन धर्म के पक्के अनुयायी थे। इनके तामिल देश में पहुँचने से जैन धर्म की वहाँ बहुत उन्नति हुई। श्री आर्यगर का अनुमान है कि ये 'कलभ्र' कलचुरि वंश की ही शाखा के होंगे। मध्यप्रदेश के कलचुरि नरेश जैन धर्म के पोषक थे। इसका एक प्रमाण यह भी है कि उनका राष्ट्रकूटों से घनिष्ठ सम्बन्ध था जो जैन धर्मावलम्बी थे।

त्रिपुरी के कलचुरि नरेश एवं जैन धर्म :

त्रिपुरी के कलचुरि नरेशों के काल में जैन धर्म का भी प्रसार हुआ था। बहुगीवंद^३ (जबलपुर) से एक विशाल जैन तीर्थंकर भगवान् शांतिनाथ की अभिलेख युक्त मूर्ति प्राप्त हुई है। जिससे ज्ञात होता है कि साधु सर्वहारा के पुत्र महाभोज ने शांतिनाथ मन्दिर का निर्माण करवाया था तथा उस पर सूत्रधार ने श्वेत छत्र का निर्माण कराया था।

इसके अतिरिक्त त्रिपुरी से प्राप्त ऋषभनाथ^४ की प्रतिमा जबलपुर के हनुमानताल जैन मन्दिर की ऋषभनाथ^५

३—का० इ० ६० ४ १ क्रमांक ५६ फलक ४८ पृष्ठ ३१०, सी० ए० एस० आई० आर० ग्रन्थ ६ पृष्ठ ४०, पी० आर० ए० एस० आई० डब्ल्यू० आई० १६०३-१६०४ पृष्ठ ५४-५५, एच० टी० एम० पृष्ठ १०७, खण्डहरों का वेमव पृष्ठ १७३।

४—एच. टी. एम. पृष्ठ २०६।

५—वही पृष्ठ १६६।

मूर्ति, पनागर^६ एवं सोहागपुर से प्राप्त प्रविका की प्रति-
माओं के अतिरिक्त सम्पूर्ण जबलपुर, दमोह, सागर, रीवा
आदि जिलों में इन मूर्तियों के बाहुल्य से जैन धर्म का
व्यापक प्रभाव सिद्ध होता है।

आचार्य मिराशी का अनुमान है कि सोहागपुर में जैन
मंदिर थे। सोहागपुर के ठाकुर के महल में अनेक जैन
मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। इनमें से एक पार्वनाथ एवं दूसरी
सुपाश्वनाथ से सम्बन्धित है।

दक्षिण कौशल के कलचुरि नरेश एवं जैन धर्म

दक्षिण कौशल के कलचुरियों के काल के अभिलेखों में
जैन धर्म का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। परन्तु उस क्षेत्र
में अनेकों जैन प्रतिमाये, रतनपुर, धनपुर तथा मल्लार एवं
घारङ्ग आदि स्थलों से प्राप्त हुई हैं जिनके आधार पर इस
क्षेत्र में जैन धर्म के प्रसार एवं अस्तित्व का बोध होता है।

कल्याण के कलचुरि नरेश एवं जैन धर्म

कल्याण के कलचुरि नरेशों के काल में भी जैन धर्म
का अस्तित्व प्रमाणित होता है। इस वंश के प्रमुख नरेश
विजल एवं उनके राज्य कर्मचारी जैन धर्म के पोषक थे।
सन् १२०० ई० में कलचुरि राज्यमंत्री रेचम्पय ने श्रवण
बेलगोला में शातिनाथ भगवान् की प्रतिमा प्रतिष्ठित
करायी थी। विजल के काल में जैन धर्म का अस्तित्व घट
गया एवं लिङ्गायत सम्प्रदाय का प्राबल्य हुआ। 'वासव
पुराण' एवं 'विजलवीर चरित' में जैन एवं गैर धर्मा-
वलम्बी लोगों के मध्य हुए संघर्ष का वर्णन है।

शैबों ने धर्मप्रचार हेतु हठयोग का सहारा लिया। वे
चमत्कारिक कृत्यों द्वारा जनता को मुग्ध करने लगे। उनमें
एकांत रामय्य प्रमुख था। उस समय अळलूर जैन धर्म का
प्रमुख केन्द्र था। रामय्य ने जैनियों द्वारा विजल से शिका-
यत की गई। विजल ने रामय्य को समझा कर एवं उसके
सोमनाथ के मन्दिर को कुछ भेंट देकर बिदा किया। इस
मन्दिर में जैनों पर अत्याचार के चित्र भी उत्कीर्ण

हैं।^{१५} किन्तु जैन धर्म इन अत्याचारों को सहन कर जीवित
रहा, यह उसके अहिंसा सिद्धांत की विशेषता थी।

विजलदेव के शासन काल में जैन धर्म उन्नत अवस्था
में रहा। सम्राट् स्वयं धर्म की प्रभावना के लिये अग्रसर
रहते थे। उन्होंने स्वयं कई जैन मन्दिरों का निर्माण
कराया था।^{१६} उनका अनुकरण उनके सामंतों और प्रजा
ने भी किया। वि० सं० १०८३ ई० में माणिक्य भट्टारक
के निमित्त से कन्नडिगे में एक जैन मन्दिर बना था।
संवत् १०८४ में कीर्ति सेहने पोन्नबति बेलहुगे और वेण्णे-
यूर में श्री पार्वनाथ के मन्दिर बनवाये^{१७} थे। कलचुरियों
के शिलालेखों में त्रिन भगवान् की मूर्ति यक्ष, यक्षणियों
सहित अङ्कित रहती थी।^{१८}

लिङ्गायतों के बसवपुराण में लिखा है कि विजल
के प्रधान बलदेव जैन धर्मानुयायी थे। उनकी मृत्यु के
पश्चात् उनके भांजे बसव की प्रसिद्ध एवं सद्गुणों से प्रभा-
वित हो विजल ने उसे अपना सेनापति एवं कोषाध्यक्ष
नियुक्त किया। बसव ने अक्सर का लाभ उठाकर अपने
धर्मप्रचार हेतु राजकोष का खूब धन खर्च किया। इस
प्रकार विजल ने हल्लेइज एवं मधुवेय्य नामक दो जङ्गलों
की ग्रांथ निकलवा ली। यह सुन बसव कल्याणी से भाग
गया परन्तु उसके द्वारा भेजे गये जगदेव नामक व्यक्ति ने
विजल का अन्त कर दिया।

यद्यपि कलचुरियों का राज्य कल्याणी में अल्पकालीन
था परन्तु धार्मिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण था। उनके काल
में ही कर्णाटक में लिङ्गायत संप्रदाय का प्रचार हुआ।
जैनियों को इनके द्वारा बहुत त्रास सहन करना पड़ा परन्तु
उस धर्म पर जैन धर्म का भी अत्यधिक प्रभाव पड़े बिना
न रहा।

८-मीडिडवल जैनज्म-भी मास्कर आनंद पृष्ठ २८१,
जैनज्म एंड कर्नाटक कल्चर-शर्मा १९४० पृष्ठ ३५
एवं आगे, कामताप्रसाद जैन द्वारा सक्षिप्त जैन इति-
हास भाग ३ खण्ड ४ के पृष्ठ ११५ पर उद्धृत।

९-वही पृष्ठ १६।

१०-जैन ऐण्टीक्वेरी ६ पृष्ठ ६७-६८

११-का० इ० इ. ४१- क्रमाङ्क ४२ पृष्ठ ३३।

६-खण्डहरों का वैभव पृष्ठ १७४।

७-एच. टी. एम. पृष्ठ १००।

प्राचीन जैन श्रावक

—डॉ० भिनकू यादव

— ❀ ❀ ❀ —

प्राचीन जैन परंपरा में व्रतधारी गृहस्थ को श्रावक, उपासक अथवा अगुव्रती कहा जाता था। वे श्रद्धा एवं भक्ति के साथ अपने श्रमण गुरुजनों से निर्णय प्रवचन का श्रवण करते थे।^१ अतः उन्हें श्राद्ध या श्रावक कहा जाता था। अर्थात् श्रद्धापूर्वक अपने गुरुजनो अथवा श्रमणों से निर्णय प्रवचन का श्रमण करने के कारण व्रतधारी जैन गृहस्थ को श्राद्ध अथवा श्रावक कहते थे। उन्हें श्रमणोपासक भी कहा गया है, क्योंकि वे श्रमणों की उपासना करते थे। उन्हें अगुव्रती, देश विरत, देश सयमी तथा देश संपत्ति की भी संज्ञा दी गई है। घर-गृहस्थी का त्याग न कर घर पर ही रहने के कारण उन्हें सागर आगारी गृहस्थ तथा गृही आदि नामों से भी जाना जाता था। श्रमण श्रमणों के आचार अनुष्ठान की ही भांति श्रावक-श्राविका के आचार अनुष्ठान की भी अनिवार्य अपेक्षा होती थी। श्रावक धर्म की भित्ति जितनी सदाचार पर प्रतिष्ठित होती है, श्रमण धर्म की नींव उतनी ही अधिक दृढ़ मानी जाती है।^२

श्रावकाचार ।

श्रावक कुल में उत्पन्न होने से जिन धर्म प्राप्ति में विश्वास किया जाता था। गृहस्थाश्रम में रहते हुए श्रावक के लिये अगु (छोटे) व्रतों के पालन का विधान था।^३ जैन परंपरा में ये अगुव्रत पाँच प्रकार के माने गये हैं,

१—समराहच कहा ३ पृष्ठ २२८; ५, पृष्ठ ४७३ ।

२—जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग १, पृष्ठ २३० ।

३—समराहच कहा ७, पृष्ठ ६, १८ ।

४—श्री ३, पृष्ठ २२८; ५, पृष्ठ ४७३, ४८०; ८, पृष्ठ ८१२ १३; ९ पृष्ठ ८५३ ।

यथा—स्थूल प्राणातिपात विरमण, स्थूल मृषावाद विरमण, स्थूल अदत्ता दान विरमण, स्वदार सन्तोष तथा इच्छा परिमाण व्रत।^४ श्रावकों के आचार का प्रतिपादन सूत्र कृताङ्ग^५ और उपासक दशांग^६ आदि आगम ग्रन्थों में बारह व्रतों के आधार पर किया गया है। इन बारह व्रतों में क्रमशः पाँच अगुव्रत और शेष सात शिक्षा व्रत हैं। यहाँ तीन गुण व्रतों और चार शिक्षा व्रतों का ही सामूहिक नाम शिक्षा व्रत है।

समराहच कहा में उल्लिखित है कि श्रावक अति-चारों से दूर रहता हुआ कुछ उत्तर गुण व्रतों को स्वीकार करता है। ये हैं—उच्चरिदिगुणव्रत, अधोदिगुण व्रत, तिर्यक् आदि गुण व्रत, भोमोपमाग परिणाम लक्षण गुणव्रत (उपभोग और उपभोग का कारण स्वर और कर्म का त्याग), बुरे ध्यान से आचरित विरति गुण व्रत पापकर्मोपदेश लक्षण विरति गुण व्रत, अनर्थ दण्ड विरति गुण व्रत तथा साधुयोग का परिवर्जन और निवृत्त्योग का प्रति-सेवन रूप सामयिक शिक्षा व्रत और दिक् व्रत से ग्रहण किया हुआ दिशा के परिणाम का प्रतिदिन प्रमाणकरण, देशावकाशिक शिक्षा व्रत, शरीर के सत्कार से रहित ब्रह्म-

५—कलाशचन्द्र शास्त्री—जैन धर्म पृष्ठ १८४ १९५, हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृष्ठ २५५-६०; मोहनलाल मेहता—जैनाचार, पृष्ठ ८६-१०४

६—सूत्र कृताङ्ग, २/२३/३—“लीलव्य गुरगविरमण पचव-वरक्षणपोलहोव वासेहि अप्पाणं मावे मणो एव चरण बिहसु”

७—उपासक दशांग, अध्याय १, सूक्त १२, ५८—“पंचागु-बलियं सत्त सक्खावैयं बुवालस्तविहं मिहिधम्म” ।

वर्षे व्रत का सेवन, व्यापार रहित पोषण शिक्षा व्रत का सेवन तथा न्यायपूर्वक अर्जित एवं कल्पनीय अन्न-पान आदि द्रव्यों का वेश, काल, श्रद्धा, सत्कार आदि से युक्त तथा परम भक्ति से प्राप्त शुद्धि के लिये सधुओं को दान और अतिथि विभाग शिक्षा व्रत आदि सभी उत्तर गुण के रूप में स्वीकार किये गये हैं।^८

उपासक दर्शांग में श्रावकों को पाँच अगुव्रत और सात शिक्षा व्रतों का नाम गिनाया गया है।^९ यहाँ तीन गुण व्रतों और चार शिक्षा व्रतों को ही सामूहिक रूप से शिक्षा व्रत कहा गया है।

समराइच्च कहा मे श्रावकाचार के अन्तर्गत पाँच अगु व्रतों के साथ २ तीन गुण व्रतों का भी उल्लेख है।^{१०} इन्हे गुण व्रत इसलिये कहा गया है कि इनसे अगुव्रत रूप मूल गुणों की रक्षा तथा उसका विकास होता है। धार्मिक क्रियाओं में ही दिन व्यतीत करना पोषधोपवास व्रत कहा जाता है। इसे गृहस्थ को यथाशक्ति प्रत्येक पक्ष की अष्टमी एवं चतुर्दशी को करना चाहिए जिससे उसे भूख, प्यास आदि पर विजय प्राप्त हो। चौथे अपने गृह पर आये हुए मुनि आदि को दान देना अतिथि संविभाग व्रत है।

श्रावक-अतिचार :

समराइच्च कहा मे गृहस्थ श्रावकों के लिये कुछ अतिचारों का नाम गिनाया गया है जिनका पालन करना उनके लिये आवश्यक था। सासारिक भ्रमण अथवा सासारिक दुखों के कारणभूत अतिचार इस प्रकार हैं—बन्ध, बध, किसी अङ्ग का काटना, जानवरों पर अधिक बोझ लादना, किसी को भोजन-पानी में बाधा डालना, सभा में किसी की निन्दा करना या किसी की गुप्त बात को प्रकट करना, अपनी पत्नी की बात दूसरों से कहना, किसी को झूठा उपदेश देना, जाली लेख लिखना अथवा चोरी से लायी हुई वस्तु खरीदना या चोरों से किसी का घन चुरवा

८—समराइच्च कहा १ पृष्ठ ६२।

९—उपासक दर्शांग, अध्याय १, सूक्त १२ ५८।

१०—समराइच्च कहा, पृष्ठ ५७; देखिए—हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृष्ठ २६१-६२; मोहनलाल मेहता—जैनाचार, पृष्ठ १०४-५।

लेना, राज्य के कानूनों को भङ्ग करना, नकली तराजू-बालू रखना, म्यूनाधिक तौलना या इस प्रकार के अन्य व्यवहार करना व्यवहारिणी स्त्री से सम्पर्क स्थापित करना या अविवाहिता स्त्री से संसर्ग करना, काम क्रीड़ा, दूसरे का विवाह करना, काम की तीव्रभिलाषा क्षेत्र व वस्तु की सीमा का उल्लंघन, द्विपद या चतुष्पद के प्रमाण का उल्लंघन, मणि-मुक्ता आदि के प्रमाणों का उल्लंघन या इस प्रकार के अन्य कार्य एवं पदार्थ जो ससार भ्रमण के निमित्त हैं।^{११} श्रावक के पाँच अगु व्रत, तीन गुण व्रत तथा चार शिक्षा व्रत इन सभी के पाँच-पाँच अतिचार हैं।^{१२} जिनका विवरण निम्नलिखित प्रकार से प्राप्त होता है।

स्थूल अहिंसा अथवा स्थूल प्राणतिपत्त विरमण के पाँच-पाँच प्रमुख अतिचार हैं—बध, बध, छविच्छेद (किसी भी प्राणी को अङ्गोपाङ्ग काटना, अतिभार तथा अन्न-पान विरोध; स्थूल मृषावाद विरमण के अन्तर्गत—सहसा अभ्याख्यान, रहस्य अभ्याख्यान, स्वदार और स्वपति मंत्र-भेद, मृषा उपदेश और कूट लेखकरण (झूठा लेख तथा लेखा-जोखा लिखना, लिखवाना आदि); स्थूल अदत्तादान के अन्तर्गत—स्तेनाहृत (चोरी का माल लेना), तत्पर प्रयोग, राज्यादि विरुद्ध कर्म, कूट तौल-माप तथा तत्पर-रूपक व्यवहार (वस्तुओं में मिलावट करना), स्वदार संतोष के अन्तर्गत—इत्वरिक परिग्रहीता गमन (यहाँ इत्वर का अर्थ अल्प काल से लगाया गया है अर्थात् अल्प काल के लिये स्वीकार की हुई स्त्री के साथ काम-भोग का सेवन करना), अग्रिग्रहितागमन (अपने लिये अस्वीकृत स्त्री के साथ काम-भोग का सेवन), अनङ्ग क्रीड़ा, पर विवाह करण तथा काम भोग तीव्रभिलाषा; इच्छा परिमाण के अन्तर्गत—क्षेत्र वस्तु परिमाण अतिक्रमण, हिरण्य सुवर्ण परिमाण अतिक्रमण, घन धान्य परिमाण अतिक्रमण, द्विपद-चतुष्पद परिमाण अतिक्रमण तथा कुप्य परिमाण अतिक्रमण आदि अतिचार गिनाये गये हैं। इसी प्रकार गुण व्रतों में दिशा परिमाण के अतिचार—ऊर्ध्व दिशा परिमाण अतिक्रमण अधोदिशा परिमाण अतिक्रमण, तिर्यक दिशा परिमाण अतिक्रमण, क्षेत्र वृद्धि, स्मृत्यन्तर्धा

११—समराइच्च कहा, १, पृष्ठ ६१-६२।

१२—मोहनलाल मेहता—जैनाचार, पृष्ठ ८६ से १२४।

(विस्मृति के कारण खुद गया हो अथवा कोई वस्तु प्राप्त हुई हो तो उसका भी परित्याग करना); उपभोग परिभोग परिमाण के अन्तर्गत—सचित्ताहार, सचित्तप्रतिबद्धाहार अपक्वाहार, दुष्पक्वाहार तथा तुच्छोरुचि भक्षण; प्रतर्था दण्ड विरमण के अन्तर्गत—कन्दपं (विकार वर्धक वचन बोलना या सुनना), कौत्कुच (विकार वर्धक चेष्टा करना या देखना), मौख्य (असम्बद्ध एवं अनावश्यक वचन बोलना), सयुक्तविकरण (जिन उाकरणों के संयोग से हिंसा की संभावना बढ़ जाती है) और उपभोगपरिभोगातिरिक्त (प्रावश्यकता से अधिक उपभोग एवं परिभोग की सामग्री का संग्रह) आदि अतिचार गिनाये गये हैं। शिक्षा व्रत के अन्तर्गत गिनाये गये अतिचारों में सामयिक शिक्षा व्रत के मनोदुष्प्रणिधान, बागदुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, स्मृत्यकरण, अनावस्थित करण (समय पूरा हुए बिना ही सामयिक पूरी कर लेना), देशवकाशिक के अन्तर्गत आनयन प्रयोग (मर्यादित क्षेत्र के बाहर की वस्तु लाना या मँगवाना), प्रेषण प्रयोग (मर्यादित क्षेत्र में बाहर वस्तु भेजना तथा ले आना आदि), शब्दानुगत (किसी को निर्धारित क्षेत्र से बाहर खड़ा देखकर शब्द सकेतो से बुलाने की चेष्टा करना), रुपांशुपत (सीमित क्षेत्र के बाहर के लोगों को हाथ, मुँह, सिर आदि का संकेत कर बुलाना) और पुद्गल पक्षेप (मर्यादित क्षेत्र से बाहर के व्यक्ति को अपना अभिप्राय जताने के लिये कागज, बड्डा आदि फेंक कर इङ्कित करना); पोषधोगवम के अन्तर्गत अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्या-सन्तारक (मकान और बिछोना का निरीक्षण ठीक ढङ्ग से न करना) अप्रमत्तित दुष्प्रमत्तित शय्या सन्तारक (बिना भाड़े पोछे बिस्तर काम में लाना), अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित, उच्चार प्रस्वरण भूमि (मल-मूत्र की भूमि का बिना देखे उपयोग करना) और पोषधोपवास सम्यक् अनुपालनता (आत्म पोषक तत्वों का भली भाँति भोजन न करना) अतिथिसंविभाग के अन्तर्गत—सचित्तनिक्षेप (कपट पूर्वक साधु को देने योग्य ग्राह्य आदि को रुचेतन वनस्पति आदि पर रखना), सचित्तपिघान (ग्राह्य आदि को सचित्त वस्तु में ढकना), कालातिक्रम, परव्यपदेश (न देने की भावना में अपनी वस्तु को पराई कहना अथवा पराई वस्तु देकर अपनी बचा लेना आदि)

और मात्सर्य (श्रद्धापूर्वक दान न देते हुए दूसरे के दान गुण की ईर्ष्या से दान देना) आदि अतिचार गिनाये गये हैं जिसका पालन करना श्रावकों के लिये अति आवश्यक बनाया गया है।

ऊपर समराड्च कहा में उल्लिखित अतिचारों को जैनाचार के अनुसार पाँचो अणुव्रतों के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है। बन्ध, वध, किसी अङ्ग का काटना, जानवरों पर अधिक बोझ लादना तथा किसी को भोजन पानी में बाधा पहुँचाना आदि अतिचार स्थूल अहिंसा अथवा स्थूल प्राणातिपात विरमण के अन्तर्गत गिनाये गये हैं। इसी प्रकार सभा में किसी की निन्दा करना, किसी की गुप्त बात को प्रकट करना, अपनी पत्नी की बात को दूसरों में कहना किसी को भूठा उपदेश देना तथा जानी लेख लिखना आदि स्थूल मृषावाद के अन्तर्गत, चोरी से ली हुई वस्तु को खरीदना, चोरों से किसी का धन चुरवा लेना, राज्य के कानून को भङ्ग करना, नकली तराजू-बाट रखना, न्यूनाधिक तोलना या इस प्रकार के अन्य व्यवहार को स्थूल अदत्ता दान विरमण के अन्तर्गत, व्यभिचारिणी स्त्री के साथ सम्पर्क स्थापित करना, अविवाहिता स्त्री से ससर्ग काम क्रोडा, दूसरे का विवाह करना तथा काम की तीव्र अभिलाषा आदि स्वदार मनोष के अन्तर्गत; दोष और वस्तु की सीमा का उल्लंघन, द्विपद या चतुष्पद के प्रमाण का उल्लंघन और मणि-मुक्ता आदि के प्रमाणों का उल्लङ्घन आदि अतिचार इच्छा परिमाण व्रत के अन्तर्गत माने गये हैं। यहाँ समराड्च कहा में केवल पाँचो अणुव्रतों के ही अतिचारों को गिनाया गया है जबकि अन्य प्राचीन जैन ग्रन्थों के आधार पर मोहनलाल मेहता ने जैनाचार में पाँचो अणुव्रतों के साथ तीन गुण व्रत तथा चार शिक्षाव्रत के भी पाँच-पाँच अतिचार की बात कही है। ये अतिचार जैन श्रावकों को उत्तरोत्तर श्रमणत्व की ओर अग्रसित करने का मार्ग प्रशस्त करते थे। इन्हीं मार्गों पर चलकर सर्वजीवोपकारी श्रमणत्व की सिद्धि तथा माक्ष पद प्राप्त किया जा सकता था क्योंकि श्रावक धर्म श्रमणत्व सिद्धि का प्रथम सोपान माना जाता था।

महायान बौद्धदर्शन में निर्वाण की कल्पना

—धर्मचन्द्र जैन, कुश्क्षेत्र विश्वविद्यालय कुश्क्षेत्र

बौद्धदर्शन में निर्वाण की कल्पना का अत्यधिक महत्व है। बौद्ध साधक का अन्तिम लक्ष्य भी निर्वाण ही है। महायानी निर्वाण की कल्पना अपने ढङ्ग से ही स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि हीनयानियों के निर्वाण में केवल क्लेशावरण का क्षय ही होता है किन्तु वे कहते हैं कि क्लेशावरण मिटने के बाद ज्ञेयावरण शेष रहता है। आचार्य वसुबन्धु ने 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' में दो नैरात्म्यो का उल्लेख किया है जो हैं—(१) पुद्गलनैरात्म्य (२) धर्म-नैरात्म्य।^१ पुद्गलनैरात्म्य क्लेशावरण का क्षय है। सत्त्व सत्कायदृष्टि के कारण नाना प्रकुशल कर्मों का उपाजन्त करता है। राग द्वेष एवं मोह रूप बहुतेरे क्लेशों को करता है तथा दुःखों के भार को उठाता है किन्तु जब सत्त्व बीत-राग, बीतद्वेष एवं बीतमोह होता है तब उसके क्लेश प्रहीण हो जाते हैं। क्लेशों का प्रहीण ही पुद्गलनैरात्म्य है।^२ इसे हीनयानी स्थापना माना गया है।

जब सत्त्व संसार के सब पदार्थों में शून्यता का ज्ञान प्राप्त करता है तब उसके सत्त्वे ज्ञान के ऊपर पड़ा हुज्रा आवरण स्वयमेव हट जाता है और वह मुक्ति को प्राप्त करता है। उस मुक्ति में उसे सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। इस प्रकार वह सर्वज्ञता की प्राप्ति ज्ञेयावरण के हट जाने से

ही होती है और ज्ञेयावरण सब ज्ञेय पदार्थों के ऊपर ज्ञान की प्रवृत्ति को रोकता है। अतः जब ज्ञेयावरण दूर हो जाता है तब सब पदार्थों में अप्रतिहत ज्ञान प्राप्त होता है और इसी से ही सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।

महायान के मुख्यतः दो प्रसिद्ध मत हैं—विज्ञानवाद एवं शून्यवाद। इनको योगाचार एवं माध्यमिक मत से भी अभिहित किया जाता है। इन दोनों मतों में निर्वाण पर सविस्तार विचार किया गया है। अब हम पहले योगाचार मत में निर्वाण की कल्पना पर संक्षेप में विचार करेंगे। योगाचार मत में निर्वाण :

विज्ञानवाद, जो बौद्ध चिन्तन का एक उत्कर्ष माना जाता है, उसमें जिस प्रकार निर्वाण के स्वरूप, निरूपण एवं स्थापन सम्बन्धी चर्चा की गई है उसे यहाँ कहेंगे। आलय विज्ञान की कल्पना योगाचार मत की एक विशेष देन है। 'आलय विज्ञान' वह तत्त्व है जिसमें जन्म के समस्त धर्मों के बीज निहित रहते हैं, उत्पन्न होते हैं तथा पुनः विलीन हो जाते हैं। प्रकरणों में आता है कि 'आनय विज्ञान' के बिना संसार की प्रवृत्ति या निवृत्ति सम्भव नहीं है।^१ संसार की प्रवृत्ति का अर्थ है अन्धनिश्वासभाग शरीर की प्रतिसन्धि का बन्ध और निवृत्ति का अर्थ है

१-६० विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि-विशिक्षा कारिका १०।

२-१-६० डॉ० महेन्द्र तिवारी-विज्ञप्तिमात्र सिद्धि-पृष्ठ २७

१-२ अग्रिमविज्ञानसम्पत्तेः संसारं प्रवृत्तिनिवृत्तिर्वाच्यते
—विज्ञप्तिमा० पृष्ठ ८४ (डॉ० महेन्द्र तिवारी)

सोपधि शेष और निरधि शेष निर्वाणधातु ।^१ यहाँ आश्रय का अर्थ है सभी धर्मों का बीज आलय विज्ञान । उसकी परावृत्ति का अर्थ है द्विविध दोषुल्य वासनाओं के समाव से उसकी निवृत्ति होने पर कर्मण्यता और धर्मकाय के ऐक्यभाव के नाम से परिवर्तन होना । वही पुनः आश्रय परावृत्ति है । वह किसके प्रहाण से प्राप्ति होती है ? इसको दर्शाया गया है कि दो प्रकार के दोषुल्य की हानि से । दो प्रकार से अधिप्राय है—क्लेशावरण दोषुल्य और ज्ञेयावरण दोषुल्य । आश्रय की अकर्मण्यता को दोषुल्य कहते हैं । वही क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण का बीज है ।^२

आलय विज्ञान की व्यावृत्ति किस अवस्था में तथा कैसे होती है इसकी चर्चा करना उचित है । प्रकरण में कहा गया है कि इसकी (आलय विज्ञान की) व्यावृत्ति ग्रहंत्व की अवस्था में होती है ।^३ अयज्ञान तथा अनुत्पत्ति ज्ञान से ग्रहंत्व की प्राप्ति होती है । उस अवस्था में आलय विज्ञान स्थित सभस्त दोषुल्य का निरवशेष प्रहाण हो जाता है तथा अधिष्य में उनकी उत्पत्ति की संभावना नहीं रह जाती है । यही ग्रहंत्व अर्थात् निर्वाण की अवस्था है ।^४

लङ्कावतार सूत्र में कहा गया है कि विकल्पमनो-

१-तत्र संसारप्रवृत्तिः निकायसमागान्तरेषु प्रतिसन्धि बधः ।

निवृत्तिः सोपधिशेषो निरुपधिशेषश्च निर्वाण धातु ।—

वही

२-आश्रयोऽत्र सर्वबीजकमालयविज्ञानम् । तस्य परावृत्ति-

र्या दोषुल्य द्वयवासनाभावेन निवृत्तौ सत्यां कर्मण्यता

धर्मकायद्वयज्ञानभावेन परावृत्तिः । सा पुनराश्रय परावृत्तिः

कस्य प्रहाणात् प्राप्यते ? अत आह—‘द्विधा दोषुल्य

हानितः ।’ द्विधेति, क्लेशावरण दोषुल्यं ज्ञेयावरण

दोषुल्यं च । दोषुल्यं आश्रयस्य कर्मण्यता । तत् पुनः

क्लेश ज्ञेयावरणयोः बीजम् ।—वही पृष्ठ १००

३-तस्य व्यावृत्तिरग्रहंत्वे तदाश्रित्य प्रवर्तते ।—त्रिशि०

का० ५

४-‘किं पुनरग्रहंत्वं यद्योगावर्हन्निमुच्यते ? कस्य पुनर्योगाव-

र्हन्निमुच्यते ? अयज्ञानानुत्पाद ज्ञान लामात् । तस्यां

व्यवस्थायां आलयविज्ञानाश्रित दोषुल्य निरवशेष प्रहा-

णावालय विज्ञानं व्यावृत्तं भवति सैव अग्रहंत्ववस्था ।

—विज्ञप्तिभा. पृष्ठ ४४

विज्ञान की व्यावृत्ति को निर्वाण कहा जाता है ।^१ सर्व विज्ञान स्वभाव वासनामय मनोविज्ञान एवं दृष्टियुक्त वासनाओं की परावृत्ति ही निर्वाण कहा जाता है ।^२ यह चित्त स्वभावतः प्रभास्वर है, पर आगन्तुक क्लेशों से उपक्रिष्ट होता है । जिस प्रकार मल सहित वस्त्र मल के दूर हो जाने पर शुद्ध हो जाता है, जिस प्रकार सुवर्णमल के क्षीण हो जाने पर शुद्ध रूप में स्थित हो जाता है, उसी प्रकार चित्त समस्त क्लेशों के ग्रहीत होने से अपने परम परिशुद्ध प्रकृत प्रभास्वर रूप में परिणत हो जाता है ।^३ यही परम परिशुद्ध विकल्परहित चित्त की अवस्था की प्राप्ति निर्वाण की प्राप्ति है ।^४ तथता, शून्यता, धर्मधातु आदि इसी के पर्याय हैं ।^५

निर्वाण दो प्रकार का बतलाया गया है—सोपधिशेष निर्वाण धातु तथा निरुपधिशेष निर्वाण धातु । इनमें सोपधि शेष निर्वाण दृष्ट धर्म वेदनीय है तथा निरुपधिशेष निर्वाण मरणोत्तर प्राप्त होता है । जो क्लेशोपक्लेश चित्त ही के परिणाम शेष से यथाशक्ति वासनावृत्ति का लाभ होने से प्रवृत्त होते हैं, उनके आलयविज्ञान में स्थित जो बीज हैं, वे उनके साथ होने वाले क्लेश प्रतिपक्ष मार्ग से नष्ट हो जाते हैं । बीज के नष्ट होने पर पुनः उस आश्रय से क्लेशों की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः सोपधिशेष निर्वाण की प्राप्ति होती है ।^१ इसे ही जीवन्मुक्ति कहा जा सकता है । यह आलयविज्ञान का आश्रय परावृत्तिपूर्वक विमल विज्ञान में रूपान्तरण या परिणति है ।

पुनः पूर्वकर्मों द्वारा आश्रित जन्म के नष्ट हो जाने से

१-‘विकल्पस्य मनोविज्ञानस्य व्यावृत्ति निर्वाणमित्युच्यते ।’

—संकाव० पृष्ठ ५१

२-सर्वविज्ञान स्वभाव वासनालय मनोविज्ञान दृष्टि वासना

परावृत्ति निर्वाणमित्युच्यते ।—वही पृष्ठ ४१

३-वही गाथो ७५३-५६ (अध्याय १०) पृष्ठ १५६-५७

४-विकल्पस्या प्रवृत्तिरनुत्पादो निर्वाणमिति वदामि ।

—वही पृष्ठ ८१

५-तथता शून्यताकोटि निर्वाणं धर्मधातुकम् ।

कायं मनोमयं चित्रं चित्तमात्रं वदाम्यहम् ॥

—वही ३/३१, पृष्ठ ६३

६-दे० विज्ञप्तिभा० पृष्ठ ८७ (अं० तिबारी)

तथा उसके उपरान्त अन्य जन्म का प्रतिसम्बन्ध न होने से निरूपविशेष निर्वाण की प्राप्ति होती है।^१ इसके साथ से भवचक्र की शृङ्खला सदा के लिये टूट जाती है अर्थात् यह जो कहा गया था कि “कर्म वासनायें दो प्राणों की वासना से युक्त होकर पूर्व विपाक के क्षीण होने पर अन्य विपाक को उत्पन्न करती”—वह क्रम यहाँ आकर समाप्त हो जाता है।”

पर इस अवस्था की प्राप्ति कैसे होती है ? इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि जब भद्रैत लक्षण वाली विज्ञप्तिमित्रता में योगी का चित्त स्थित हो जाता है तो सारी विकल वासनायें प्रहीण हो जाती हैं तथा चित्त स्वचित्त धर्मता में स्थित हो जाता है।^२ इस अवस्था में क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण नामक दो दोषदुल्य नष्ट हो जाते हैं तथा इनकी हानि से आश्रय परावृत्ति हो जाती है।^३ यह आश्रय परावृत्ति ही आलस्य विज्ञान की परम विशुद्ध रूप विमल विज्ञान में परिणति है। इसी को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि—

स एवानास्रवो चातुरचित्त्यः कुशलो ध्रुवः ।

सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः ॥^४

अर्थात् वही अनास्रव चातु है जो अचित्त्य, कुशल ध्रुव, सुख स्वरूप तथा (बोधिसत्त्व का) विमुक्तिकाय तथा महामुनि बुद्ध का धर्मकाय है। संसार के परित्याग से क्लेशों का प्रभाव हो जाने से, सभी धर्मों में विभुत्व की प्राप्ति होने से धर्मकाय कहलाता है।^५ संक्षेप में यही योगाचारियों की निर्वाण या विमुक्ति की कल्पना है।

माध्यमिक मत में निर्वाण :

आचार्य नागार्जुन ने, जो माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रप्रणी आचार्य हैं, अपनी प्रसिद्ध कृति ‘माध्यमिक शास्त्र’ (माध्यमिक-कारिका) में निर्वाण की विषयतया परीक्षा की

है।^१ उनके अनुसार निर्वाण न तो छोड़ा जा सकता है (अप्रहीणम्), न तो प्राप्त किया जा सकता है (असम्प्राप्तम्) निर्वाण न उच्छेद है और न शाश्वत है। उनका कहना है कि इसका न तो निरोध (अनिददम्) होता है और न ही यह उत्पन्न होता है।^२

आचार्य चन्द्रकीर्ति ने नागार्जुन की ‘माध्यमिक-कारिका’ पर ‘प्रसन्नपदा’ नाम की सुन्दर व्याख्या की है। इस सम्बन्ध में वह अपनी टीका में पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यदि निर्वाण में रागादि के समान (कुछ भी) प्रहाण नहीं होता और न ही इसमें आमण्यफल के समान (कुछ भी) प्राप्त होता है और न ही इसमें स्कन्ध आदि के समान कोई उच्छेद होता है और न ही इसमें अशून्यत्व के समान कोई नित्यत्व है तथा स्वभाव से वह अनिददं अनुत्पन्न, सर्वप्रपञ्चों का उपशम कहा गया है तो ऐसी निष्प्रपञ्च अवस्था में क्लेश कल्पना कैसे की जा सकती है जिनका (क्लेशों का) प्रहाण निर्वाण है अथवा वहाँ स्कन्ध कल्पना क्या हो सकती है जिसमें स्कन्धों का निरोध हो। जब तक ऐसी कल्पनायें हैं तब तक निर्वाण की प्राप्ति कैसे हो सकती है क्योंकि सब प्रकार के प्रपञ्चों के दूर होने से ही उसका अधिगम होता है अथवा यदि कोई कहे कि यद्यपि निर्वाण में क्लेश या स्कन्ध नहीं हैं तो भी ये निर्वाण के पहिले होते हैं इसलिये उनके विनाश से निर्वाण होता है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति इसका उत्तर देते हैं कि यह सब मिथ्याप्राह है क्योंकि यदि निर्वाण के पहले स्कन्ध आदि स्वभावतः सत्य होते तो उनका न होना (अभाव) सम्भव नहीं। इसलिए निर्वाण के अभिलाषी को इस प्रकार की कल्पना नहीं करनी चाहिए। वास्तव में निर्वाण और संसार जो दो सीमायें (कोटियाँ) हैं उन दोनों में सुसूक्ष्म

१—वही पृष्ठ ८८

२—वे० बिश्व० का० २८

३—वही का० २६

४—वही का० ३०

५—संसारपरित्यागात् बबनुपसंप्लेजत्वात् सर्वधर्मविभुत्व-
लाभतश्च धर्मकाय इत्युच्यते ।—विज्ञप्तिमा० पृष्ठ १०२

१—वे० म० शा० प्रकरण २५

२—अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम् ।

अनिददं अनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते ॥

—म० शा० २५/३

अन्तर भी नहीं है।^१ इसलिये निर्वाण में न तो किसी चीज का ग्रहण होता है और न ही निरोध होता है। वास्तव में निर्वाण कल्पनाओं का पूर्ण रूप से निस्क्लेश क्षय है। भगवान् ने 'समाधिराजसूत्र' में कहा है कि धर्मों की (द्रव्य सत् की) निवृत्ति नहीं होती और जो धर्म नहीं हैं (अद्रव्य) वे कदापि होते ही नहीं हैं। अतः जो अस्ति नास्ति की कल्पना में लगे है उनका दुःख कभी भी शान्त नहीं हो सकता।^२ समाधिराज की इस गाथा का अर्थ आचार्य चन्द्रकीर्ति बतलाते हैं कि निवृत्ति में अर्थात् निरुपविशेष निर्वाण में धर्मक्लेश, कर्म, जन्म, लक्षणों वाले धर्मों या स्कन्धों का सर्वथा अभाव होने से धर्मों का अस्तित्व अस्ति होता है। यह सब निकायों का मत है (एवं च सर्वथादीनामभिमतम्)^३ और वे धर्म निर्वाण में ही नहीं जैसे प्रदीप के जलने पर अन्धकार में रज्जु में प्रतिभासित सर्प का भय दूर हो जाता है। तत्त्वतः वे वस्तु हैं ही नहीं। उसी प्रकार क्लेश कर्म जन्म वाले धर्म किसी समय इस सांसारिक अवस्था में भी तत्त्वतः विद्यमान नहीं हैं। अन्धकार अवस्था में भी स्वरूपतः रज्जु में सर्प नहीं है जैसे कि वास्तविक सर्प को अन्धकार या प्रकाश में शरीर या चक्षु से ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार इसको ग्रहण नहीं किया गया है।

यदि कोई पूछे कि तो फिर संसार क्या है तो इसका उत्तर यह है कि असत्-ग्रह से ग्रसित बाल जन को असत् भावों में सत् भाव की प्रतीति ही संसार है, जैसे तैमरिक दोष वाले को असत् केश, मच्छर आदि देखने में आते हैं उसी प्रकार उसे यह संसार नजर आता है।

आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि यदि निर्वाण को भाव रूप माना जायेगा तो निर्वाण में जरा मरण का प्रसङ्ग आ जायेगा क्योंकि कोई भी भाव बिना जरामरण लक्षण के नहीं होता है। इस पर आचार्य चन्द्रकीर्ति टीका करते हुए निकायान्तरों के मत रखते हैं। कुछ एक भाववादी जो

निर्वाण में भाव का प्रतिक्रियेण करते हैं वे कहते हैं कि निर्वाण जलप्रवाह के रोकने वाले सेतु की तरह क्लेशकर्म से उत्पन्न सन्तानप्रवृत्ति का निश्चित रोध (रोकना) करने वाला निरोधात्मक पदार्थ है। कोई भी अभावात्मक (अविद्यमान स्वभाव वाला) धर्म ऐसा कार्य (रोध कार्य) करता हुआ दिखाई नहीं देता। अतः उन निकायों के अनुसार निर्वाण भावरूप है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि (सूत्रों में बुद्ध द्वारा) निर्वाण को नन्दोराग सहगत तृष्णा का क्षय बतलाया गया है। अब, यह जो क्षयमात्र है सो 'भाव' कैसे हो सकता है तथा यह भी जो कहा गया है कि "चित्त की विमुक्ति दीपक के बुझने के समान है" (प्रद्योतस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य चेतसः)^४। उसमें दीपक का बुझना (निवृत्ति) भाव नहीं कहा जा सकता।

पूर्वपक्ष का कहना है कि यहाँ तृष्णा का क्षय तृष्णा क्षय नहीं है किन्तु निर्वाण में तृष्णा का क्षय होता है। प्रदीप का तो केवल दृष्टान्त मात्र दिया गया है। इसमें जो जिसके होने पर (तृष्णाक्षय होने पर) चित्त का विमोक्ष होता है, यह जानना चाहिये।

आचार्य आशकदियों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'निर्वाण' भाव हो ही नहीं सकता क्योंकि ऐसा होने पर जरामरण लक्षण का प्रसङ्ग प्रायेण। जो कुछ भाव है (जो सद्बस्तु है, उत्पन्न है) उसका जरामरण अवश्यभावी है। फिर उसका निर्वाण नहीं हो सकता जैसे विज्ञान (प्रतिसन्धि=जन्म) का जरामरण अवश्यभावी है। भाव के साथ जरामरण लक्षण के अव्यभिचारित्व को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि ऐसा कोई भाव नहीं है जो जरामरण से विरहित हो और जरामरण विरहित भाव तो आकाश-कुसुम की तरह होता ही नहीं।

भाव का निरीक्षण करते हुए आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि यदि निर्वाण को प्राप भाव मानेंगे तो वह संस्कृत हो जावेगा क्योंकि कोई भी ऐसा भाव नहीं जो असंस्कृत है।^२

१-निर्वाणस्य च या कीटिः कीटिः संसरणस्य च

न तयोरन्तरं किञ्चित्सुसूक्ष्ममपि विद्यते ॥

—म. शा. २५/२० पृष्ठ २२८, २३५

२-वे० म. शा. पृष्ठ २२४

३-वही

१-वे० मा. शा. पृष्ठ २२६

२-भावश्च यदि निर्वाणं निर्वाणं संस्कृतं भवेत्

नासंस्कृतो हि विद्यते भावः कल्पन कल्पन ॥

—म. शा. २५/५, पृष्ठ २३०

इसके अतिरिक्त यदि निर्वाण भाव है तो वह अनुपादाय कैसे है? (किसी के ऊपर अनु + प्राश्रित), क्योंकि कोई भाव अनुपादाय नहीं होता है। भावकादियों को उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि यदि निर्वाण भाव है तो वह उपादाय (द्रव्य) होगा अर्थात् वह अपने कारण सामग्री पर प्राश्रित होगा किन्तु उपादाय निर्वाण की बात कही जाती है। अतः यदि निर्वाण एक भाव है तो वह अनुपादाय निर्वाण कैसे होगा, इसलिए निर्वाण भाव होने के कारण विज्ञान आदि की तरह उपादाय होगा, अनुपादाय नहीं। क्योंकि कोई भाव अनुपादाय नहीं होता। इसका कारण बतलाते हुए नागार्जुन कहते हैं कि कोई भाव अनुपादाय होता ही नहीं नानुपादाय कश्चिद् भावो हि विद्यते।

पूर्वपक्षी पृच्छता है कि यदि उपरोक्त दोषों के कारण निर्वाण भाव नहीं है तो क्या निर्वाण अभाव है जिससे क्लेश जन्म जो निवृत्तिमात्र होती है। आचार्य कहते हैं कि यह भी युक्त नहीं है क्योंकि यदि निर्वाण भाव नहीं है तो अभाव कैसे होगा, चूँकि जहाँ भाव नहीं है तो वहाँ अभाव भी नहीं है।^२

यदि निर्वाण क्लेश-जन्म का अभाव है तो निर्वाण क्लेश जन्म की अनित्यता कहा जायगा। कारण कि अनित्यता और कुछ नहीं क्लेश जन्म का अभाव है अतः निर्वाण अनित्यता होगा और यह इष्ट नहीं है^३ क्योंकि फिर तो बिना यत्न के ही (अर्थात् बिना शील, समाधि, प्रज्ञा और भावना के ही) मोक्ष का प्रसङ्ग आ जावेगा।

१-भावश्च यदि निर्वाणमनुपादाय तत्कथम्

निर्वाणं नानुपादाय कश्चिद् भावो हि विद्यते ॥

—म. शा. २५६, पृष्ठ/२३०

२-यदि भावो न निर्वाणमभावः किं भविष्यति

निर्वाणं यच्च भावो न नाभावस्तच्च विद्यते ॥

—म. शा. २५/७ पृष्ठ २३०

३-क्लेशजन्मनोरभावो निर्वाणमिति चेत्, एवं तर्हि क्लेश-जन्मनोरनित्यता निर्वाणमिति स्यात्। अनित्यतैश्च हि क्लेशजन्मनोरभावो नास्त्येक, अतः अनित्यतैश्च निर्वाणं स्यात्।—म. शा. पृष्ठ २३०-३१

इसलिए वह युक्त नहीं है।

यदि कोई कहे कि निर्वाण अभाव है तो वह फिर अनुपादाय (किसी के ऊपर अनु + प्राश्रित) कैसे हो सकता है क्योंकि कोई भी ऐसा अभाव नहीं है जो अनुपादाय हो।^१ मध्यमिक कहता है कि किसी भी अभाव या अनित्यता की प्रज्ञप्ति भाव को लेकर होती है। अविद्या (जो है ही नहीं) उनकी अनित्यता की बात कोई नहीं कहता है। लक्षण को प्राश्रित कर लक्ष्य की प्रज्ञप्ति होती है। इसलिए अभाव की कल्पना भी उपादाय (सपेक्ष) होती है। यदि निर्वाण अभाव है तो अनुपादाय कैसे हो सकता है। वह तो उपादाय ही होगा क्योंकि वह अभाव है, विनाश घर्म है। इसी से ही आचार्य ने कहा है कि कोई भी अभाव अनुपादाय नहीं हो सकता। पूर्वपक्ष कहता है कि यदि भाव अनुपादाय नहीं है (वह उपादाय है) तो क्या बन्ध्या पुत्र आदि अभाव भी किसी के उपादाय है। आचार्य इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि बन्ध्या पुत्र आदि को अभाव किसने कहा है क्योंकि भाव ही यदि नहीं है तो अभाव सिद्ध ही नहीं होता। भाव के अन्यथा भाव को ही लोग अभाव कहते हैं। अतः बन्ध्या पुत्र आदि का अभाव तो सिद्ध ही नहीं होता।

पूर्वपक्ष पृच्छता है कि यदि निर्वाण भाव भी नहीं है, अभाव भी नहीं है तो फिर निर्वाण है क्या? आचार्य नागार्जुन उत्तर देते हुए कहते हैं कि भगवान् तथागत ने कहा है यह जो ससार, जन्म परम्परा (आजबजनीभाव) है वह उपादाय (प्राश्रित) एव प्रतीत्य (सापेक्ष) है किन्तु जो निर्वाण है वह अप्रतीत्य एवं अनुपादाय है।^२ चन्द्रकीर्ति ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि यह जन्म परम्परा (सत्त्वों का गमनानगमन भाव) है वह कभी हेतु प्रत्यय सामग्री को प्राश्रित होकर प्रज्ञप्त होता है यथा दीर्घ वस्तु

१-यद्यभावश्च निर्वाणमनुपादाय तत्कथम्

निर्वाणं न ह्यभावोऽस्ति नानुपादाय विद्यते ॥

—म. शा. २५/८ पृष्ठ २३१

२-य आजबजनीभाव उपादाय प्रतीत्य वा

सोऽप्रतीत्यमनुपादाय निर्वाणमुच्यते ॥

—म. शा. २५/९ पृष्ठ २३१

की प्रज्ञपि ह्रस्व वस्तु के सापेक्ष है ।^१ कभी-कभी हेतु जनित प्रज्ञप्त होता है जैसे रोशनी दीपक से, अंकुर बीज से । इस प्रकार जब कोई वस्तु प्रतीत्य एव उपादाय सिद्ध होती है और इस जन्म-मरण परम्परा की सन्तति जब अप्रतीत्य एवं अनुपादाय या अप्रवृत्त होगी तब ही निर्वाण व्यवस्थापित होगा किन्तु भाव या अभाव की अप्रवृत्तिमात्र कल्पना नहीं की जा सकती । इसलिए निर्वाण न भाव है और न अभाव है ।

और भगवान् ने तो भव और विभव के प्रहाण की भी बात कही है । अतएव निर्वाण न तो भाव है और न अभाव है ।^२ और यदि यह कहा जाय कि निर्वाण भाव और अभाव है तो फिर भाव भी मोक्ष होगा और अभाव भी मोक्ष होगा ।^३ फिर तो संस्कारों का आत्म लाभ भी मोक्ष होगा और संस्कारों का निगम भी मोक्ष होगा । लेकिन संस्कारों का होना मोक्ष नहीं माना जा सकता । अतः यह अयुक्त है कि निर्वाण भाव और अभाव है ।

यदि निर्वाण दोनों भाव और अभाव है तो निर्वाण संस्कृत होगा क्योंकि वह भाव और अभाव संस्कृत माने गये हैं ।^४ भाव स्वहेतु प्रत्यय सामग्री के कारण संस्कृत है और अभाव के सापेक्ष (प्रतीत्य) होने के कारण संस्कृत है जैसे जरामरण जन्म के प्रतीत्य (सापेक्ष) होने से संस्कृत है ।

यदि यह कहा जाय कि निर्वाण न तो भाव है और न अभाव है तो जब भाव या अभाव की सिद्धि होगी तभी ता यह सिद्ध होगा कि निर्वाण न भाव है और न अभाव

१-‘स चायमाज्जवंजवी भावः कदाचिद् हेतु प्रत्यय सामग्री-
माश्रित्य अस्तीति प्रज्ञप्यते दीर्घह्रस्ववत् ।’

—वही पृष्ठ २३१

२-प्रहाणं चावशील्लोस्ता भवस्य विभवस्य च
सस्मात् भावो नाभावो निर्वाणमिति युज्यते ॥

—म. शा. २५/१०, पृष्ठ २३२

४-वे०-म. शा. २५/११, पृष्ठ २३२

४-अवेदभावो भावश्च निर्वाणमुभयं कथम् ।

असंस्कृतं च निर्वाणं भावाभावो च संस्कृतौ ॥

—म. शा. २५/१३ पृष्ठ २३३

है ।^१ यदि कोई भाव नाम की वस्तु हो तभी उसके प्रति-
पेक्ष रूप में निर्वाण न भाव की कल्पना की जाय अथवा
यदि कोई अभावात्मक वस्तु हो जिसके प्रतिपेक्ष के रूप में
न अभाव निर्वाण की कल्पना की जाय । जब भाव और
अभाव दोनों ही नहीं है तो उन दोनों के प्रतिपेक्षात्मक तत्त्व
‘न भाव और न अभाव’ हो ही नहीं सकते । इसलिये
निर्वाण को यह कल्पना कि वह ‘न भाव’ और ‘न अभाव’
है, नहीं ठहरती ।

यदि निर्वाण ‘न भाव’ और ‘न अभाव’ रूप हो तो
यह न उभयरूप निर्वाण कैसे ग्रहण किया जाता है^२, क्या
इसका कोई प्रतिपत्ता (जाना) है । यदि है तो ऐसा होने से
निर्वाण में भी आत्मा होगी जो इष्ट नहीं है क्योंकि निर्-
+उपादान (उपादान रहित) वस्तु कोई आत्मा होती ही
नहीं । यदि विज्ञान से ऐसा प्रकाशित होना कहे तो यह
भी युक्त नहीं है क्योंकि विज्ञान निमित्तालम्बन होता है
और निर्वाण अनिमित्त होता है । अतएव निर्वाण विज्ञान
से भी नहीं जाना जा सकता । ज्ञान से भी यह नहीं जाना
जा सकता क्योंकि ज्ञान शून्यतालम्बन होता है और शून्यता
अनुत्पाद रूप ही होती है तब उसके अविद्यमान स्वरूप से
तथा ज्ञान के सर्वप्रपञ्चासीन होने से न भाव और न
अभाव रूप निर्वाण कैसे ग्रहण किया जा सकता है । अतः
निर्वाण ‘न भाव’ ‘न अभाव’ रूप नहीं हो सकता ।

आचार्य नागार्जुन ने निर्वाण की कल्पना में इतना तक
कहा है कि संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं है ।^३
बुद्ध के होते हुए भी यह कल्पना नहीं की जा सकती कि
बुद्ध है और उनके परिनिर्वृत्त होने पर भी यह नहीं कहा
जा सकता कि वह है या नहीं । अतः संसार और निर्वाण

१-नैवा भावो नैव भावो निर्वाणमिति साञ्जना ।

अभावे चैव भावे च सा सिद्धे सति सिद्ध्यति ॥

—म. शा. २५/१५, पृष्ठ २३३

२-नैवाभावा नैव भावो निर्वाणं यदि विद्यते ।

नैवाभावा नैव भाव इति केन तदज्यते ॥

—वही २५/१६, पृष्ठ २३३

३-न संसारस्य निर्वाणार्थकिञ्चिदस्ति विशेषणम् ।

न निर्वाणस्य संसारार्थकिञ्चिदस्ति विशेषणम् ॥

—म. शा. २५/१६, पृष्ठ २३३

में विचार करने पर कोई अन्तर नहीं है। वास्तव में वह एक ही है और इसी को लेकर भगवान् ने कहा है कि हे भिक्षुओं ! इस जाति जरामरण ससार का कोई अन्त नहीं है। मृतः ससार और निर्वाण में कोई विशेष अन्तर नहीं है, यह सिद्ध होता है। आचार्य और भी कहते हैं कि निर्वाण की कोई चरम सीमा (कोटि) नहीं है, न ही ससार की कोई सीमा है इसलिए दोनों में सुषुप्त अन्तर भी नहीं है।^१ इसीलिए निर्वाण के बाद क्या होता है अथवा ससार अन्तवान् है या अनन्तवान् है, शाश्वत है या अशाश्वत है इत्यादि पूर्वान्त और अपरान्त को लेकर सब (मिथ्या) दृष्टियाँ बतलाई गई हैं।

जब धर्म शून्य है तब उनमें अनन्तवान् और अन्तवान् धर्मों की कल्पना कैसे हो सकती है तथा उसमें कैसे 'न अनन्त' और 'न अन्त' हो धर्म हो सकता है। इसी प्रकार उसमें क्या शाश्वत, क्या अशाश्वत और अशाश्वत तथा न उभय (नाशाश्वत और न शाश्वत) हो सकते हैं। यहाँ पूर्व-पक्षी पूछता है कि यदि इस प्रकार आप निर्वाण का प्रति-पेक्ष करते हैं तो महाकरुणा से युक्त भगवान् ने यह जो सत्त्वों को अपनी प्रिय सन्तान के समान समझ कर निर्वाण प्राप्ति की देशना दी है वह सब व्यर्थ होगी। इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि जब कोई धर्म (स्वभावतः) हो अथवा धर्म के सुनने वाले हों अथवा धर्म का कोई उप-वेश देने वाला भगवान् बुद्ध हो तो यह हो सकता है किन्तु जो धर्म सब प्रवृत्तियों का उपशम है, जो सब प्रपञ्चों का उपशम है, शान्त है, ऐसी अवस्था में बुद्ध द्वारा किसी भी धर्म की कही भी, किसी को भी देशना नहीं की गई है।^३

आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि जब भगवान् बुद्ध सर्व प्रपञ्चोपशम एव शिवरूप निर्वाण में आकाश में हसराजो की तरह स्वपुण्य ज्ञान सम्भार रूप पखमोचन से उत्पन्न

वायु में अथवा वायुगगन में, गगन में कुछ न होने के कारण (गगनस्याकिञ्चनत्वात्) आधार रहित (अस्थान योगेन) स्थित है तब सब निमित्तों के अनुलब्ध होने के कारण कही बुद्धों ने कही भी मनुष्यों या देवों में या किसी भी मनुष्य या देव को न किसी सांक्लेशिक (क्लेशयुक्त) और न वैय-वदानिक (विशुद्धि युक्त) धर्म की देशना दी है, ऐसा जानना चाहिए।

जैम कि 'आर्य तथागतगुह्य सूत्र' में कहा गया है कि हे शान्तिमति ! जिस रात्रि में तथागत ने अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि का लाभ किया और जिस रात्रि में अनु-पादाय परिनिर्वाण को प्राप्त होगे, इसके बीच तथागत के मुख से न तो एक भी अक्षर निकला है और न निकलेगा। नाना अधिमुक्ति वाले, नाना धातु आशय वाले सभी सत्त्व अन्त-अन्ते अनुरूप तथागत के विविध वचनों को समझते हैं।^१ अन्तः उनकी देशना पृथक्-पृथक् होती है कि भगवान् ने हमारे लिये यह देशना की है और हम तथागत की देशना सुनते हैं। तथागत तो कल्प विकल्प नहीं करते हैं। हे शान्तिमति, तथागत तो कल्प विकल्पों के जाल बासना से रहित होते हैं।^२ और भी कहा गया है—'जो धर्मों को अवाच्य, अनक्षर, सर्वशून्य शान्तादि निर्मल रूप जानता है वही कुमार 'बुद्ध' कहा जाता है।^३

यहाँ पूर्वपक्षी का कहना है कि यदि कभी किसी को किसी भी धर्म की देशना बुद्ध ने नहीं की है तो ये नाना (बुद्ध) प्रवचन कैसे जाने जाते हैं। आचार्य कहते हैं—नविद्या निद्रा में लीन स्वप्न देखने वाले प्राणियों की तरह यह स्वविकल्पोत्पत्ति है कि सकलत्रिभुवन, देवों, असुरों और मनुष्यों के स्वामी भगवान् (बुद्ध) हम सबके लिये इस धर्म की देशना देते हैं^४, जैम कि भगवान् ने कहा है—

कुशल, अनास्रव धर्म का तथागत प्रतिबिम्ब मात्र है।

न यहाँ तथता है, न तथागत है और सम्पूर्ण लोक में बिम्ब

१-बे० म. शा. २५/२०, पृष्ठ २३५

२-परं निरोधावन्ताद्याः शाश्वताद्याश्च दृढव्यः ।

निर्वाणमशरान्तं च पूर्वान्तं च समाश्रिताः ॥

—म. शा. २५/११, पृष्ठ २३५

३-सर्वोपलम्भोपशमः प्रपञ्चोपशमः शिव ।

न क्वचित्कस्यचित्कश्चिद्धर्मो बुद्धे न देशितः ॥

—म. शा. २५/२४, पृष्ठ २३६

१-बे० म. शा. पृष्ठ २३६

२-वही

३-वही

४-अविद्यानिद्रानुगतानां बेहिनां स्वप्रायमानानामिव स्व-विकल्पाभ्युदय एषः—अयं भगवान् सकलत्रिभुवन सुरासुर नरनाथः इमं धर्ममस्मभ्यं देशयतीति । —वही

मात्र ही दिखलाई पड़ते हैं। और भी “तथागत बाम् मुह्य परिवर्त” में विस्तार से कहा गया है—“निर्वाण के लिये धर्मदेसना का ही जब अभाव है तो कहीं से धर्मदेसना है तथा निर्वाण का अस्तित्व ही कैसे होगा। अतएव निर्वाण भी नहीं है, यही सिद्ध होता है। भगवान् ने कहा भी है—

लोकनाथ (बुद्ध) के द्वारा निर्वाण की अनिर्वाण रूप में देशना की गई है। आकाश द्वारा बनाया गया बुद्धा आकाश द्वारा ही मोक्षित हुआ है।^१

१—तथागतो हि प्रतिबिम्बभूतः कुशलस्य धर्मस्य अनात्मवस्य नैवस्व तथता न तथागतोऽस्ति बिम्बं च संदृश्यति सर्व-लोके ।—म. शा. पृष्ठ २३६

२—अनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन वेक्षितम्
आकाशेन कृतो प्रस्थिराकाशेनैव मोक्षितः ॥

—म. शा. पृष्ठ २३७

जो निर्वाण को मात्र रूप में खोजते हैं वे संसार को धार नहीं कर सकते क्योंकि निर्वाण वास्तव में (सर्वनिमित्त सर्वोद्भूत) धर्मों की उपरति (उपशान्ति) है। इसलिये वे सब अज्ञानी हैं जो स्व ख्यात विनय धर्म में प्रव्रजित होकर तीर्थकों की मिथ्या दृष्टि में पड़कर निर्वाण को मात्र रूप में खोजते हैं जैसे तिलों में तेल या दूध में घी। वे अभिमानी तीर्थिक हैं जो अतन्त परिनिवृत्त धर्मों में निर्वाण खोजते हैं। सम्यक् प्रतिपन्न योगाचार न तो किसी धर्म का उत्पाद करता है और न ही किसी धर्म का निरोध करता है, न ही किसी धर्म की प्राप्ति की इच्छा करता है और न ही किसी धर्म के अभिसमय की इच्छा करता है।^१

१—मा. शा. पृष्ठ २३७

अनेकान्त के ग्राहकों से

आपके पास हमारी शोध-पत्रिका ‘अनेकान्त’ नियमित रूप से पहुँच रही है। कुछ ग्राहकों का इस वर्ष का तथा पिछले वर्ष का चन्दा हमें प्राप्त नहीं हुआ है। पत्रिका को आर्थिक सङ्कट का सामना न करना पड़े, अतः आपसे अपना चन्दा अविलम्ब भेजने की प्रार्थना है। जिन ग्राहकों का चन्दा हमें इस माह के अन्त तक प्राप्त न हो सकेगा, उनके नाम हमें पत्रिका V.P.P. से भेजने के लिये बाध्य होना पड़ेगा।

भवदीय :

महासचिव,

श्री वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज,
दिल्ली-१

जैन धर्म में नीति धर्म और साधना

—रामजीसिंह, एम ए०



भारतवर्ष में नीति धर्म और साधना का जनता के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यहाँ पर अंशतः श्रुति की मान्यता के कारण और अंशतः व्यक्तिगत विचारकों में मौलिक कहलाने की महत्वाकांक्षा न होने के कारण, विभिन्न वादों का या सम्प्रदायों का व्यक्तियों के नाम से प्रचार नहीं हुआ। इसी कारण जैन धर्म^१ भी किसी व्यक्ति विशेष के नाम पर नहीं उत्पन्न हुआ। जैन धर्म की प्रमुख विशेषता उसके व्यावहारिक उपदेश में पाई जाती है। तत्त्व दर्शन अथवा ज्ञान मीमांसा अथवा किसी भी प्रकार का ज्ञान वहीं तक उपयोगी है, जहाँ तक कि वह उचित आचरण का सहायक होता है। उचित आचरण का परम लक्ष्य मोक्ष होता है। मोक्ष का अर्थ आत्मा का प्रत्येक प्रकार के बन्धनों से मुक्ति पा जाना तथा अपने स्वरूप को पहचान लेना है। 'जिन' शब्द का अर्थ ही होता है—अपने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेना। अतः जैन शब्द से ही इस धर्म की व्यावहारिकता स्पष्ट हो जाती है।

प्रायः लोग नीति धर्म को अंग्रेजी में 'एथिक्स' कहते हैं और इसे संस्कृत में नीति-शास्त्र या नीति धर्म के नाम से अभिहित किया जाता है। वस्तुतः ऐसा मालूम पड़ता है

कि संस्कृत का धर्म शब्द नीति नियमों का पर्याय है न कि अंग्रेजी 'रिलीजन' शब्द का अर्थ धर्म है। पाश्चात्य 'रिलीजन' शब्द के लिये हिन्दी भाषा में कोई पर्याय नहीं मालूम पड़ता है। इसलिये वहाँ पर हम नीति धर्म का अर्थ नीति नियमों के पालन से लेंगे न कि अंग्रेजी शब्द 'रिलीजन' से। नीति नियमों का तात्पर्य है—जीव को अपने पहले के स्वाभाविक अवस्था का ज्ञान कराना और जो बन्धन (कषाय) जीव को बाँधे हुए है उससे मुक्ति दिलाना। जीव जो बन्धन में पड़ा हुआ है, उसका यह बन्धन नीति धर्म से ही दूर हो सकता है। सामान्य रूप से जैन धर्म में बन्धन का अर्थ जन्म ग्रहण करना और जीव की यातनाओं को भोगना है। बन्धन का अर्थ सभी आस्तिक दार्शनिक यही समझते हैं। जैन धर्म के अनुसार जीव पूर्ण है, उसके अन्तर में अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन अनिवार्य है। बस, वह दुःखी इस कारण है कि जीव बाह्य कषायों में फँस गया है। जीव को बन्धन में डालने वाली वासनायें—क्रोध, मद, मान, माया और लोभ आदि जो हैं, उन्हें ही कषाय कहते हैं। जब जीव पूर्ण रूप से कषायों में फँस जाता है तो बन्धन कहते हैं।^२

बन्धन दो प्रकार का होता है—मास बन्ध और द्रव्य बन्ध। जीव के मन के अन्दर दूषित भावनाओं का आ

१—जैन दर्शन को जैन धर्म कहना अधिक उचित मालूम पड़ता है; क्योंकि यह दार्शनिक समस्याओं की अपेक्षा जीव को कर्म-बन्धन से छुटकारा देना अधिक चाहता है और यह व्यवहारिक अधिक, परमाधिक कम है।

२—सकषायत्वात् जीवः कर्मसो योग्यान् बुद्ध्यन्तान् आपत्ते सम्बन्धः—तत्त्वार्थविमर्शसूत्र, ८-१।

जाना ही भाव बन्ध है। इसको मानसिक बन्ध भी कह सकते हैं; क्योंकि यह केवल मन में होगा है। जीव को पुद्गल कणों से आक्रान्त हो जाने को द्रव्य बन्ध कहते हैं। इसको कर्मबन्ध भी कह सकते हैं, क्योंकि इसमें जीव अपने कर्मों से बन्धन में फँस जाता है। बन्धन की अवस्था में पुद्गल तथा जीव एक दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार लोहा को अग्नि में रखने पर लोहा में अग्नि आ जाती है और उसमें आग और लोहा दोनों होता है, उन्ही प्रकार जीव और पुद्गल एक दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब जीव शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है तो वह कषाय अथवा बन्धन में कैसे पड़ जाता है? भारतीय दार्शनिक इसका समाधान तीन प्रकार से करते हैं—प्रथम यह कि जो ईश्वरवादी हैं वे इसको ईश्वर की लीला कहते हैं। दूसरा यह कि जो अनीश्वरवादी हैं वे इसको कर्मवाद के आधार पर समाधान करते हैं। तीसरा यह कि कुछ लोग जीव को बन्धन या दुःख को स्वीकार ही नहीं करते। अगर दार्शनिक दृष्टि से देखा जाय तो ये सभी समाधान उचित नहीं मालूम पड़ते। परन्तु जैन दर्शन समन्वयवादी दर्शन है इसलिये यह सभी का समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाता है और उचित समाधान प्रस्तुत करता है। जैन धर्म में इसका समाधान यह होगा कि जीव पुद्गल से निर्मित होता है और अपने कर्मों या संस्कारों के वशीभूत होकर ही शरीर धारण करता है। पूर्वजन्म के कर्मों के कारण ही जीव में वासनाओं की उत्पत्ति होती है। वासनायें अपनी वृत्ति चाहती हैं और इसका परिणाम यह होता है कि ये पुद्गल को अपनी ओर खींचती हैं, जिससे विशेष प्रकार के शरीर का निर्माण होता है। बिना कर्मों का नाश किये मुक्ति सम्भव नहीं है। किये हुए कर्मों का नाश नीति धर्म के द्वारा ही हो सकता है। कर्म कई प्रकार के होते हैं:—

१—आयु कर्म—आयु की सम्बाँझ जिन कर्मों पर निर्भर होती है।

२—गोत्र कर्म—जिससे जीव, जाति व गोत्र में जन्म लेता है।

३—ज्ञानावरणीय कर्म—जो आत्मा के ज्ञानमय स्वरूप का तिरोधान करता है।

४—वर्शनावरणीय कर्म—हृदय में सत्य ज्ञान का आभास नहीं होने देता।

५—वेदनीय कर्म—आत्मा के आत्मन्वस्वरूप का आच्छादन कर सुख दुःख उत्पन्न करते हैं।

६—मोहनीय कर्म—जीव को सच्ची श्रद्धा और विश्वास से रोकते हैं तथा मन को अशान्त रखते हैं।

७—अन्तराय कर्म—आत्मा की उन्नति में बाधा पहुँचाते हैं।

उपर्युक्त कर्मों में नं० ३ से नं० ६ तक के कर्मों को 'घातीय' कर्म कहते हैं और जो गोत्र कर्म कहा गया है वह घातिक न होकर व्यावहारिक है। उस समय की सामाजिक व्यवस्था में दलित वर्ग का शोषण और जातिवाद का दुर-भिमान आदि का जो दोष आ गये थे, उनको दूर करने के लिये स्वयं भगवान् महावीर स्वामी ने वर्ण व्यवस्था के आधार की स्पष्ट व्याख्या की। उन्होंने कहा:—

“कम्मुणा बम्हणो होई, कम्मुणा होई खत्तिपो।

वइसो कम्मुणा होई, सुदो हवहं कम्मुणा॥”

अर्थात् मनुष्य का वर्ण वह नहीं होता जो उसने जन्म से लिया हो, बल्कि मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्री होता है और कर्म से ही वैश्य-शूद्र होता है। यहाँ पर हम देखते हैं कि भगवान् महावीर ने वर्ण की नीति धर्म अथवा व्यवहार मूलक माना, धर्ममूलक नहीं; जबकि हिन्दू धर्म ने वर्ण व्यवस्था को धर्ममूलक माना कर्ममूलक नहीं।^१ जीवन का लक्ष्य कर्म से छुटकारा पाना है और यह छुटकारा पाना साधना द्वारा ही सम्भव है। जैन धर्म में दो प्रकार की साधना बताई गई है—प्रथम गृहस्थ के लिये और दूसरी सन्यासी के लिए। दूसरी को पहली से श्रेष्ठ माना गया है। स्वभावतः सन्यासी के नियम अधिक कठोर हैं और उन्हें 'महाव्रत' तथा गृहस्थ के नियमों को 'अणुव्रत' कहा गया है। जैन धर्म सन्यास पर अधिक बल देता है। जैन साधु अपने पास कुछ नहीं रखते। वे भिक्षा के द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते हैं। यह कठोरता केवल सन्यासियों के लिए ही नहीं है, बल्कि गृहस्थ के लिए भी निर्धारित साधना अपेक्षाकृत कठोर ही है।

१—दे० गीता रहस्य—वहला प्रकरण।

भारतीय दर्शन में जितनी कठोर साधना जैन धर्म की है उतनी कठोर अन्य धर्मों की नहीं। अनेक दार्शनिकों की तरह जैन दर्शन भी न केवल ज्ञान पर जोर देता है, बल्कि आचरण और ज्ञान दोनों पर ही जोर देता है। इसके अतिरिक्त यह आस्था की आवश्यकता बतलाता है। जैन धर्म में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को 'त्रिरत्न' अर्थात् जीवन की तीन बहुमूल्य साधना बताया गया है।^१

सम्यक् दर्शन—जैन तीर्थंकरों धरवा जैन शास्त्रों और उनके उपदेशों में दृढ़ विश्वास।

सम्यक् ज्ञान—जैन धर्म और दर्शन का ज्ञान।

सम्यक् चरित्र—जो सही जाना जा चुका है और माना जा चुका है, उसको अपने चरित्र में परिणत करना।

इसमें पहला स्थान सम्यक् दर्शन को दिया गया है; क्योंकि संशय, जो आध्यात्मिक विकास में बाधक होता है, वह बिना श्रद्धा के दूर नहीं हो सकता। गीता में भी कहा गया है कि साधन रहित मनुष्य के अन्तःकरण में श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती और उस पुरुष के अन्तःकरण में आस्तिक भाव भी नहीं होता और बिना आस्तिक भाव वाले पुरुष को शान्ति भी नहीं मिलती। फिर शान्तिरहित पुरुष को सुख कैसे प्राप्त हो सकता है।^२

स्वयं भगवान् महावीर कहते हैं:—

‘एषां पयासमं, सोहस्रो तपो, सयसो यगुत्तिमरो।’^३

अर्थात् ज्ञान प्रकाशक है, चित्त शोधन करता है और समय रक्षा करता है। जैन धर्म में कर्म बन्ध को रोकने और उनको (पूर्व कर्म) नष्ट करने का उपाय शुद्ध आचरण समय और तप है। जैन धर्म में आचरण पाँच प्रकार के बताये गये हैं:—

१—अहिंसा—किसी भी प्राणी को मार, कर्म और वाणी से हानि न पहुँचाना।

२—सत्य—झूठ न बोलना अर्थात् ज्यों का त्यों कह देना।

१—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः तत्त्वायं।
सूत्र-१/१

२—गीता-२/६६

३—वे० जैन दर्शन का जीवन सूत्र

३—ब्रह्मचर्य—वीर्य स्खलन न होना।

४—अस्तेय—चोरी न करना अर्थात् किसी की कोई वस्तु बिना पूछे न लेना।

५—अपरिग्रह—संसार का त्याग धरवा संसार की वस्तुओं में मोह न रखना।

उपरोक्त साधनाये सन्यासियों के लिये हैं, जिनका बड़ी कठोरता के साथ पालन किया जाता है। गृहस्थ के लिये भी पाँच प्रकार की साधना है:—

१—अहिंसा—जो पहले कहा गया है।

२—सत्य—

३—अस्तेय—

४—संयम—धर्म धरवा अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखना।

५—सन्तोष—अपनी आवश्यकताओं को कठोरता के साथ सीमित रखना।

जैन धर्म मनुष्य को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता देने में हर अन्य धर्मों से बढ़कर है। जो कुछ कर्म हम करते हैं और उनके जो फल हैं, उनके बीच कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। एक बार कर लिये जाने के बाद कर्म हमारे ईश्वर बन जाते हैं और उनके फल भोगने ही पड़ेगे। मेरा स्वा-तन्त्र्य जितना बड़ा है उतना ही बड़ा मेरा दायित्व भी है। मैं स्वेच्छानुसार चल सकता हूँ, परन्तु मेरा चुनाव अन्यथा नहीं हो सकता और उसके परिणामों से (कर्मफल से) मैं बच नहीं सकता। इन परिणामों से बचने का एकमात्र उपाय है—नीति धर्म और साधना। जो हमारे पूर्व कर्म हैं, उनका फल तो हमें भोगना ही पड़ेगा, परन्तु अब भी हम अपने पूर्व कर्मों का नाश करके कर्म बन्धन से छुट-कारा पा सकते हैं। जीव जिस तरह अपने कर्मों द्वारा बन्धन में पड़ा है, उसी प्रकार अपने कर्मों द्वारा मुक्त भी हो सकता है। जीव किस प्रकार मुक्त हो सकता है? जीव इस प्रकार मुक्त हो सकता है:—

आश्रव—कुछ मानसिक हेतुओं से समीपवर्ती कर्म पुद्गल का जीव की ओर आना।

बन्ध—कर्म का पूर्ण रूप से जीव के अन्दर प्रवेश हो जाना।

अब—

संवर—सम्यक् ज्ञान और आत्म संयम से नये कर्मों का प्रवेश रोकना ।

निर्जर—संचित कर्मों का नाश होना अथवा भङ्गना ।
यह संवर के बाव स्वतः होता है, परन्तु इसमें भी जीव अपनी साधना द्वारा शीघ्रता ला सकता है ।

मोक्ष—जीव और कर्म के सम्बन्ध का विच्छेद हो जाना ।

यह विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए कि बन्ध की प्रक्रिया में कर्म स्वतः प्रवृत्त होता है, न कि ईश्वर की इच्छा से—जैसा कि हिन्दू धर्म मानता है । कर्म के द्वारा बंधने की यह प्रक्रिया दो प्रकार से होती है:—

(१) परम सत्य का अज्ञान

(२) मनोबेग

सर्वप्रथम सन्यासी अपनी योग-साधना के द्वारा नये कर्मों का संवर करता है, तब पूर्व कर्मों का निर्जर अपने आप होने लगता है । जब पूर्व कर्मों का पूर्ण रूप से निर्जर हो जाता है, तब जीव मोक्षावस्था को प्राप्त हो जाता है ।

कभी कभी लोग जैन धर्म को नास्तिक धर्म कहते हैं, जो उचित नहीं है । जैन धर्म को नास्तिक धर्म कहना एक प्रकार से हास्यास्पद सा है । यदि नास्तिक का अर्थ—बहु धर्म या दर्शन जो 'आत्मा के अस्तित्व', नैतिक चरित्र, पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करना है तो केवल 'आर्वाक' नास्तिक है । जैन धर्म, बौद्ध धर्म से भी अधिक आध्यात्मिक तथा नैतिक है । यदि 'ईश्वर की सत्ता' अस्वीकार करना नास्ति-

कता है तो जैन धर्म नास्तिक है, परन्तु 'ईश्वर की सत्ता' अस्वीकार करना नास्तिकता नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो सांख्य तथा मीमांसा दर्शन षष्ठ दर्शनों के अन्तर्गत नहीं आते जो कि आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं । ईश्वरबानी दर्शन प्रायः ईश्वर पर मानवत्व का आरोप कर देते हैं । वे ईश्वर को नीचे मनुष्य के स्तर पर ले आते हैं । इसके विपरीत जैन धर्म मनुष्य (तीर्थङ्कर) को ही तब ईश्वर के रूप में देखता है, जब उसकी सहज शक्तियाँ उसी की साधना द्वारा पूर्ण विकास की अवस्था में होती हैं । यहाँ पर जीव के सर्वोत्तम स्वरूप के लिए ही एक दूसरा शब्द है । वह है तीर्थङ्कर । आदर्श ही मनुष्य ही मनुष्य का आदर्श है और उसकी सिद्धि की एकमात्र साधना यह है कि हम आदर्श मनुष्यों को उदाहरण के रूप में अपने सामने रखें तथा उसी तरह प्रयत्न करें जिस तरह अन्य जीवों ने किया था । ऐसा आदर्श हमें पूरी आशा और प्रोत्साहन देता है; क्योंकि जो एक जीव कर चुका है तो दूसरा जीव भी कर सकता है । साधना का केवल इतना ही महत्त्व नहीं है कि मन, राग-द्वेष, ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का नियन्त्रण अर्थात् केवल इन्द्रिय-वृत्तियों का निरोध ही नहीं है, वरन् उनकी कुप्रवृत्तियों का दमन कर उन्हें विवेक के मार्ग पर लगाना भी है । आधुनिक युग में जो कलह और द्वेष है उसका एकमात्र कारण यह है कि हम अपने कुप्रवृत्तियों का दमन नहीं कर पा रहे हैं । इस प्रकार जैन धर्म हमारे सामने एक नया आदर्श रखता है, जो आज के युग के लिए बहुत कल्याणकारी है ।



बंगाल के जैन पुरातत्त्व की शोध में पाँच दिन

—भँवरलाल नाहुटा

—***—

बीसो वर्ष से श्री ताजमल जी बांधरा के साथ बङ्गाल के सराक क्षेत्रों में पुरातत्त्व शोध के हेतु भ्रमण करने का विचार चल रहा था, परन्तु काल-परिपाक के बिना संभव न हो सका। अभी जब समय आया तो न जेठ महीने के कड़े धूप की ओर न साधन सामग्री की ही अपेक्षा की गई और निकल पड़े एक सीमित समय और क्षेत्र की परिधि में भ्रमणार्थ। हमारे साथ थे अग्रज जी 'जैन जर्नल' व बङ्गला 'श्रवण' के सम्पादक श्री गणेश जी ललबानी। हम सर्व-प्रथम ता० २३ मई की रात्रि में रवाना होकर ता० २४ के उष काल में विष्णुपुर पहुँचे। गाड़ियों के लेट चलने से हमें काली रात्रि नहीं, उषाकालीन प्रकाश भनायास ही उलब्ध हो गया। हम लोग रिक्शों द्वारा सीधे श्री रामपद मण्डल नामक सराक भाई के यहाँ पहुँचे। शौच स्नानादि से निवृत्त होकर रिक्शों पर हम लोग द्वारकेश्वर नदी के लम्बे कछर को पार कर घरापात नामक स्थान में पहुँचे। मार्ग में कई शिवालयों की देव मन्दिरों का समूह दृग्गोचर हुआ जो केवल एक गर्भगृह-शिखरी से और उनके प्रवेश द्वार की चौड़ाई अत्यन्त सङ्करी रखने की प्रथा देखने में आई। घरापात में हमें जो मन्दिर देखना अभीष्ट था, देव प्रतिमा से विहीन और एक ब्राह्मण ठाकुर (पुजारी) का आश्रय-स्थान सा हो रहा था। प्रस्तुत मन्दिर के तीनों ओर तकियों में विनाल प्रतिमाएँ विराजित थी जिनमें पृष्ठ भाग वाली में भगवान् ऋषभदेव-प्रादिनाथ वामपक्ष से प्रदक्षिणा करते प्रथम शान्तिनाथ भगवान् और अन्त में

तीसरे आले में जैनेतर प्रतिमा लगी हुई थी। ये दोनों जिन प्रतिमाएँ लगभग हजार-बारह सौ वर्षों जितनी प्राचीन अवश्य ही थी। इस मन्दिर के ठीक पीछे सड़क के पार एक और मन्दिर था जिसमें भगवान् पार्श्वनाथ की एक सप्तफण मण्डित खड़ासन प्रतिमा विद्यमान थी। इन क्षेत्रों में जहाँ भी जिन प्रतिमाएँ हैं, उन्हें कहीं नेगटेश्वर शिव, कहीं भैरव और कहीं अन्यान्य नामों से पुकारते हैं। इन सभी प्रतिमाओं में मूलनायक तीर्थङ्कर में मूलनायक तीर्थ-ङ्कर के लक्षण एवं परिकर में अन्य प्रतिमाएँ उत्कीर्णित हैं। पहले की दोनों प्रतिमाओं के परिकर में चौबीस तीर्थ-ङ्कर उभयपक्ष में अवस्थित हैं जबकि भगवान् पार्श्वनाथ के परिकर में महाप्रातिहार्यों के अतिरिक्त विष्णु प्रतिमा निर्माणार्थ दो हाथ और खोद कर बना दिये हैं।

घरापात से लौटकर हम लोग विष्णुपुर आये और भोजनोपरान्त बस द्वारा ओषा होते हुए पहुँचे। वहाँ उतरने के लिये पूछने पर नाम साम्प्र से अन्न सह यात्रियों के कहने पर हम कई मील आगे चले गये, जहाँ से एक दूसरे गाँव 'बेलाना' जाने का मार्ग था। रेलवे क्रॉसिंग पर प्रतीक्षा करते दूसरी गाड़ी पाने पर हम लोग वापस ओषा पहुँचे। वहाँ हमें दो रिक्शें मिले जिन्हें मुँहमाँगे चौदह रूपयों में भाड़ा करके हम लोग 'बहुलारा' गाँव आये। वृक्षों के फुर-मुट वाले गाँव के बाहर एक बहुत ही ऊँचे शिखर वाले कलापूर्ण मन्दिर के विशाल अहाते में हम लोग पहुँचे। यहाँ का शिल्प प्रशंसनीय है और स्थापत्य शैली को देख कर

भुवनेश्वर आदि उत्कल प्रान्तीय मन्दिरों की स्मृति ताजी हो जाती है। इसके आस-पास कभी छोटे-छोटे दूसरे मन्दिर भी थे जो अब ध्वस्त हो चुके हैं। नीचे की तरफ कुछ चौरस और गोल चौकियाँ बनी हुई हैं जो किन्हीं ध्वस्त स्तूपों के प्रतीक हो ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इस मन्दिर के चतुर्दिक् शिल्पाकृतियाँ उत्कीर्णित हैं। मन्दिर के मध्य में शिव मूर्ति है। सामने वेदी पर तीन प्रतिमाये हैं। मध्यवर्ती प्रतिमा भगवान् पार्श्वनाथ की है जिसे वहाँ वालों ने 'अनन्तदेव' की प्रतिमा बतलाया। मालूम देता है कि कभी वहाँ अनन्तदेव गोत्रीय सराको की बस्ती रही होगी। यह पार्श्वनाथ प्रतिमा अष्ट महाप्रातिहार्य और धररोन्द्र पद्मावती युक्त है। ऊपर सप्तफल और पृष्ठ भाग में भी सर्पाकृति है। परिकर में उभयपक्ष में अष्टग्रह की प्रतिमायें स्पष्ट निमित्त हैं, बङ्गाल और बिहार की सहस्राब्दि पूर्ववर्ती मूर्तिकला में सेव ग्रहों के आकार स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। राजगृह-वैभारगिरि के खण्डहर स्थित प्रतिमा के परिकर में ऐसी ही नवग्रह प्रतिमायें हैं जिनकी वेशभूषा हमें कुषाणकालीन समय तक ले जाकर खड़ा कर देती है, जबकि परिवर्ती काल में पश्चिम भारत में वे केवल सूक्ष्म चिह्न मात्र पञ्च तीर्थियों में अवशिष्ट रह गये थे। भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा के निम्न भाग में धररोन्द्र पद्मावती हैं और मूर्ति-निर्मापक दम्पति-युगल की चैत्य वन्दना करती हुई प्रतिमायें तो प्रायः सभी तीर्थकर प्रतिमाओं में उपलब्ध हैं। यह मन्दिर पुरातत्त्व विभाग के अधीन है।

बहुलारा से वापस आते घोड़ा होकर विष्णुपुर पहुँचते पहुँचते भगवान् अंशुमाली प्रस्ताब्धल पर जा खड़े हुए। हमने रात्रि में रामपद मण्डल के घर में विश्राम किया और प्रातःकाल विष्णुपुर के ऐतिहासिक स्थानों की शोभा देखने के लिये निकल पड़े।

विष्णुपुर इस समय बाँकुड़ा जिले में है, मध्यकाल में यह स्थान मन्त्रभूमि की राजधानी थी और आज भी दुकानों के साइनबोर्डों तक में अनेकशः यह नाम अभिहित देखा जाता है। हम सर्वप्रथम पुरातत्त्व विभाग के अधीन 'रासमंच' नामक स्थान में गये। कहा जाता है कि रास के विशेष अवसर पर समस्त मन्दिरों के विग्रह यहाँ लाये जाते

थे, परन्तु इस 'रासमंच' स्थान की निर्माण शैली ऐसी विचित्र है कि इनने विशाल पिरामिड आकृति वाले इस स्थान में स्तम्भ बाहुल्य तीन जगती के अन्तराल में सर्वत्र दशन दुर्लभ होते हैं। इसे सन् १५८७ ई० के आस-पास बीर हमीर नामक मल्ल राजा ने निर्माण करवाया था। इस मन्दिर के सामने एक अहाते में दल मादल नामक विशालकाय अद्भुत तोप रखी है जो सन् १७४२ की बनी हुई है। इस कमान का वजन ३०० मन है और सटे बारह फुट लम्बी है। इसका मुहाना १ फुट का है और बनाने में एक लाख रुपये लगे थे। सन् १७४२ में जब मल्ल राज्य पर मराठों ने आक्रमण किया तब यही तोप उनकी रक्षा में काम आती थी।

विष्णुपुर के अनेक मन्दिर बड़े ही सुन्दर शिल्पाकृति वाले बङ्गाल की अद्भुत कला शैली से युक्त हैं। जिस प्रकार आबू के जैन मन्दिरों में प्रस्तर भास्कय अपनी सूक्ष्मता की पराकाष्ठा के प्रबल प्रतीक हैं उसी प्रकार यहाँ के मन्दिर अपने टाली भास्कय निर्माण के लिये बेजोड़ और अद्भुत हैं। राधा माधव का मन्दिर सन् १७३७ में राजा कृष्णसिंह की पत्नी रानी चूडामणि देवी ने बनवाया था। यहाँ से लाल बांध नामक विशाल जलाशय को देखने गये, इसके पास सर्वमङ्गला देवी का मन्दिर है। जब स्वामी रामकृष्ण परमहंस यहाँ दर्शन करने आये, तब उन्हें बाध समाधि हो गई थी। लाल बांध से आते समय एक टेकरी पर 'गुमगड' नामक स्थान इष्टिगोचर हुआ जो गवाक्ष-द्वारादि से बिहीन विचित्रता युक्त था। कहा जाता है कि मल्ल राजा लोग लूट का माल इसी स्थान में सुरक्षित प्रच्छन्न रखते थे।

श्यामराय का मन्दिर सन् १६४३ ई० में रघुनाथसिंह ने निर्माण कराया था। आश्चर्य तो यह है कि इतने विशाल मन्दिर में कहीं इधर भी जगह शिल्पाकृति से रिक्त नहीं छोड़ा। जोड़ा शिव मन्दिर—कृष्ण बलराम मन्दिर रघुनाथ सिंह द्वितीय द्वारा विस्थापित है। जोड़ बङ्गला मन्दिर भी प्रशस्त कोरणी युक्त है, इसकी छत का निर्माण दो संलग्न दुबालों वाले बङ्गले की भाँति है। राधा श्याम मन्दिर सन् १०५८ में राजा चैतन्यसिंह द्वारा प्रतिष्ठापित है। विभिन्न पौराणिक और अवतार चरित्रादि की शिल्प समृद्धि अत्यंत प्रेक्षणीय है। सन् १६५८ में लाल जी मन्दिर की प्रतिष्ठा

राजा श्री बीरसिंह ने करवाई थी।

सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध में राजा बीरसिंह ने पत्थरों द्वारा प्रवेशद्वार का निर्माण करवाया, दुर्ग-प्रवेश के लिये पूर्वकाल में यही एक प्रवेश द्वार था। आगे चलने पर एम प्रस्तरमय निर्मजिला रथ आता है। प्रस्तरमय रथ की प्रथा बङ्गाल, विहार, उड़ीसा के अतिरिक्त सुदूर मैसूर राज्य के हमी तक में पाई जाती है। हमी का रथ बड़ा ही सुन्दर है और इसी प्रकार कोणार्क का भी। रथयात्रा की प्रथा एक ऐसी प्राचीन प्रथा है जिससे लोगों को घर बैठे भगवान् के दर्शन हो जाते थे। बसुदेव हिण्डी नामक प्राचीन महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थ में इसे अति प्राचीन काल से चली आयी परम्परा बतलायी है।

मदनमोहन मन्दिर की प्रतिष्ठा सन् १८६४ में राजा दुर्जनसिंह ने करवाई थी। यह भी बङ्गाल की तत्कालीन टाली की कोरणी (Terracota) का सुन्दर नमूना है। मल्लेश्वर शिव मन्दिर का निर्माण भी सन् १६२२ में बीर हमीरसिंह ने करवाया था।

विष्णुपुर में शंख-शिलियों का काम भी खूब जोरों पर है। सेरुओं घर इसी व्यापार-उद्योग से अपने परिवार का पालन करते हैं। शंख को प्रस्तर शिलाओं पर घिस कर अर्द्ध चन्द्राकार कर्कच (करोत) से अगूठी सांखा चूड़ी आदि विविध प्रकार की वस्तुयें तैयार करते हैं। शंख का करोत बिरहुणी के बिरह की भाँति जाते आते दोनों तरफ काटता ही रहता है। विष्णुपुर के ताँती लोग वस्त्र बुनते हैं, ठठरे कसेरे बर्तन बनाते हैं। यहाँ सराक बन्धुओं के लगभग ३० घर होंगे। सराकों के घरों में खड्डियाँ लगी हैं और वे सूत वस्त्रादि का व्यवसाय करते हैं।

विष्णुपुर से ता० २५ शुक्रवार को हम लोग बस द्वारा बाँकुड़ा आये। जिले का मुख्य नगर होने से बाँकुड़ा एक बहुत बड़ा नगर है। सुख सुविधापूर्ण मारवाड़ी घर्म-शाला, नूतनगंज में ठहरे और बीकानेर के ही एक अनुसूची सहृदय व्यास जी के सुप्रबन्ध में दो दिन रहे। भोजनोपरांत जीन लेकर यहाँ से हम हाडमासरा गये। वहाँ गाँव के अन्त में एक पत्थर के शिखरयुक्त छोटा मन्दिर देखा जिसमें बस्मीक के ढेर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। इसके पीछे जङ्गल में एक पाश्वनाथ भगवान् की प्रतिमा खड़ी थी,

जिस पर ग्राम्य जन कभी कभार सिन्दूर आदि की टीकी लगा देते होंगे। पर आश्चर्य है कि एक दुकानदार ने हमें जैन मन्दिर बतलाते हुए इस स्थान पर पहुँचा दिया। बहुलारा वाली प्रतिमा की भाँति इस प्रतिमा के परिकर में अष्टप्रह, महाप्रातिहार्य, धररोन्द्र पद्म बती और बिम्ब निर्माता युगल की सुरुचिपूर्ण कलामिव्यक्ति प्रेक्षणीय थी। हाडमासरा से हम लोग जीप में तत्काल लौट आये।

दूसरे दिन ता० २६ को प्रातःकाल हम रिवशो द्वारा बाँकुड़ा घर्मशाला से 'इकतेश्वर' महादेव गये। वहाँ इस की बड़ी ख्याति है। मन्दिर के बाहर नारियल, प्रसाद, मिष्ठान्न की दुकानें हैं और पण्डे लोग खंडे रहते हैं। मन्दिर में कुछ सीढ़ियाँ उतरने पर जमीन पर रहे हुए एक स्वाभाविक त्रिकोण से लम्बे पाषाण खंड के तलघर में दर्शन हुए। कहा जाता है कि यहाँ भगवान् शङ्कर का यही रूप है। इस चमत्कारी स्थान पर भक्त लोग 'धरणा' देकर सो जाते हैं और अपने कार्यसिद्धि का वरदान पाकर ही लौटते हैं, ऐसा कहा जाता है।

बाँकुड़ा में बस द्वारा हम गौरावाड़ी गये। वहाँ से कंसावती नदी के तट पर बँधे हुए बाँध के पास पारसनाथ नामक गाँव था। गाँव के स्थान पर सरकार की ओर से बाँध का काम चालू है, इसलिये गाँव वालों के कथनानुसार हमें आशा थी कि वहाँ जाने के लिये सरकारी ट्रकों द्वारा जाने आने की सुविधा मिल जायेगी पर जहाँ हम गौरावाड़ी की कालोनी में उतरे, सभी आफिस शायद गनिवार या अन्य किसी कारण से बन्द थे। हमें एक विद्यार्थी और एक महिला का अच्छा साथ मिल गया जो अपने-अपने गाँव जा रहे थे। हम पैदल ही उनके साथ चल पड़े। मध्याह्न का समय था, विद्यार्थी ने हमें तीन चार मील साथ चलकर जहाँ बाँध का सरकारी आफिस था, पहुँचा दिया और उसने अपने गाँव का मार्ग पकड़ा।

बाँध के पास पहाड़ी टीले पर सरकारी आफिस था। पारसनाथ गाँव का तो नाम शेष हो गया पर वहाँ आफिस के पृष्ठ भाग में हमने एक शिव मूर्ति, नन्दी और कुछ प्रस्तर खण्ड देखे। इसी पहाड़ी पर भगवान् पाश्वनाथ की एक विशाल प्रतिमा जो दो ट्रकों में विभक्त थी, वहाँ वालों ने हमें बतलाया। यह प्रतिमा परिकर में चौबीसी प्रतिमायें,

बिम्ब निर्मिता-युगल और घरगेन्द्र पद्मावती युक्त थी। सिंहासन के सह और हम के आकार भी परिलक्षित थे। वहाँ के आफिसरों के साथ उस प्रतिमा के फोटो लिये और एक मार्ग बताने वाले मजदूर की साथ लेकर हमने अम्बिका नगर का मार्ग पकड़ा। जाते समय तो हमें कड़कड़ाती धूप में चलते कहीं क्षणिक बादलों की छाया मिल जाती थी पर लौटते समय सारा आकाश मेघाच्छन्न हो गया और जोरों से तूफान चलने लगा। हम तूफान की शीतल हवा का आनन्द लेते हुए शीघ्र गति से चलते रहे पर जब वर्षा प्रारम्भ हुई तो हमें सड़क के पास ही एक ग्राम्य स्कूल का बरामदे वाला खाली कमरा मिल गया, जिसमें हमने तत्काल आश्रय ग्रहण कर लिया। पाँच दस बटोही और भी आकर बैठ गये। यह तो सयोग की ही बात थी। यदि जङ्गल में यह स्थान न मिलता तो बड़ी दुर्भाग्य होती, अस्तु। जब वर्षा तूफान बन्द होकर आसमान सफ हो गया तो हम लोग कसावती और कुपारी नदी के सङ्गम पर बसे अम्बिकानगर में नदी के पार जा पहुँचे।

अम्बिका नगर, अम्बिका देवी के मन्दिर के कारण प्रसिद्ध है। मन्दिर के पुजारी महोदय को हमने बुलवा कर मन्दिर खुलवाया। इसके शिलालेख में विदित हुआ कि इस मन्दिर का जीर्णोद्धार सन् १३२० ता० १६ फाल्गुण को राजा राइचरण घवल ने रानी लक्ष्मीप्रिया देवी की स्मृति में कराया था। वस्त्र परिधान युक्त देवी के स्वरूप प्रतिमा लक्षणादि का हम ठीक ठीक आकलन न कर सके पर यह खड़ी हुई मूर्ति है और जैन शासनदेवी अम्बिका मूर्ति से अभिन्न कथञ्चित् भिन्न शैली की परिलक्षित हुई।

अम्बिका नगर में अम्बिका मन्दिर के पृष्ठ भाग में एक जैन मन्दिर अवस्थित है, जिसमें थोड़ा अन्वेषण पड़ता था पर उसमें प्रतिष्ठित-अवस्थित भगवान् आदिनाथ, ऋषभदेव स्वामी की सपरिकर प्रतिमा अत्यन्त सुन्दर है। प्रभु के पृष्ठ भाग में तोरण, जो समवशरण के तोरण का प्रतीक है और प्रभामण्डल की कलापूर्ण है। भगवान् के मस्तक पर जटा केशविन्यास अत्यन्त सुन्दर हैं। सिंहासन के नीचे वृषभ वाहन स्पष्ट है। प्रभु प्रतिमा पायः करके अखण्ड और अत्यन्त मनोज्ञ है। अम्बिका मन्दिर के दाहिनी और चौकी पर कुछ शिल्पकृति-गोवर्द्धन और कुछ लिपि वाला प्रस्तर

भी पड़ा था, हमें जल्दी लौटना था अतः अम्बिका नगर के मिष्ठान्न भण्डार से कुछ मिष्ठान्न और जल लेकर हम नदी पार होकर बाँकुड़ा जाने वाली बस में आकर बैठ गये। यात्रासमय बाँकुड़ा पहुँच कर धर्मशाला में निवास किया।

बाँकुड़ा की धर्मशाला बड़ी विशाल है, रहने की सब प्रकार की सुविधा है। सोने के लिये खटिया उपलब्ध हो जाती है, जिसकी आमदनी से पारार्पित-कवृत्तर लोग दाना चुगते हुए निर्माणाग्रां, अनुमोदकी, व्यवस्थापकों की पुण्य वृद्धि करते हैं। धर्मशाला की दीवारों पर संकडो सुभाषित और शिक्षाप्रद दोहे श्लोक लिखे हुए हैं जो बड़ी प्रेरणा-दायक सुरुचिपूर्ण पद्धति है।

बाँकुड़ा से दूसरे दिन प्रातःकाळ खाना होकर हम रेल द्वारा इन्द्रवीणा पहुँचे और स्टेशन से अनतिदूर स्थित 'महाल कोक' नामक गाँव में गये। यहाँ हमारे पूर्व परिचित जयहरि श्रावक का निवास स्थान है। ये सराक भाई सुसंस्कृत और जैन शिक्षा-दीक्षा से सुगरचित होने के साथ साथ राजस्थान, बङ्गाल, बिहार, महाराष्ट्र, गुजरात और उत्तरप्रदेशादि के सभी जैन तीर्थों में घूमे हुए हैं और जैन के प्रचार कार्य व साधुजन सेवा में ही इनकी रुचि रही रही है। कई वर्ष पूर्व जब यहाँ से निकटवर्ती तालाजुड़ी गाँव में भगवान् आदिनाथ स्वामी की पद्मासनस्थ प्रतिमा तालाब के पाल पर प्रकट हुई थी, उस समय मैं श्री ताजमल जी साहब बोधरा के लघु भ्राता श्री हनुमानमल जी बोधरा के साथ यहाँ आया था। और इन्हीं के यहाँ प्रेमपूर्ण वातावरण में ठहर कर तालाजुड़ी जाकर प्रभु दर्शन किये। अब यह प्रतिमा श्री ताजमल जी बोधरा एवं तत्रस्थ सराक बन्धु के प्रयत्न से कलकत्ता आ गई और बड़े मन्दिर में बिराजमान है। महाल कोक में कुल ३० घरों की छोटी सी साफ सुथरी बस्ती है जिसमें १२ घर सराको के हैं। हमने यहाँ एवं इधर के कई गाँवों में हिन्दुओं के घरों की दीवार पर चारों ओर एक काली सी घारी पट्टी दृष्टिगोचर होती है जो रोहण-मनसा पूजा का प्रतीक बतलाया जाता है। सराक लोग जैन धर्माचार विस्मृत होकर बङ्गाल के देवी पूजा आदि को मान्य करने लगे हैं पर शताब्दियाँ बीत गई सम्पर्क छूट गया फिर भी खान-पान में शुद्ध निरामिष

भोजी संस्कार आज भी विद्यमान हैं।

हमारा उद्देश्य था कि भाई जयहरि को साथ लेकर पाकवेडरा आदि उधर के प्राचीन जैन खण्डहरादि स्थानों में घूम कर जैन-अवशेषों का अध्ययन करे पर वे स्वयं उस तरफ गये हुए नहीं थे अतः उन्हें कष्ट न देना उचित समझ हम उनके यहाँ एक दिन एक रात्रि का आतिथ्य ग्रहण कर रेल द्वारा आद्रा आये। रेल लेट होने से पूँचा जाने वाली बस निकल चुकी थी अतः तीन घण्टों की प्रतीक्षा कर दूसरी बस में बारह बजे 'पूँचा' गाँव आये। यहाँ से दो ढाई मील दूर पाकवेडरा है। हमें तो वहाँ जाकर तत्काल लौटना था, क्योंकि ढाई बजे की बस निकल जाने से हमें फिर एक अहोरात्र वही रहना पड़ता। अतः अपना सामान वही सुनील ठाकुर नामक सज्जन की दुकान के पास रख कर शीघ्र गति से हम लोग पाकवेडरा पहुँचे। उस दिन वहाँ मेला होने से ग्राम्य जन सड़ो की सड़्या में एकत्र थे। मदनमत्त स्त्री पुरुषों का समूह अपने गले में ढोल-ढक्कादि वाजित्र बजाते हुए नाच रहा था। वे लोग जिनेश्वर भगवान् की प्रतिमाओं को भँवर मानकर पूजते थे। पाकवेडरा की सभी प्रतिमाएँ और भग्नावशेष एक ही अहाते में रखे हुए थे, जिसमें प्रविष्ट होने पर आसानी से दर्शन किया जा सकता था। इसमें अवस्थित सभी जिन प्रतिमाएँ अव्यवस्थित ढङ्ग से पड़ी थी। ७ फुट ऊँची खड्गासन स्थित श्री पद्मभु स्वामी की प्रतिमा—जिमका परिकर नहीं था, केवल उभय पक्ष में चामरधारी इन्द्र अवशिष्ट थे। प्रभु लांछन भी पूजन सामग्री में ढक जाने से दृष्टिपथ लुप्त था—के दर्शन किये जो ग्राम्य जनों के पूजना केन्द्र थे।

पाकवेडरा के इस स्थान में तीन चार मन्दिर आज भी खड़े हैं पर वे खाली पड़े हैं और अखण्डित-खण्डित सभी अवशेष इसी अहाते में लाकर रख लिये गये हैं। यहाँ कतिपय विभिन्न शैली और विधाओं की प्रतिमाएँ दृष्टि-गोचर हुईं। भगवान् प्रादिदेव, ऋषभ प्रभु की पाँच प्रतिमाएँ हैं, जिनमें दो चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमा परिकर युक्त हैं। एक पंचतीर्थी परिकर युक्त और दो खण्डित हैं, जिनमें से एक के तो बड़े खण्ड हुए पड़े हैं। भगवान् महावीर की दो प्रतिमाएँ हैं जिनमें एक पंचतीर्थी परिकर,

तोरण, भामण्डलादि प्रातिहार्य युक्त है। यहाँ की प्रतिमाओं के तोरण उपरि भाग में न होकर प्रभु के पृष्ठ भाग साँची-तोरण की भाँति हैं। अम्बिका नगर की ऋषभदेव प्रतिमा का तोरण इसी प्रकार का है। दूसरी प्रतिमा के परिकर में अष्टग्रह प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। अम्बिका देवी की एक खड़ी हुई प्रतिमा है एवं तीन प्रतिमाएँ वृक्ष युक्त हैं। जिनमें एक में उपरि भाग में जिन प्रतिमा, वृक्ष के नीचे यक्ष-यक्षिणी और निम्न भाग में सप्त ग्रह मूर्तियाँ हैं। दूसरी प्रतिमा के निम्न भाग में सिंहासन के नीचे दो कलश बने हुए हैं, जिनकी रचना गैली बङ्गाल के कलशों में अभिन्न है। तीसरी प्रतिमा भी वृक्ष तल में यक्ष यक्षिणी वाली है। एक शान्तिनाथ स्वामी की खण्डित प्रतिमा है जिसमें प्रभु का लांछन हरिण स्पष्ट परिलक्षित है। एक तीर्थंकर प्रतिमा और एक चतुर्विंशति तीर्थंकर प्रतिमा है। एक चौमुख मन्दिर सर्वतोभद्र और एक चतुर्मुख स्तूप भी इन प्रतिमाओं के मध्य में विद्यमान हैं।

यहाँ मैंने जिन यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाओं का उल्लेख किया है वस्तुतः यह निर्णय नहीं कई विद्वानों ने इन्हे भगवान् के माता-पिता और कइयों ने यक्ष-यक्षिणी माना है पर मेरे विचार में यह विषय अभी विचारणीय है अतः स्त्री-पुरुष जोड़ी कह सकते हैं। माता-पिता की प्रतिमा वृक्ष के नीचे हो और वृक्ष पर अर्हन्त प्रतिमा हो, यह बात तर्क-सङ्गत नहीं लगती। भगवान् की माताओं की मूर्तियाँ "चतुर्विंशति जिन मातृ पट्टक" बीकानेर, जैमलमेर आदि अनेक स्थानों में विद्यमान हैं पर उनमें माता की गोद में बालक भगवान् को दिखाया गया है। लगभग ३१ वर्ष पूर्व क्षत्रिय कुण्ड लछुवाड़ की धर्मशाला में मैंने एक काली पाषाण की लेख सहित पन्द्रह सौ वर्ष से भी प्राचीन प्रतिमा त्रिशला माता और गोद में भगवान् महावीर की देखी थी जो कुछ दिन बाद ही वहाँ से गायब हो गई। शिल्प शास्त्र और मूर्ति विज्ञान के विद्वान् इस पर विशेष प्रकाश डालें। जब वृक्ष शाल्मलि आदि पर शाश्वत जिन बिम्बों का उल्लेख है, जिनके भी शस्त्रों में बरगान मिलते हैं। हमारे सग्रह में एक दो सौ वर्ष प्राचीन सुंदर चित्र में वृक्ष पर अर्हन्त प्रतिमा और सामने चतुर्विध सप्त, प्रजोपकरण लिये भक्तादि दिखे हैं, पर वह भव भी किस हेतु

का है, विचारणीय है।

वस्तुतः बङ्गाल का प्राचीन धर्म ही जैन धर्म था। बङ्गाल में यत्र तत्र सर्वत्र जैन अवशेष ही पाये जाते हैं। हमें इन स्थानों में कहीं भी बौद्ध प्रतिमायें दृष्टिगोचर नहीं हुईं। इन विभिन्न शैली और कलात्मक प्रतिमाओं का अध्ययन समय सापेक्ष है। हम तो वहाँ केवल पन्द्रह मिनट ही रुके थे। जिन प्रतिमा निर्माण शैली का प्रवाह सर्वत्र

व्याप्त था। ऐसी प्रतिमाये बिहार में भी देखने में आई है।

पाकबेडरा से हम दो बजे पूँचा पहुँच गये और बस में बैठकर सीधे पुरुलिया स्टेशन आ पहुँचे। यद्यपि श्री ताजमल जी साइव और भी स्थानों में चलना चाहते थे और तीर्थाविराज श्री सम्मेद शिखर जी की यात्रा करने की प्रबल भावना थी पर मौसम और मार्ग प्रतिकूलता ने हमें कलकत्ता लौटने को बाध्य कर दिया।



अनेकान्त के ग्राहक बनिये

‘अनेकान्त’ जैन समाज की एकमात्र शोध-पत्रिका है। जैन साहित्य, जैन आचार्यों और जैन परम्परा का इतिहास लिखने वाले विद्वान् ‘अनेकान्त’ की ही सहायता लेते हैं। इसका प्रत्येक लेख पठनीय और प्रत्येक अङ्क संग्रहणीय होता है। प्रत्येक मन्दिर और वाचनालय में इसे अवश्य मँगाना चाहिये। मूल्य केवल ६) रुपया।

श्री वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज,
दिल्ली-६

जैन तीर्थ श्रावस्ती

—प० बलभद्र जैन

—***—

मार्ग—श्रावस्ती उत्तरप्रदेश के बलरामपुर-बहराइच रोड पर अवस्थित है। यह सड़क मार्ग से अयोध्या से १०६ कि० मी० है जो इस प्रकार है—अयोध्या से गोंडा ५० कि०मी०। गोंडा से बलरामपुर ४२ कि०मी०। बलरामपुर से श्रावस्ती १७ कि०मी०। यह प्राचीन नगर है किन्तु अब तो यह खण्डहरों के रूप में बिखरा पड़ा है। इस नगरी के खण्डहर गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा पर 'सहेट-महेट' नाम से बिखरे पड़े हैं। ये अर्धचन्द्राकार स्थिति में एक मील चौड़े और सवा तीन मील लम्बे क्षेत्र में बिखरे हुए हैं। रेल मार्ग से यहाँ पहुँचने के लिये उत्तर पूर्वी रेलवे के गोंडा-गोरखपुर लाइन के बलरामपुर स्टेशन पर उतरना चाहिये। यहाँ से क्षेत्र पश्चिम में है। यह बलरामपुर से बहराइच जाने वाली सड़क के किनारे पर है। एक छोटी सड़क खण्डहरों तक जाती है। सहेट-महेट पहुँचने का सुगम साधन बलरामपुर-बहराइच के बीच चलने वाली सरकारी बस है। इसके अलावा बलरामपुर से टैक्सी, जीप आदि भी मिलती हैं। यहाँ ठहरने के लिये जैन धर्मशाला बनी हुई है।

जैन तीर्थ—श्रावस्ती प्रसिद्ध कल्याणक तीर्थ है। तीसरे तीर्थकर भगवान् सभवनाथ के गर्भ, जन्म, तप और केवल ज्ञान कल्याणक यही हुए थे। चारों प्रकार के देवों और उन मनुष्यों ने इन कल्याणकों की पूजा और उत्सव किया था। भगवान् सभवनाथ का प्रथम समवशरण यही लगा था और उन्होंने यही पर धर्मचक्र प्रवर्तन किया था।

आर्ष ग्रन्थ तिलोय पण्णत्ति में निम्न प्रकार का उल्लेख मिलता है:—

सावित्योए संभववेवो य जितारिणा सुसेणाए ।

मगसिर पुण्णिमाए जेट्टारिक्कम्मि संजावो ॥५२८

अर्थात् श्रावस्ती नगरी में सभवनाथ मगसिर शुक्ला पूर्णिमा को ज्येष्ठा नक्षत्र में उत्पन्न हुए। उनके पिता का नाम जितारि और माता का नाम सुसेणा था।

इसी प्रकार पद्म पुराण, नराग चरित, हरिवंश पुराण उत्तर पुराण आदि में भी उल्लेख मिलते हैं।

संभवकुमार ने अपना बाल्यकाल और युवावस्था यहीं बिताई। उन्होंने राज्य शासन और सांसारिक भोगों का भी स्वाद लिया। लेकिन एक दिन जब उन्होंने हवा के द्वारा मेघों को गहन में विलीन होते देखा तो उन्हें जीवन के समस्त भोगों की क्षणभंगुरता का यकायक अनुभव हुआ और उन्हें संसार से वैराग्य हो गया। फलतः मगसिर शुक्ला पूर्णिमासी को श्रावस्ती के सहेतुक वन में दीक्षा ले ली। तब इन्द्रों, देवों और मनुष्यों ने भगवान् का तप कल्याणक मनाया।^१ चौदह वर्ष तक भगवान् ने घोर तप किया और जब घातिया कर्म नष्ट करके कार्तिक कृष्णा ४ को केवल ज्ञान हो गया, तब भी देवों और मनुष्यों ने श्रावस्ती के सहेतुक वन में बड़े उल्लास के साथ ज्ञान कल्याणक का पूजन किया। इस प्रकार इस नगरी को भगवान् सभवनाथ के चार कल्याणक मनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इससे यह पवित्र नगरी एक महान् तीर्थ के रूप में मान्य हो गई है।

हरिवंश पुराण (सर्ग २८ श्लोक २६) के अनुसार जित शत्रु नरेश के पुत्र मृगध्वज ने श्रावस्ती के उद्यान में

१—तिलोयपण्णत्ति—४/६४३, ६४६

२

„

—४/६८१

मुनि बनकर सिद्ध पद पाया ।

करकण्डु चरित्र (पृष्ठ १८१) में वर्णन आया है कि श्रावस्ती के प्रसिद्ध सेठ नागदत्त ने स्त्री चरित्र से खिन्न हो कर मुनि दीक्षा ले ली और अन्त में यही से मुक्ति-पद प्राप्त किया । इस प्रकार श्रावस्ती सिद्ध क्षेत्र भी है ।

यहाँ पर भगवान् महावीर का समवसरण कई बार आया था और भगवान् का उपदेश सुनकर श्रावस्ती के अधिकांश नागरिक महावीर के भक्त बन गये थे ।

श्रावस्ती नरेश जयसेन बौद्ध धर्म का उपासक था । एक बार आचार्य यति ऋषभ बहाँ पधरे । राजा प्रजा सभी उनके दर्शनार्थ गये । उनका उपदेश सुनकर राजा ने जैन धर्म धारण कर लिया । शिवगुप्त को इससे बड़ा क्षोभ हुआ । वह पृथ्वी नरेश सुमति के पास गया, जो शिवगुप्त का शिष्य था । उसने राजा से शिकायत की । राजा ने एक धूर्त को जयसेन की हत्या करने का कार्य सौंपा । वह धूर्त श्रावस्ती पहुँचा । उसने आचार्य यति ऋषभ से मुनि-दीक्षा ले ली । एक दिन राजा जयसेन मन्दिर में मुनि बन्दना के लिये गया । जब वह नव दीक्षित मुनि के चरणों में झुका तो उस धूर्त ने राजा की हत्या कर दी और भाग गया । आचार्य ने यह देखकर विचार किया कि लोग मेरे ऊपर हत्या का सन्देह करेंगे । अतः उन्होंने दीवार पर घटना लिखकर आत्महत्या कर ली ।

—हरिसेण कथाकोश कथा १५६

पादर्व परम्परा के मुनि केशी से भ० महावीर के पट्ट गणधर गौतम स्वाकी की भेंट श्रावस्ती में ही हुई थी । भगवान् महावीर के कई चातुर्मास भी यहाँ हुए थे । इस प्रकार के स्पष्ट उल्लेख श्वेतावर आगमों में मिलते हैं ।

प्राचीन काल में यहाँ पर जैनों के अनेकों मन्दिर और स्तूप बने हुए थे । भ० सम्बनाथ का विशाल मन्दिर भी यहाँ निमित्त हुआ था । इस मन्दिर के सम्बन्ध में श्री जिन प्रभ सूरि ने विविध^१ तीर्थ कल्प में लिखा है—'यहाँ का भगवान् सम्बनाथ का विशाल जिन भवन रत्न निमित्त था, जिसकी रक्षा मणिभद्र यक्ष किया करता था । इस यक्ष के प्रभाव से मन्दिर के किवाड़ प्रातः होते ही स्वयं खुल जाते थे और सूर्यास्त होते ही बंद हो जाया करते थे।'।

१—श्रावस्ती नगरी कल्प

इस सुन्दर जिन भवन को सुल्तान अलाउद्दीन ने बह-राष्ट्र की विजय के समय तोड़ दिया ।

इतिहास—आद्य तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने ५२ जनपदों की रचना की थी । उनमें एक कोशल देश भी था । कोशल के दक्षिणी भाग की राजधानी साकेत या अयोध्या थी जो सरयू के दक्षिण तट पर अवस्थित थी । उत्तरी कोशल की राजधानी श्रावस्ती थी जो अचिरावती (राप्ती) के दक्षिण तट पर स्थित थी । लगना है कोशल देश का यह विभाजन बहुत पश्चाद्वर्ती काल में हुआ । क्योंकि भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षा लेने समय अपने सौ पुत्रों को जिन देशों का राज्य दिया था, उन देशों में कोशल देश का ही नाम आया है । चक्रवर्ती भरत की दिग्विजय के प्रसङ्ग में भी मध्य देश में कोशल का नाम मिलता है । परवर्ती काल में कोशल जनपद का नाम कुणाल या कुलाल^२ भी प्रसिद्ध हो गया ।

महावीर से पहले जिन सोलह महाजनपदों की और छह महानगरियों की चर्चा प्राचीन साहित्य में मिलती है, उनमें श्रावस्ती का भी नाम है । उस समय कोशल राज्य बड़ा शक्तिशाली था । काशी और साकेत पर भी कोशल का अधिकार था । शक्य सच इन्हें अपना अधीश्वर मानता था । यह महाराज्य दक्षिण में गङ्गा और पूर्व में गण्डक नदी को स्पर्श करता था^३ । इस काल में श्रावस्ती में एक विश्वविद्यालय भी था ।

महावीर के समय में श्रावस्ती का राजा प्रसेनजित था । यह बड़ा प्रतापी नरेश था । उसने अपनी बहन का विवाह मगध सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार के साथ कर दिया था और काशी की आय दहेज में दे दी थी । प्रसेनजित के पुत्र विदूडभ अथवा विदूरथ ने राजगृह में अपने राजनैतिक सम्बन्ध सुदृढ़ करने के लिये अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह श्रेणिक के पुत्र कुरिणिक अथवा अजातशत्रु के साथ कर दिया था । किन्तु काशी के ऊपर दोनों राज्यों का भगड़ा बराबर होता रहा । कोशल नरेश ने एक बार काशी को राजगृह

१—'भूगोल'—संयुक्त प्रान्ताङ्क पृष्ठ २८६

२—हरिसेण कथाकोश कथा ८१

३—आचार्य चतुरसेन शास्त्री—वैशाली की नगरवधू 'भूमि'

पृष्ठ ७६२

के प्रभाव से मुक्त कर लिया था किन्तु अजातशत्रु ने काशी को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया।

प्रसेनजित के सम्बन्ध में श्वेताम्बर आगमों में कुछ उल्लेख मिलता है। यहाँ प्रसेनजित के स्थान पर प्रदेशी नाम दिया गया है। उसे पार्श्वीय सम्प्रदाय के केशी का अनुयायी बताया गया है। बाद में वह भगवान् महावीर का अनुयायी बन गया।

बौद्ध ग्रन्थों में भी प्रसेनजित के स्थान पर पसदि नाम आया है। बौद्ध ग्रन्थ 'अशोकवदान'^१ में प्रसेनजित के पूर्ववर्ती और पश्चाद्वर्ती वंशधरी के नाम मिलते हैं। उसके अनुमात्र व्रत (वक), रत्नञ्जय, सजय, प्रसेनजित, विदूरथ, कुमुलिक, सुरथ और सुमित्र इस वंश के राजा हुए। सुमित्र को महापद्म नन्द ने पराजित करके कोशल को पाटलिपुत्र साम्राज्य में आत्मसात् कर लिया। अशोकवदान की इस वंशावली का समर्थन अन्य सूत्रों^२ से भी होता है।

भरहुत में जो प्रसेनजित स्तम्भ है, वही इसी प्रसेनजित का बताया जाता है।

प्रसेनजित के साथ शाक्य वंशी क्षत्रियों ने किस प्रकार मायाचार किया, उसकी कथा अत्यन्त रोचक है। प्रसेनजित ने शाक्य संघ से एक सुन्दर कन्या की याचना की। शाक्य लोग उसे अपनी कन्या नहीं देना चाहते थे, किन्तु उस प्रबल प्रतापी नरेश को असन्तुष्ट भी नहीं कर सकते थे। अतः उन्होंने एक दासी-पुत्री के साथ उसका विवाह कर दिया। इसी दासी पुत्री से विदूरथ का जन्म हुआ था।

एक बार विदूरथ युवराज अवस्था में अपनी ननसाल कपिलवस्तु गया। वहाँ उसे शाक्यों के मायाचार का पता चल गया। उसने शाक्य संघ को नष्ट करने की प्रतिज्ञा की। घर पर आकर उसने अपने पिता से यह बात कही। इस प्रसङ्ग पर दोनों में मतभेद हो गया। नौवत यहाँ तक पहुँची कि विदूरथ ने पिता को राज्यच्युत कर दिया। प्रसेनजित महारानी मल्लिका को लेकर राजनैतिक शरण लेने राजगृह पहुँचे। किन्तु नगर के बाहर ही दोनों की

मृत्यु हो गई।^३

विदूरथ अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार शाक्य संघ पर आक्रमण करने तीन बार गया, किन्तु बौद्ध ने तीनों बार उसे रोक दिया। चौथी बार बुद्ध का विहार अन्यत्र हो रहा था, उस समय विदूरथ ने शाक्य संघ का विनाश कर दिया। जब उसकी सेना लौट कर एक नदी के किनारे पड़ाव डाले हुए थी, तभी जोरो की ओलावृष्टि हुई। नदी में बाढ़ आ गई और सब बह गये।

भगवान् महावीर ने जब दीक्षा ली, उससे प्रायः आठ माह पहले कुणाला (कोशल) देश में भयङ्कर बाढ़ आ गई। उसमें श्रावस्ती को बहुत क्षति पहुँची।^४ बौद्ध ग्रन्थों में है कि अनाथ ण्डद सेठ सुदत्त की अठारह करोड़ मुद्रा अचिरावती के किनारे गड़ी हुई थी। वे भी इस बाढ़ में बह गई। श्वेताम्बर आगमों के अनुसार यह बाढ़ कुरुण और उत्कुरुण नामक दो मुनियों के शाप का परिणाम थी। किन्तु कुछ समय बाद यह नगरी पुनः धनधान्य से परिपूर्ण हो गई। जैन शास्त्रों के अनुसार इस नगर में ऐसे सेठ भी थे, जिनके भवनों पर स्वर्णमण्डित शिखर थे और उन पन छप्पन ध्वजाये फहराती थीं। जो इस बात की प्रतीक थी कि उस सेठ के पास इतने करोड़ स्वर्णमुद्राये हैं।

वास्तव में अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण श्रावस्ती अत्यन्त समृद्ध नगरी थी। इसका व्यपारिक सम्बन्ध सुदूर देशों से था। यहाँ से एक बड़ी सड़क दक्षिण के प्रसिद्ध नगर प्रतिष्ठान (पैठण, जि० औरङ्गाबाद) तक जाती थी। इस पर साकेत, कोशाम्बी, विदिशा, गोनर्द, उज्जयिनी, माहिष्मती आदि नगर थे। एक दूसरी सड़क यहाँ से राजगृही तक जाती थी। इस मार्ग पर सेतव्य, कुशीनारा, पावा, हस्तिग्राम, मण्डग्राम, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालन्दा पड़ते थे। तीसरा मार्ग गङ्गा के किनारे-किनारे जाता था। अचिरावती नदी से गङ्गा और यमुना में

१—Early History of India, by Vincent Smith

The Hindu History of India, by A.K. Mazamdor

१—Records of the Western World Part I & II, by Rev. Beal

२—Chronology of India, by Mrs. M. Duff

२—Life in ancient India, P. 256

नौकाओं द्वारा माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाया जाता था। ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं कि विदेह से गान्धार, मगध से सीवीर, मरुक्छ से समुद्र के रास्ते दक्षिण पूर्व के देशों से व्यापार होता था।

स्वातन्त्र्य सेनानी सुहृद्ध्वज—श्रावस्ती की यह समृद्धि और स्वतन्त्रता १२-१३ वीं शताब्दी तक ही सुरक्षित रह सकी और उसकी सुरक्षा का अन्तिम सफल प्रयत्न श्रावस्ती नरेश सुहृद्ध्वज या सुहृद्देव ने किया। कनिष्क^१ तथा स्मिथ^२ ने भी इसका समर्थन किया है। यह राजा जैन था। उस समय महमूद गजनवी भारत के अनेक प्रांतों को रोबता हुआ गजनी लौट गया। उसने अपने भानजे सैयद सालार मसऊदगानी की भ्रवध-विजय के लिये मुसलमानों की विशाल सेना के साथ भेजा। सालार जितना बहादुर सिपहसालार था, उतना ही कूटनीतिज्ञ भी था। उसने अनेकों हिन्दू राजाओं को फूट डालकर अथवा युद्ध में गायों को प्रागे करके पराजित कर दिया। किन्तु जब वह बहराइच के सपीप कौड़ियाला के मैदान में पहुँचा तो उसे वृद्ध सङ्कल्पी जैन नरेश सुहृद्देव से मोर्चा लेना पड़ा। इस युद्ध में सन् १०३४ में सैयद सालार और उसके सैनिक राजा सुहृद्देव के हाथों मारे गये।^३ इससे श्रावस्ती भी सुरक्षित रही और लगभग दो सौ वर्ष तक भ्रवध भी मुसलमानों के आतङ्क से मुक्त रहा।

किन्तु इस घटना के कुछ समय पश्चात् किसी देवी विपत्ति के कारण श्रावस्ती का विनाश हो गया। उसके बाद अलाउद्दीन खिलजी ने आकर यहाँ के मन्दिरों, विहारों स्तूपों और मूर्तियों का बुरी तरह विनाश किया। उसके कारण श्रावस्ती खण्डहरो के रूप में परिवर्तित हो गई और फिर कभी अपने पूर्व गौरव को प्राप्त न कर सकी।

१-प्रार्क० सर्वे रिपोर्ट ऑफ इण्डिया साग २

पृष्ठ ३१६-३२३

२-जर्नल रायल एशियाटिक सोसायटी सन् १६०० पृष्ठ १

३-अबुलहसन बिल्ली कृत 'मीराते मसऊदी'-सुहृद्देव ने उन्हें उनके पड़ाव बहराइच में आ घेरा। यहाँ मसऊद रजबुल मुरज्जक १८ वीं तारीख को ४२४ हिजरी में (सन् १०३४ ई०) अपनी सारी सेना सहित मारा गया।

पुरातत्त्व—यह नगरी प्रारम्भ से तीर्थ क्षेत्र के रूप में मान्य रही है तथा खूब समृद्ध रही है। अतः यहाँ विपुल संख्या में मन्दिरों, स्तूपों और विहारों का निर्माण हुआ। मौर्य युग में सम्राट् अशोक ने कई स्तम्भ और समाधि स्तूप बनवाये थे। उनके पौत्र सम्राट् सम्प्रति ने भगवान् सभवनाथ की जन्मभूमि पर स्तूप और मन्दिरों का निर्माण कराया था। किन्तु अलाउद्दीन खिलजी (१२६६-१३१६) ने इन कलाकृतियों और धर्मायतनों का विनाश कर दिया। उसके खण्डहर सहेट-महेट ग्राम में मीलों तक बिखरे पड़े हैं। भारत सरकार की ओर से यहाँ सन् १८६३ से पुरातत्त्ववेत्ता जनरल कनिष्क, वेनेट, होय, कागल, दयाराम साहनी, मार्शन आदि की देख-रेख में कई बार खुदाई कराई गई। इस खुदाई के फलस्वरूप जो महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हुई है, वह लखनऊ और कलकत्ता के म्यूजियमों में सुरक्षित है। इस सामग्री में स्तूपों, मन्दिरों और विहारों के भवशेष, मूर्तियाँ, ताम्रपत्र, अभिलिखित मुद्राएँ आदि हैं। यह सामग्री ई० पू० चौथी शताब्दी से लेकर १२ वीं शताब्दी के अन्त तक की है। एक ताम्रपत्र के अनुसार, जो कन्नौज के राजा गोविन्द चक्र का है, ज्ञात होता है कि सहेट प्राचीन जेतवन (बौद्ध विहार) का स्थान है और महेट प्राचीन श्रावस्ती है। महेट के पश्चिमी भाग में जैन भवशेष प्रचुर मात्रा में मिले हैं। यह भाग हमलिया दरवाजे के निकट है। यही पर भगवान् सभवनाथ का जीर्णोद्धार मन्दिर है जो अब सोमनाथ मन्दिर कहलाता है। सोमनाथ सभवनाथ का ही विकृत रूप है। इस मन्दिर की रचना पर ईरानी शैली की छाप है। इसके नीचे प्राचीन जैन मन्दिर के भवशेष हैं। मन्दिर के ऊपर गुम्बद सावुत है किन्तु दो तरफ की दीवारें गिर चुकी हैं। वेदी के स्थान पर एक पाँच फुटी महारावदार अलमारी बनी हुई है। गर्भगृह १० × १० फुट है। उत्तर, पूर्व और दक्षिण की ओर द्वार हैं। दीवार का आसाव साढ़े तीन फुट है। गर्भगृह के बाहर एक चबूतरा है। उसके प्रागे नीचाई में दो प्रांगण हैं। ऐसा लगता है कि यह मन्दिर तीन करणियों पर बना था। इसका पूर्वी भाग कंकरीले फर्श वाला समचतुर्भुज प्रांगण है जो पूर्व से पश्चिम ५६ फुट और उत्तर से दक्षिण ४६ फुट चौड़ा है। इसके चारों ओर ईंटों की दीवार है

जिसमें मध्यकालीन मन्दिरों की शैली की घड़ी हुई छोटी ईंटें लगी हैं। दीवार के घन्दरूनी भाग में वेदियाँ बनी हुई हैं। खुदाई के समय यहाँ बहुत सी जैन मूर्तियाँ मिली थीं। कहा जाता है, यहाँ चौबीस तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ थी। इस मन्दिर के उत्तर पश्चिमी कमरे में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव की एक मूर्ति मिली थी। एक शिलापट पर पद्मासन मुद्रा में भगवान् विराजमान हैं। पीठासन के दोनों ओर सामने दो सिंह बैठे हुए हैं। मध्य में ऋषभदेव का लांछन वृषभ है। भगवान् के दोनों ओर दो यक्ष खड़े हैं। उनके ऊपर तीन छत्र सुशोभित हैं। इसके अनिरिक्त शिला पट पर तेईस तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ उकेरी हुई हैं। यह मूर्ति बड़ी भव्य है और लगभग एक हजार वर्ष प्राचीन है।

कई मूर्तियों के आसन पर शिलालेख उत्कीर्ण हैं। इन लेखों के अनुसार प्रतिमाओं का प्रतिष्ठा काल वि० संवत् ११३३, १२३४ है। इनके अलावा यहाँ चैत्यवृक्ष, शासन देवियों की मूर्तियाँ आदि भी प्राप्त हुई हैं। ये सब प्रायः मध्यकालीन कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

सोभनाथ मन्दिर के बाहर पुरातत्व विभाग की ओर से जो परिचय-पद लगा हुआ है, उस पर इसका परिचय इस प्रकार लिखा है:—

“यह एक जैन मन्दिर है। सोभनाथ भगवान् संभवनाथ का अपभ्रंश ज्ञात होता है। संभवनाथ तीसरे जैन तीर्थङ्कर थे और उनकी जन्मभूमि आबस्ती थी। यहाँ से कितने ही जैन आचार्यों (तीर्थङ्करों) की प्रतिमाये प्राप्त हुई हैं। इस मन्दिर के किसी विशेष भाग की कोई निश्चित तिथि तय नहीं की जा सकती है। इसके ऊपर का गुम्बद, तो उत्तरकालीन भारतीय-अफगान शैली का है, प्राचीन जैन मन्दिर के शिखर पर बनाया गया है।

पुरातत्ववेत्ताओं (मि० कनिंघम आदि) की मान्यता है कि इस मन्दिर के आस-पास १८ जैन मन्दिर और थे। जिनके अवशेषों पर पेड़ और झाड़ियाँ उग आई हैं। चारों

ओर का जङ्गल अवशेषों पर ही है। कुछ लोगों का विश्वास है कि चन्द्रप्रभु भगवान् का जन्म स्थान यहीं था और इन अवस्थ मन्दिरों में से कोई था।

सोभनाथ मन्दिर के निकट ही दो टीले हैं एक का नाम है पक्की कुटी और दूसरे का नाम है कच्ची कुटी। दोनों टीलों पर धनुषाकार दीवार बनी हुई है। दोनों ही टीलों का सूक्ष्म अवलोकन करने पर प्रतीत होता है कि यहाँ पर अवश्य ही स्तूप रहे होंगे।

बौद्ध तीर्थ—सहेट भाग बौद्ध तीर्थ रहा है। म० बुद्ध के निवास के लिये सेठ सुदत्त ने राजा प्रमेनजित के पुत्र राजकुमार जेत से उसका उद्यान ‘जेत वन’ अधारह करोड़ मुद्रा में खरीद कर एक बिहार का निर्माण कराया था। सेठानी विशाखा ने भी ‘पूर्वाराम’ नाम का एक सधाराम बनवाया था। सम्राट् अशोक ने एक स्तूप का निर्माण कराया था। म० बुद्ध ने यहाँ कई चातुर्मास किये थे। इन सब कारणों से बौद्ध लोग भी इसे अपना तीर्थ मानते हैं। देश-विदेश के बौद्ध यहाँ यात्रा करने आते हैं। यहाँ बौद्धों के तीन नवीन मन्दिर भी बन चुके हैं। वैशाखी पूर्णिमा को उनका मेला भी भरता है।

वर्तमान जैन मन्दिर—बलरामपुर से बहराइच जाने वाली सड़क के किनारे एक जैन मन्दिर बना हुआ है। मन्दिर शिखरबद्ध मन्दिर के बाहर तीन ओर बरामदे बने हुए हैं। एक हाल में एक वेदी बनी हुई है। भगवान् संभवनाथ की श्वेत वर्ण पद्मासन पीने चार फुट अवगाहना वाली भव्य प्रतिमा विराजमान है। इसकी प्रतिष्ठा सन् १९६६ में की गई थी। मूलनायक के अनिरिक्त २ संभवनाथ की, १ महावीर स्वामी की तथा १ सिद्ध भगवान् की धातु प्रतिमायें भी विराजमान हैं। भगवान् के चरण-युगल भी अङ्कित हैं।

मन्दिर उद्यान के दांये बाजू में है। सामने यही जैन धर्मशाला भी है।

लेखक की ‘भारत के जैन तीर्थ’ पुस्तक के प्रथम भाग से साभार

कवि धनपाल

कवि धनपाल 'धर्कटवंश' नामक वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ था। इसके पिता का नाम माएसर और माता का नाम धनसिरि (धन श्री) देवी^१ था। प्रस्तुत धर्कट या धक्कड़ वंश प्राचीन है। यह वंश १० वीं शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक बहुत प्रसिद्ध रहा है और इस वंश में अनेक प्रतिष्ठित श्री सम्पन्न पुरुष और अनेक कवि हुए हैं। भविष्य दन्त कथा का कर्ता प्रस्तुत धनपाली पावन वंश में उत्पन्न हुआ था। जिसका समय १० वीं शताब्दी है। धम पगीक्षा (सं० १०४४) के कर्ता हरिपेण इसी वंश में उत्पन्न हुए थे। जम्बूस्वामि चरित्र के कर्ता वीर कवि (सं० १०७६) के समय मालव देश में धक्कड़ वंश के मधुसूदन के पुत्र तक्खडु श्रेष्ठी का उल्लेख मिलता है। जिनकी प्रेरणा से जम्बूस्वामि चरित्र रचा गया है।^२ सं० १२८७ के देलवाड़ा के तेजपाल वाले शिलालेख में 'धर्कट' जाति का उल्लेख है। इससे इस वंश की महत्ता और प्रसिद्धि का सहज ही बोध हो जाता है। धनपाल अपभ्रंश भाषा के अच्छे कवि थे और उन्हें सरस्वती का वर प्राप्त था। जैसा कि कवि के निम्न वाक्यों से—'चितिय-धण वालि वणि वरेण, सरसइ बहुलद्ध महावरेण।' प्रकट है। कवि का सम्प्रदाय दिगम्बर था, यह उनके—'भजि बिजेण द्वियं वारि लायउ।' (सन्धि ५-२०) के वाक्य से प्रगट है। इतना ही नहीं किन्तु उन्होंने १६ वे स्वर्ग के रूप में अच्युत स्वर्ग का नामोल्लेख किया है, यह दिगम्बर मान्यता है। आचार्य कुन्द-कुन्द की मान्यतानुसार सल्लेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत स्वीकार किया है।^३ कवि के अष्ट मूल गुणों का कथन १० वीं शताब्दी के आचार्य अमृतचन्द्र के पुरुषार्थ सिध्युपाय के निम्न-लिखित पद्य से प्रभावित है:—

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बर फलानि यत्नेन ।

हिंसा व्युपरतिकर्म्म मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥ (३-६१)

'महु मज्जमंसु पंचु'वराइ खज्जंतिण जम्भंतेर समाइ ।'

आचार्य अमृतचन्द्र की इस मान्यता को उत्तरवर्ती विद्वान् आचार्यों ने (सोमदेव,

१—धक्कड़ वणि बंसि माएसर हो समु० भविण ।

धणसिरिवेवि सुएण विरइउ सरसइ संभविण । (अन्तिम प्रशस्ति)

२—अहमालवम्मि धण-कणवरसी, नयरो नामेण सिधु वरिसी ।

तहि धक्कड़ वणे बंस-तिलउ, यह सुवण वंशु गुणणिलउ ।

णामेण सेट्ठि तक्खडुवसई, जस पउहु जामु तिहुमणि रसइ । (जंबू प्रशस्ति)

३—मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बर पञ्चर्कैः । अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूल गुणाः श्रुतोः । (उपासका २२, २७०)

महु मज्जुमंस विरईजिता श्री पुण उंभराता पंचव्हं ।

अठ्ठे मूलगुणा हवन्ति फुड, वेस विरयम्मि । (गा० २५६)

तत्रादौ अष्टघज्जनीमाज्ञां हिंसा मयासितुम् ।

मद्यमांस-मधुपुञ्जेत्-पञ्चक्षीरो फलानि च ॥ (सा० २-२)

देवदेव, प० आशाधर ने) अपने ग्रन्थों में अपनाया है। इन सब प्रमाणों से ज्ञात होता है कि कवि घनपाल दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वान् थे।

भविष्यदत्त कथा —

प्रस्तुत कथा अपभ्रंश भाषा की रचना है। प्रस्तुत कृति में ३४४ कडवक है। जिनमें श्रुत पंचमी के व्रत का माहात्म्य बतलाते हुए उसके अनुष्ठान करने का निर्देश किया गया है। साथ ही भविष्यदत्त और कमयश्री के चरित्र-चित्रण द्वारा उसे और भी स्पष्ट किया गया है। ग्रन्थ का कथा भाग तीन भागों में बाँटा जा सकता है। चरित्र घटना बाहुल्य होते हुए भी कथानक सुन्दर बन पड़े है। उनमें सधु-प्रसाधु जीवन वाले व्यक्तियों का परिचय स्वाभाविक बन पड़ा है। कथानक में अलौकिक घटनाओं का समीकरण हुआ है, परन्तु वस्तु वर्णन में कवि के हृदय ने साथ दिया है। अतएव नगर, देशादिक और प्राकृतिक वर्णन सरस हो सके हैं। ग्रन्थ में रस और अलङ्कारों के पुट ने उसे सुन्दर और सरस बना दिया है। ग्रन्थ में जहाँ शृङ्गार वीर और शान्त रस का वर्णन है वहाँ उपमा, उत्प्रेक्षा, स्वाभावोक्ति और विरोधाभास अलङ्कारों का प्रयोग भी दिखाई देता है। भाषा में लोकोक्तियाँ और वाग्धाराओं का प्रयोग भी मिलता है।

यथा—कि धिउ होइ विरोलिए पागिए—पानी के बिलोने से क्या धी हो सकता है ?

अणु डाच्छियड होति जिय दुक्खइं सहसा परिणावनि तिह सोक्खइं।—जैसे यदच्छया दुःख प्राते हैं, वैसे ही सहसा सुख भी आते हैं।

जोक्खण बियार रसवस पसरि सो सूरउ सो पडियउ ।
चल समण बयणुक्का वएहि जो परतिरिह खडियउ ॥

(३-१८-९)

वही शूरवीर है, वही पण्डित है, जो जीवन के विषय विकारों के बढने पर परस्त्रियों के चञ्चल कामोद्दीपक वचनों से प्रभावित नहीं होता।

जहा जेण वत्तं तहा तेण यत्तं इमं सुखए सिठ्ठ लोएण कुलं ।
सुपापसुवा कोइवा जत्त माली कहं सोनरो पावए तत्थ

साली ॥ (पृष्ठ ८४)

जो जैसा देता है, वैसा ही पाता है, यह शिष्ट लोगो

ने सच कहा है। जो माली कोदों बोता है वह शाली कहीं से प्राप्त कर सकता है।

इन सुभाषितों और लोकोक्तियों से ग्रन्थ और भी सरस बन गया है।

ग्रन्थ का कथा भाग तीन भागों में बाँटा जा सकता है। यथा—

१—व्यापारी पुत्र भविष्यदत्त की संपत्ति का वर्णन, भविष्यदत्त अपने सौतेले भाई बन्धुदत्त से दो बार धोखा खाकर अनेक कष्ट सहता है, किन्तु अन्त में उसे सफलता मिलती है।

२—कुहराज और लक्ष्मिला नरेशों में युद्ध होता है, भविष्यदत्त उसमें प्रमुख भाग लेता है और उसमें विजयी होता है।

३—भविष्यदत्त तथा उसके साथियों का पूर्वजन्म वर्णन।

कथा का संक्षिप्त सार :

भरत क्षेत्र के कुरु जांगल देश में गजपुर नाम का एक सुन्दर और समृद्ध नगर था। उस नगर का शासक भूपाल नाम का राजा था। उसी नगर में घनपाल नाम का नगर सेठ रहता था। वह अपने गुणों के कारण लोक में प्रसिद्ध था। उसका विवाह हरिबल नाम के सेठ की सुन्दर पुत्री कमलश्री से हुआ था। वह अत्यन्त रूपावती और गुणवती थी। बहुत दिनों तक उसके कोई सन्तान न हुई अतएव वह चिन्तित रहती थी। एक दिन उसने अपनी चिन्ता का कारण मुनिवर से निवेदन किया। मुनिवर ने उत्तर में कहा, तेरे कुछ दिनों में बिनयी, पराक्रमी और गुणवान् पुत्र होगा, और कुछ समय बाद उसके भविष्यदत्त नाम का पुत्र हुआ। वह पढ़ लिखकर सब कलाओं में निष्णात हो गया।

घनपाल सुरूप नाम की पुत्री से अपना दूसरा विवाह कर लेता है। उसके बन्धुदत्त नाम का पुत्र हुआ। जब वह युवा हुआ, तब बहुत उत्साह मचाने लगा। नगर के सेठों ने मिलकर विचार किया कि वह युवतियों से छेड़छाड़ी करता है, अतः उसे कंचनपुर जाने के लिये तैयार रहना चाहिए। मन्त्रीजन व्यवसाय के निमित्त बन्धुदत्त को भेजने के लिये तैयार हो गये। और बन्धुदत्त का अपने साथियों के साथ कंचनपुर जाते हुए देखकर भविष्यदत्त भी अपनी

माता के बार-बार रोके जाने पर भी उसके साथ हो लिया। जब सुरूषा को पता चला तो बन्धुदत्त को सिखाकर कहा कि तुम भविष्यदत्त को किसी तरह समुद्र में छोड़ देना। जिसमें बन्धु बान्धवों से उसका मिलाप न हो सके। परन्तु भविष्यदत्त की माता उसे उपदेश देती हुई कहती है कि परधन और परनारी को स्पर्श न करता। पाँच सौ बणिंको के साथ दोनों भाई जहाज में बैठकर चले। कई द्वीपान्तरो को पार कर उनका जहाज मदननाग द्वीप के समुद्र तट पर जा लगा। प्रमुख लोग जहाज से उतर कर मदननाग पर्वत की शोभा देखने लगे। बन्धुदत्त धोखे से भविष्यदत्त को वही एक जङ्गल में छोड़कर अपने साथियों के साथ अगे चला जाता है। बेचारा भविष्यदत्त भटकता हुआ उजड़े हुए एक समृद्ध नगर में पहुँचता है। वहाँ पहुँच कर जिन मन्दिर में चन्द्रप्रभु की पूजा करता है। उसी उजड़े नगर में वह एक सुन्दर युवती को देखता है। उसी से भविष्यदत्त को पता चलता है कि वह समृद्ध नगर असुरों द्वारा उजाड़ा गया है। कुछ समय बाद वह असुर वहाँ आता है और भविष्यदत्त का उस सुन्दरी से विवाह कर देता है।

इधर पुत्र के चिरकाल तक न लौटने से कमलश्री सुव्रता नाम की आश्रिका से उसके कल्याणार्थ 'श्रुत पवनी व्रत' का अनुष्ठान करती है। उधर भविष्यदत्त भी माँ का स्मरण होने से सपत्नीक और प्रचुर सम्पत्ति के साथ घर लौटता है। लौटते हुए उनकी बन्धुदत्त से भेंट हो जाती है। जो अपने साथियों के साथ यात्रा में असफल हो विपन्न दशा में था। भविष्यदत्त उनका सहर्ष स्वागत करता है। किन्तु बन्धुदत्त धोखे से उसकी पत्नी और प्रभूत धनराशि को लेकर साथियों के साथ नौका में सवार हो वहाँ से चल देता है।

मार्ग में उसकी नौका पुनः पथभ्रष्ट हो जाती है और वे जैसे तैसे गजपुर पहुँचते हैं। घर पहुँच कर बन्धुदत्त भविष्यदत्त की पत्नी को अपनी पत्नी घोषित कर देता है। उनका विवाह होना निश्चित हो जाता है। कमलश्री लोगों से भविष्यदत्त के विषय में पूछती है, परन्तु कोई उसे स्पष्ट नहीं बतलाता। कमलश्री मुनिराज से पुत्र के सम्बन्ध में पूछती है। मुनिराज ने कहा, तुम्हारा पुत्र जीवित है, वह यहाँ आकर आषा राज्य प्राप्त करेगा। एक महीने के

बाद भविष्यदत्त भी एक पक्षी की सहायता से गजपुर पहुँचता है और अपनी माता से सब वृत्तान्त कहता है। माता को वह नागमुद्रिका देकर उसे भविष्यानुरूपा के पास भेजता है। स्वयं अनेक प्रकार के रत्नादि लेकर राजा के पास जाता है और उन्हे राजा को भेंट करता है। भविष्यदत्त राजा को सब वृत्तान्त सुनाता है। परिजनो के साथ वह राजसभा में जाता है और बन्धुदत्त के विवाह पर आपत्ति प्रकट करता है। राजा धनवई को बुलाता है और बन्धुदत्त का रहस्य खुलने पर राजा क्रोधवश दोनों को कारावास का दण्ड देता है, पर भविष्यदत्त दोनों को छुड़वा देता है। राजा जयलक्ष्मी और चक्रलेखा नाम की दो दासियों को भविष्यानुरूपा के पास भेजता है। वे जाकर भविष्यानुरूपा से कहती हैं, राजा ने भविष्यदत्त को देश निकाले का आदेश दिया है और बन्धुदत्त को सम्मान। अतः अब तुम बन्धुदत्त के साथ रहो। किन्तु वह भविष्यदत्त से अपनी अनुरक्ति प्रगट करती है। धनवई नव दम्पति को लेकर घर आता है। कमलश्री व्रत का उद्घापन करती है। वह जैन संघ को जेवनार देती है। वह पिता के घर जाने को तैयार होती है, पर कचनमाला दासी के कहने पर सेठ कमलश्री से क्षमा मागता है। राजा सुमित्रा के साथ भविष्यदत्त के विवाह का प्रस्ताव रखता है।

कुछ समय बाद पाँचाल नरेश चित्राग का दूत राजा भूगाल के पास आता है और कर तथा अपनी कन्या सुमित्रा को देने का प्रस्ताव करता है। राजा असमजस में पड़ जाता है। भविष्यदत्त युद्ध के लिये तैयार होता है और साहस तथा धैर्य के साथ पाँचाल नरेश को बन्दी बना लेता है। राजा सुमित्रा का विवाह भविष्यदत्त के साथ करता है और राज्य भी सौंप देता है।

कुछ समय के बाद भविष्यानुरूपा के दोहला उत्पन्न होता है और वह तिलक द्वीप जाने की इच्छा करती है।

भविष्यदत्त सपरिवार विमान में बैठकर तिलक द्वीप पहुँचता है और वहाँ जिन मन्दिर में चन्द्रप्रभु जिन की सोत्साह पूजन करता है और चारण मुनि के दर्शन कर श्रावक धर्म का स्वरूप सुनते हैं। अपने मित्र मनोवेग के पूर्वभाव की कथा पूछता है और सभी सकुशल गजपुर लौट आते हैं। भविष्यदत्त बहुत दिनों तक राज्य करता है।

भविष्यानुरूपा के चार पुत्र उत्पन्न होते हैं—सुप्रभ, कनकप्रभ, सूर्यप्रभ और सोमप्रभ तथा तारा, सुतारा नाम की दो पुत्रियाँ उत्पन्न होती हैं। सुमित्रा से धरसेन्द्र नाम का पुत्र तथा तारा नाम की पुत्री उत्पन्न होती है।

कुछ समय बाद विमलबुद्धि मुनिराज गजपुर आते हैं। भविष्यदत्त सपरिवार उनकी वन्दना करने के लिये जाता है और उनसे अपने पूर्वजों के जन्म के देह भोगों से विरक्त हो, सुप्रभ को राज्य देकर दीक्षा ले लेता है और तपश्चरण द्वारा वैमानिक देव होता है और अन्त में मुक्ति का पात्र बनता है।

रचना काल.—

कवि धनपाल ने भविष्यदत्त कथा में रचना काल नहीं दिया और न अपनी गुरु परम्परा ही दी। इससे रचना काल के निर्णय में बड़ी कठिनाई हो रहा है। ग्रन्थ की सबसे प्राचीन प्रतिलिपि स० १३६३ की उपलब्ध है, जैसा कि लिपि प्रशस्ति के निम्न पद प्रकट है:—

“संवच्छरे अक्षिरा विक्रमेणं, अही एहिरेण वदि तेरह सएणम् । वरिस्सिय पूषेण सेयम्मि पक्खे, तिहि वारसी सोमि रोहिणी रिक्खे ॥ सुहज्जोइमय रगमो बुद्धपत्तो इमो सुवरो सत्थु सुहदिण समत्तो ॥”

यह शब्द सुसंवत्सर विक्रम तेरह सो तिरानवे में पौष मास शुक्लपक्ष द्वादशी सोमवार के दिन रोहिणी नक्षत्र में शुभ घड़ी शुभ दिन में लिखकर समाप्त हुआ। उस समय दिल्ली में मुहम्मद शाह बिन तुगलक का राज्य था। इस ग्रन्थ की प्रति को लिखकर देने दिल्ली निवासी हिमपाल के पुत्र बाधू साहू थे। जिन्होंने अपनी कीर्ति के लिये अन्य अनेक शास्त्र, उपशास्त्र लिखाये थे। यह भविष्यदत्त कथा उन्होंने अपने लिये लिखवाई^१। इससे यह ग्रन्थ स० १३६३ (सन् १३३६ ई०) से बाद का नहीं हो सकता, किन्तु उससे पूर्व रचा गया है।

डाक्टर देवेन्द्रकुमार ने मूल से इस लिपि प्रशस्ति को श्री बलाल और गुणो द्वारा सम्पादित गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरीज ग्रन्थाङ्क नं० २०, १९५२ ई० में प्रकाशित—
१—इहत्ते परत्ते सुहायार हेउ, तिरो लिहिम सुत पंढरी शियह हेउ । (अनेकास्त वर्ष २१ किरण १)

जो अग्रवाल वंशी साहु बाधू ने लिखवाई थी मूल ग्रन्थकर्ता धनपाल की प्रशस्ति समझ कर उसका रचना काल सन् १३६३ (सन् १३३६) निश्चित कर दिया है। यह एक महान् भूल है, जिसे उन्होंने सुधारने का प्रयत्न नहीं किया।

जबकि डॉ० हर्मन जैकोबी ने इस ग्रन्थ का रचना काल दशवी शताब्दी से पूर्व माना जा सकता है, ऐसा लिखा है। श्री दलाल और गुणो ने भविस्यत्त कहा की भूमिका में बतलाया है कि धनपाल की भविस्यत्त कहा की भाषा हेमचन्द्र से अधिक प्राचीन है। इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ वि० स० १२ वीं शताब्दी से पूर्व की रचना है। फिर भी डाक्टर देवेन्द्रकुमार ने वि० स० १२२० में रची जाने वाली विबुध श्रीधर की भविस्यत्त कहा से तुलना कर धनपाल की कथा को अर्वाचीन बतलाने का दुस्साहस किया है। जबकि स्वयं उसके भाषा साहित्य की शिथिल (घटिया दर्जे का) माना है और लिखा है कि इन वर्णनों को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि काव्य, कवित्व शक्ति से भरपूर है। पर कल्पनात्मक, बिम्बार्थ योजना और अलङ्कारता तथा सौन्दर्यनुभूति की जो झलक हमें धनपाल की भविष्यदत्त कथा में लक्षित होती है, वह इस काव्य (विबुध श्रीधर की कथा) में नहीं है—“विबुध श्रीधर के भविष्यदत्त कथा की भाषा चलती हुई प्रसाद गुण युक्त है।” (देखो भविष्यत्त कथा तथा अपभ्रंश कथा काव्य पृष्ठ १५२) जबकि धनपाल की भविष्यत्त कहा की भाषा प्रौढ़, अलंकरण और बिम्बार्थ योजना आदि को लिये हुए है। भाषा प्रांजल और प्रसाद गुण से युक्त है।

कवि धनपाल ने ग्रन्थ में अष्ट मूल गुणों को बतलाते हुए मद्य, मांस और मधु के साथ पच उदम्बर फलों के त्याग को अष्टमूल गुण बतलाया है।

यथा—महु मज्जु मंसु पंचु, बराई खज्जति एण जम्मंतर सयाई ।
(भविस्यत्त कहा १६८)

दशवी शताब्दी से पूर्व अष्टमूल गुणों में पच उदम्बर फलों का त्याग शामिल नहीं था, जैसा कि आचार्य समन्त भद्र के निम्न पद्य से प्रकट:—

मद्य मांस मधु त्यागं सहासु व्रत पंचकम् ।

अष्टौमूल गुणानां हृगंहिणां धमणोत्तमा ॥

(रत्न करण्ड श्रावकाचार ४-६६)

आचार्य जिनसेन के बाद अष्टमूल गुणों में पाँच अणु व्रतो के स्थान पर पंच उदम्बर फलों के त्याग को शामिल किया गया है। दशवीं शताब्दी के अमृतचन्द्राचार्य के पुरुषार्थ सिध्दुपाय के निम्न ०६ में अष्ट मूल गुणों में पंच उदम्बर फलों का त्याग बतलाया है:—

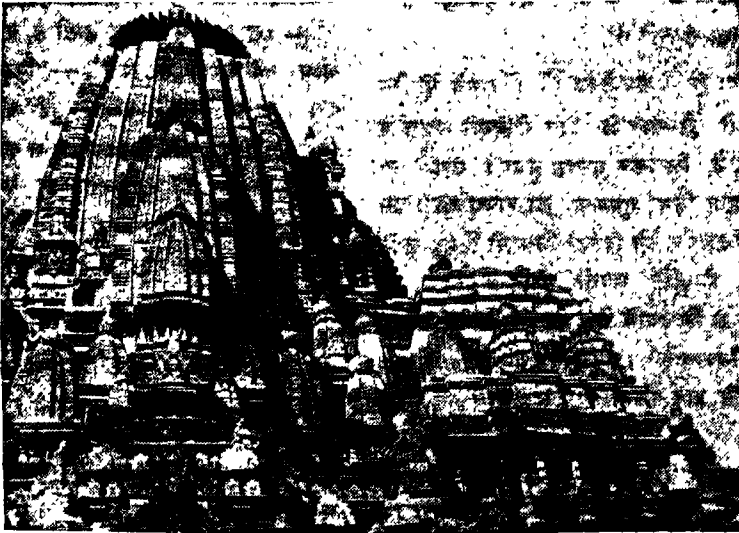
मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदम्बर फलानि यत्नेन ।

हिंसा व्युपरति कामं मोक्षध्यानं प्रथममेव ॥

(पुरुषार्थ सिध्दुपाय ३-६१)

सोमदेवाचार्य के (१०१६) के उपासकाध्ययन में अष्ट मूल गुणों में तीन मकारों (मद्य, मांस, मधु) के त्याग के साथ पञ्च उदम्बर फलों का त्याग भी बतलाया है। और इनके उत्तरवर्ती विद्वन् अमितगति, देवसन, पद्मनन्दि, आशाधर आदि ने भी स्वीकृत किया है।

कवि धनपाल ने आचार्य अमृतचन्द्र में अष्ट मूल गुणों को ग्रहण किया है। यदि यह मान लिया जाये तो धनपाल का समय दशवीं शताब्दी का अन्तिम चरण अथवा ग्यारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण हो सकता है। वे इसके बाद के ग्रन्थकार नहीं हैं।



प्राचीन जैन मन्दिर खजुराहो

प्रमेय रत्नालंकार

एक परिचय

—प्रकाशचन्द्र जैन

—*~*~*

यह छोटी सी पुस्तक जैन दर्शन पर नव्य न्याय की शैली से श्रवण बेल गोला जैन मठ के श्री चारुकीर्ति पंडिताचार्य स्वामी द्वारा माणिक्य नन्दी के परीक्षा मुख के सूत्रों को वस्तुतः व्याख्या करने के लिये लिखी गई है। यह कहा जाता है कि माणिक्य नन्दी ने अपनी तर्कशास्त्र लिखने की प्रेरणा अकलङ्क देव से ग्रहण की थी। अकलङ्क देव आठवीं शताब्दी के मध्य हुए थे। तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता उमा स्वामी के पश्चात् जैन दर्शन के सबसे महान् विद्वान् अकलङ्क देव ही माने जाते हैं। अकलङ्क देव के समय तक जैन दर्शन रचना-प्रणाली में पर्याप्त परिवर्तन आ चुका था और उस समय की रचनायें बड़ी मात्रा में हिन्दू और बौद्ध पद्धतियों से प्रभावित हुई हैं। तत्त्वार्थ सूत्र से ये रचनाएँ बहुत ही भिन्न थीं। तत्कालीन जैन दर्शन ग्रन्थों में प्राप्त प्रत्यक्ष और परीक्षा की परिभाषाएँ उमा स्वामी की परिभाषाओं से एकदम भिन्न हैं तथा हिन्दू तर्क शास्त्रियों की परिभाषाओं के अति सन्निकट हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान की परिभाषा इस समय के ग्रन्थकारों ने यह दी है कि “वह ज्ञान प्रत्यक्ष है जो इन्द्रियों के विषय से सम्बन्ध रखता है तथा अप्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो इन्द्रियातीत विषयों को ग्रहण करता है।” ठीक इसी प्रकार ज्ञान का वर्गीकरण भी उसी प्रकार किया गया है जैसा कि हिन्दू तर्कशास्त्रों में किया गया है। उमा स्वामी द्वारा किये गये ज्ञान के वर्गीकरण से उसका तालमेल नहीं बैठता है।

माणिक्य नन्दी के परीक्षामुख सूत्र की दो टीकाएँ

उपलब्ध हैं। पहली टीका तो प्रभाचन्द्र की न्यायकुमुद है। प्रभाचन्द्र का समय ६ वीं शताब्दी का प्रथम चतुर्थांश माना जाता है। दूसरी टीका अनन्तवीर्य या लघु अनन्तवीर्य के द्वारा लिखी गई है। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। प्रभाचन्द्र द्वारा रचित टीका प्रमेय कमल मार्तण्ड के नाम से विख्यात है तथा अनन्तवीर्य की टीका प्रमेय रत्नमाला और परीक्षामुख पक्षिका के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रस्तुत प्रमेय रत्नालङ्कार पुस्तक, परीक्षामुख के सूत्रों की टीका, प्रमेय कमल मार्तण्ड को अपना मुख्य आधार मानते हुए लिखी गई हैं। जैसा कि प्रारम्भिक परिचयात्मक श्लोकों में से छठे श्लोक के द्वारा प्रगट होता है। लेखक बार-बार उमा स्वामी, अकलङ्क देव, प्रभाचन्द्र और अनन्तवीर्य का निर्देश करके अपने विचारों का समर्थन करता है तथा सांख्य, न्याय, वैशेषिक भट्ट, प्रभाकर मुरारि मिश्रिय रामानुजीय अथर्व और अद्वैत आदि अजैनो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का खण्डन करता है।

प्रमेय रत्नालङ्कार के रचयिता श्री चारुकीर्ति पंडिताचार्य मद्रास राज्य के बन्दीबाश तालुका के सतमङ्गसा के समीपवर्ती एलङ्काडु ग्राम के मूल निवासी थे। वे एक जैन ब्राह्मण थे तथा जिनव्या के नाम से विद्वत् थे। इन्होंने अपने ग्राम में रहते हुए ही विशेष पण्डितों से व्याकरण और साहित्य की शिक्षा प्राप्त की थी। इसके बाद वे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये जैन शिक्षा विद्यापीठ, मैसूर

राज्य में स्थित श्रवणबेल गोला चले गये। वहाँ उन्होंने तत्कालीन जैन गुरु कम्बय्य स्वामी के चरणों में बैठकर जैन धर्म के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि तर्कशास्त्र के अध्ययन किये बिना इन धर्म ग्रन्थों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं किया जा सकता। न्याय पढ़ने की उनमें तीव्र उत्कण्ठा थी। ठीक उसी समय मैसूर के एक ब्रह्मसूरि पण्डित नामक विद्वान् जिनका कि उस समय के मैसूर के राजा श्रीकृष्ण राजा बोदेयर तृतीय पर बहुत प्रभाव था, मठ के स्वामी जी के दर्शनार्थ श्रवण बेल गोला पधारे। स्वामी जी की छत्रछाया में अध्ययन करते हुए जिनय्या पर ब्रह्मसूरि पण्डित की कृपादृष्टि हुई। वे जिनय्या के व्यक्तित्व तथा विद्वत्ता से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उसे मैसूर जाने की सलाह दे दी। जिनय्या ने कहा कि यदि उसके लिये तर्कशास्त्र के अध्यापन का विशेष प्रबन्ध किया जाये तो वह मैसूर जा सकता है। ब्रह्मसूरि पण्डित ने जिनय्या की इस बात को स्वीकार किया तथा वे उसे मैसूर ले आये। वहाँ उन्होंने इसको तर्कशास्त्र की उच्च शिक्षा प्रदान करने का प्रबन्ध कर दिया। कुछ ही दिन बीते थे कि श्रवणबेल गोला मठ के स्वामी जी का देहावसान हो गया। ब्रह्मसूरि पण्डित ने यह अनुभव किया कि जिनय्या ने संस्कृत भाषा की विभिन्न शाखाओं में प्रवीणता प्राप्त कर ली है अतएव यही एकमात्र सुयोग्य व्यक्ति है जो श्रवणबेल गोला के मठ की गद्दी को सभाल सकता है। इसीलिए उन्होंने इन्हें श्रवणबेल गोला के मठ की गद्दी के लिये चुन लिया तथा महाराजा की आज्ञा से उन्हें गद्दी का प्रधान नियुक्त कर दिया। तभी से जिनय्या अभिनव चारु-कीर्ति पण्डिताचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अनुमान है कि इनका काल सन् १७६० और १८६० के बीच में रहा होगा।

इनकी प्रस्तुत रचना ६ विभागों में विभक्त है। प्रत्येक विभाग में किसी एक प्रमुख विषय की विस्तृत व्याख्या की गई है। इन विभागों का नाम इन्होंने परिच्छेद दिया है जैसा कि प्रभाषाद ने अपनी कृति प्रमेय कमल मार्तण्ड में किया है। परन्तु परीक्षामुख सूत्र में तथा इसकी टीका अनन्तवीर्य की प्रमेय रत्नमाला में इन विभागों का नाम समुद्देश किया गया है। पुस्तक का उद्घाटन प्रमाण के

स्वरूप की जिज्ञासा में होता है। यह जिज्ञासा मात्र बौद्धिक उत्सुकता के मन्तोष के लिए नहीं है परन्तु ग्रन्थ भारतीय दर्शन शास्त्रों की भाँति विशेष उद्देश्य लिये हुए है।

यह प्रमाण ही है जिसके द्वारा वास्तविकता के स्वरूप का ज्ञान होता है और प्रमाण ही वह सच्चा ज्ञान है जो अज्ञान को दूर करके इसे जीवन चरम उद्देश्य की प्राप्ति की दिशा में ले जाता है। यदि हमें जीवन में सफल होना है तथा अपने समस्त क्रिया-कलापों का सफल परिणाम प्राप्त करना है तो प्रमाण के स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा अत्यावश्यक है।

प्रमाण क्या है? इसका स्वरूप दर्शनशास्त्र की प्रत्येक शाखा के द्वारा भिन्न-भिन्न बताया गया है। न्याय, वैशेषिक मीमांसा, सांख्य, बुद्ध और वेदान्त के सिद्धान्तों पर विचार करने तथा उनका खण्डन करने के बाद लेखक ने जैन सिद्धान्त स्पष्ट किया है कि प्रमाण वह है जिसके द्वारा न जानी गई वस्तुओं का निश्चित ज्ञान प्राप्त हो जाये। प्रमाण स्वयं प्रकाशित है तथा यह एक ओर तो दीपक की तरह स्वयं को प्रकाशित करता है, दूसरी ओर यह उपस्थित विषयों को भी प्रकाशित करता है। इसकी सत्यता स्वाभाविक है। इसे अपनी सत्यता सिद्ध करने के लिये किसी बाहरी वस्तु की सहायता की आवश्यकता नहीं है। यह केवल कोई प्रस्तुतीकरण मात्र नहीं है, न ही कोई धुंधला भाव है किन्तु सविकल्परूप, व्यवसायात्मक अथवा निश्चायक है। यह वस्तु का 'यह' जैसा निश्चित ज्ञान है, 'वह' जैसा नहीं। यह प्रमाण, जो स्वयं तो ज्ञान है, एक दूसरे ज्ञान के अंश प्रमाण को भी जन्म देता है। यह प्रमाण का जनक प्रमाण है, प्रमाण का कारण प्रमाण नहीं है। इसीलिए प्रमाण को कारण, कारक साकल्प, इन्द्रिय, सन्निकर्ष, इन्द्रियावृत्ति अथवा ज्ञातृ व्यापार मानना ठीक नहीं है। इस ज्ञान का विषय न तो विशेष है और न सामान्य है बल्कि सामान्य विशिष्टात्मक है। इसकी स्थापना चौथे परिच्छेद में दूसरे दर्शनों के विचारों का खण्डन करने के पश्चात् की गई है।

द्वितीय परिच्छेद में भारतीय दर्शन शास्त्रों में प्रतिपादित प्रमाणों की सख्या के विषय में अनेक विचारों का वर्णन किया गया है। चार्वाकों के अनुसार केवल प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। बौद्ध दर्शन शास्त्रों प्रत्यक्ष और

अनुमान दो प्रमाण मानते हैं। रामानुजीय दर्शनशास्त्र वेत्ता प्रमाणों की संख्या में आगम को और जोड़ते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इस प्रकार प्रमाण के तीन भेद स्वीकार करते हैं। नैयायिक चार प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान। प्रभाकर मतावलम्बी इस सूचा में अर्थापत्ति को और जोड़ कर प्रमाणों की संख्या पाँच तक पहुँचा देते हैं। भट्ट मिन्तानामारी प्रमाणों की संख्या ६ मानते हैं क्योंकि वे ऊपर की सूची में एक नया प्रमाण अनुपलब्धि और जोड़ देते हैं। पौराणिक आठ प्रमाण मानते हैं क्योंकि वे ऐतिह्य और सम्भव को भी प्रमाण के अन्तर्गत ही गिनते हैं। परन्तु जैन सिद्धन्त के अनुसार प्रमाण दो ही हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष को छोड़कर शेष सभी प्रमाण परोक्ष के अन्तर्गत ही गणित हो जाते हैं।

प्रत्यक्ष क्या है ? यह वह ज्ञान है जो विशद अर्थात् स्वच्छ होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण बिल्कुल सीधा और तत्काल वस्तु को जानता है। वह किसी अन्य प्रकार के ज्ञान पर आधारित नहीं होता है। यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—(१) मुख्य अर्थात् प्रारम्भिक (२) साव्यावहारिक अर्थात् प्रयोगात्मक। पहला अर्थात् मुख्य प्रत्यक्ष पूर्णतया इन्द्रियों और मन से स्वतन्त्र होता है, जबकि दूसरा उनकी सहायता ग्रहण करता है। यह व्यावहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय ग्राह्य ज्ञान और मनोग्राह्य ज्ञान के भेद में दो प्रकार का है। इन्द्रिय ग्राह्य ज्ञान ४ प्रकार का है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। सम्भवतः ये भेद ज्ञान के निश्चय के चार स्तरों को बताते हैं। अवग्रह ज्ञान वह है जो वस्तु को बिना किसी विशेषता बताये जैसा का तैसा ग्रहण करे। ईहा ज्ञान वह है जो वस्तु को और विशेष और निश्चित रूप से जानने की चेष्टा करे। अवाय वह है जो वस्तु के प्रतिबिम्ब के द्वारा वस्तु की पूर्णता, अपूर्णता, गुण और दोषों के स्वरूप को जान ले। धारणा वस्तु की अन्तिम (पूर्ण) पहिचान है क्योंकि यह मस्तिष्क में वस्तु के पूर्ण रूप को मस्तिष्क में जमा देती है। अन्तीन्द्रिय ज्ञान वह ज्ञान है जो सर्वत्र अपने आत्मानुभव के द्वारा बिना किसी वस्तु की सहायता के जानता है।

तृतीय परिच्छेद में परोक्ष ज्ञान के सम्बन्ध में विचार

किया गया है। जो ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है वह परोक्ष कहलाता है। स्मृति (स्मरण), प्रत्यभिज्ञा (वस्तु की पहिचान) तर्क (विशेष सम्बन्ध का ज्ञान), अनुमान, आगम ये सभी परोक्ष हैं। भारतीय कुछ दर्शनशास्त्र स्मृति को प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं करते परन्तु जैनों के अनुसार स्मृति को भी प्रमाण मानना चाहिए क्योंकि यह भी उतनी यथार्थ होती है जितने कि दूसरे प्रकार के ज्ञान। स्मृति केवल पूर्वानुभूत वस्तु का प्रभाव मात्र नहीं है बल्कि यह पूर्वानुभूत वस्तु का ज्ञान है। यह भूतकाल की निश्चित घोषणा है। प्रत्यभिज्ञान या पहिचान भी एक प्रकार का प्रामाणिक ज्ञान है। यह एक मिला-जुला ज्ञान है। यह न तो पूर्ण, स्मृति है और न पूर्ण ज्ञान है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान और स्मृति से बना हुआ ऐसा ज्ञान है। यह एक नया ज्ञान है जिसे ज्ञान या स्मृति में नहीं मिलाया जा सकता है। यह वस्तु का स्मृति और प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा निश्चय है। दण्डवत् जो हमारे सामने है, उसे हमने पहले देखे गये पूर्वकाल के स्मरण के द्वारा ही पहिचाना है। इस ज्ञान का रूप, “यह वैसा है, या यह नहीं है”, “यह उससे भिन्न है”, “यह उसी का प्रतिरूप है” आदि, इस प्रकार का होता है। नैयायिक जिसे उपमान मानते हैं वह भी एक प्रकार की पहिचान ही है। इसलिये जैनियों ने उपमान को अलग प्रमाण स्वीकार नहीं किया है।

तर्क या ऊहा व्याप्ति का ज्ञान है। यह किसी वस्तु की उपस्थिति या अनुपस्थिति दूसरी वस्तु के सम्बन्ध में इस प्रकार का रूप ग्रहण करती है—यदि यह है, वह है यदि यह नहीं तो वह नहीं है। यह सहाय या कर्मभाव का अविनाभाव सम्बन्ध है। यह सहाय का अविनाभाव सम्बन्ध किसी तत्त्व में और इसकी उपाधियों में, कुछ वस्तुओं में और कुछ स्वादों में, मिस्रण और वृक्ष में पाया जाता है। कर्मभाव का अविनाभाव सम्बन्ध दिन और रात में, सूर्यास्त और तारों के उदय में, नदी की बाढ़ और वर्षा में, कारण और उसके प्रभाव में पाया जाता है।

अनुमान किसी वस्तु का वह मुख्य ज्ञान कहलाता है जो साधन या कारण के द्वारा होता है। यथार्थ साधन वही समझा जायेगा जो साध्य से अभिन्नता से सम्बद्ध हो। इसके बाद इस परिच्छेद में साध्य-पक्ष की परिभाषा,

स्वार्थ और परार्थ के भेद से अनुमान का वर्गीकरण, पाँच अवयव, भाव साधक और अभाव साधक के भेदों में हेतु का वर्गीकरण का वर्णन किया गया है। प्रत्येक को उचित उदाहरणों के द्वारा विस्तार से समझाया गया है।

अन्त में आगम को परिभाषा देते हुए बताया गया है कि वह आगम ज्ञान है जो प्राप्त अथवा अनासक्त एव यथार्थवक्ता पुरुष के द्वारा कहे वाक्यों से उत्पन्न होता है। यदि किसी साधारण विश्वस्त व्यक्ति के द्वारा कहे हुए वचन हो तो वह लौकिक आगम कहलाता है और जो प्राप्त और सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया है वह शास्त्रीय आगम कहलाता है।

इस प्रकार प्रमाण के विभिन्न भेदों की यथार्थ परिभाषा देने के बाद लेखक ने अन्त में ज्ञान के अन्तिम लक्ष्य का वर्णन किया है। यह पूर्णतया व्यावहारिक है। मोक्ष प्राप्त करने के लिये ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान अज्ञानता के अन्धकार को दूर करता है तथा हमें ऐसा सच्चा विवेक

प्रदान करता है जिसके द्वारा हम यह जान सकते हैं कि कौनसा कार्य हमारे लिये हितकारक और उपादेय है, कौनसा अहितकारक और अनुपादेय है तथा कौनसा कार्य न हितकारक है न अहितकारक है बल्कि उपेक्षणीय है।

प्रमेय रत्नालङ्कार के अन्तिम पच्छेद में लेखक ने प्रमाणामानों को अनेक उदाहरण देकर समझाया है। लेखक ने बताया है कि नय वह पद्धति है जिसके द्वारा केवल वस्तु को एक रूप ही माना जाता है परन्तु जनों के अनेकान्त सिद्धान्त के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि वस्तु के अनेक रूप और आभास होते हैं। यहाँ उन सभी का विस्तृत वर्णन करना व्यर्थ है।

प्रमेय रत्नालङ्कार की तीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं। एक प्रति तो कागज पर है तथा तीन पाण्डुलिपियाँ ताड़पत्रों पर श्रवणबेल गोला के मठ से प्राप्त की गई हैं। श्रवणबेल गोला के मठ से प्राप्त पाण्डुलिपियाँ ही शुद्ध कही जा सकती हैं।



वीरसेवा मन्दिर का अभिनव प्रकाशन जैन लक्षणावली भाग दूसरा

— ७७७ —

चिर प्रतीक्षित जैन लक्षणावली (जैन पारिभाषिक शब्दकोष) का द्वितीय भाग भी छप चुका है। इसमें लगभग ४०० जैन ग्रन्थों से वर्णानुक्रम के अनुसार लक्षणों का सङ्कलन किया गया है। लक्षणों के सङ्कलन में ग्रन्थकारों के कालक्रम को मुख्यता दी गई है। एक शब्द के अन्तर्गत जितने ग्रन्थों के लक्षण संगृहीत हैं उनमें से प्रायः एक प्राचीनतम ग्रन्थ के अनुसार प्रत्येक शब्द के अन्त में हिन्दी अनुवाद भी दे दिया गया है। जहाँ विवक्षित लक्षण में कुछ भेद या होनाधिकता लिखी है वहाँ उन ग्रन्थों के निर्देश के साथ २-४ ग्रन्थों के आश्रय से भी अनुवाद किया गया है। इस भाग में केवल 'अ से औ' तक लक्षणों का सङ्कलन किया जा सका है। कुछ थोड़े ही समय में इसका तीसरा भाग भी प्रगट हो रहा है, वह लगभग तैयार हो चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ संशोधकों के लिए तो विशेष उपयोगी है ही, साथ ही हिन्दी अनुवाद के रहने से वह सर्वसाधारण के लिए भी उपयोगी है। द्वितीय भाग बड़े आकार में ४१८+८+१४..... पृष्ठों का है। कागज पृष्ठ व जिल्द कपड़े की मजबूत है। मूल्य २५-०० रु० है। यह प्रत्येक यूनीवर्सिटी, सार्वजनिक पुस्तकालय एवं मन्दिरों में संग्रहणीय है। ऐसे ग्रन्थ बार-बार नहीं छपते। समाप्त होने पर फिर मिलना अशक्य हो जाता है।

प्राप्ति स्थान
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरिया-अंज,
दिल्ली-६

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुगातन जैनवाक्य सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना में अलंकृत, डॉ० कालीदास नाग, एम. ए., डा. लिट् के प्राक्कपन (Foreword) और डॉ० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द।	१५-००
प्राप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को निये हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द।	८-००
सायम्भूतसूत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित।	२-००
स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अमोघी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुस्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द सहित।	१-५०
अध्यात्मकमलमातण्ड : पञ्चाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी अनुवाद सहित	१-५०
पुस्त्यनुशासन : तन्त्रज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द।	१-२५
श्रीपुरपाद्वर्णाष्टोत्तर : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवाद सहित।	०-७५
शासनचतुर्विंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३ वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी अनुवाद सहित	०-७५
समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द।	३-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द।	४-००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित।	४-००
अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुस्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भाषा सहित	०-२५
तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभावःद्रोय) मुस्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त।	०-६५
श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ	१-२५
महावीर का सर्वोद। तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा, बाहुबली पूजा प्रत्येक का मूल्य	०-१६
अध्यात्मरहस्य : पं० अशाधार की सुन्दर कृति, मुस्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित।	१-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्ट सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द।	१२-००
न्यायदीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डॉ० दरबारीलाल जी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०।	७-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द	५-००
कसायपाहुडमुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालाल जी मिद्वान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में।	
पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द।	२०-००
Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद, बड़े आकार के ३०० पृष्ठ, पक्की जिल्द	६-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया	५-००

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डॉ० कालीदास नाग, एम. ए., डा. लिट् के प्राक्कपन (Foreword) और डॉ० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द।	१५-००
आसपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज सटीक अपूर्व कृति, आसों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को नये हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द।	८-००
संयन्त्रसूत्रोक्त : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित।	२-००
स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द सहित।	१-५०
अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पञ्चाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी अनुवाद सहित	१-१०
युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द।	१-२५
श्रीपुरपाद्वर्णनाष्टोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित।	०-७५
शासनचतुर्विंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३ वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी अनुवाद सहित	०-७५
समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द।	३-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अतुल्य संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द।	४-००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित।	४-००
अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित	०-२५
तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभावद्वीय) मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त।	०-६५
श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ	१-२५
महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा, बाहुबली पूजा प्रत्येक का मूल्य	०-१६
अध्यात्मरहस्य : पं० अशाधार की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित।	१-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द।	१२-००
न्यायदीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डॉ० दरबारीलाल जी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०।	७-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७५० सजिल्द	५-००
कसायपाण्डुमुक्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालाल जी मिद्वान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में।	
पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द।	२०-००
Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद, बड़े आकार के ३०० पृष्ठ, पक्की जिल्द	६-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया	५-००

पं० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री सम्मानित

हर्ष का विषय है कि हमारे वीर सेवा मन्दिर के प्रसिद्ध विद्वान् तथा जैन लक्षणावली आदि अनेक ग्रन्थों के सम्पादक पं० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री को उनकी साहित्य सेवाओं से प्रभावित होकर दिनांक २५-१-१९७४ को मेरठ में २५०० रुपये का पुरस्कार एवं प्रशस्ति पत्र देकर सम्मानित किया गया है। मुनिवर्य विद्यानन्द जी के तत्त्वावधान में स्थापित वीर निर्वाण भारती मेरठ ने जैन समाज के प्रसिद्ध साहित्य सेवियों को प्रोत्साहन देने के लिए इस सम्मान समारोह का आयोजन किया था।

वीर सेवा मंदिर दरियागंज दिल्ली का परिवार पण्डित जी को उक्त सम्मान के लिए हार्दिक बधाई देता है।

महेन्द्र सेन जंजी

महा सचिव

जैन समाज पर अनभ्र वज्रपात

जैन समाज के प्रसिद्ध साहित्य सेवी डा० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री के देहावसान का समाचार पाकर महान् शोक हुआ। डा० साहब का वियोग जैन समाज की ऐसी महान् क्षति है जो कभी पूर्ण नहीं हो सकती। डाक्टर नेमीचन्द्र जैन ने जैन साहित्य की महान् सेवा की है। संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी में आपने अनेक मौलिक, आलोचनात्मक ग्रन्थों की रचना की है। शोध के क्षेत्र में आपने जो प्रतिष्ठा प्राप्त की—वह सर्व विदित है।

हम डाक्टर साहब के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं तथा उनके पारिवारिक जनों को धैर्य धारण करने के लिए क्षमता प्राप्त होने की वीर प्रभु से प्रार्थना करते हैं।

महेन्द्र सेन जैन

महा सचिव

5213
4 द्वै मासिक शोध पत्रिका
8 = 24 x
100 6' 8
100 6' 8

5213

4 द्वै मासिक शोध पत्रिका

अनेकान्त

सम्पादक-मण्डल

डा० आ. ने. उपाध्ये

डा० प्रेमसागर जैन

यशपाल जैन

प्रकाशचन्द्र जैन



वर्ष २६

किरण ४-५

अक्टूबर १९७३

दिसम्बर १९७३

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली

ॐ अहम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २६ }
किरण ४-५ }

बोर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, 1दल्ला-६
वीर-निर्वाण सवत् २४६६, वि० स० २०३०

{ अक्टूबर-
दिस. १६७३ }

ऋषभ स्तोत्रम्

जय उसह णाहिणन्दण तिहुवणणिल एक्कदीव तित्थयर ।
जय सयलजीववच्छल णिम्मलगुणरमणणिहि णाह ॥
सयल सुरासुरमणिमउडकिरण कब्बुरिय पायपीढ तुमं ।
धण्णा पेच्छन्ति थुणन्ति जवन्ति भायंति जिणणाह ॥
चम्मच्छिणा वि दिट्ठे तइ तइलोए ण माइ महहरिसो ।
णाणाच्छिणा उणो जिण ण-याणिमो कि परप्फुरइ ॥

—पद्मनन्दि

हे ऋषभ जिनेन्द्र ! नाभि राजा के पुत्र आप तीन लोक रूप गृह को प्रकाशित करने के लिए अद्वितीय दीपक के समान है । धर्म तीर्थ के प्रवर्तक हैं । समस्त प्राणियों के विषय में वात्सल्य भाव को धारण करते हैं । तथा निर्मल गुणों रूप रत्नों के स्थान है । आप जयवन्त होवे । नमस्कार करते हुए समस्त देवों और असुरों के मणिमय मुकुटों की किरणों से जिनका पादपीठ विचित्र वर्ण का हो रहा है, ऐसे हे ऋषभ जिनेन्द्र ! पुण्यात्मा जीव आपका दर्शन करते हैं, स्तुति करते हैं और जप करते हैं और ध्यान भी करते हैं । हे जिन चर्ममय नेत्र से भी आपका दर्शन होने पर जो महान् हर्ष उत्पन्न होता है वह तीनों लोकों में नहीं समाता । फिर ज्ञान रूप नेत्र से आपका दर्शन होने पर कितना आनन्द प्राप्त होगा, यह हम नहीं जानते हैं ।

कलकत्ते का कार्तिक महोत्सव

ले० भंवरलाल नाहटा

मुमुक्षु-भव्यों को समार रूपी अटवी से पार पाने के लिए दो मार्ग बतलाये गये हैं, एक ज्ञान मार्ग और दूसरा भक्ति मार्ग। ज्ञानमार्ग दुरूह होने के साथ-साथ अभिमान आदि आ जाने पर पतन भययुक्त है। परन्तु भक्तिमार्ग में विनय, लघुता और श्रद्धा प्रधान होने से सहन और मुगमता से श्रावक अपने साध्य की प्राप्ति कर सकता है जैसे ज्ञान मार्ग इंजन की भांति है तो भक्ति मार्ग उसके पीछे लगे डिब्बों की भांति है, जिसमें केवल दृढ़ता में पकड़ (श्रद्धा) है और इच्छित स्थान में जा पहुँचता है। अष्टा-पद महातीर्थ पर अनन्य भक्ति के योग में ही रावण जैसे नरकगामी जीव ने तीर्थङ्कर नाम कर्म उपार्जन कर भारी त्रैलोक्यपूज्य पद की प्राप्ति की थी। भारतीय दर्शन में सर्वप्राचीन जैन दर्शन में भक्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। नदीश्वरादि शाश्वत अशाश्वत तीर्थों में चारों निकाय के देव और इन्द्र आदि भी समय-समय पर जाकर अट्टाईस महोत्सवादि द्वारा अपना सम्यक्त्व निर्मल कर आत्म कल्याण करते हैं। जिसका जीवाधिगमसूत्रादि में उल्लेख पाया जाता है।

भक्ति सूर्य का उदय होने पर हृदय कमल पूर्ण विकसित हो जाता है और उसकी सौरभ एव प्रकाश में अज्ञानांधकार व पाप-पङ्क-कालुष्य नष्ट होकर भगवान से उनके गुणों के साथ एकतानता आ जाती है। इस प्रकार के भक्ति साधनों में रथयात्रा-महोत्सवादि का प्रमुख स्थान है। इस अवसरपिणीकाल में भगवान ऋषभदेव से धर्म प्रवर्तन हुआ और उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने सर्वप्रथम शत्रुजय का संघ निकाल कर तीर्थोद्धार कराया। संघ-यात्रा में तीर्थङ्कर विव विराजमान किया हुआ रथरूप जिनालय का होना संघ का अनिवार्य अंग है। अतः भरत चक्रवर्ती के अनुकरण में असंख्यकाल से यह परम्परा चली आ रही है अब भी शत्रुजय पर कार्तिक पूर्णिमा आदि

अवसरों पर चाँदी सोने के रथ में प्रभु को विराजमान करके सवारी निकाली जाती है। पुराने संघ वर्णनों में भगवान को चैत्यालय-रथों में विराजमान कर साथ में रथे जाने का वर्णन तो मिलता ही है पर ३५० वर्ष पूर्व थाहरूमाह भणशाली द्वारा निकाले गये मघ के रथ का दर्शन आज भी लौङ्गवपुर के प्राचीन मन्दिर में किया जा सकता है। यद्यपि रथ प्राचीन हो गया है पर ऐतिहासिक वस्तु होने में प्रेक्षणीय है। भारतवर्ष में जगन्नाथपुरी की रथयात्रा विशेष प्रसिद्ध है, विद्वानों के अभिमत में वह शंकराचार्य के पूर्व में जैन मन्दिर ही था, और आश्चर्य नहीं कि वहाँ की रथयात्रा किसी प्राचीन जैन परम्परा का अनुधावन हो।

जैन परम्परा में रथयात्रा-महोत्सवादि अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। बीसवें तीर्थङ्कर श्री मुनिमृत्तन स्वामी के समय में हस्तिनापुर में पद्मानर राजा हुए हैं जिनकी रानी ज्वालादेवी ने जितेश्वर भगवान का महान् रथ निर्माण करवाया तो ईर्ष्यावश दूसरी रानी लक्ष्मी ने ब्रह्मरथ बनवा कर रथयात्रा के प्रसंग पर अपना रथ पहले शहर में निकले इसकी याचना की और इच्छापूर्ति न होने पर आत्मघात की धमकी दी। इधर ज्वालादेवी भी जितेन्द्र रथ के पहले न चलने पर अनशन करने को प्रस्तुत हो गई। राजा ने ऐसे अवसर पर दोनों रथों का निकालना बन्द कर दिया। ज्वालादेवी के पुत्र महापद्म जिसके हाथ में राज्य की बागडोर होते हुए भी पिता के वचनों का विरोध न कर "स्वतन्त्रतापूर्वक माता के जितेन्द्र रथ को चलाने की प्रतिज्ञापूर्वक रात्रि के समय नगर त्याग कर गया और बहुत वर्षों के बाद छ' खण्ड साध कर आने के बाद नवम चक्रवर्ती महापद्म ने बड़े भारी समारोह से जितेश्वर भगवान की रथयात्रा निकाल कर माता की इच्छा पूर्ति की। इस उदाहरण से स्पष्ट

कि जिन शासन की प्रभावना में रथयात्रा महोत्सव कितना महत्वपूर्ण है।

कलिकाल सर्वज्ञ भगवान् हेमचन्द्राचार्य ने पश्चिम पर्व में श्री आर्य मुहूर्ति सूत्र के प्रबन्ध में रथयात्रा का जो विशद वर्णन दिया है और सम्राट अशोक के पौत्र मुद्रमित्र जैन सम्राट सम्प्रति की अनन्य भक्ति और जिन-शासन की महती प्रभावना का, जनता जनार्दन के उल्लाम पूर्ण गीतनृत्य, वादित्रादि भक्ति का चित्र खींचा है उसको श्रवण करने से ही हृदय की उमियाँ भक्तिमत्त हो उठने लगती हैं तो प्रत्यक्षदर्शी लोगो ने अपने कितने दुष्टकृत्य-कल्मष का नाश किया और मध्यमदर्शन प्राप्त कर मोक्ष पथारूढ हुए, इसका महज अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार परमार्हत महाराजा कुमारपाल के द्वारा निर्मित रथयात्रा का वर्णन भी अत्यन्त प्रशस्त और प्रभावोत्पादक है।

बंगला देश में देवीपूजा का प्रचार बहुत अधिक है। आये दिन पूजाओं का आयोजन होता है और मृत्तिका निर्मित नई-नई प्रतिमाएँ पूजा अनुष्ठान के पश्चात् विसर्जित करने के लिए गाँज-बाँज के साथ शोभायात्रा निकालते हैं एवं जगन्नाथ जी के रथ की सवारी भी छोटे-बड़े सैकड़ों रथों के जुलूस निकाले जाते हैं। लोगो के सामने जिन-जिन देवी देवताओं की प्रतिमाएँ आती हैं उनके धर्म व जीवनवृत्त आदि से जनता परिचित होकर प्रभावित होती है। बंगाल की इस प्रथा के अनुसार हर धर्म वालों को अपने धर्म की प्रभावना के हेतु अपने पर्व तिथियों में रथयात्रा महोत्सव निकालना आवश्यक था और यहाँ जब मन्दिर और दादावाडी का निर्माण हो गया तो मध ने तुरन्त इस उत्सव के लिए कार्तिक पूर्णिमा को ही चुना, क्योंकि चातुर्मास की परिसमाप्ति और श्रमण भगवान् महावीर व उनके श्रमणों के विहार का समय होने से एवं चातुर्मास भर में किये गये धर्म कार्य रूपी प्रासाद के शिखर पर कलशारोपण स्वरूप कार्तिक महोत्सव महापर्व प्रतिवर्ष जैनधर्म की विजय वैजयन्ती फहराता हुआ धर्म प्रभावना को अत्यधिक प्रसारित करने वाला है। अनुश्रुति के अनुसार जब तक यहाँ सवारी की सामग्री का विस्तार नहीं हुआ तब तक भगवान् का समवशरण आदि शहर-

मुर्शिदाबाद से मगवाये जाते थे। इसकी विशिष्ट आवश्यकता अनुभव कर तत्कालीन मध ने बड़ा ही मनोज्ञ और कलापूर्ण समवशरण भी बनवा लिया जिसका विवरण आगे लिखा जायगा।

कलकत्ते का कार्तिक-महोत्सव—जैन रथ यात्रा-उत्सव भारत विख्यात वार्षिक पर्व है। इस मनोहर और प्रभावोत्पादक उत्सव को प्रत्येक दर्शक आजीवन नहीं भुला सकता। यो तो कलकत्ता में आये दिन बंगाली, सिक्ख, मुस्लिम, हिन्दू व इतर समाज के नाना प्रकार के जुलूस निकलने ही रहते हैं, पर कार्तिक-महोत्सव की विशालता, और व्यापकता और सुव्यवस्था अनूठी होने के कारण कोई भी उत्सव इसके समकक्ष नहीं आ सकते। श्वेताम्बर और दिगम्बर उभय समाज का मिल कर लगभग एक मील लम्बा जुलूस हो जाता है। दर्शकों को पहिले से प्रशन्न करने पर बैठने के लिए स्थानप्राप्ति भी दुर्लभ हो जाती है। मड़को पर उभय पक्ष के जुलूस में जनता जनार्दन नदी की भाँति उमड़ पड़ती है और घण्टों तक आत्मविभोग होकर निर्निमेष दृष्टि से जुलूस का निरीक्षण करती रहती है। मकानों की छतें, बरामदे, प्रवेशद्वार, गलियों के मुहाने, गाड़ियों की छतें, वृक्षों की शाखाएँ और विद्युत् स्तम्भ भी दर्शकों से लदे हुए प्रतीत होते हैं। श्री पार्श्वनाथ भगवान् के नाम से प्रसिद्धि-प्राप्त श्रीधर्म-नाथ स्वामी की शोभा-यात्रा और राय बट्टीदास बहादुर द्वारा निर्मापित श्री शीतलनाथ जिनालय के कारण जैनधर्म को बंगाल का बच्चा-बच्चा जानता है। बट्टीदास जी के बगीचे के किसी भी समय जाकर देव लीजिए, दर्शकों का मेला लगा हुआ मिलेगा, जिसमें फगाली स्त्री-पुरुष व बच्चों का ही आधिक्य रहता है। यहाँ जैनधर्म और अहिंसा प्रचार का उपयुक्त क्षेत्र ज्ञात कर जैन भवन के तत्वावधान में 'जैन इन्फोर्मेशन ब्यूरो' खोला गया है। जहाँ जैनधर्म सम्बन्धी साहित्य और जानकारी की उपलब्धि विदेशी पर्यटकों और स्थानीय जिज्जुओं को सुलभ हो गयी है।

चातुर्मास धर्मध्यान का केन्द्र है। निरन्तर अप्रतिबद्ध विहार करने वाले मुनिराज भी अहिंसा भगवती की उपासना के निमित्त एक स्थान पर वर्षाकाल व्यतीत करते

हैं। अतः गृहस्थो के लिए भी धर्मोपदेश श्रवणादि सामग्री सुलभ होकर धार्मिक प्रवृत्तियां साधन करने का विशेष अवसर उपलब्ध होता है। चातुर्मास का प्रारम्भ आषाढ शुक्ला १४-१५ होकर मिति कार्तिक शुक्ला १५ को समाप्त होता है। भगवान् ऋषभदेव के पौत्र द्रविड, वारिखिल्ल मुनि तथा बहुसंख्यक मुनिगण इस पुण्य दिवस में तीर्थाधिराज सिद्धाचल पर सिद्ध गति को प्राप्त हुए हैं। अतः इस दिन पालिताना में एक बड़ा भागी मेला होता है, जिसमें सहस्रो नर-नारी गिरिराज शत्रुञ्जय की यात्रा करने के हेतु एकत्र होते हैं। वहाँ अत्यन्त उत्साह एवं समारोह पूर्वक रथयात्रादि महोत्सव मनाये जाते हैं। भारत के अन्य सभी स्थलों पर भी जैन संघ शत्रुञ्जय तीर्थाटन दर्शन-वदन-पर्व-व्याख्यान श्रवण, उपवास, रथयात्रा महोत्सादि द्वारा सोत्साह पर्वाराधन किया जाता है।

महोत्सव की प्राचीनता और इतिहास—

श्री श्वेताम्बर जैन पञ्चायती मन्दिर के पुराने बही-खाते अनुसन्धान करने पर सबत् १८८३ से ३ आँकड़ा बहियाँ मिली। जिनमें कार्तिक महोत्सव जी की सवारी का खरचा बाद जाकर बची हुई आमदनी का विवरण इस प्रकार मालूम होता है :—

सबत् १८८३ में	१५७)
सबत् ३८८४ में	१७७ =)
सबत् १८८५ में	२८५॥ —)
सबत् १८८६ में	४७६॥)
सबत् १८८७ में	२०८॥)
सबत् १८८८ में	५१)
सबत् १८८९ में	३८१॥)
सबत् १८९० में	५१२॥ =)
सबत् १८९१ में	११४८॥ =)
सबत् १८९२ में	१२५२॥ =)
सबत् १८९३ में	१३६१॥)
सबत् १८९४ में	१७८५॥)
सबत् १८९५ में	२३५०॥)
सबत् १८९६ से १८९७ तक	
१२ वर्षों में	१७६६०॥ =)
सबत् १९०८ में	१७६७ =)

सबत् १९०९ में	१४६१॥)
सबत् १९१० में	२७६१॥ =)
सबत् १९११ में	१५१॥)
सबत् १९१२ में	२०४३॥)
सबत् १९१३ में	३१३५॥ =)
सबत् १९१४ में	१६६१ —)
सबत् १९१५ में	२८४६ =)
सबत् १९१६ में	४७७५॥ =)
सबत् १९१७ में	५१७६॥ =)
सबत् १९१८ में	३१८७॥)
सबत् १९१९ में	२४४८॥)
सबत् १९२० में	२६०८ =)
सबत् १९२१ में	२६६२॥)
सबत् १९२२ में	२३७२ =)
सबत् १९२३ में	१६१२॥ =)
सबत् १९२४ में	१७६६॥)
सबत् १९२५ में	१३८२॥)
सबत् १९२६ में	२०४७॥ =)
सबत् १९२७ में	३७२६॥ =)
सबत् १९२८ में	२६८६ =)

उपर्युक्त विवरण में ४६ वर्ष का हिसाब कलकत्ता में श्वे० जैनो की मुख्यावृद्धि के अनुपात से आमदनी का विकास क्रम उपस्थित करता है। साथ ही साथ यह प्रश्न तो उपस्थित ही रहता है कि इस महोत्सव का प्रारम्भ किस सबत् में हुआ ? गत १३८ वर्षों से इस रथयात्रा महोत्सव-सवारी के अविच्छिन्नरूप से निकलने के प्रमाण तो है ही पर इससे यह अनुमान होता है कि इससे १०, १२ वर्ष पूर्व अर्थात् मन्दिर-प्रतिष्ठा के साथ-साथ ही महोत्सव का प्रारम्भ हो गया था क्योंकि दादा साहब के बगीचे में गुल्देवके चरणों की प्रतिष्ठा सं० १८६७ मिति आषाढ शुक्ला ९ को तथा श्री शान्तिनाथ जिनालय (बड़ा पचा-मती मन्दिर-नुलापट्टी) की प्रतिष्ठा सं० १८७१ माघ शुक्ला ६ को हुई थी, अतः पूर्व छेहरासर रूप में आदिनाथ

१. इसमें चैत (१) महोत्सव के खाते श्री रतनविजय-धर्या तारा जीवनदास धांधिया री..... का ६००) शामिल जमा किया हुआ है।

जिनालय विद्यमान था ही। अत इन्ही संवत्तो मे और स० १८८३ से पूर्व से महोत्सव की मवारी चालू है।

समवशरण—

कार्तिक महोत्सव की मवारी में जो धर्मनाथ स्वामी का भव्य-दर्शनीय समवशरण निकलता है, वह सवन् १८९३ मे हेमन्तन कम्पनी को बनाने के लिए दिया गया था। स० १८९४ मे वह बनकर आया और कुल ५२८२॥)। अर्थ व्यय हुआ। इसमे ३५३९॥) की चांदी, १३२७॥) मन्तूरी, ५४०) सोना मुलमा, १००) काष्ठ लोहा, १०६=)। छोजन, कुल मिला कर ५६१३॥) हुआ। जिसमे चांदी का वट्टा ६॥) प्रतिशत से ३३२॥) =) वाद जाकर उपर्युक्त ५२८१॥)। रहा, जो मन्दिर जी में स्थित पुगने खाना बहियो मे प्रमाणित है। यह समवशरण १२७ वर्ष पूर्व का बना हुआ होने पर भी इतना भव्य, मनोहर और कलापूर्ण है कि मानो आज ही बनकर तय्यार हुआ हो !

कार्तिक महोत्सव का प्राचीन चित्र—

जैन समाज के अग्रगण्य सुप्रसिद्ध जौहरी स्वर्गीय गय बट्टीदास बहादुर द्वारा निर्मापित श्री शीतलनाथ जिनालय—जिसका स० १९२३ मे निर्माण हुआ था—के मण्डपो पर कई जैन तीर्थ, जिनकल्याणक, ऐतिहासिक कथा तथा साहित्यादि के सुन्दर और विशाल चित्र लगे हुए है जिनकी संख्या ४० से न्यून नहीं है। इनका निर्माण स० १९२५ के आसपास होना सम्भावित है क्योंकि इसी वर्ष मे जयपुर के गणेश मुसव्वर ने बड़े मन्दिर जी के सभामण्डप मे लगे विशाल चित्रों को बनाया था, तभी राय साहब ने अपने जिनालय के लिए सुन्द चित्र समृद्धि तय्यार कराई होगी। इन चित्रों मे एक चित्र श्री कार्तिक महोत्सव जी की रथयात्रा का है जो '६२ इंच' लंबा और १७ इंच चौड़ा है। सौ वर्ष पूर्व यह जुलूम किस प्रकार निकलता था उसका इस चित्र में अच्छा ऐतिहासिक निदर्शन है। पाठकों के परिचयार्थ यहां इस चित्र का संक्षिप्त परिचय कराया जाता है।

इस लम्बे चित्र मे सबसे आगे लाल रंग की पोशाक व श्वेत टोपधारी दो व्यक्ति भण्डा लिए चल रहे है। इनके पीछे कई मनुष्यों द्वारा खींचा जाने वाला नौबत-

खाना है, जिसमें बैठे हुए चार व्यक्ति वादित्त बजा रहे है। इसके उभयपक्ष मे श्वेत टोपधारी अश्वारोही चल रहे है। नत्पश्चान् लाल शेरवानी तथा बटदार पगडी वाले चपरासी पताका धारण किये हुए मार्ग के उभयपक्ष मे चल रहे है। फिर छडीदारों की पक्ति व तदनुगामी मार्गावरोधक यष्टिकावगाही पक्ति चित्र के शेष तक चली गई है। रास्ते के मध्य मे नौबतखाने के पश्चान् गगन-स्पर्शी इन्द्रध्वज (महेन्द्रध्वज) चलता हुआ "जैन जयति शासनम्" की दिव्य पताकायें फहरा रहा है, फिर इसी का अनुगामी लघु इन्द्रध्वज चल रहा है। पालकी, म्याना, मुखामन, कल्पवृक्ष, तीन छत्र-घण्टियों वाली शिविका के पास श्री महतावचद जी व बलदेवदास जी खड़े है। तत्पश्चान् वाजे वाले अपने वाद्य यंत्रों को बजाते हुए चल रहे है। इनके उभयपक्ष मे दो अश्वारोही कुमार व दो कुमार वाली बच्चा गाडी मे बैठे हुए है। वाजे के पश्चान् जोहरी साथ, शहरपाली, मारवाडी तथा कच्छी पगडी धारण किये हुए श्रावक-समुदाय चल रहा है। सबसे अग्र-गामी श्री मन्दिर जी के दृष्टीगण है, जिनके हाथो मे स्वर्णमय छडी सुशोभित है। इनमे से एक महाशय का नाम श्री भैरूदास जी व दूसरे मज्जन भगवानदास जी है। श्री मुरार जी तथा पाण्डे बालमुकन प्रभु के सन्मुख करबद्ध खड़े है। भगवान के समवशरण जी को उठाने वाले भाग्यशाली श्रावकों में सर्वप्रथम बट्टीदास जी, कल्लू-मल जी तथा शिखरचद जी है, दूसरे भाइयों का नाम नहीं लिखे गये है। भगवत के समवशरण के पांच शिखर व कई स्तम्भ सुशोभित है। इस स्वर्णमय समवशरण के उपरि भाग मे फहराने वाली ध्वजायें भी स्वर्णाभि है। समस्त दर्शकों के आशाकेन्द्र श्री धर्मनाथ स्वामी समर-शरण में विराजमान है, जिनके मुकुट, कुण्डल, हार, बाजू-बंद, श्रीफलदि अलंकार सुशोभित है। समवशरण के पृष्ठभाग मे पंखा किरणिया व छत्रवाहक लोग चल रहे है। तदुपगन्त लखनऊ गद्दी वाले त्यागमूर्ति खरतरगच्छा-चार्य श्रीगुज्य जी श्री जिनकल्याण सूरि जी महाराज की दुर्बल किन्तु तेजस्वी देह के दर्शन होते है। सूरि जी के पीछे दो चामरधारी तथा आठ यतियों का समुदाय चल रहा है, दाहिनी ओर पीछे तक श्रावक समुदाय परि-

वेष्टित है।

इस कार्तिक महोत्सव की शोभायात्रा में सम्मिलित होने वाले सभी महानुभावों के मुखमण्डल आनन्दोल्लास-पूर्ण एवं हृदय भक्तिमत्त मालूम देते हैं। इन सब में अधिक मोटे ताजे पाड़े बालमुकन हैं जिनके दूसरे नंबर में सेठ श्री कल्लूमल जी ही कहे जा सकते हैं। “चित्र में ‘इन्द्रध्वज’ तथा श्रावकगण व आचार्य श्री के चित्र पर नाम लिखा हुआ है। चित्र के उपरिभाग में निम्नलिखित शीर्षक है :—

“श्रीधर्मनाथ स्वामी की असवारी काती महोच्छव का”

इस चित्र में श्री बट्टीदास जी, कल्लूमल जी, बलदेव-दास जी, शिखरचंद जी, भैरूदास जी व महताबचंद जी के नाम आये हैं। बट्टीदास जी (जन्म सन् १८८६ मॉनकादशी, स्वर्गवास स० १९७४) का चित्र तरुणावस्था का है। कल्लूमल जी साहब श्री लाभचंद जी सेठ के पितामह थे। भैरवदास जी जौहरी श्री महाराज बहादुर सिंह टाँक के पूर्वज थे जिनका स० १९३५ में स्वर्गवास हो चुका था। बट्टीदास जी, कल्लूमल जी, भैरवदास जी, मुन्नालाल जी और वल्लभदास जी जौहरी स० १९१७ में श्री बड़े मन्दिर जी के ट्रस्टी नियुक्त हो चुके थे अतः इस चित्र का निर्माण काल (सन् १९१७-१९३५ के बीच) संवत् १९२५ के लगभग अनुमानित है। क्योंकि श्री शीतलनाथ जिनालय की प्रतिष्ठा वि० स० १९२३ मिति फाल्गुन शुक्ला २ के दिन श्री जिनकल्याणसूरि जी के करकमलो से सम्पन्न हुई थी, जो इस चित्र में विद्यमान है। पाड़े बालमुकन, पाड़े बट्टीनारायण जो वर्तमान पुजारी हैं—के फूफा थे।

कार्तिक महोत्सव जी की सवारी का इतिहास और प्राचीन रूप का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराने के पश्चात् पाठकों को वर्तमान का परिचय देना भी आवश्यक है। यह शोभायात्रा भगवान् के विहार का प्रतीक है। जिस प्रकार भगवान् के आगे गगनचुम्बी इन्द्रध्वज चलता हुआ शोभायमान होता था, उसी प्रकार सबसे आगे पंचवर्णी पताकाओं वाला इन्द्रध्वज सर्वधर्म समन्वय एवं अनेकान्तवाद का अमरपाठ पढ़ाता है। नाना प्रकार के वाद्ययन्त्र देवदुन्दुभ्यादि प्रतिहार्यों के एवं विशालकाय इन्द्र का श्वेत

ऐरावत हाथी सौम्यता व अतुल बल का प्रतीक है। रजतमय नौबतखाना और उसके ऊपर घूमने वाली पुत्तलिकाएँ नृत्य नाटकादि का आभास करती हैं। सवारी में नाना प्रकार के वादित्तों का आयोजन रहता है जिनमें कच्छी जैन युवकों तथा वज्जीय सभ्रान्त युवकों की कतिपय वाद्य मण्डलियाँ अपने विविध वादित्तों सहित केवल भक्तिभाव व्यक्तीकरणार्थ उपस्थित होकर वादित्र ध्वनि प्रसारित कर व्योम मण्डल को गुञ्जायमान कर देती हैं। ढक्काओं का निनाद निकटस्थ व्यक्ति की वाणी को भी सुनने में बाधा देता हुआ सुदूर गगन मण्डल में परिव्याप्त हो जाता है। जैन श्वेताम्बर मित्र मण्डल, जैन सभा, जैन क्लब, आदीश्वर मण्डल, वीरमण्डल, कोचर मण्डली आदि सगीत टोलियाँ अपने मुमधुर कण्ठध्वनि से भक्ति और उल्लासपूर्वक भजन गाती हुई दर्शकों का ध्यान आकृष्ट करती हुई कर्णमधुरताभिभूत व्यक्तियों द्वारा अधिक ठहरने का आग्रह करानी हैं। सवारी में सजावट की सामग्री भी बोधदायक एवं भावपूर्ण है। रजतमय षड्नेश्यावृक्ष, शिविका, मिहासन, फूलधरा, दीपमन्दिर, कल्पवृक्ष, चतुर्दश महाम्बन्, मुंमरुगिरि, लघु समवशरण आदि नाना अलकरणों में भगवान् महावीर के चण्डकौशिक मण्डप एवं कानों में पीते ठोकने के उपमार्ग के भाव वज्जीय मूर्तिकला के मन्दर उदाहरण हैं। विविध भक्ति-भाव युक्त अलकरणों के पश्चात् अन्त में धर्मनाथ स्वामी के समवशरण का दर्शन होता है। इस स्वर्ण रजतमय गुरुतर समवशरण को आठ भाग्यशाली भक्त अपने कन्धों पर वहन करते हैं। जिस प्रकार प्रातःमरणीय पूज्यपाद श्री भगवंत अष्टकमलो पर पैर रखते हुए विचरते थे। उसी प्रकार आठ भव्यात्माओं के वहन करने का भाव ठीक भगवान् की विद्यमानता की भाँकी भक्तहृदय में उत्पन्न कर देती है। समवशरण के उभयपक्ष में चामर-युगल, छत्र, किरणियादि वहन किये जाते हैं। इतने लम्बे जुलूस की सुव्यवस्था के हेतु लाल व हरे झण्डों का प्रयोग सावधानता पूर्वक किया जाता है ताकि मार्ग में सूनापन दृग्गोचर न हो। जुलूस में सम्मिलित होने वाले महानुभाव प्रभु के प्रति बहुमानार्थ नङ्गें पाँव चलते हैं। बाहरी भीड़ को भीतर आने से रोकने के लिए डोरी के द्वारा

कतार बढ़ मनुष्यों की पंक्ति एवं दूर तक ध्वजपताहा वाहक सैकड़ों व्यक्ति अपने कार्य में सतर्कतापूर्वक संलग्न रहते हैं। सवारी के निश्चित मार्ग में घण्टों तक ट्राम, बस, ट्रक, गाड़ियाँ, ठेले, मोटर आदि का यातायात ठप्प हो जाता है। ट्रामवे कंपनी अपने विद्युत् तारों को खोलकर इन्द्रध्वज का मार्ग उन्मुक्त करने में लग्न रहती है।

कार्तिक महोत्सव पर्व भव्य जीवों का सम्यक्त्व प्राप्ति होने में तथा सम्यक्त्व निर्माण करने का प्रमुख साधन है। मन्दिर, उपाश्रय में तो चल कर जाने से देवगुरु दर्शनों में व्याख्यान श्रवणादि में लाभ मिलता है पर इस महोत्सव में तो स्वयं भगवान् ही राह चलते व्यक्ति को दर्शन देते हैं। भक्त हृदय अनायाम ही वीतराग मुद्रा दर्शन से झुक पड़ता है और भावशुद्धि-आत्मनिर्मलता आ जाय तो एक ही नमस्कार से बेड़ा पार है।

“इक्कोविणमुक्कारो जिणवर वसहस्प वड्ढमाणस्स, ससार सागराओ तारेड नर व नारि वा ॥”

जिन प्रतिमा के आकार वाले मत्स्यो का देख कर मोह विकल जलचर जन्तुओं तक के बोध पाने के प्रमाण शास्त्रों में विद्यमान न तत्र साक्षात् अर्हद्विम्ब के दर्शन से बद्धिशाली मानव आत्म बोध प्राप्त करे इसमें सन्देह को स्थान ही कहाँ? स्वयं भगवान् की विद्यमानता में भी समवशरण में तीनों तरफ अर्हत् प्रतिमाये विराजमान रहती है और बारह पण्डाओं में तीनों पण्डाओं की तो स्थापना तीर्थङ्कर के ही दर्शन होते हैं। जैन शास्त्रानुसार एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण में भी जिनप्रतिमा अनादि कालीन सिद्ध है, प्रश्नव्याकरण सूत्रानुसार ‘जिन पूजा’ अहिंसा का ही पर्याय है फिर भी बोधिदुर्लभ दुष्काल में अनार्य संस्कृति प्रभावित होकर कोई भक्तिरूपी अमृत-कुण्ड में सशय विप बिन्दु धोले तो उनके प्रति करुणा और उपेक्षा के अतिरिक्त और उपाय ही क्या हो सकता है? हमारी भक्ति विशुद्ध आत्मकल्याण के निमित्त है, किसी का कुछ अहसान या उपकार नहीं, अतः अपनी-अपनी रुचि एवं भावनानुसार जिन शासन के इस महत्त्वपूर्ण कार्य में सम्प्रदाय गत भेद भावों को भुलाकर हार्दिक

योगदान करना चाहिए।

कार्तिक महोत्सव की रथयात्रा में दिगम्बर समाज की मान्यता भी एक ही है और उनकी सवारी भी साथ ही साथ निकलकर बामनला गली की मोड़ पर आ जाती है। घमनाथ भगवान् की सवारी निकल जाने पर दिगम्बर समाज की भ० पाश्वनाथ स्वामी की सवारी भी आ मिलती है। दोनों समाज के व्यक्ति एक दूसरे की सवारी में प्रेम पूर्वक सम्मिलित होते हैं और भजन मण्डलियाँ भी पारम्परिक योगदान करती हैं, यह समाज के शुभ लक्षण है। दर्शन करने के लिए लाखों जैनतर आते हैं और गयनर, राज्यपाल आदि शासक वर्ग भी जोड़ा साकू राज-बाड़ी में उपस्थित होकर जिनदर्शन से लाभान्वित होते हैं। बगाल की जनता भावुक है और वह वीतराग जिनेश्वर के दर्शन कर आत्मविभोर हो उठती है। भक्ति और नत्नीनता में तो वह जैन से भी दो कदम आगे प्रतीत होती है अतः इस महोत्सव के द्वारा कोई भी प्राणी सम्यक वाद्य की प्राप्ति करे तो हमारे इस आयोजन की सफलता ही समझनी चाहिए।

श्वेताम्बर समाज की सवारी माणिकतल्ला स्थित दादा जी महाराज के बगीचे में जाती है और मार्गशीर्ष कृष्ण २ को तुलापट्टी जैन मन्दिर तथा दिगम्बर समाज की सवारी भित्री मार्गशीर्ष कृष्ण ५ को चावखपट्टी जैन मन्दिर में लोट कर इसी समारोह के साथ आती है। इसी बीच वहा साधर्मि वात्सल्य-जीमन, पूजा, भजन आदि का आयोजन रहता है तथा वापस मन्दिर जी में प्रवेश होने पर नाना प्रकार की बोलियों द्वारा अपना द्रव्य सफल करते हैं।

कार्तिक महोत्सव की सवारी सभी समाजों में धार्मिक भावना को बल देने वाली है। अतः इसके माध्यम से यदि श्वेताम्बर व दिगम्बर सम्प्रदाय दोनों मिलकर ठोस कार्य करे तो बगाल में अहिंसा का प्रचार द्वारा पशुबलि और मासाहार जैसी घृणित प्रथाये बन्द हो सकती हैं जिसकी वर्तमान काल में बहुत बड़ी आवश्यकता है।

अपभ्रंश सुलोचना चरित्र के कर्ता देवसेन

डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

अपभ्रंश भाषा में रचिन तथा २८ सवियों में समाप्त सुलोचना चरित्र (सुलोचना चरित्र) की प्रतिया उत्तर भारत के कई शास्त्र भण्डारों में प्राप्त है। अतएव यद्यपि यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित रहा आया, इसकी जानकारी विद्वानों को काफी समय से है। संभवतया प० परमानन्द जी शास्त्री के लेख "सुलोचना चरित्र और देवसेन" (अनेकान्त वर्ष ७, किरण ११-१२) ने विद्वानों का ध्यान इस ग्रन्थ की ओर विशेष आकर्षित किया। उक्त लेख में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि सुलोचना चरित्र के कर्ता देवसेन दर्शनसार के कर्ता से भिन्न है किन्तु भावसंग्रह के कर्ता से अभिन्न है, तथा सम्भवतया वह १२वीं या १३वीं शताब्दी विक्रमी में होने वाले ग्वालियर पट्ट के माधुरसधी भट्टारक देवसेन ही है। परन्तु डा० हीरालाल जी ने सावधमम दोहा की भूमिका में सुलोचना चरित्र को भी दर्शनसार के कर्ता की ही एक अन्य कृति अनुमान किया। हमने अपने लेख 'देवसेन नाम के ग्रन्थकार' (जैन सदेश-शोधक, १४, पृ० १०६-१०९ तथा शोधक १५, पृ० १३६-१४०) में देवसेन नाम के लगभग अठारह दर्जन विभिन्न दिगम्बर जैन-गुरुओं एवं ग्रन्थकारों का शिलालेखों, साहित्यिक उल्लेखों, पट्टावलियों, अन्य अनुश्रुतियों आदि के आधार से परिचय दिया तथा तत्सर्वी ज्ञातव्य का परीक्षण एवं गवेषण करके उनमें जो ग्रन्थकार है अथवा बहुप्रसिद्ध है उनको चीन्हने का प्रयत्न किया है।

वीर सेवा मन्दिर सोसाइटी दिल्ली से प्रकाशित जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, द्वितीय भाग (पृ० १८-२०) में भी प० परमानन्द जी ने आमेर भण्डार की प्रति के आधार से (जिसे दिल्ली की खडित प्रति से सशोधित किया।) सुलोचना चरित्र के आदि एवं अन्त के कुछ भाग प्रशस्ति रूप से प्रकाशित किये, तथा उसकी प्रस्तावना (पृ० ७१-

७२) में ग्रन्थ एवं उसके कर्ता देवसेन का संक्षिप्त परिचय दिया है जिसमें यह व्यक्त किया है कि ग्रन्थ की रचना निवांन्द्रिदेव के प्रशिष्य और विमलसेन गणधर के प्रशिष्य गणिदेवसेन ने मम्मलपुरी में वि० सं० ११३२ में आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत गाथावद्ध सुलोचना चरित्र को (अपभ्रंश के) पट्टाडिया आदि छन्दों में प्राक्कथन (पृ० ३) में डा० दशरथ शर्मा ने सूचित किया कि देवसेनगणि ने कुन्दकुन्द की प्राकृत कृति को वि० सं० ११३२ में राजा मम्मल के नगर में अपभ्रंश भाषा में अनूदित किया। पाद टिप्पणी न० ८ में डा० शर्मा ने यह शका भी व्यक्त की है कि "क्या यह महामल्ल पल्लव द्वारा स्थापित मम्मलपुरम् हो सकता है?" प० परमानन्द जी यह भी समझते प्रतीत होते हैं कि प्रशस्ति में उल्लिखित 'रामभद्र' उस चानुक्क राजा का नाम है जिसके राज्य में इस ग्रन्थ की रचना हुई थी।

इन अनुमानों में, तथा अन्य विद्वानों की भी तद्विषयक धारणाओं में कई भ्रान्तियाँ रही आईं प्रतीत होती हैं। इस प्रशस्ति संग्रह के प्रकाशन से पूर्व ही प्रकाशित शोधक के अपने पूर्वोक्त लेख में हमने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला हुआ है, तथापि कुछ और स्पष्टीकरण अपेक्षित है, ऐसा लगता है।

प्रशस्तिगत 'ज गाट्टावधे आभि उत्तु, मिरि कुदकुद गणिणा गिरुत्तु, तं एव्वहि पट्टाडियपि करोमि' में जिन कुन्दकुन्द का उल्लेख हुआ है वह समयसारादि पाहुड ग्रंथों

१. इस परिचय में चरित्र नायिका सुलोचना को भूल से हस्तिनापुर के राजा की पुत्री दिया गया है। वस्तुतः वह काशि के राजा अकम्पन की पुत्री थी और उसके स्वयंवरित पति जयकुमार हस्तिनापुर के राजकुमार थे—हस्तिनापुर सुलोचना का पित्रालय नहीं, श्वसुराल थी।

के सुप्रसिद्ध कर्ता आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द (प्रथम शती ई०) से नितान्त भिन्न, तन्नाम कोई पर्याप्त उत्तरवर्ती गुरु है, जो कोई भट्टारक भी हो सकते हैं। प्रतिष्ठा पाठकार जयसेन अपरनाम वस्तुविद के गुरु भी एक कुन्दकुन्द मुनि थे जो सम्भवतया कुन्दकुन्द श्रावकाचार, अर्हत्सूत्र-वृत्ति, चतुर्दशी महात्म्य आदि के रचयिता हैं। किन्तु इनका समय १२०० ई० के लगभग होना चाहिए। कुन्दकुन्द नाम के और भी कई मुनि एवं भट्टारक हुए हैं। हमारा अनुमान है कि प्राकृत सुलोचनाचरित्र के रचयिता 'श्री कुन्दकुन्दगणि' प्राकृत वैद्यगाहा के कर्ता से अभिन्न हैं जो ९वीं शती के अन्त के लगभग हुए प्रतीत होते हैं।

‘णव मम्मल हो पुग्गि णिवसते, चारुट्ठाणं गुणमणवते’ रूप में रचनास्थान का जो वर्णन किया है वह तमिल उपदेश का माम्मलपुरम् नामक नगर ही प्रतीत होता है, जिसका निर्माता महामल्ल पल्लव था।

ग्रन्थकर्ता स्वयं को ‘धर्माधर्म का विशेष जानने वाले भविजन-कमल-प्रबोधन-मूर्य गणि देवसेन मुनि प्रवर’ बताते हैं, जो विमलसेन मलघारि के शिष्य और णिवडिदेव के गुरु के विषय में लिखा है -

गड विमुक्त सीस तहो केरइ, रायभट्टणाये तकसारउ ।
चालुविकय वंस हो निलउल्लंड, होंतउ णरवइ चारं मल्लउ ।

जिससे स्पष्ट है कि इन गुरु का नाम गडविमुक्त रामभद्र था जो चालुक्य वंशी त्रैलोक्य मल्ल नाम के नृपति द्वारा सम्मानित हुए थे। ऊपर यह भी कह आये कि यह गडविमुक्त रामभद्र आचार्य प्रवर वीरसेन-जिनसेन की सन्तान परम्परा में होने वाले होंटलमुक्त नामक उन मुनिवर के शिष्य थे जिनके रावण प्रभृति अन्य अनेक शिष्य थे। अस्तु इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि प्रस्तुत सुलोचना चरित्र के रचयिता सेन सघ के गुरु थे और दक्षिणात्य थे। कल्याणि के उत्तरवर्ती चालुक्य वंश में जयसिंह प्रथम (१०११—१०४२ ई०) का उत्तराधिकारी सोमेश्वर प्रथम ‘त्रैलोक्य मल्ल’ आहवमल्ल था जिसका शासनकाल लगभग १०४२—१०६६ ई०) था और जिसका उत्तराधिकारी सोमेश्वर द्वितीय भुवनकमल (१०६६—१०७५ ई०) था। सोमेश्वर प्रथम नामक

यह राजा सामान्यतया ‘त्रैलोक्य मल्ल नाम से प्रसिद्ध था, बड़ा प्रतापी था। दक्षिण भारत का बहुभाग उसके अधीन था, मामल्लपुरम् नगर भी उसके राज्य में ही था। अतएव, गडविमुक्त रामभद्र का समय भी लगभग १०४०—१०७० ई० होना चाहिए, और उनकी तीसरी पीढ़ी में होने वाले देवसेन उससे लगभग ५० वर्ष उपरान्त तो हुए होने चाहिए। उन्होंने अपने राज्य की रचना का समय राक्षस संवत्सर की श्रावण शुक्ल १४ बुधवार के दिन की थी, जो एक गणना के अनुसार ११३२ वि० स० अर्थात् १०७५ ई० में पड़ता है। जिसे ५० परमानन्द जी ने स्वीकार किया है। परन्तु अन्य गणना के अनुसार राक्षस संवत्सर १०६२-६३ ई० ११२२-२३ ई० तथा ११८२-८३ ई० में पड़ता है। इनमें से प्रथम उनके परदादा गुरु के समय के अत्यधिक निकट और तृतीय पर्याप्त दूर पड़ती है अतएव ११२२-२३ ई० की तिथि ही अधिक सगत प्रतीत होती है।

यह संभव है कि अपभ्रंश के सावयघ्न दोहा और संबोधपचाशिका के कर्ता भी यही देवसेन हो, किन्तु दर्शनमार आदि सारत्रय या पंचसार के कर्ता देवसेन से वह सर्वथा भिन्न हैं, और भावसंग्रह के कर्ता संभवतया इन दोनों से ही भिन्न हैं।

प्रशस्ति में स्मृति पूर्वकवियों—वाल्मीकि, व्यास, श्रीहर्ष, कालिदास, वाण मयूर, हर्षि, गोविंद, चतुर्मुख, स्वयंभू, पुण्डित और भूपाल में से अंतिम चार के नाम भी कालक्रमानुसार ही हैं और इनमें से पुण्डित की निश्चित तिथि ६५६ ई० है तथा भूपाल कवि भूपाल-चतुर्विंशति स्तोत्र के रचयिता गोल्लाचार्य अपरनीम भूपालकवि प्रतीत होते हैं जो संभवतया १०वीं शती के अंतिम पाद हुए थे।

गडविमुक्त आदि उपाधियाँ इन गुरुओं का कर्णाटक देशीय होना सूचित करती हैं और जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण उल्लेख है वह तत्कालीन नरेश त्रैलोक्यमल्ल का है। उसके आधार से अपभ्रंश सुलोचना चरित्र के कर्ता देवसेनगणि का समयादि निर्धारण सरलता से हो जाता है।

कारीतलाई की अद्वितीय भगवान ऋषभनाथ की प्रतिमाएँ

शिवकुमार नामदेव

कारीतलाई, मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में कटनी से लगभग २६ मील ३० फुट में, कैमूर पर्वत की पूर्वी मालाओं में स्थित है। प्राचीन समय में यह स्थान कर्णपुर के नाम से विख्यात था। कारीतलाई की जिन अग्रलिखित प्रतिमाओं का यहाँ उल्लेख किया गया है वे मध्यप्रदेश के यशस्वी एवं वैभवशाली वंश कलचुरिकाल की हैं। प्रतिमाशास्त्रीय दृष्टिकोण से इन मूर्तियों का काल १०वीं ११वीं सदी ज्ञात होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि १०वीं ११वीं शती के समय यहाँ जैन धर्म अपनी चरमोत्कर्ष सीमा पर था।

कारीतलाई से प्राप्त भगवान तीर्थंकर ऋषभनाथ की ये प्रतिमाएँ सफेद बलुआ पत्थर से निर्मित की गई हैं। ये सभी प्रतिमाएँ सम्प्रति मध्यप्रदेश के रायपुर संग्रहालय में संग्रहीत हैं।

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथ की इस स्थल से प्राप्त एक प्रतिमा ४३ फीट ऊँची है। भगवान आदिनाथ एक उच्च चौकी पर पद्मासन में ध्यानस्थ बैठे हुए हैं। उनकी दक्षिण भुजा एवं वाम घुटना खंडित हो गया है। हृदय पर श्री वत्स एवं मस्तक के पृष्ठ भाग में प्रभामण्डल हैं। प्रभामण्डल के ऊपर त्रिशूल सौन्दर्यपूर्ण ढंग से बना हुआ है। जिसके दोनों पार्श्व पर एक-एक महावतयुक्त हस्ति उत्कीर्ण है। छत्र के ऊपर दुर्धमिक एवं हस्तियों के नीचे युगल विद्याधर हैं जो नभ मार्ग से पुष्प वृष्टि कर रहे हैं। विद्याधरों के नीचे दोनों पार्श्व पर भगवान के परिचारक सौधर्मन्द्र एवं ईशानेन्द्र अपने हाथों में चवर लिए हुए खड़े हैं।

प्रतिमा की अलंकृत चौकी की पड़ी भूल पर भगवान ऋषभनाथ का लांछन वृषभ चित्रित है। वृषभ के नीचे चौकी के ठीक मध्य में धर्मचक्र अंकित है जिसके दोनों ओर एक-एक सिंह हैं। सिंहासन के दाहिने पार्श्व पर

भगवान का शासनदेव गोमुख एवं वाम पार्श्व पर उनकी शासनदेवी चक्रेश्वरी ललितासन में बैठी हुई है।

इसी स्थल से प्राप्त अन्य प्रतिमाएँ यद्यपि उपरि वर्णित प्रतिमा की ही भाँति हैं किन्तु इस प्रतिमा का मस्तक खंडित नहीं है। प्रतिमा ध्यानस्थ मुद्रा में है। केश घुंघराने दिखाये गये हैं। अष्टप्रतिहार्य युक्त इस प्रतिमा के एक पार्श्व पर शासन देव गोमुख एवं दूसरे छोर पर शासनदेवी चक्रेश्वरी अपने वाहन गरुड़ पर आसन हैं।

सफेद बलुआ पत्थर से निर्मित २' ३" एक प्रतिमा ध्यानस्थ पद्मासनारूढ़ दिखाई गई है। कंधों से लटकने हुए केशगुच्छ कलाकारों के मध्य नपे तुले हाथ के परिचायक हैं। भगवान ऋषभनाथ की इस प्रतिमा के दक्षिण एवं वाम पार्श्व में अन्य तीर्थंकरों की लघु प्रतिमाएँ अंकित हैं। दक्षिण पार्श्व में उत्कीर्ण लघु तीर्थंकरों की मूर्तियाँ पद्मासन में एवं वाम पार्श्व की प्रतिमाएँ कायोत्सर्ग अथवा खड्गासन में हैं। चौकी की भूल पर भगवान का लांछन वृषभ अंकित है। लांछन के नीचे धर्मचक्र एवं इसके दोनों पार्श्व पर एक-एक सिंहाकृति हैं। सिंहासन के दाहिने कोने पर गोमुख एवं चक्रेश्वरी उत्कीर्ण हैं।

कारीतलाई की एक अन्य प्रतिमा जो रायपुर संग्रहालय की निधि है ३' ६" ऊँची है। इस प्रतिमा में भगवान ऋषभनाथ को पद्मासन में ध्यानस्थ दिखाया गया है। कला की दृष्टि से कारीतलाई में प्राप्त जैनधर्म की प्रतिमाओं में यह प्रतिमा कलात्मक सौन्दर्य में सर्वश्रेष्ठ है। कलाकारों की तीक्ष्ण छैनियों के आघातों से निर्मित भगवान की अद्वितीय इस प्रतिमा की विशेषता यह है कि इसके सिंहासन पर सिंहों के जाड़े के साथ हस्तियों का भी एक जोड़ा दिखलाया गया है।

कलचुरि कालीन १०-११वीं सदी में निर्मित उपर्युक्त प्रतिमाओं की कारीतलाई से प्राप्ति इस ओर इंगित करती

धर्म और राजसंरक्षण

तेजपाल सिंह

धर्म व्यक्ति के आन्तरिक पक्ष का आलोक है जो बाह्य के साथ समन्वय स्थापित कर 'धर्म चर' का सुन्दर स्वरूप धारण करता है जिसमें समाज का व्यापक समुदाय मार्ग पाकर लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होता है। 'धर्मो धारयति प्रजा' का प्रवचन इस सदुद्देश्य के समर्थन में ही कहा गया है। धर्म प्रजा अर्थात् मानव समाज को तभी धारण करता है जबकि धर्म स्वतः पुष्ट और प्रबल हो। महान् राजसंरक्षण भी उसी धर्म को सुलभ होता है जो अपनी सामर्थ्य से समाज पर अपना प्रभाव स्थापित कर चुका हो।

राजसंरक्षण कोई सरल उपलब्धि नहीं है; जो सामान्य धर्म को भी प्राप्त हो जाय। राजसंरक्षण उसी धर्म को प्राप्त होता है जो मानव-समाज के लिए संस्कृति साहित्य, कला और दर्शन-चिन्तन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो, साथ ही राजसंरक्षण प्रदान करने वाले राज्य की है कि कलचुरि नरेशों के काल में जैन धर्म का अत्यधिक प्रसार हुआ था।

प्रतीकात्मक दृष्टिकोण से भगवान् ऋषभनाथ के हृदय पर अंकित श्री वत्स अर्थात् चक्र चिन्ह धर्म का प्रतीक माना जाता है। इसी भाँति इनका लाछन वृषभ भी धर्म का प्रतीक है। भगवान् जिस पद्मासन पर विद्यमान दिखाये जाते हैं वह सृष्टि का प्रतीक एवं मस्तक के पीछे लगा हुआ धर्मचक्र, प्रभामण्डल के रूप में वेद का काल चक्र है, जो काल एवं धर्मचक्र के रूप में विष्णु और शक्ति के हाथों में है और जिन तथा बुद्ध से सम्बद्ध है। भगवान् के मस्तक पर स्थित त्रिछत्र, त्रिशक्ति के प्रतीक मात्र है। जो शिव और बुद्ध का त्रिशूल तथा दुर्गा का त्रिकोण है। धर्मचक्र एवं त्रिशक्ति के दोनों पार्श्व पर दो गज आध्यात्मिक गौरव और वैभव के प्रतीक हैं।

राजनैतिक पृष्ठभूमि को भी मजबूत बनाने में सर्वतः सहयोग दे। जो अधिकांश जन-मानस में संरक्षणदाता राज्य के लिए अहितकारक नीतियों को पनपने न दे तथा भावात्मक दृष्टि से राज्य के प्रभाव की वृद्धि में योगदान करे। वस्तुतः ऐसा ही धर्म राजसंरक्षण प्राप्त करने में सक्षम रहा है इसमें आध्यात्मिकता को भौतिकवादी समाज के हित में उपयोग करने का अवसर मिलता है। महान् मनीषी, मुनि विद्वान् अपने संचित धर्म का उपयोग तब अधिक अच्छी तरह कर पाते हैं जब उन्हें राजसंरक्षण मिल जाता है। विश्व इतिहास का पट्टाक्षेप करने से पता चलता है कि जगद्ग्यापी ईशई मिशनरी और भगवान् बुद्ध के सन्देश राजसंरक्षण के बलबूते पर ही अधिकांश जन-मन को आलोकित कर सके हैं और विश्व पर केवल अपने धर्म विशेष का ही नहीं, वरन् राजविशेष की संस्कृति, कला, साहित्य और विचार-दर्शन का सशक्त एवं शाश्वत प्रभाव छोड़ गये हैं।

भारतवर्ष में धर्म को राजसंरक्षण प्रारम्भ से ही मिलता रहा है। वैदिक धर्म आर्यों का पूर्ण संरक्षित धर्म रहा। उपनिषद्-काल के साथ-साथ धर्म की विभिन्न धारार्यें बन गई थीं। ब्राह्मण-धर्म का व्यापक विरोध प्रारम्भ हो गया था। जिसका प्रथम प्रकाश जैनधर्म के रूप में प्रत्यक्ष हुआ। महान् राजकुल में उत्पन्न भगवान् महावीर ने अन्याय, हिंसा व रूढ़िवादिता को अस्वीकार कर समाज को नयी दिशा प्रदान की। समाज के साथ-साथ राजवंशों ने जैनधर्म को उच्च स्तर पर स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया। मल्ल वंश के राजाओं ने जैनधर्म को सर्वाधिक संरक्षण प्रदान किया। यह जैन-धर्म के पुष्पित होने एवं उसके व्यापक वर्ग पर प्रभाव का प्रथम समय था। इसी से बौद्ध धर्म को इसकी सुनियमित पृष्ठभूमि मिली। और वह विश्व-धर्म बन गया। यद्यपि चन्द्रगुप्त

मौर्य ने जैन-धर्म का व्यापक समर्थन किया था यहाँ तक कि स्वयं भी वह दक्षिण भारत में जैन-धर्म का प्रचार करने गया था। परन्तु उसके पौत्र महान् अशोक के समय बौद्ध-धर्म को पूर्णतः संरक्षण मिला, पुष्ट पृष्ठभूमि, व्यापक मानववाद के सिद्धान्त और महान् सम्राट् के संरक्षण के कारण बौद्ध धर्म की विश्व में तृती बोलने लगी। मध्य एशिया, लका और दक्षिण-पूर्व-एशिया में न केवल अशोक के प्रतिनिधि; वरन् स्वयं सम्राट् और उसके पारिवारिक जन इस धर्म का सन्देश पहुँचाने गये। इसी का प्रभाव है कि आज विश्व की एक तिहाई जनसंख्या बौद्ध धर्मानुयायी है।

धर्म के राजसंरक्षण से तात्पर्य लोगों पर धर्म का बलान् आरोपण नहीं है अपितु मानव-समाज के साथ धर्म का तन्मयी करण है। जब समाज-विशेष किसी धर्म की उपयोगिता को समझकर इसे एक बार ग्रहण कर लेता है तो वह उसके लिए शाश्वत धर्म बन जाता है। शुद्धो व सातवाहनो के द्वारा प्रतिपादित धर्म की अस्थिरता का यही कारण था। उन्होंने कठोर ब्राह्मण धर्म के अनुसार अनेक नीति-निर्देश व कुष्ठाग्रस्त कानून बना डाले और उन्हें जनता पर थोपना चाहा। फलतः शक, कम्बोज व अन्य विदेशी जातियाँ कनिष्क के काल में सरल बौद्ध धर्म को अपनाने लगी। क्योंकि इस धर्म को ऐसा राजसंरक्षण प्राप्त था जिसमें धर्म के बलात् ग्रहण का अवसर ही नहीं था सभी जातियों के योग्य व्यक्ति उच्च श्रमण पद प्राप्त करने के अधिकारी थे, विभिन्न वर्गों से श्रमणों के आने से बौद्ध धर्म का बाहुल्येन अंगीकरण स्वाभाविक था।

चूँकि इतिहास बतलाता है कि धर्म राजसंरक्षण से फूला-फला है। अतः स्वाभाविक था कि कनिष्क के पश्चात् बौद्ध धर्म को पूर्ण संरक्षण न मिलने से उसका ह्रास प्रारम्भ हो गया। गुप्त-काल में अन्य धर्मों के साथ हिन्दू-धर्म को व्यापक संरक्षण प्राप्त हुआ, जिसकी नीव इतनी मजबूत थी कि यह धर्म सत्तरह सौ साल से अनेक भ्रमावातों को शमन करता हुआ द्रुत गति से समय के साथ चल रहा है। गुप्तों के दो सौ वर्ष के व्यापक एवं बृद्ध राजसंरक्षण के कारण ही यह सम्भव हो सका।

दक्षिण भारत में ५वीं शताब्दी में जैन-धर्म को

कदम्बवश के महाराज अविनीत के द्वारा संरक्षण देने का उल्लेख उनके दानपात्र में है। महाराजा ने चन्द्रनन्दि भट्टारक को जैन मन्दिर के लिए ग्राम दान किया था। वस्तुन जैनधर्म की समन्वयवादी अहिंसात्मक प्रवृत्ति ने व्यापक राजसंरक्षण प्राप्त किया। जैन-मुनि व माधुओं का आचार ज्ञान व उपदेश ग्राह्य एवं आकर्षक माने जाने रहे थे। जैन-आचार्यों की साधना एवं सत्कृति के प्रति आस्था ने राष्ट्रकुट राजाओं में जैन धर्म के प्रति आकृष्ट कर लिया था तभी तो राष्ट्रकुटों के संरक्षण में उनकी राजधानी मान्यखेड एक अच्छा जैन-केन्द्र बन गया था। चालुक्य वंश जैन-धर्म का महान् संरक्षण रहा। उसके साहाय्य से दक्षिण में जैन धर्म का बहुत प्रचार हुआ। होयसलों के साहाय्य व संरक्षण में जैन मन्दिर तथा अन्य धार्मिक संस्थाएँ खूब फैली। भारतीय सत्कृति के अक्षुण्ण तत्त्व-साहित्य, वस्तुकला एवं कालानुकूल भाषाएँ जैनधर्म को राजसंरक्षण मिलने से ही तो स्थायी एवं उपयोगी बन पायी है। वस्तुतः जैनधर्म को प्राप्त राजसंरक्षण ही वर्तमान में भारत की भावात्मक एकता का निदेशक बन सकता है। धर्म व्यक्ति की चित्तवृत्ति का बहिः प्रदर्शन तभी कर पाता है जब वह समाज की व्यापक भाव से सेवा कर सके, उनके अन्दर अध्यात्म-चिन्तन व उसके व्यावहारिक उपयोग की प्रवृत्ति पैदा कर सके। यही धर्म की वास्तविक उपयोगिता है ऐसे धर्म का शाश्वत संरक्षण होना उचित है।

यूरोप व पश्चिमी एशियाई देशों में भी धर्म को राजसंरक्षण प्राप्त रहा है; और यूरोप में तो धर्म ने शैक्षणिक व सांस्कृतिक स्तर पर धर्म-प्रचार की दृष्टि से कार्य भी किया है। साथ ही धर्म के राजसंरक्षण का दुरुपयोग भी किया। जब एथेंस, रोम और योरोपीय नगरों में ईसाई-चर्च के सर्वेसर्वा पोप पाल का वचन ईश्वर-आदेश माना जाता था और उनकी आज्ञा का उल्लंघन व बाइबिल के उपदेशों का तिरस्कार करने पर 'मृत्यु दण्ड' मिलता था तब ईसाई-धर्म को भी अज्ञानान्ध राजाओं का संरक्षण प्राप्त था तभी तो महान् दार्शनिक सुकरात को सत्य कहने से रोका जाता था और गैलीलियों को तो सत्य को गले के नीचे ही रखना पड़ा था। धर्म

को राजसंरक्षण प्राप्त हो या न हो; परन्तु राजसंरक्षण के कारण यदि धर्म ऐसे क्रूर और कुतन्धन तत्वों को बढ़ावा दे तो ऐसे राजसंरक्षण की कोई आवश्यकता नहीं।

इस्लाम स्थिर धर्म है; समय के अनुसार उसमें व्यापक साहित्य, सम्कार एवं विचारों का विकास श्लथ-गति से हुआ है। इसलिए इसके संरक्षणदाता बादशाह काजियों के कथनानुसार इस धर्म को संरक्षण प्रदान कर प्रोत्साहन देते रहे। इस धर्म के संरक्षक बादशाह इस्लाम धर्म की वृद्धि व अन्य धर्मों के क्षय में विशेष रुचि रखते रहे। इस्लाम को भारत में मुगल साम्राज्य में भिन्न-भिन्न रूपेण संरक्षण मिला। इसी समय कुछ लोगों ने धर्म परिवर्तन भी किया। किन्तु यह अकबर के काल में व्यक्ति की इच्छा और प्रदत्त लोभों पर निर्भर रहा। धर्म के राजसंरक्षण का विशेष प्रभाव इस पर नहीं पड़ा। पश्चात् औरंगजेब ने भी इस्लाम को राजसंरक्षण प्रदान किया। उसने अपनी शक्ति से भारत में इस्लाम के व्यापक प्रचार की सोची थी परन्तु यह राजसंरक्षण-इस्लाम धर्म और औरंगजेब—दोनों के लिए महंगा पड़ा।

धर्म को राजसंरक्षण का ही कुपरिणाम था कि ब्रिटिश शासन भारत में तीन सौ वर्ष तक चलता रहा। उन्होंने अपनी भेद-नीति के कारण हिन्दू व मुसलमानों को खेमों में विभक्त कर भारत के प्रशासन व राजनीति में संघर्ष का बीज बो दिया, जिसके फलस्वरूप भारत दो राष्ट्रों में विभक्त हुआ। धर्म को यह गुप्त-राजसंरक्षण भारतीय उपमहाद्वीप में अशान्ति का वातावरण बनाकर

इतिहास पर कलक के रूप में अंकित है।

प्रजातन्त्र-राष्ट्रों में 'धर्म-निरपेक्ष-राज्य' का सिद्धान्त मान्य हुआ है अर्थात् राज्य धर्म की ओर से निरपेक्ष है उसे कोई संरक्षण प्राप्त नहीं होगा। भारत में धर्म के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता के पश्चात् का दृष्टिकोण यह रहा है कि प्रत्येक वर्ग को धर्मविशेष के प्रचार-प्रसार का अधिकार है वशर्ते कि धर्म राष्ट्र के अहित में कोई कार्य न करे। वैसे तो भारत में बौद्ध धर्म को स्वतन्त्रता के पश्चात् भी संरक्षण मिला है बौद्धगृहों का पुनर्निर्माण हुआ है, बुद्ध जयन्ती व बुद्ध-उपवन के लिए वित्त-न्यवस्था की गई है। भगवान महावीर-निर्वाणोत्सव के लिए सरकार व्यय करने को तत्पर है परन्तु इन सब का उद्देश्य मानव-मात्र का कल्याण ही है।

सम्प्रति विश्व के अधिकांश देशों में प्रजातन्त्र है। प्रजातन्त्र राष्ट्र में कोई भी धर्म तभी संरक्षण प्राप्त करता है जब वह सम्पूर्ण समाज के हित की बात कहे, वह लोकमत के अनुकूल हो; उसमें मानवता के संदेश भरे हों; वह मृत्यु का प्रत्येक आत्मा में संन्धान कर सके।

समाज-संगठन-प्रवृत्ति धर्म की ओर दृष्टि लगाये हुए है। लोक-समुदाय ऐसे धर्म की खोज में है जो चिरन्तन सत्य का मार्गप्रदर्शन करे और युगधर्म का सहयोगी बन कर वर्तमान विभीषिकाओं से त्राण देकर शीतल शान्ति सलिल का आचमन करा सके। ऐसे मानवतावादी धर्म को ही प्रजातन्त्र में संरक्षण मिलना सम्भव है। ऐसे धर्म के विषय में ही यह सूक्ति है—“धर्मों रक्षति रक्षितः।”

अनेकान्त के ग्राहक बनिये

‘अनेकान्त’ जैन समाज की एकमात्र शोध-पत्रिका है। जैन साहित्य, जैन आचार्यों और जैन परम्परा का इतिहास लिखने वाले विद्वान् ‘अनेकान्त’ की ही सहायता लेते हैं। इसका प्रत्येक लेख पठनीय और प्रत्येक अंक संग्रहणीय होता है। प्रत्येक मन्दिर और वाचनालय में इसे अवश्य मगाना चाहिये। मूल्य केवल ६) रुपया।

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज,
दिल्ली-६

णमोकार मंत्र का आरम्भिक रूप क्या है ?

श्री प्रताप चन्द्र जैन, आगरा

मंत्र वह है जिसके द्वारा निजानुभव का ज्ञान हो । जैनागम (श्रमण संस्कृति) में णमोकार मन्त्र एक महान शान्तिदायक और सुखकारी मंत्र है । विद्वान लेखक ज्योतिषाचार्य डाक्टर नेमिचन्द्र जी ने अपनी खोजपूर्ण पुस्तक “मंगल-मंत्र णमोकार—एक अनुचिन्तन” के आमुख में लिखा है कि “यह नमस्कार मन्त्र है । इसमें समस्त पाप मल और दुष्कर्मों को भस्म करने की शक्ति है । णमोकारमन्त्र में उच्चरित ध्वनियों से आत्मा में धन और ऋणात्मक दोनों प्रकार की विद्युत् शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जिससे कर्म कलङ्क भस्म हो जाता है । यही कारण है कि तीर्थंकर भगवान भी विरक्त होते समय सर्व प्रथम इसी महामंत्र का उच्चारण करते हैं तथा वैराग्यभाव की वृद्धि के लिये आये हुए लौकान्तिक देव भी इसी महामन्त्र का उच्चारण करते हैं । यह अनादि है । प्रत्येक तीर्थंकर के कल्पकाल में इसका अस्तित्व रहता है ।”

प्रचलित णमोकार मन्त्र में निम्नलिखित पंतीम अक्षर है जिनमें अरिहंत में लेकर समस्त साधुओं तक को भी नमस्कार करने का विधान है ।

णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाण ।

णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्व साहूण ॥

आदरणीय डाक्टर साहब ने इस अनुचिन्तन में बड़े ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पंतीम अक्षरों वाला यह णमोकार मन्त्र समस्त द्वादशांग जिनवाणी का सार है, इसमें समस्त श्रुतज्ञान की अक्षर संख्या निहित है । जैन दर्शन के तत्त्व, पदार्थ, द्रव्य, गुण, पर्याय, नय, निक्षेप, आस्रव और बन्ध आदि भी इस मन्त्र में बिद्यमान हैं । विद्वान डाक्टर साहब ने इस मन्त्र को इसी रूप में अनादि बताया है परन्तु आगे चलकर उन्होंने यह भी लिखा है कि “कुछ ऐतिहासिक विद्वानों का अभिमत है कि साधु शब्द का प्रयोग साहित्य में अधिक पुराना

नहीं है और साहूण पाठ इस बात का द्योतक है कि यह मन्त्र अनादि नहीं है ।”

डाक्टर साहब का यह कहना तो ठीक है कि साधु भी परम्परागत अनादि है परन्तु इस आधार पर महामन्त्र के पंतीम अक्षरों वाले इस प्रचलित रूप को अनादि मान लेना विनयपूर्वक गले नहीं उतरता क्योंकि उस दशा में एक शका तो यह होती है कि क्या ऊँचे पदधारी आचार्य अपने से लघु पद वाले उपाध्यायों और साधुओं को नमस्कार करेंगे और क्या उपाध्याय अपने से नीचे पद वाले साधुओं को नमस्कार करेंगे ? यदि नहीं तो यह मन्त्र इस रूप में न आचार्यों के लिए हो सकता है और न उपाध्यायों के लिए । इसके अतिरिक्त क्या कोई आचार्य, उपाध्याय और साधु स्वयं को भी नमस्कार करेगा क्योंकि सब में तो वह स्वयं भी आ जाता है । हाँ अन्य सभी जीवों के लिए हो सकता है ।

कलिंग सम्राट् खारवेल द्वारा निमित्त हाथी-गुम्फा पर जो लेख है और जो पुरातत्त्व तथा इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है उसकी प्रथम पंक्ति में यह मन्त्र केवल निम्नलिखित चौदह अक्षरों में अंकित है :—

नमो अरिहंतानं (१) नमो सत सिद्धानं ॥

(देखिये जैन सदेश का छठा शोधांक)

शिला लेख में इसके लेखन की तिथि नहीं मिलती है । हो सकता है कि कुछ अक्षरों की भांति वह भी भग्न हो गई हो परन्तु इस लेख से यह तो स्पष्ट है कि वह शिला लेख ईसापूर्व चौथी शताब्दी का है । मानो आज से दो हजार तीन सौ वर्ष से भी अधिक प्राचीन । इस मन्त्र का इससे पुराना लेख शायद ही अन्यत्र कहीं उपलब्ध हो । और यह रूप है भी ऐसा जो अनादि हो सकता है । इस रूप में आचार्य और उपाध्याय सहित सभी जीव इसका उच्चारण कर सकते हैं ।

कषाय प्राभृत, चूर्ण और त्रिलोक-प्रज्ञप्ति संबंधी महत्वपूर्ण और नई विचारणा

ले० श्री अग्ररत्न नाहटा

जैन-धर्म का कर्म-सिद्धान्त बहुत ही महत्वपूर्ण और अनोखा है। कर्मों के सबंध में जितना विचार और विवरण जैन विद्वानों ने किया व लिखा है उतना विश्व के किसी भी धर्म के विद्वानों ने नहीं किया। मौखिक रहने के कारण कर्म सबंधी जो बहुत बड़ा पूर्व नामक ग्रन्थ था वह तो काफी समय पहले ही लुप्त हो गया पर उसके आधार से लिखे हुए कई ग्रन्थ श्वे० और दि० दोनों

ऐसा लगता है कि कालान्तर में कभी इसे वर्तमान प्रचलित रूप दे दिया गया हो। एक समय ऐसा आया भी था जब कि कालदास के कारण स्मृति क्षीण होने में श्रुत जन का धीरे-धीरे लोप होने लगा था और तब केवल एक अंग के ज्ञाता आचार्य धर मेन ने आचार्य श्री पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा लिपिबद्ध करा कर उसका उद्धार हुआ था। हो सकता है कि इस प्रक्रिया में इस महामन्त्र में आचार्य, उपाध्याय और सब साधुओं को जोड़कर वर्तमान संशोधित रूप दे दिया गया हो। तत्कालीन रचित षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड में यह महामन्त्र मंगलाचरण के रूप में प्रचलित पैंतीस अक्षरों में है भी। स्व० डा० हीरालाल जी जैन ने भी एक स्थान पर श्री पुष्पदन्ताचार्य को इस महामन्त्र का आदि कर्ता बताया है।

भले ही मन्त्र का वर्तमान प्रचलित रूप अनादि न हो परन्तु हमें कृतज्ञ होना चाहिए उन आचार्यों का कि उन्होंने उसका यह मशोधन ऐसा अद्भुत और चमत्कृत करने वाला किया है कि वह केवल मन्त्र न रहकर द्वादशाङ्गरूप एवं भाषा विज्ञान का आधार बन गया है, जैसा कि आदरणीय ज्योतिषाचार्य जी ने अपनी अनूठी और खोजपूर्ण पुस्तक “मङ्गल मन्त्र णमोकार—एक अनुचिन्तन” में बड़ी खूबी के साथ सिद्ध किया है। फिर भी यह अनुसन्धान का विषय है। ●

संप्रदायों में प्राप्त है। कर्म सबंधी मूल और टीका के रूप में वर्तमान जो दोनों संप्रदायों का साहित्य उपलब्ध है, वह कई लाख श्लोक परिमित है। प्राचीन जैन आगमों में कर्मों सबंधी विवरण बीज रूप में संक्षिप्त मिलता है। स्वतंत्र ग्रन्थों में ‘कषाय प्राभृत’ आदि ग्रन्थ प्राप्त व प्रसिद्ध हैं। कषाय-प्राभृत और महाबंध तथा उनकी टीकाएं दक्षिण भारत के दि० शास्त्र भंडारों में लाइपत्रीय प्रतियों के रूप में प्राप्त थी, वह सारा साहित्य अब प्रकाशित हो चुका है। श्वे० कर्म प्रकृति, पंच सग्रह कर्मग्रंथ आदि अनेकों ग्रंथ और उनकी टीकाएँ प्रकाशित हो ही चुकी हैं। इस विशाल कर्म-साहित्य का अध्ययन और आलोचन करके समस्त प्राप्त साहित्य के आधार से नये कर्म सबंधी ग्रंथ तैयार करने की योजना स्वर्गीय श्वे० आचार्य विजयप्रेम सूरि जी ने बनाई थी। वे स्वयं जैन कर्म साहित्य के सबसे बड़े विद्वान थे ही पर उन्होंने अपने शिष्य प्रशिष्यों को भी कर्म साहित्य के मर्मज्ञ बनाने का सहज प्रयत्न किया। इसके फलस्वरूप आचार्य विजयजबू सूरि जी, भुवनमान् सूरि जी तथा जयघोष विजय जी धर्मानन्द विजय जी, हेमचन्द्र विजय जी, गुणरत्न विजय जी आदि १०-१५ ऐसे विशिष्ट विद्वान तैयार किये, जिन्होंने विजय प्रेम सूरि जी की भावना को मूर्तरूप देकर सफल बना दिया है।

उपरोक्त मुनियों ने समस्त जैन कर्म साहित्य को १७ बड़े-बड़े भागों में (करीब २११-३ लाख श्लोक परिमित प्राकृत संस्कृत में) तैयार करके प्रकाशित करने की योजना बनाई। कुछ मुनि तो प्राकृत गाथाएँ बनाते हैं, कुछ उन पर विस्तृत संस्कृत टीकाएँ लिखते हैं। कुछ मशोधन आदि कार्य करते हैं इस तरह एक पूरा मण्डल ही इस भागीरथ कार्य में जुटा हुआ है। उक्त १७ भागों में से ६ भाग तो गत ८ वर्षों में प्रकाशित भी हो चुके हैं। इन

महान् ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ राजस्थानवर्ती पिडवाडा में भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति नामक संस्था और ज्ञानोदय प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना की गई है।

इस नये कर्म साहित्य को तैयार करने वाले कुछ मुनियों का दर्शन मैंने गत मार्च में अहमदाबाद में किया और उनकी लगन, निष्ठा और परिश्रम को देखकर उनके प्रति सहज ही भक्ति भाव उमड़ पड़ा। जब इस नये कर्म साहित्य के ४ बड़े ग्रन्थ मुझे पहले प्राप्त हुए थे तो मैंने उनका परिचय जैन जनता विद्वानों को मिल सके, इसलिए लेख लिखकर "जैन सदेश" में प्रकाशित करवाया था, अब इस नये कर्म साहित्य के कुल ९ भाग मुझे प्राप्त हो चुके हैं, १०-११वाँ छप रहा है। अतः इस महान् कार्य की ओर जैन विद्वानों और समाज का ध्यान पुनः आकर्षित कर रहा हूँ।

उपरोक्त नये कर्म साहित्य का प्रथम भाग खवग-मेठी संवत् २०२२ प्रकाशित हुआ था उसके प्रस्तावना, मूल गाथाये सस्कृत छाया और गुज्जर भाषानुवाद वाला ग्रन्थ अलग से भी प्रकाशित किया गया था। अतः स्वोपज्ञ वृत्ति वाले बड़े सस्करण का मूल्य २१) ०० है उसे जो नहीं खरीद सके, वे इस छोटे ग्रन्थ को खरीद सकते हैं इसीलिए इसका मूल्य २।) ही रखा गया है।

'खवग-मेठी की प्रस्तावना मुनि हेमचन्द्र विजय जी ने ८ पेजी ५४ पृष्ठों की लिखी है उसमें पृष्ठ १३ से ४८ तक में कपायप्राभृत मूल, चूर्णि और त्रिलोक प्रज्ञप्ति के रचयिता और रचनाकाल के सम्बन्ध में विस्तार से और नया प्रकाश डाला है। उसे तो दि० विद्वान प० हीरानाल भी शास्त्री, प० कैलाशचन्द्र जी, प० बालचन्द्र जी, प० फूलचन्द्र जी, डा० आदिनाथ उपाध्याय आदि को अवश्य

ही पढ़कर अपने विचार प्रकाश में लाने चाहिए। क्योंकि इन विद्वानों ने कपाय प्राभृतादि एवं उनकी टीकायें और त्रिलोक प्रज्ञप्ति आदि के संपादन, अनुवाद और प्रस्तावना आदि लिखने में बड़ा परिश्रम किया है। उनको इस नई जानकारी पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो गया है।

मुनि जी हेमचन्द्र विजय जी ने प्रस्तावना में लिखा है कि कपाय प्राभृत और उसकी चूर्णि दिगम्बर और श्वे० के अलग-अलग होने से पहले के हैं और दोनों संप्रदायों में ये मान्य रहे हैं। उनमें दी हुई मान्यतायें श्वे० संप्रदाय से अनुमोदित हैं और श्वे० कर्म साहित्य में उनका उल्लेख व उद्धरण भी मिलता है। आर्य मगू और नाराहस्ती श्वे० नंदी सूतस्थ में उल्लेखित हैं। दि० साहित्य में उनका विवरण नहीं मिलता। नाग हस्ती के शिष्य यति वृषभ, चूर्णि के कर्ता हैं। कपाय प्राभृत मूल के कर्ता गुणधर भी वाचक वंश के हैं, जिस वाचक वंश का उल्लेख और परंपरा श्वे० स्थविरावली में ही उल्लेखित है। कपाय प्राभृत चूर्णि का रचनाकाल वीर संवत् ४६८ के लाभ का है अर्थात् अब तक दिगम्बर विद्वानों ने जो काल माना था, उसमें काफी पहले का है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति यति वृषभ के रचित नहीं है, न उतनी प्राचीन ही है। यद्यपि त्रिलोक प्रज्ञप्ति नामक एक प्राचीन ग्रन्थ भी रहा है पर वह अब उपलब्ध नहीं है। उसके आधार से जो त्रिलोक प्रज्ञप्ति रची गई, वही प्रकाशित हुई है। इस तरह श्वे० साहित्य के नये प्रमाणों के आधार से मुनि हेमचन्द्र विजय जी ने जो विचारणा की है वह दि० विद्वानों को अवश्य ही पढ़कर अपने विचार प्रकट करने चाहिए। नये कर्म साहित्य के प्रकाशित भागों व जैन ग्रन्थावलियों में अवश्य रगने चाहिये।

— . ० —

वर्ण-वचनान्त

वास्तव में धर्म की प्रभावना आचरण से होती है। यदि हमारी प्रवृत्ति परोपकार-मय है तो लोग अनायास ही हमारे धर्म की प्रशंसा करेंगे और यदि हमारी प्रवृत्ति और आचार मलिन हैं तो किसी की भी श्रद्धा हमारे धर्म में नहीं हो सकती।

जैनधर्म का नीतिवाद

डा० राजबलीजी पाण्डेय एम० ए०; डी० लिट्

प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय में जीवन का एक अन्तिम लक्ष्य माना गया है और उसकी प्राप्ति के लिए साधन बतलाये गये हैं। सभी भारतीय धर्मों में जिनमें जैन-धर्म की भी गणना है—यह बात पायी जाती है। जैन-धर्म में चरम लक्ष्य की प्राप्ति का मुख्य साधन नीति-मार्ग है। जैन-धर्म में नीतिवाद का प्राधान्य कब और कैसे हुआ, इस बात को जानने के लिए आवश्यक है कि हम देखें कि भारतवर्ष में धर्म के अन्तिम लक्ष्य और साधन में क्रमशः विकास कैसे हुआ ? ऐतिहासिक क्रम में सबसे प्राचीन धर्म वैदिक-धर्म है। वैदिक संहिताओं के अध्ययन से मालूम होता है कि उस समय का धर्म 'देववाद' था जीवन का अन्तिम लक्ष्य ऐहिक सुखवाद था। पुत्र, कलत्र, स्वास्थ्य, दीर्घायु, धन, सम्पत्ति और ऐश्वर्य की लोग कामना करते थे और विश्वास करते थे कि देवताओं की प्रसन्नता से ही ये पदार्थ मिल सकते हैं। अतः देवताओं की प्रशंसा में और उनकी तुष्टि के लिए ऋक् और साम-वैदिक ऋचाओं—की रचना की गई थी। भारतवर्ष के इस प्राथमिक युग में आत्म-जिज्ञासा और मुक्ति की कल्पना का जन्म ही नहीं हुआ था। भारतवर्ष में धर्म के विकास में दूसरा चरण, ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है। ब्राह्मण-युग के धर्म को हम 'वेदवाद' कह सकते हैं। इस युग में भी जीवन का अन्तिम लक्ष्य इस लोक में पार्थिव सुख और परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति थी, जहाँ पर पृथ्वी के अपूर्ण सुखों की पराकाष्ठा संभव थी। इसके लिए यज्ञ साधन थे और अनेक प्रकार के यज्ञों में वेद-मन्त्रों के बल से देवताओं को वांछित पदार्थ देने के लिए विवश किया जाता था। भारतीय धर्म का तीसरा चरण उपनिषदों में दिखाई पड़ता है। इस समय मनुष्य बाह्य जगत् के आश्चर्यों और आकर्षणों से हटकर अन्तर्मुख होने लगा। आत्म-जिज्ञासा और मुक्ति की कल्पना का उदय हुआ। उपनिषदों का धर्म 'ब्रह्मवाद'

था। ब्रह्म-प्राप्ति का साधक आत्म-ज्ञान अथवा ज्ञान था, यज्ञ और वेदमन्त्र की आवृत्ति नहीं। फिर भी अपनी समन्वय की नीति के कारण उपनिषद् ब्राह्मणों के कर्म-काण्डीय प्रभाव से अपने को मुक्त न कर सकी। भारतीय धर्म के उपर्युक्त विकास-क्रम में जीवन के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में साधन रूप से नैतिक आचरण का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिखाई पड़ता, यद्यपि कहीं-कहीं उसकी ओर सकेत मिलता है। आगे चलकर भारतवर्ष में बौद्ध और जैन-धर्म का उदय हुआ। इन धर्मों ने उपनिषद् के मुक्ति-आदर्श को स्वीकार किया, किन्तु वैदिक और ब्राह्मण-धर्म के चरम लक्ष्य ऐहिक तथा पारलौकिक सुखवाद और उसकी प्राप्ति के साधन मन्त्रपाठ और यज्ञ का पूर्णतः परित्याग किया। उन्होंने मानव-जीवन के उत्थान और चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नैतिक आचरण को प्रमुख स्थान दिया। इन दोनों में भी बौद्ध-धर्म 'बुद्धिवाद' पर अधिक जोर देता रहा; नैतिक आचरण की प्रखरता में वह जैन-धर्म का साथ न दे सका। इस प्रकार नीतिवाद का समर्थक जैन-धर्म ही हुआ, यद्यपि गौणरूप से इसको उपयोगिता अन्य धर्म भी मानते रहे।

नीतिमार्ग के अवलम्बन का अर्थ है अपने दायित्व का बोध, स्वावलम्बन और स्वातन्त्र्य। इसमें बाहरी विधि (अथवा चोदना—प्रेरणा अथवा आज्ञा), दूसरों की सहायता और दया, तथा प्रलोभन आदि का स्थान नहीं है। इस मार्ग पर चलने के लिए जैन-धर्म को कई प्राचीन रूढ़ियों और परम्परा का सामना करना पड़ा। सबसे पहले वेदों के प्रमाणवाद का सामना करना पड़ा। वेदवाद वेदों को अपौरुषेय मानकर उनको अति मानुष महत्त्व दे रहा था। वेदवादियों ने समझ लिया था कि किसी अति-मानुष सत्ता ने मानव-जाति की समस्याओं को सदा के लिए सोच लिया है और उनके हल के लिए एक विधि-शास्त्र

वेदो के रूप में छोड़ दिया है; मनुष्य वेदों की विधि अथवा चोदना के विरुद्ध नहीं जा सकता, उसको अपने लिए सोचने की आवश्यकता भी नहीं। इस प्रमाणवाद के नीचे मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित हो रही थी जब मनुष्य को अपने कर्म के विषय में सोचने की स्वतन्त्रता नहीं तो कर्म के परिणाम का उसके ऊपर दायित्व ही कैसे हो सकता है? इसलिए यह वाद मनुष्य की नैतिक चेतना को भी क्षीण कर रहा था। दूसरी रूढ़ि जिसका सामना जैन-धर्म को करना पड़ा वह 'देववाद' अथवा ईश्वरवाद था। किसी अलौकिक अतिमानुष सत्ता को कर्तृत्व और नियन्त्रण सौंप कर मानव उसके हाथ की कठपुतली और उसकी दया का भिखारी हो गया था। इस कल्पित 'महा-मानव' के व्यक्तित्व के भार से बिचारे मानव का व्यक्तित्व संकुचित और निष्प्रभ हो रहा था। जैनधर्म ने 'वेदवाद' और 'देववाद' दोनों का विरोध किया। उसने इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य का कर्म किसी बाहरी विधि से प्रेरित नहीं हो सकता; कर्म-निर्णय का एकमात्र साधन उसकी बुद्धि और अनुभव है और अपने कर्मों का दायित्व उसको उठाना पड़ेगा। इस दायित्व के बोध से ही उसका पूर्ण बौद्धिक विकास संभव है। जैनधर्म ने इस तथ्य का भी प्रतिपादन किया कि सृष्टि का कर्त्ता या नियन्ता कोई बाहरी सत्ता नहीं, मनुष्य स्वयंसिद्ध और अपने भाग्य का निर्माण करने वाला है, वह किसी की दया और सहायता का भिखारी नहीं, मनुष्य अपने चरित्र और तपोबल से ऐश्वर्य (ईश्वर) की प्राप्ति कर सकता है; स्वावलम्बन और स्वातन्त्र्य मनुष्य में सहज है, इसके लिए किसी के सामने आवेदन-पत्र देने और हाथ पसारने की आवश्यकता नहीं। तीसरी रूढ़ि जिसके विरोध में जैन-धर्म को उठाना पड़ा वह मीमांसकों का कर्म-काण्ड था। यज्ञ बहुत ही विस्तृत, दुरुह, खर्चीले और फिर प्रायः हिंसा प्रधान हो चले थे। इस बाह्याडम्बर में न तो कहीं मनुष्य के व्यक्तित्व और नैतिक दायित्व का पता था और न तो धर्म की मूल भावना का अस्तित्व। बाहरी क्रियाकलाप में मानव अपने को खो गया था। सारा कर्म-काण्ड सुख-वाद से प्रेरित और अन्धश्रद्धा पर अवलम्बित था। इसके स्थान पर जैनधर्म ने दृष्ट-मानव-व्यवहार में दिखाई पड़ने

वाले—नैतिक आचरण पर जोर दिया और मानव के चरम विकास का इसको साधन बतलाया।

मुक्ति अथवा कैवल्य की प्राप्ति के लिए जहां सम्यग् दर्शन और सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता, उपनिषद् और बौद्ध धर्म की भांति, जैनधर्म ने स्वीकार की है, वहां 'सम्यक् चरित्र' को सबसे अधिक प्रधानता दी है। औपनिषद्, बौद्ध, ईसाई आदि धर्म भी शील और चारित्र्य को जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मानते हैं। परन्तु जिस निष्ठा के साथ जैनधर्म ने इस साधन का अवलम्बन किया है वह ससार के इतिहास में दुर्लभ है। जैन धर्म के अनुसार वासनामूलक सकाम कर्म ही पाप और बन्ध का कारण है। अतः सम्यक् चारित्र्य (रागद्वेष से रहित आचरण) से ही कर्म के प्रवाह को रोका जा सकता है। इसी मार्ग से कर्म को उसका बाधनेवाली शक्ति से रहित करना संभव है। मानव-स्वभाव के मस्कार का यही पथ है।

सम्यक् चारित्र्य के आधारभूत महाव्रत, जैनधर्म के तीसरे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनुसार चार थे—(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय और (४) अपरिग्रह। चौबीसवे तीर्थंकर महावीर ने पांचवाँ महाव्रत ब्रह्मचर्य भी इनके साथ जोड़ दिया। जो लोग जैनधर्म को पत्न्यायन-वादी और एकागीण समझने हैं वे देखेंगे कि पांच महाव्रतों के पालन का उद्देश्य केवल व्यक्ति का मस्कार और मुक्ति नहीं, किन्तु ससार का कल्याण और मुक्ति है। प्रथम महाव्रत का अर्थ है जीव मात्र को मनसा वाचा कर्मणा किसी प्रकार का कष्ट न देना। अन्ततोगत्वा यह व्रत जीवमात्र की समता और सभी जीवधारियों के समान अधिकार समान सुख की भावना पर अवलम्बित है। कष्ट किसी को प्रिय नहीं। यदि कोई जीवधारी चाहता है कि उसको कष्ट न हो तो उसको दूसरों को कष्ट देने से अपने को रोकना पड़ेगा। अतः अहिंसा विश्व को शान्तिपूर्ण स्थिति के लिए जीवमात्र का पारस्परिक धर्म है। दूसरा महाव्रत सत्य है। इसका सीधा अर्थ है जो वस्तु जैसी मालूम हो उसको वैसी ही कहना और भ्रूट से बचना। परन्तु जैनधर्म ने सत्य की इस परिभाषा में थोड़ा संशोधन किया। उसके अनुसार सत्य केवल 'ठीक'

ही नहीं, अपितु कल्याणकारी और प्रिय भी होना चाहिए। इसीलिए सत्य को सूनृत भी कहा गया है। केवल ठीक सत्य में अहंकार, वाचालता, अश्लीलता आदि आ जाते हैं। शिव और सुन्दर सत्य बोलने के लिए काम, क्रोध, मद, लोभ का सवरण करना आवश्यक है। तीसरा महाव्रत अस्तेय है। इसका अर्थ है किसी की वस्तु को उसके दिये बिना ग्रहण न करना। इस महाव्रत में जीवमात्र के अस्तित्व की पवित्रता के समान ही उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति की पवित्रता भी स्वीकार की गई है। किन्तु यहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति से मतलब अनियन्त्रित रूप से बल और छल से उपाजित सम्पत्ति नहीं। सम्पत्ति के सचय में भी दूसरे के सत्य का ध्यान रखना आवश्यक है। मनुष्य को अपने परिश्रम के बदले में ईमानदारी के साथ पारिश्रमिक मात्र लेने का अधिकार है; इससे अधिक ग्रहण करना स्तेय अथवा चोर कर्म है। चौथा महाव्रत अपरिग्रह है। इसका शाब्दिक अर्थ है ग्रहण न करना। आचाराग सूत्र में इसकी और स्पष्ट परिभाषा की गई है।

‘सभी इन्द्रियमय पदार्थों में अनासक्ति अपरिग्रह है’। अपने इन्द्रियमुख के लिये आवश्यकता से अधिक पदार्थों का सग्रह करना सामाजिक कलह और संघर्षका कारण है। अनियन्त्रित सम्पत्ति-सचय और पूजीवाद परिग्रह के परिणाम है। अल्प सग्रह और व्ययसे ही समाज में आर्थिक समता और सुख स्थापित हो सकते हैं। परिग्रह के पाप का प्रायश्चित्त चौरकर्म से सचित की हुई सम्पत्तिका दान नहीं हो सकता। व्यक्तिगत और सामाजिक कल्याण के लिये इस पाप से बचना होगा और इसका उपाय है परिग्रह (सचय) को प्रवृत्ति का त्याग।

अन्तिम महाव्रत ब्रह्मचर्य है। सर्वसाधारण में इसका प्रचलित अर्थ यौन-सम्बन्ध से विरत होना है। परन्तु जैन धर्म के अनुसार ब्रह्मचर्य का अर्थ सभी प्रकार की काम-वासना का परित्याग है। यह संभव है कि मनुष्य स्थूल यौन-सम्बन्ध से अपने को बचा ले, किन्तु इतने से ही वह ब्रह्मचारी नहीं हो सकता; उसका मन भीतर से विषय में आसक्त रह सकता है और वह अपने वचन, चेष्टा और इंगित से विषय का रसास्वादन कर सकता है। इसके अतिरिक्त विषय का अधिष्ठान सभी इन्द्रियों में है अतः

यौन-इन्द्रिय के साथ-साथ अन्य इन्द्रियों का भी संयम आवश्यक है। अतः ब्रह्मचर्य से प्रयोजन बाह्य और अन्तः, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सभी प्रकार के काम और कामवासना का परित्याग है। और महाव्रतों के समान ब्रह्मचर्य भी केवल व्यक्तिगत व्रत नहीं, किन्तु सामाजिक सयम है। इसके पालन करने से जीवमात्र केवल हमारी वासना की तृप्ति के साधन न रह कर समता, पवित्रता और आदर के पात्र हो जाते हैं।

‘द्रव्य संग्रह’ नामक पुस्तक में व्रतों की सख्या और बढ़ा कर दी गयी है, परन्तु उन सब का अन्तर्भाव इन्हीं मूल पांच महाव्रतों में हो जाता है।

उपर्युक्त पाँच महाव्रत नैतिक आचरण की आघार शिला है। इनको कार्यान्वित करने के लिये ‘तप’ की व्यवस्था की गयी थी। तप का अर्थ, धर्म के पथ में श्रम करना है। इसको करके ही मनुष्य ‘श्रमण’ हो सकता है। तप दो प्रकार का बतलाया गया है— (१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। बाह्य में (१) अनशन (२) अव-मोदरिका (चान्द्रायण व्रत) (३) भिक्षाचर्या (४) रस-परित्याग (५) काय-क्लेश और (६) सलीनता सम्मिलित है। आभ्यान्तर तप में (१) प्रायश्चित्त (२) विनय (३) वैयावृत्य (सेवा) (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग (विशिष्ट त्याग-शरीर त्याग) की गणना है। आभ्यन्तर तप संख्या (३) के अनुसार (१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर (४) तपस्वी (५) ग्लान (रोगी) (६) शैक्ष और (७) सार्धमिक सेव्य माने गये हैं। इनके अतिरिक्त (१) कुल (२) गण और (३) संघ भी सेवास्पद बतलाये गये हैं। तप के प्रकारों में कुछ तो केवल भिक्षुओं और श्रमणों के लिये ही संभव है, किन्तु अधिकांश सभी के लिये साध्य है। तप में सेवा का एक विशिष्ट स्थान है और उसका सामाजिक महत्त्व भी।

जैन-धर्म अपने इस नीति-मार्ग के ऊपर अपना एकाधिकार नहीं मानता और न इस बात को मानता है कि कोई जैन धर्म की साम्प्रदायिक दीक्षा लेने से ही इस मार्ग से लाभ उठाकर कैवल्य प्राप्त कर सकता है। बिना साम्प्रदायिक भक्ति के ही संसार के कोई भी व्यक्ति इस मार्ग पर चल लाभ उठा सकता है। ईश्वर के स्थान

पर सम्प्रदाय और गुरुको रख दिया गया तो फिर मनुष्य का स्वातन्त्र्य कहाँ ? वह तो फिर ईश्वर के बदले एक छोटे ईश्वर मनुष्य का दास हो गया । इसीलिये रत्नशेखरने अपने ग्रन्थ 'सम्बोध-सत्तरी मे' लिखा है,—“चाहे कोई श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य किसी भी धर्म सम्प्रदायका अनुयायी हो, यदि उसको आत्मा की समानता का बोध हो गया है—और व्यवहार मे सभी जीवो को समान समझा है—तो वह कैवल्यका अधिकारी है ।” इस धर्म को मानने के लिये आत्मबल और समय की आवश्यकता है । जिनमें ये साधन है वह सर्वत्र जिन-विजयी हो सकता है ।

जैन-धर्म के नीतवादका केन्द्र मानव और उसकी अभिव्यक्ति समस्त प्राणिमात्र में समदृष्टि से प्रेरित जीव-दया है । इस धर्म के कुछ एकागीण पथिको को देख कर कतिपय विद्वानों में इस धर्म के सम्बन्धों में भ्रम उत्पन्न हो जाता है । प्रसिद्ध प्राच्यविद्या-विशारद श्री हापकिन्स ने अपने ग्रन्थ 'रेलिजन्स् आफ इण्डिया' (पृ० २६७) में लिखा है, “जैनधर्म एक ऐसा धर्म है जिसके मुख्य सिद्धान्त जिन पर विशेष बल दिया गया है, ये हैं—(१) ईश्वर में अविश्वास, (२) मानव पूजा और (३) कीड़ों मकोड़ों का पोषण ।” ये शब्द व्यंग में लिखे गये हैं । मैंने इस पुस्तक को प्रथम आज से अठारह वर्ष पहले पढ़ा था ।

अपनी आधुनिक बाह्य रूपरेखा की प्रतिक्रिया से मुझको भी जैनधर्म कुछ ऐसा ही दिखाई पड़ता था । परन्तु आज बल-पूर्वक कह सकता हूँ कि उपर्युक्त आलोचना जैनधर्म की मूल भावना के सम्बन्ध मे अज्ञान का परिणाम है । जिसको श्री हापकिन्स महोदय जैनधर्म की दुर्बलता समझते हैं, मैं उसको जैनधर्म की शक्ति मानता हूँ । वास्तव मे जिसकी सत्ता मे राजनैतिक, धार्मिक या बौद्धिक साम्राज्य की स्थापना करना है उसको महा-मानव (सुपरमैन) अथवा ईश्वर की आवश्यकता होगी, क्योंकि उसकी कल्पना भी तो देवाधिपति या विश्वपति के रूप मे है, जिसे सत्ता के असंख्य मनुष्यों को लघु-मानव (सब ह्यूमन) अथवा पशु या यन्त्र समझ कर उनका शोषण और सत्त्वापहरण करना है उनके लिये मानव और मानव पूजा का क्या महत्व ? और जिनके उदर कोटि-कोटि जीवधारियों के शरीर के लिये नित्य कन्नगाह और श्मशान बन रहे हैं उनके सामने जीव-दया की क्या उपयोगिता ? परन्तु जैन धर्म तो धर्म और श्रेयका मार्ग है ; प्रेम, सङ्घर्ष, कलह, युद्ध और इनसे उत्पन्न दुःखका प्रवर्तक नहीं । यदि मनुष्य को एक तरफ देवत्व और दूसरी तरफ दानवत्व छोड़कर 'मानव' बनना है तो उसको जैन-धर्म की उपयोगिता स्पष्ट दिखाई पड़ेगी ।

स्त्रियों का आदर

हमारे देश में जब उन्नति हो रही थी तब स्त्रियों का खूब आदर था और वे शिक्षित थीं । किन्तु जबसे उनका आदर कम हुआ, शिक्षा भी कम हो गई है तभी से अवनति ने यहाँ प्रवेश किया है । इसलिए यह कहना ही ठीक ज़रूरी है कि अशिक्षण के रिवाज पर लात मार कर स्त्रियों को खूब शिक्षित करना हमारे लिए पथ्य है । दूसरा कोई भी मार्ग हमारे कल्याण का नहीं है । बहुत पुराने जमाने को जाने दीजिए, महावीर के जन्म का केवल डायि हजार वर्ष ही बीते हैं । उनके पिता अपनी पत्नी का कैसा आदर करते थे ?

मुकवि खेता और उनकी रचनाएँ

ले० श्री अगरचन्द नाहटा

१८वीं शताब्दी में राजस्थानी साहित्य का निर्माण बहुत अधिक हुआ है। जैन कवियों ने भी इस शताब्दी में काफी साहित्य सृजन किया है। और उनके सम्बन्ध में ५० वसन्तलाल शर्मा पिलानी वालों ने शोधप्रबन्ध भी लिखा है जो अभी तक अप्रकाशित है। राजस्थान में खरतरगच्छ का बहुत अधिक प्रचार व प्रभाव रहा। अतः राजस्थानी भाषा में सर्वाधिक साहित्य खरतरगच्छ के कवियों का ही मिलता है। इनमें से महाकवि जिनहर्ष के सम्बन्ध में तो डा० ईश्वरानन्द शर्मा शोधप्रबन्ध लिख चुके हैं। कविवर धर्मवर्द्धन, विनयचन्द्र और जिनहर्ष की रचनाओं का संग्रह हमने सम्पादित करके प्रकाशित कर दिया है। उपाध्याय लक्ष्मी वल्लभ और जिनसमुद्र सूरि के सम्बन्ध में मेरा एक लेख राजस्थानी पत्रिका में प्रकाशित हो चुका है और धर्मवर्द्धन आदि कई कवियों और उनकी रचनाओं सम्बन्धी लेख अन्य पत्रिकाओं में छप चुके हैं। प्रस्तुत लेख में मुकवि खेता या या खेतल और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

मुकवि खेता ने हिन्दी और राजस्थानी दोनों भाषाओं में थोड़ी और छोटी होने पर भी उल्लेखनीय रचनाएँ बनायी हैं। उनके द्वारा रचित चित्तीड़ और उदयपुर गजल तो प्रकाशित भी हो चुकी हैं। जिनमें इन दोनों स्थानों का बहुत ही सुन्दर व ऐतिहासिक वर्णन प्राप्त है।

खरतरगच्छ की ऐतिहासिक परम्परा में जिन जिनको यति दीक्षा दी जाती थी, उनका विवरण श्री पूज्यो की दफ्तर बही में लिखा जाता था। इससे किस सवत व तिथि को किस स्थान में किसे दीक्षित किया गया, उनका बोल-चाल का अर्थात् घरेलू नाम क्या था, दीक्षा का नाम क्या रखा गया और उनके गुरु का नाम क्या था, इसका विवरण लिखा जाता था। ऐसी ही एक दफ्तर बही की नकल हमने की है। उससे संवत १७०१

से लेकर सवत १८५० तक में खरतरगच्छ की भट्टारक शाखा में कौन कौन यति कव दीक्षित हुए, इसकी महत्वपूर्ण सूचना मिल जाती है।

उपर्युक्त दफ्तर वही के अनुसार मुकवि खेता का पूरा और घरेलू नाम 'खेतमी था। संवत् १७४१ के फाल्गुण वदी ११ गुरुवार को केरिया ग्राम में खरतर गच्छाचार्य जिन चन्द्र सूरि जी ने इन्हें दीक्षित किया था। इनका दीक्षा का परिवर्तित नाम दयागुन्दर रखा गया। इनके गुरु दयावल्लभ गणि थे। यद्यपि इनके जन्मस्थान का निश्चित उल्लेख नहीं मिलता पर चित्तीड़ की गजल सवत १७४२ सावन में बनाई गई है और उदयपुर गजल १७५७ में। इन दोनों स्थानों का जो विवरण कवि ने इन गजलों में दिया है उससे मालूम होता है कि कवि को इन स्थानों के सम्बन्ध में बहुत अच्छी जानकारी थी। इससे कवि का मेवाड़ निवासी होना विशेष सम्भव है कवि की पहली रचना संवत १७४३ की प्राप्त है इससे कवि वहीं उसमें ही दीक्षित हुआ होगा। क्योंकि सवत १७४० में दीक्षा ली और दो वर्ष के अन्दर ही काव्य बनाने लगा तो इसकी योग्यता के विकास में यदि बाल्यावस्था में दीक्षा ली भी होती तो कुछ वर्ष तो लग ही जाते। वैसे अनुमान तो यह होता है कि वह खरतर गच्छीय सुप्रसिद्ध कवि आचार्य श्री जिनराज सूरि जी के शिष्य दयावल्लभ गणि की वृद्धावस्था में छोटी उम्र में ही खेतसी उनके पास आ गया हो और योग्यवय और योग्यता प्राप्त होने पर कई वर्षों बाद दीक्षा ली गई हो। उदयपुर और चित्तीड़ गजल को ध्यान पूर्वक पढ़ने से एक अनुमान और भी निकाला जा सकता है कि उसका जन्म जैन घराने नहीं हुआ हो, वैष्णव शैव या शक्ति का उगसक उसका घराना रहा होगा। इससे कवि ने इन दोनों गजलों में जैन मन्दिर आदि का वर्णन इतना नहीं किया जितना

कि अन्य स्थानों और अन्य देवी देवताओं के मन्दिर का किया है। कवि की एक रचना हिंगलाज भवानी छन्द भी हमारे संग्रह में है इसे भी शक्ति या देवी उपासना की और विशेष आकर्षण या भुकाव प्रतीत होता है जो बहुत सम्भव है इसके घरेलू पूर्व सस्कारों के कारण हो।

रचनाएँ :

कवि की दो रचनाएँ सवत १७४३ की रची हुयी प्राप्त है जिनमें से १ प्रथम है—चौबीस तीर्थङ्करो के स्तवनरूप—‘चौबीसी’। इसकी प्रति कोटा भण्डार में है और नकल महो० विनयसागर जी के संग्रह में है। सवत १७४३ में हीरवास में इसकी प्रति लिखी हुयी है। इस रचना में कवि ने अपना दीक्षित नाम ‘दया सुन्दर’ का ही प्रयोग किया है। जब कि अन्य रचनाओं में खेता खेतल या ‘खेतसी’ इन गृहस्थावस्था के नामों का प्रयोग किया गया है। इससे मेरा यह भी अनुमान है कि सवत १७४३ के आस-पास ही कवि के वृद्ध गुरु ‘दयावल्लभ’ गणि स्वर्गवासी हो गये थे। अतः पीछे कवि सम्भवतः कुछ स्वच्छन्दी हो गये हों; जिससे अपने दीक्षित नाम को प्रधानता न देकर पूर्वावस्था के प्रसिद्ध नाम को महत्व देता गया।

कवि की दूसरी रचना ‘बावनी’ संज्ञक हमारे संग्रह में है। इसमें ६४ पद्य हैं। वह भी मंगसिर मुदी ६ शुक्रवार को दहरवास ग्राम में चौमासा करते हुए रची गयी है। इसके पद्यों में कही खेता कहीं खेतल नाम के साथ कवि और सुकवि विशेषणों का भी प्रयोग किया है। इसमें कवि अपने को उस समय अच्छा कवि मानने लग गया था। बावनी के अंतिम पद्य में कवि ने अपनी गुरु परम्परा, रचनाकाल, रचना स्थान का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

सम्बत सत्तर त्रयाल, मास सुवि पक्ष मगसिर,
तिथि पूनिम शुक्रवार, थई बावनी सुधिर,
बारखरो हो बंध, कवित्त चौसठ कथन गति,
बहरवास चौमास में, तिणि रह्या सुखी अति,
श्री जंनराज सुरिसवर, दयावल्लभ गणि ताससिव,
सुप्रसाद तासश्वेल सुकवि लहि जोडि पुस्तकलिखि। ६४

नवग्रह छंद सं० १७४४ जेठ वदी १० से सं० १७४८ आ० व० १२ की कवि की चौथी रचना हिन्दी चित्तौड़ गजल है। इसके प्रारम्भ में चतुरभुज के चरण को चित्त में लाकर चित्तौड़गढ़ का वर्णन करने को लिखा है। बासठ पद्यों की इस रचना की कई प्रतियाँ हमारे संग्रह में हैं। इसके अन्तिम पद्यों में कवि ने अपना गच्छ नाम और रचना काल का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

‘खरतर’ जाति कवि ‘खेताक’, आखें भोज्य एताक।

संबत संतर से अड़ताल, श्रावणमास श्रुत वरसात।

विधि परव चारमी तेरीक, कोनी गजल पठियो ठोकि ॥६१

यह गजल स्वर्गीय मुनि श्री कातिसागर जी ने फारबस गुजराती साहित्य सभा बम्बई के त्रैमासिक पत्र में तीस वर्ष पहले प्रकाशित की थी। इसके बाद नगर वर्णनात्मक हिन्दी पद्य संग्रह में उन्होंने फिर प्रकाशित की। इस चित्तौड़ और उदयपुर गजल इन दो की ही कवि रचनाओं में अधिक प्रसिद्धि रही है। इनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली है। प्रारम्भ के दो पद्य नीचे दिये जा रहे हैं। जिससे इसकी भाषा और शैली का पाठकों को आभास मिल जायगा।

गढ़ चित्तौड़ है वंका कि, मानु सपंद मैं लंका कि।

वेडच्छ पूर तल बहतीक अर गंभीर भीरहती क। १२

अल्ला देत अल्लादीन फुल्ला बड़ बधी परवीन।

गंबो पीर हैं गाजीक अकबर अवलीया राजीक। ३

पांचवी भी हिन्दी रचना ‘उदयपुर गजल’ संवत १७५७ में रची गयी है। इसके प्रारम्भ में भी एक लिंग और नाथ द्वारे के नाथ को स्मरण किया गया है। अस्सी पद्यों की इस गजल को मुनि जिनविजय जी ने भारतीय विद्या वर्ष १ अंक ४ के पृष्ठ ४३० से ४३५ में तीस वर्ष पहले प्रकाशित की थी। साथ ही उन्होंने इस गजल का सारांश भी पृष्ठ ४२० से ४२४ तक में दे दिया था। उन्हें प्राप्त प्रति में इस गजल के रचनाकाल वाला पद्य नहीं था। पर इसमें महाराणा अमरसिंह और डेवर के पास के जयसमुद्र का उल्लेख मिलने से इसका रचनाकाल संवत १७५५ से १७६७ के बीच का बतलाया था। पर हमारे संग्रह में इस गजल की कई प्रतियाँ हैं उनमें रचना-

काल सूचक पद्य भी पाया जाता है। जिससे इसकी रचना संवत् १७५७ के मंगसिर वदी में हुई सिद्ध होता है।

संवत् सत्तर सतावन्न, मंगसिर मास धुरि परब धन्न।

कीर्ती गजल ऋतु वृसज लायक सुनत आज गुणमात्र।

छठी रचना 'जिन चन्द्र मूरि छन्द' हमारे संग्रह में है। और रचना हिंगलाज भवानी छंद की भी एकमात्र प्रति हमारे संग्रह में है। इसकी पद्य संख्या २५ है। प्रति के एक बोर्डर पर दीमक लग जाने से प्रथम पद्य के कुछ शब्द नष्ट हो गये हैं। यह प्रति १९वीं शताब्दी की लिखी हुई है। उपरोक्त 'जिनचन्द्र मूरि छन्द' की भी अन्य कोई प्रति कहीं प्राप्त नहीं हुई, हमारी प्रति अठारहवीं शताब्दी की लिखित है।

'खेता' नाम का इसी समय में एक और जैन कवि हो गया है जिसकी रचना धन्नारास का विवरण जैन गुर्जर कवियों भाग २ पृष्ठ २६६-७७ में प्रकाशित हो चुका है। यह रास संवत् १७३२ में मेवाड़ के वैराड गांव में रचा गया है। पर इसके रचयिता खेता कवियों का गच्छ के पूज्य दामोदर के शिष्य थे। अतः प्रस्तुत खरतर गच्छीय मुकुवि खेता से भिन्न ही है। मुनि जिनविजय जी ने उदयपुर गजल का साराश देते हुए लिखा था कि इस इत गजल का कर्ता जती खेतानामक है जो अपने को खरतर गच्छ का कहता है। इसने अपने गुरु वगैरह का कोई नाम निर्देश नहीं किया जिससे यह नहीं जाना जाता कि वह कहाँ और कब हुआ। सम्भव है यह कवि मेवाड़ का ही हो क्योंकि इसकी भाषा में मेवाड़ी की झलक स्पष्ट दिखाई दे रही है।

मुनि जिनविजय जी को कवि खेता के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं थी इसलिए ही मैंने यह शोधपूर्ण लेख लिखना आवश्यक समझा।

खरतर गच्छीय कवि खेता की संवत् १७५७ के बाद की कोई संवत् लेख वाली रचना नहीं मिलती। २-३ और भी फुटकर रचनाएँ मिलती हैं उनमें एक अश्लील भी है। इसमें कवि की रसिक वृत्ति का पता चलता है।

सम्भव है कवि ने लम्बी आयु नहीं पायी हो और संवत् और संवत् १७६० के बाद ही उनका निधन हो गया हो। अतः कवि का जन्म संवत् १७२० और निधन संवत् १७६० के करीब तो माना जा सकता है।

मेवाड़ में १८वीं शताब्दी के अन्त में तपागच्छीय कवि दलेप या दौलत विजय कवि हुआ जिसने खुमाण रासो बनाया और विजयगच्छीय कवि मान ने राजविलास और बिहारी सतसई की टीका बनाई। ये मेवाड़ के १८वीं शताब्दी के उल्लेखनीय कवि थे।

डा० ब्रजमोहन जावनिया का एक विस्तृत और शोधपूर्ण लेख—'मेवाड़ का जैन साहित्य' प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर की 'महामिका' नामक पत्रिका में प्रथम अङ्क में सन् १९७१ में प्रकाशित हुआ है। यद्यपि इस लेख में काफी गलतियाँ रह गई हैं फिर भी मेवाड़ के जैन साहित्यकारों और उनकी रचनाओं का काफी विवरण मिल जाता है, अतः बहुत ही उपयोगी है।

इस लेख में खेतर्मिह नामक एक और रचयिता का विवरण दिया गया है। यह विवरण एक नई सूचना देता है, इसलिए यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

'करुणोदधि और खेतसी'— ये कौन और कहाँ के थे इस विषय में कोई सूचना नहीं मिलती। 'वित्रमी शम्यो-द्वार' नामक खेतसी कृत ग्रन्थ में वह अपने को 'पृथ्वीराज रासो' का उद्धारक बताता है। उसने अपने गुरु का नाम 'करुणोदधि' दिया है। पृथ्वीराज रासो के बृहद् मस्करणों की अन्तिम पुष्पिकाओं में 'करुणोदधि' स्वयं को पृथ्वीराज रासो का महागणा अमरमिह प्रथम के आदेश से उद्धार करने वाला बताता है। पृथ्वीराज रासो पर शोध खोज करने वाले सभी विद्वान पुष्पिका में 'करुणोदधि' नाम को नहीं समझ कर व्यर्थ की अनेक ऊहापोह कर गये हैं। खेतसी राजसिंह के पुत्र राजसिंह ? के आश्रित था।

सम्भव है करुणोदधि विशेषण हो। यह खेतसी भी जैन लगता है।

जैन तत्त्वज्ञान

लेखक—पं० श्री मुखलाल जी संघवी

व्याख्या

विश्वके बाह्य और आन्तरिक स्वरूप के सम्बन्ध में तथा उसके सामान्य एवं व्यापक नियमों के सम्बन्धों में जो तात्त्विक दृष्टि से विचार किये जाते हैं उनका नाम तत्त्वज्ञान है। ऐसे विचार किसी एक ही देश, एक ही जाति, या एक ही प्रजा में उद्भूत होते हैं और क्रमशः विकसित होते हैं, ऐसा नहीं है। परन्तु इस प्रकार के विचार करना यह मनुष्यत्वका विशिष्ट स्वरूप है, अतएव जल्दी या देरी में प्रत्येक देश में निवास करने वाली प्रत्येक प्रकार की मानव-प्रजा में ये विचार अल्प या अधिक अंश में उद्भूत होते हैं। और ऐसे विचार विभिन्न प्रजाओं से पारस्परिक सम्बन्ध के कारण और किसी समय बिल्कुल स्वतन्त्ररूप से भी विशेष विकसित होते हैं तथा सामान्य भूमिका से आगे बढ़ कर वे अनेक जुड़े-जुड़े प्रवाह रूप से फैलते हैं।

पहले से आज तक मनुष्य जाति ने भूखण्ड के ऊपर जो तात्त्विक विचार किये हैं वे सब आज उपस्थित नहीं हैं, तथा उन सब विचारों का क्रमिक इतिहास भी पूर्णरूप से हमारे सामने नहीं है, फिर भी इस समय इस विषय में जो कुछ थोड़ा बहुत हम जानते हैं उस परसे इतना तो निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि तत्त्वचिन्तन की भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी दिखाई देने वाली चाहे जितनी धाराएँ हों फिर भी इन सब विचार-धाराओं का सामान्य स्वरूप एक है। और वह यह है कि विश्व के बाह्य तथा आन्तरिक स्वरूप के सामान्य और व्यापक नियमों का रहस्य ढूँढ़ निकालना।

तत्त्वज्ञान की उत्पत्तिका मूल

कोई एक मनुष्य पहले से ही पूर्ण नहीं होता परन्तु वह बाल्य आदि विभिन्न अवस्थाओं में से गुजरने के साथ ही अपने अनुभवों को बढ़ा करके क्रमशः पूर्णता की दिशा

में आगे बढ़ता है। यही बात मनुष्य जाति के विषय में भी है। मनुष्य-जाति की भी बाल्य आदि क्रमिक अवस्थाएँ अपेक्षा-विशेष से होती हैं। उनका जीवन व्यक्ति के जीवन की अपेक्षा बहुत अधिक लम्बा और विशाल होता है। अतएव उसकी बाल्य आदि अवस्थाओं का समय भी उतना ही अधिक लम्बा हो यह स्वाभाविक है। मनुष्य जाति जब प्रकृति की गोद में आई और उसने पहले बाह्य विश्व की ओर आँख खोली तब उसके सामने अद्भुत और चमत्कारी वस्तुएँ तथा घटनाएँ उपस्थित हुईं। एक ओर सूर्य, चन्द्र और अगणित तारामण्डल और दूसरी ओर समुद्र, पर्वत, विशाल नदीप्रवाह, मेघगर्जनाएँ और विद्युत् चमत्कारों ने उसका ध्यान आकर्षित किया। मनुष्यका मानस इन सब स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म चिन्तन में प्रवृत्त हुआ और उसके हृदय में इस सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उद्भूत हुए। जिस प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क में बाह्य विश्व के गूढ़ और अतिमूक्ष्म स्वरूप के विषय में उसके सामान्य नियमों के विषय में विविध प्रश्न उद्भूत हुए, उसी प्रकार आन्तरिक विश्व के गूढ़ और अतिमूक्ष्म स्वरूप के विषय में भी उसके मनमें विविध प्रश्न उठे। इन प्रश्नों की उत्पत्ति ही तत्त्वज्ञान की उत्पत्तिका प्रथम सोपान है। ये प्रश्न चाहे जितने हों और कालक्रम से उसमें से दूसरे मुख्य और उपप्रश्न भी चाहे जितने पैदा हो फिर भी उन सब प्रश्नों को संक्षेप में निम्नप्रकार में संकलित कर सकते हैं।

तात्त्विक प्रश्न

प्रत्यक्षरूप से सतत परिवर्तनशील यह बाह्य विश्व कब उत्पन्न हुआ होगा ? किसमें से उत्पन्न हुआ होगा ? स्वयं उत्पन्न हुआ होगा या किसी ने उत्पन्न किया होगा ? और उत्पन्न नहीं हुआ हो तो क्या यह विश्व ऐसे ही था और है ? यदि उसके कारण हो तो वे स्वयं परिवर्तन

तीमग विचार प्रवाह ऐसा भी था कि जो बाह्य विश्व और आन्तरिक जीव जगत् दोनों को किमी एक अखण्ड सत तत्त्व का परिणाम मानता और मूल में बाह्य

या आन्तरिक जगत् की प्रकृति अथवा कारण मे किसी भी प्रकार का भेद नहीं मानता था ।

जैन विचारप्रवाह का स्वरूप

ऊपर के तीनों विचारप्रवाहों को क्रमशः हम यहाँ प्रकृतिवादी, परमाणुवादी और ब्रह्मवादी के नाम से पहचानेंगे । इनमे से पहले के दो विचारप्रवाहों से विशेष मिलता-जुलता और फिर भी उससे भिन्न ऐसा एक चौथा विचार प्रवाह भी साथ साथ मे प्रवृत्त था । यह विचार प्रवाह था तो परमाणुवादी, परन्तु वह दूसरे विचारप्रवाह की तरह बाह्य विश्व के कारणभूत परमाणुओं को मूल से ही भिन्न भिन्न प्रकार के मानने की तरफदारी नहीं करता था; परन्तु मूल मे सभी परमाणु एक समान प्रकृति के है यह मानता था और परमाणुवाद स्वीकार करने पर भी उसमे से केवल विश्व उत्पन्न होता है यह नहीं मानता था । वह प्रकृतिवादी की तरह परिणाम और आविर्भाव मानता था, इसलिए वह यह कहता था कि परमाणुज्ज मे से बाह्य विश्व अपने आप परिणमता है इस प्रकार इस चौथे विचार प्रवाह का झुकाव परमाणुवादी की भूमि का के ऊपर प्रकृतिवाद के परिणाम की मान्यता की ओर था ।

उसकी एक विशेषता यह भी थी कि वह समग्र बाह्य विश्व को आविर्भाव वाला न मान करके उसमे के कितने ही कार्यों को उत्पत्तिशील भी मानता था । वह यह कहता था कि बाह्य विश्व मे कितनी ही वस्तुएँ ऐसी है कि जो किसी पुरुष के सिवाय अपने परमाणुरूप कारणों मे से उत्पन्न होती है । वैसी वस्तुएँ तिलमे से तैल की तरह अपने कारण मे से केवल आविर्भूत होती है; परन्तु बिलकुल नवीन उत्पन्न नहीं है । जब कि बाह्य विश्व मे बहुत सी वस्तुएँ ऐसी भी है जो अपने जड़ कारणों मे से उत्पन्न होती है परन्तु अपनी उत्पत्ति मे किसी पुरुष के प्रयत्न की अपेक्षा रखती है । जो वस्तुएँ पुरुष के प्रयत्न की सहायता से जन्म लेती है, वे वस्तुएँ जड़ कारणों मे तिल मे तैल की तरह छिपी हुई नहीं रहती है परन्तु वे तो बिलकुल नवीन ही उत्पन्न होती है । जिस प्रकार कोई बड़ई विभिन्न काष्ठखण्डों को एकत्रित करके उनसे एक घोड़े का निर्माण करता है तब वह घोड़ा काष्ठखण्डों में

छिपा नहीं रहता है जैसे कि तिल मे तैल होता है । परन्तु घोड़ा बनाने वाले बड़ई की बुद्धि मे वह कल्पनारूप से होता है और वह काष्ठखण्डों के द्वारा मूर्तरूप धारण करता है । यदि बड़ई चाहता तो इन्हीं काष्ठखण्डों से घोड़ा नहीं बना करके गाय, गाड़ी या दूसरी वैसी वस्तु बना सकता था । तिल मे से तैल निकालने की बात इससे बिलकुल भिन्न है । कोई तेली चाहे जितना विचार करे या इच्छा करे फिर भी वह तिल मे से घी या मक्खन तो नहीं निकाल सकता है । इस प्रकार चतुर्थ विचार प्रवाह परमाणुवाद होने पर भी एक ओर परिणाम और आविर्भाव मानने की वास्तव मे प्रकृतिवादी विचार प्रवाह के साथ मिलता था और दूसरी ओर कार्य तथा उत्पत्ति की वास्तव मे परमाणुवादी दूसरे विचार-प्रवाह से मिलता था ।

यह तो बाह्य विश्व के सम्बन्ध मे चतुर्थ विचार प्रवाह की मान्यता हुई । परन्तु आत्मतत्त्व के सम्बन्ध मे तो इसकी मान्यता ऊपर के तीनों विचारप्रवाहों की अपेक्षा भिन्न थी । वह मानता था कि देह भेद से आत्मा भिन्न है । परन्तु ये सब आत्माएँ देशदृष्टि से व्यापक नहीं है तथा केवल तटस्थ भी नहीं है । वह यह मानता था कि जिस प्रकार बाह्य विश्व परिवर्तनशील है उसी प्रकार आत्माएँ भी परिवर्तनशील है और आत्मतत्त्व सकोच-विस्तारशील है । इसलिये यह देहप्रमाण है ।

यह चतुर्थ विचार प्रवाह ही जैन तत्त्वज्ञान का प्राचीन मूल है । भगवान महावीर से बहुत समय पहले से यह विचार प्रवाह चला आता था और वह अपने ढंग से विकसित होता तथा स्थिर होता जाता था । आज इस चतुर्थ विचार प्रवाह का जो स्पष्ट विकसित और स्थिर रूप हमको प्राचीन या अर्वाचीन उपलब्ध जैनशास्त्रों मे दृष्टि गोचर होता है वह अधिक अंश में भगवान महावीर के चिन्तन का आभारी है । जैन मत की श्वेताम्बर और दिगम्बर दो मुख्य शाखाएँ हैं । दोनों का साहित्य भिन्न-भिन्न है; परन्तु जैन तत्त्वज्ञान का जो स्वरूप स्थिर हुआ है वह दोनों शाखाओं मे थोड़े से फेरफार के सिवाय एक समान है । यहाँ एक बात खास अङ्कित करने योग्य है और वह यह कि वैदिक तथा बौद्धमत के छोटे बड़े अनेक फिरेके हैं । उनमे से कितने ही तो एक दूसरे से बिलकुल विरोधी

मन्तव्य भी रखनेवाले हैं। इन सभी फिरकों के बीच में विशेषता यह है जब वैदिक और बौद्धमत के सभी फिरके आचार विषयक मतभेद के अतिरिक्त तत्त्वचिन्तनकी दृष्टि से भी कुछ मतभेद रखते हैं तब जैनमत के तमाम फिरके केवल आचार भेद के ऊपर अवलम्बित हैं। उनमें तत्त्वचिन्तनकी दृष्टि से कोई मौलिक भेद हो तो वह अभी तक अंकित नहीं है। मानवीय तत्त्वचिन्तन का प्रवाह मौलिक रूप से अखण्डित ही रहा हो।

पूर्वीय और पश्चिमीय तत्त्वज्ञान की प्रकृति की तुलना

तत्त्वज्ञान पूर्वीय हो या पश्चिमीय हो परन्तु सभी तत्त्वज्ञान के इतिहास में हम देखते हैं कि तत्त्वज्ञान केवल जगत्, जीव और ईश्वर के स्वरूप-चिन्तन में ही पूर्ण नहीं होता; परन्तु वह अपने प्रदेश में चारित्र्य का प्रश्न भी हाथ में लेता है। अल्प या अधिक अंश में, एक या दूसरी रीति से, प्रत्येक तत्त्वज्ञान अपने में जीवन-शोधन की मीमांसा का समावेश करता है। अलवत्ता, पूर्वीय और पश्चिमीय तत्त्वज्ञान के विकास में हम थोड़ी भिन्नता भी देखते हैं। ग्रीक तत्त्वचिन्तन की शुरुवात केवल विश्व के स्वरूप सम्बन्धी प्रश्नों में से होती है और आगे जाने पर क्रिश्चियानिटी के साथ में इसका सम्बन्ध होने पर इसमें जीवन शोधन का भी प्रश्न समाविष्ट होता है। और पीछे इस पश्चिमीय तत्त्वचिन्तन की एक शाखा में जीवन शोधन की मीमांसा महत्त्वपूर्ण भाग लेती है। अर्वाचीन समय तक भी रोमन कैथोलिक संप्रदाय में हम तत्त्वचिन्तन को जीवन-शोधन के विचार के साथ संकलित देखते हैं। परन्तु आर्य तत्त्वज्ञान के इतिहास में हम एक खास विशेषता देखते हैं, और वह यह कि मानो आर्य तत्त्वज्ञान का प्रारम्भ ही जीवनशोधन के प्रश्न में से हुआ हो ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि आर्य तत्त्वज्ञान की वैदिक, बौद्ध और जैन इन तीन मुख्य शाखाओं में एक समान रीति से विश्वचिन्तन के साथ ही जीवनशोधन का चिन्तन संकलित है। आर्यावर्त का कोई भी दर्शन ऐसा नहीं है कि जो केवल विश्वचिन्तन करके सतोष धारण करता हो। परन्तु उसमें विपरीत हम यह देखते हैं कि प्रत्येक मुख्य या उसका शाखारूप दर्शन जगत्, जीव और ईश्वर सम्बन्धी अपने विष्टि विचार दिखला करके अन्त में जीवनशोधन के प्रश्न को ही लेता

है और जीवनशोधन की प्रक्रिया दिखला करके विश्रान्ति लेता है। इसलिये हम प्रत्येक आर्य दर्शन के मूल ग्रन्थ में प्रारम्भ में मोक्षका उद्देश और अन्त में उसका ही उपसंहार देखते हैं। इसी कारण से सांख्य जिस प्रकार अपना विशिष्ट योग रखता और वह योगदर्शन से अभिन्न है; इसी प्रकार न्याय-वैशेषिक और वेदान्त दर्शन में भी योग के मूल सिद्धान्त हैं। बौद्ध दर्शन में भी उसकी विशिष्ट योगप्रक्रिया ने खास स्थान रोक रखा है। इसी प्रकार जैन दर्शन भी योगप्रक्रिया के विषय में पूरे विचार रखता है।

जीवनशोधन के मौलिक प्रश्नों की एकता

इस प्रकार हमने देखा कि जैनदर्शन के मुख्य दो भाग हैं। एक तत्त्वचिन्तन का और दूसरा जीवनशोधन का। यहाँ एक बात खास अङ्कित करने योग्य है और वह यह है कि वैदिकदर्शन की कोई भी परम्परा लो या बौद्धदर्शन की कोई परम्परा लो और उसकी जैनदर्शन की परम्पराके साथ तुलना करो तो एक तो एक वस्तु स्पष्ट प्रतीत होगी कि इन सब परम्पराओं में जो भेद है वह दो बातों में है एक तों जगत्, जीव और ईश्वर के स्वरूप-चिन्तन के सम्बन्ध में और दूसरा आचार के स्थूल तथा बाह्य विधि-विधान और स्थूल रहन-सहन के सम्बन्ध में। परन्तु आर्य-दर्शन की प्रत्येक परम्परा में जीवनशोधन से सम्बन्ध रखने वाले मौलिक प्रश्न और उनके उत्तरों में बिलकुल भी भेद नहीं है। कोई ईश्वर को माने या नहीं, कोई प्रकृतिवादी हो या परमाणुवादी, कोई आत्मभेद स्वीकार करे या आत्माका एकत्व स्वीकार करे, कोई आत्मा को व्यापक और नित्य माने या कोई उससे विपरीत माने, इसी प्रकार कोई यज्ञयाग द्वारा भक्ति के ऊपर भार देता हो, या कोई ब्रह्मसाक्षात्कर के ऊपर भार देता हो, कोई मध्यममार्ग स्वीकार करके अनगारधर्म और भिक्षाजीवन के ऊपर भार दे; या कोई अधिक कठोर नियमों का अवलम्बन करके त्याग के ऊपर भार दे; परन्तु प्रत्येक परम्परा में इतने प्रश्न एक समान हैं—दुःख है या नहीं? यदि है तो उसका कारण क्या है? उस कारण का नाश शक्य है? यदि शक्य है तो वह किस प्रकार? अंतिम साध्य क्या होना चाहिए? इन प्रश्नों के उत्तर प्रत्येक परम्परा में एक ही हैं। चाहे शब्द-भेद हो, संक्षेप या

विस्तार हो; पर प्रत्येक का उत्तर यह है कि अविद्या और तृष्णा ये दुख के कारण हैं। इनका नाश संभव है। विद्याएँ और तृष्णाछेद के द्वारा दुख के कारणों का नाश होते ही दुख अपने आप नष्ट हो जाता है और यही जीवनका मुख्य नाथ्य है। आर्यदर्शनो की प्रत्येक परम्परा जीवन-शोधन के मौलिक विचार के विषय में और उनके नियमों के विषय में त्रिलकुल एकमत है। इसलिये यहाँ जैनदर्शन के विषय में कुछ भी कहते समय मुख्यरूप से उसको जीवनशोधन की भीमामा का ही संक्षेप में कथन करना अधिक प्रासंगिक है।

जीवन-शोधन की जैन प्रक्रिया

जैनदर्शन कहता है कि आत्मा स्वाभाविक रीति से शुद्ध और सच्चिदानन्दरूप है। इसमें जो अशुद्धि, विकार या दुःखरूपता दृष्टिगोचर होती है वह अज्ञान और मोहके अनादि कारण से है। अज्ञान को कम करने और विलकुल नष्ट करने के लिये तथा मोहके विलय करने के लिये जैन दर्शन एक ओर विवेक शक्ति को विकसित करने के लिये कहता है और दूसरी ओर वह रागद्वेष के संस्कारों को नष्ट करने के लिये कहता है। जैनदर्शन आत्मा को तीन भूमिकाओं में विभाजित करता है। जब अज्ञान और मोह के प्रबल प्रावलय के कारण आत्मा वास्तविक तत्त्वका विचार नहीं कर सके तथा सत्य और स्थायी सुख की दिशा में एक भी कदम उठाने की इच्छा नहीं कर सके तब वह बहिरात्मा कहलाता है। यह जीवकी प्रथम भूमिका हुई। यह भूमिका जब तक चलती रहती है तब तक पुनर्जन्म के चक्र के बंध होने की कोई संभावना नहीं तथा लौकिक दृष्टि में चाहे जितना विकास दिखाई देता हो फिर भी अन्तर्गतिक रीति से वह आत्मा अविकसित ही होता है।

जब विवेकशक्ति का प्रादुर्भाव होता है और जब राग-द्वेष के संस्कारों का बल कम होने लगता है तब दूसरी भूमिका प्रारम्भ होती है। इसको जैनदर्शन अन्तरात्मा कहता है। यद्यपि इस भूमिका के समय देहधारण के लिए उपयोगी सभी सासारिक प्रवृत्ति अल्प या अधिक अंश में चलती रहती है, फिर भी विवेक शक्ति के विकास के प्रमाण में और रागद्वेष की मन्दता के प्रमाण में यह प्रवृत्ति अनासक्तिवाली होती है। इस दूसरी भूमिका में प्रवृत्ति

होने पर भी उसमें अन्तर से निवृत्ति का तत्त्व होता है। दूसरी भूमिका के कितने ही सोपानों का अतिक्रमण करने के बाद आत्मा परमात्मा की दशा को प्राप्त होता है। यह जीवनशोधन की अन्तिम और पूर्ण भूमिका है। जैनदर्शन कहता है कि इस भूमिका पर पहुँचने के बाद पुनर्जन्म का चक्र सदा के लिए विलकुल बन्द हो जाता है।

हम ऊपर के संक्षिप्त वर्णन में यह देख सकते हैं कि अविवेक (मिथ्यादृष्टि) और मोह (तृष्णा) ये दो ही समार हैं अथवा ससार के कारण हैं। इनके विपरीत विवेक (सम्यग्दर्शन) और वीतरागत्व यही मोक्ष है। यही जीवनशोधन की मक्षिप्स जैनभीमामा अनेक जैन ग्रन्थों में, अनेक रीति से, संक्षेप या विस्तार में, विभिन्न परिभाषाओं में वर्णित है और यही जीवनभीमामा वैदिक तथा बौद्ध दर्शनों में जगह-जगह अक्षरशः दृष्टिगोचर होती है।

कुछ विशेष तुलना

ऊपर तत्त्वज्ञान की मौलिक जैन विचारसरणी और आध्यात्मिक विकासक्रम की जैन विचारसरणी का बहुत ही संक्षेप में निर्देश किया है। इस संक्षिप्त लेख में उसके अति विस्तार को स्थान नहीं, फिर भी इसी विचार को अधिक स्पष्ट करने के लिए यहाँ भारतीय दूसरे दर्शनों के विचारों के साथ तुलना करना योग्य है।

(क) जैनदर्शन जगत् की मायावादी की तरह केवल भास या केवल काल्पनिक नहीं मानता है; परन्तु वह जगत् को सत्य मानता है। फिर भी जैनदर्शन सम्मत सत् चार्वाक की तरह केवल जड़ अर्थात् सहज चैतन्य रहित नहीं है। इसी प्रकार जैनदर्शन सम्मत सत् तत्त्व शाकर-वेदान्तानुसार केवल चैतन्य मात्र भी नहीं है, परन्तु जिस प्रकार साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वभीमामा और बौद्धदर्शन सत् तत्त्व को बिलकुल स्वतन्त्र तथा परम्पर भिन्न ऐसे जड़ और चेतन दो भागों में विभाजित कर डालते हैं, उसी प्रकार जैनदर्शन भी सत् तत्त्व की अनादिसिद्ध जड़ तथा चेतन ऐसी दो प्रकृति स्वीकार करता है जो कि देश और काल के प्रवाह में साथ रहने पर भी मूल में बिलकुल स्वतन्त्र हैं। जिस प्रकार न्याय, वैशेषिक और योगदर्शन आदि यह स्वीकार करते हैं कि इस जगत् का विशिष्ट कार्यस्वरूप चाहे जड़ और चेतन

इन दो पदार्थों से बनता हो फिर भी इस काम के पीछे किसी अनादिसिद्ध, समर्थ चेतनशक्ति का हाथ है, इस ईश्वरीय हाथ के सिवाय ऐसे अद्भुत काम का सम्भव नहीं हो सकता है। जैनदर्शन इस प्रकार से नहीं मानता है। वह प्राचीन साख्य, पूर्वमीमांसा और बौद्ध आदि की तरह मानता है कि जड़ और चेतन ये दो सत् प्रवाह धपने आप किसी तृतीय विशिष्ट शक्ति के हस्तक्षेप के सिवाय ही चलते रहते हैं। इसलिए वह इस जगत् की उत्पत्ति या व्यवस्था के लिए ईश्वर जैसी स्वतन्त्र अनादिसिद्ध व्यक्ति स्वीकार नहीं करता है। यद्यपि जैनदर्शन न्याय, वैशेषिक, बौद्ध आदि की तरह जड़ सत् तत्त्व को अनादिसिद्ध अनन्त व्यक्तिरूप स्वीकार करता है और साख्य की तरह एक व्यक्तिरूप नहीं स्वीकार करता, फिर भी वह साख्य के प्रकृतिगामी सहज परिणामवाद को अनन्त परमाणु नामक जड़ सत् तत्त्वों में स्थान देता है।

इस प्रकार जैन मान्यता के अनुसार जगत् का परिवर्तन प्रवाह अपने आप ही चलता रहता है। फिर भी जैनदर्शन इतना तो स्पष्ट कहता है कि विश्व की जो-जो घटनाएँ किसी की बुद्धि और प्रयत्न की आभारी होती हैं उन घटनाओं के पीछे ईश्वर का नहीं परन्तु उन घटनाओं के परिणाम में भागीदार होने वाले ससारी जीव का हाथ रहता है अर्थात् वैसी घटनाएँ जानमे या अनजान में किसी न किसी ससारी जीव की बुद्धि और प्रयत्न की आभारी होती हैं। इस सम्बन्ध में प्राचीन साख्य और बौद्ध दर्शन जैनदर्शन जैसे ही विचार रखने हैं।

वेदान्तदर्शन की तरह जैनदर्शन सचेतन तत्त्व को एक या अखण्ड नहीं मानता है; परन्तु साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा बौद्ध आदि की तरह वह सचेतन तत्त्व को अनेक व्यक्तिरूप मानता है। फिर भी इन दर्शनों के साथ जैनदर्शन का थोड़ा मतभेद है और वह यह है कि जैनदर्शन की मान्यतानुसार सचेतन तत्त्व बौद्ध मान्यता की तरह केवल परिवर्तन प्रवाह नहीं है तथा साख्य, न्याय आदि की तरह केवल कूटस्थ भी नहीं है। किन्तु जैनदर्शन कहता है कि मूल में सचेतन तत्त्व ध्रुव तथा अनादि अनन्त होने पर भी वह देश काल की धारण किये बिना नहीं रह सकता। इसलिए जैन मतानुसार जीव भी जड़

की तरह परिणामिनित्य है। जैनदर्शन ईश्वर जैसी किसी व्यक्ति को विलकुल स्वतन्त्ररूप से नहीं मानता फिर भी वह ईश्वर के समग्र गुणों को जीवमात्र में स्वीकार करता है। इसलिए जैनदर्शनानुसार प्रत्येक जीव में ईश्वरत्व की शक्ति है। चाहे वह शक्ति आवरण से दबी हुई हो, परन्तु जीव योग्य दिशा में प्रयत्न करे तो वह अपने में रही हुई ईश्वरीय शक्ति का पूर्णरूप में विकास करके स्वयं ही ईश्वर बनाता है। इस प्रकार जैन मान्यतानुसार ईश्वर तत्त्व को भिन्न स्थान नहीं होने पर भी वह ईश्वर तत्त्व की मान्यता रखता है और उसकी उपासना भी स्वीकार करता है। जो जो जीवात्माएँ कन्यामनाओं से पूर्णरूप से मुक्त हुई हैं वे सभी समान भाव में ईश्वर हैं। उनका आदर्श सामने रख करके अपने में रही हुई पूर्णशक्ति को प्रकट करना यह जैन उपासना का ध्येय है। जिस प्रकार शाकर वेदान्त मानता है कि जीव स्वय ही ब्रह्म है, उसी प्रकार जैनदर्शन कहता है कि जीव स्वय ईश्वर या परमात्मा है। वेदान्त दर्शनानुसार जीव का ब्रह्मभाव अविद्या से आवृत है और अविद्या के दूर होते ही वह अनुभव में आता है। उसी प्रकार जैनदर्शनानुसार जीव का परमात्मभाव कर्म से आवृत है उस आवरण के दूर होते ही वह पूर्णरूप में अनुभव में आता है। इस सम्बन्ध में वस्तुतः जैन और वेदान्त के बीच में व्यक्ति-बहुत्व के सिवाय कुछ भी भेद नहीं।

(ख) जैनशास्त्र में जिन सात तत्त्वों का उल्लेख है उनमें से मूल जीव और अजीव इन दो तत्त्वों की ऊपर तुलना की है। अब वस्तुतः पाँच में से चार ही तत्त्व अवशिष्ट रहते हैं। ये चार तत्त्व जीवनशोधन में सम्बन्ध रखने वाले अर्थात् आध्यात्मिक विकासक्रम में सम्बन्ध रखने वाले हैं, जिनको चारित्रीय तत्त्व भी कह सकते हैं। बध, आस्रव, सवर और मोक्ष ये चार तत्त्व हैं। ये तत्त्व बौद्धशास्त्रों में क्रमशः दुःख, दुःखहेतु, निर्वाणमार्ग और निर्वाण इन चार आर्यसत्त्वों के नाम से वर्णित हैं। साख्य और योगशास्त्र में इनको ही हेय, हेयहेतु, हीनोपाय और हान कह करके इनका चतुर्व्युह रूप से वर्णन है। न्याय और वैशेषिक दर्शन में भी इसी वस्तु का ससार, मिथ्याज्ञान, तत्त्वज्ञान और अपवर्ग के नाम से वर्णन है। वेदान्तदर्शन

में संसार, अविद्या, ब्रह्मभावना और ब्रह्मसाक्षात्कार के नाम से यही वस्तु दिखलाई गई है।

जैनदर्शन में बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा की तीन संक्षिप्त भूमिकाओं का कुछ विस्तार से चौदह भूमिकाओं के रूप से भी वर्णन किया गया है, जो जैन-परम्परा में गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध है। योगवाशिष्ठ जैसे वेदान्त के ग्रन्थों में भी सात अज्ञान की और सात ज्ञान की चौदह आत्मिक भूमिकाओं का वर्णन है। सांख्य-योगदर्शन की क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच चित्तभूमिकाएँ भी इन्हीं चौदह भूमिकाओं का संक्षिप्त वर्गीकरण मात्र है। बौद्धदर्शन में भी इसी आध्यात्मिक विकासक्रम को पृथग्जन, सोतापन्न आदि रूप से पाँच भूमिकाओं में विभाजित करके वर्णन किया गया है। इस प्रकार जब हम सभी भारतीय दर्शनों में संसार से मोक्ष तक की स्थिति, उसके क्रम और उसके कारणों के विषय में एक मत और एक विचार पढ़ते हैं तब प्रश्न होता है कि जब सभी दर्शनों के विचारों में मौलिक एकता है तब पंथ-पंथ के बीच में कभी भी मेल नहीं हो ऐसा और इतना अधिक भेद क्यों दिखाई देता है ?

इसका उत्तर स्पष्ट है। पंथ की भिन्नता में मुख्य दो वस्तुएँ कारण हैं; तत्त्वज्ञान की भिन्नता और बाह्य आचार-विचार की भिन्नता। कितने ही पंथ तो ऐसे भी हैं कि जिनके बाह्य आचार-विचार में भिन्नता होने के अतिरिक्त तत्त्वज्ञान की विचारसरणी में भी अमुक भेद होता है। जैसे कि वेदान्त, बौद्ध और जैन आदि पंथ। कितने ही पंथ या उनकी शाखाएँ ऐसी भी होती हैं कि जिनकी तत्त्वज्ञान विषयक विचारसरणी में खास भेद नहीं होता है। उसका भेद मुख्यरूप से बाह्य आचार का अवलम्बन लेकर उपस्थित और पोषित होता है। उदाहरण के तौर पर जैनदर्शन की श्वेताम्बर, दिगम्बर और स्थानकवासी इन तीन शाखाओं को गिना सकते हैं।

आत्मा को कोई एक माने या अनेक माने, कोई ईश्वर को माने या कोई नहीं माने—इत्यादि तात्त्विक विचारणा का भेद बुद्धि के तरतम भाव के ऊपर निर्भर है। इसी प्रकार बाह्य आचार और नियमों के भेद बुद्धि, रुचि तथा परिस्थिति के भेद में से उत्पन्न होते हैं। कोई

काशी जाकर गङ्गा स्नान और विश्वनाथ के दर्शन में पवित्रता माने, कोई बुद्धगया और सारनाथ जाकर कृत-कृत्यता माने, कोई शत्रुजय की यात्रा में सफलता माने, कोई मक्का और कोई जेरुसलेम जाकर धन्यता माने। इसी प्रकार कोई एकादशी के तप और उपवास को पवित्र गिने, दूसरा कोई अष्टमी और चतुर्दशी के व्रत को महत्त्व को प्रदान करे, कोई तप के ऊपर बहुत भार नहीं देकर के दान के ऊपर भार दे, दूसरा कोई तप के ऊपर भी बहुत भार दे, इस प्रकार परम्परागत भिन्न-भिन्न संस्कारों का पोषण और रुचिभेद का मानसिक घातावरण अनिवार्य होने से बाह्याचार और प्रवृत्ति का भेद कभी मिटने वाला नहीं है। भेद की उत्पादक और पोषक इतनी अधिक वस्तुएँ होने पर भी सत्य ऐसा है कि वह वस्तुतः खण्डित नहीं होता है। इसीलिए हम ऊपर की आध्यात्मिक विकासक्रम से सम्बन्ध रखने वाली तुलना में देखते हैं कि चाहे जिस रीति से, चाहे जिस भाषा में और चाहे जिस रूप में जीवन का सत्य एक समान ही सभी अनुभवी तत्त्वज्ञों के अनुभव में प्रकट हुआ है।

प्रस्तुत वक्तव्य को पूर्ण करने के पहले जैनदर्शन की सर्वमान्य दो विशेषताओं का उल्लेख करना उचित है। अनेकान्त और अहिंसा इन दो मुद्दों की चर्चा पर ही सम्पूर्ण जैनसाहित्यका निर्माण है। जैन आचार और सम्प्रदाय की विशेषता इन दो विषयों से ही बतलाई जा सकती है। सत्य वस्तुतः एक ही होता है; परन्तु मनुष्य की दृष्टि उसको एक रूप से ग्रहण नहीं कर सकती है। इसलिये सत्यदर्शन के लिये मनुष्य को अपनी दृष्टिमर्यादा विकसित करनी चाहिये और उसमें सत्यग्रहण की संभवित सभी दृष्टियों को स्थान होना चाहिए। इस उदात्त और विशाल भावना में से अनेकान्त विचारसरणीका जन्म हुआ है। इस विचार सरणी की योजना किसी वाद-विवाद में जय प्राप्त करने के लिये या वितण्डावाद की साठमारी—चक्रव्यूह या दावपेच खेलने के लिये या शब्दछलकी शतरंज खेलने के लिये नहीं हुई है; परन्तु इसकी योजना तो जीवनशोधन के एक भाग स्वरूप विवेकशक्ति को विकसित करने के लिये और सत्यदर्शन की दिशा में आगे बढ़ने के लिये हुई है। इसलिये अनेकान्त विचारसरणीका सच्चा

अर्थ यह है कि सत्यदर्शन को लक्ष्य में रख करके उसके सभी अंशों और भागों को विशाल मानस वर्तुल में योग्य रीति से स्थान देना ।

जैसे-जैसे मनुष्य की विवेकशक्ति बढ़ती है वैसे-वैसे उसकी दृष्टिमर्यादा बढ़ने के कारण उसको अपने भीतर रही हुई संकुचितताओं और वासनाओं के दबावों के सामने होना पड़ता है जब तक मनुष्य संकुचितताओं और वासनाओं के साथ विग्रह नहीं करता तब तक वह अपने जीवन में अनेकान्त को वास्तविक स्थान तभी दे सकता है । इसलिये अनेकान्त विचार की रक्षा और वृद्धि के प्रश्न में से ही अहिंसा का प्रश्न आता है । जैन अहिंसा केवल चुपचाप बैठे रहने में, या उद्योग-धंधा छोड़ देने में अथवा काष्ठ जैसी निश्चेष्ट स्थिति सिद्धि करने में ही पूर्ण नहीं होती; परन्तु वह अहिंसा वास्तविक आत्मिक बलकी अपेक्षा रखती है । कोई भी विचार उद्भूत हुआ, किसी वासनाने सिर ऊंचा किया अथवा कोई संकुचितता मन में प्रज्वलित हो उठी वहाँ जैन अहिंसा यह कहती है कि—‘तू इन विकारों, इन वासनाओं और इन संकुचितताओं से हनन को प्राप्त मत हो, पराभव प्राप्त न कर और इनकी सत्ता अङ्गीकार न कर, तू इनका बलपूर्वक सामना कर और इन विरोधी बलों को जीत ।’ आध्यात्मिक जय प्राप्त करने के लिये यह प्रयत्न ही मुख्य जैन अहिंसा है । इसको फिर संयम कहो, तप कहो, ध्यान कहो या कोई भी वैसा

आध्यात्मिक नाम प्रदान करो, परन्तु वह घस्तुतः अहिंसा ही है । और जैनदर्शन यह कहता है कि अहिंसा केवल आचार नहीं है; परन्तु वह शुद्ध विचार के परिपाक रूपसे अवतरित जीवनोत्कर्ष का आचार है ।

ऊपर वर्णन किये गये अहिंसा के सूक्ष्म और वास्तविक रूप में से कोई भी बाह्याचार उत्पन्न हुआ हो अथवा इस सूक्ष्म रूप की पुष्टि के लिये किसी आचारक निर्माण हुआ हो तो उसका जैन तत्त्वज्ञान में अहिंसा के रूप में स्थान है । इसके विपरीत, ऊपर-ऊपर से दिखाई देने वाले अहिं-सामय चाहे जिस आचार या व्यवहार के मूल में यदि ऊपर कुछ अहिंसा तत्त्वका सम्बन्ध नहीं हो तो वह आचार और वह व्यवहार जैन दृष्टि से अहिंसा है या अहिंसा का पोषक है यह नहीं कह सकते हैं ।

यहाँ जैन तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले विचार में प्रमेयचर्चाका जान-बूझ कर विस्तार नहीं किया है । इस विषय की जैन विचारसरणी का केवल संकेत किया है । आचार के विषय में बाह्या नियमों और विधानों सम्बन्धी चर्चा जान बूझ कर छोड़ दी गई है; परन्तु आचार के मूलतत्त्वों की जीवन शोधन के रूप में सहज चर्चा की है, जिनकी कि जैन परिभाषा में आश्रव, सवर, बन्ध, मोक्ष आदि तत्त्व कहते हैं । आशा है कि यह संक्षिप्त वर्णन जैन दर्शन की विशेष जिज्ञासा उत्पन्न करने में सहायक होगा ।

जीवन-चरखा

चरखा चलता नाहीं, चरखा हुआ पुराना ।

पग खूँटे द्वय पालन लागे, उर मदरा खलराना ॥

छोदी हुई पांखड़ी पसली, फिर नहीं मनमाना ॥

रसना तकली ने बल खाया, सो अब कैसे खूँटे ।

सबब सूत सूधा नहिं निकस, घड़ी घड़ी पल टूटे ।

आयु माल का नहीं भरोसा, अंग चलाचल सारे ।

रोग इलाज मरम्मत चाहै, वेद बढ़ई हारे ।

नया चरखला रंगा-चगा, सबका चित्त चुरावे ।

पलटा बरन, गए गुन अगले, अब देखे नहिं भावे ।

माटो नहीं कातकर भाई, कर अपना सुरभेरा ।

अन्त आग में ईंधन होगा, ‘भूधर’ समझ सबेरा ॥

—कविवर भूधरदास

कविवर वादीभसिंह सूरि और उनकी बारह भावनाएँ

प्रकाश चन्द्र जैन

कविवर वादीभ सिंह सूरि विरचित क्षत्रचूडामणि एक बहुत ही सुन्दर, नीतिशिक्षक, धार्मिक एवं साहित्यिक सौन्दर्य से समन्वित महाकाव्य है। इसमें जीवन्धर स्वामी की जीवन कथा को साहित्य के ढाँचे में ढालकर कविवर ने बहुत ही रोचक और उपदेशक बना दिया है। यह महाकाव्य नीति का एक विशाल सागर है। शायद ही कोई ऐसा उपयुक्त स्थल हो जहाँ कविवर ने नीतिवर्णन के प्रति उपेक्षा दिखाई हो।

जैनधर्म में बारह भावनाओं का बहुत महत्त्व है। ये भावनाएँ आत्मानुशासन एवं वैराग्य वर्द्धन में बहुत सहायक होती हैं। इस महत्त्वपूर्ण विषय को नीतिवर्णन में कटिबद्ध कविवर वादीभसिंह कैसे स्पर्श न करते? क्षत्रचूडामणि के ग्यारहवें लम्ब में इन बारह भावनाओं का बहुत ही विस्तार से वर्णन हुआ। अनेकान्त के पाठकों की मानस तुष्टि के लिए उस वर्णन का मूलांश हिन्दी रूपान्तर के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है।

महाराज जीवन्धर जब क्रीड़ा करते-करते थक गये तो समीपवर्ती किसी बगीचे में जाकर बन्दरों की क्रीड़ा देख कर मनोरञ्जन करने लगे। उस बगीचे में जीवन्धर महाराज ने देखा कि किसी एक बन्दर ने किसी दूसरी बन्दरी के साथ सभोग किया, जिससे कि उसकी बन्दरी उससे नाराज हो गई। उस समय बन्दर ने उसे प्रमत्त करने के लिए बहुत उपाय किये, पर वह असफल ही रहा। तब बन्दर मरे हुए के समान वनकर जमीन पर लेट गया। उस समय बन्दरी उसे मरा हुआ समझ कर भयभीत हुई और उलटी बन्दर की खुशामद करने लगी। जैसे ही बन्दरी की खुशामद से प्रसन्न हुए बन्दर ने अपने कपटी वेश को छोड़कर बन्दरी को एक कटहल का फल प्रेषित किया, वैसे ही वनमाली ने बन्दर और बन्दरी दोनों की एक डण्डे से खबर ली और वह फल बन्दरी से छीन

लिया। उपर्युक्त घटना को देखकर जीवन्धर स्वामी को वैराग्य उत्पन्न हो गया, इसलिए वे निम्न प्रकार बारह भावनाओं का चिन्तन करने लगे।

अनित्यानुप्रेक्षा

मद्यते वनपालोज्यं काष्ठाङ्गारायते हरिः।

राज्यं फलायते तस्मान्मयैव त्याज्यमेवतत् ॥

महाराज जीवन्धर विचार करते हैं कि जिस प्रकार इस बन्दर ने कटहल के फल को तोड़ कर वानरी को दिया, परन्तु वनरक्षक ने शीघ्र ही उसे ताड़ते हुए फल वापिस छीन लिया, ठीक इसी प्रकार पहिले काष्ठाङ्गार ने येन केन प्रकारेण मेरे पिता महाराज सत्यन्धर से राज्य प्राप्त किया था, परन्तु मैंने इस योग्य वनकर काष्ठाङ्गार का हनन कर उससे वश परम्परागत अपना राज्य वापिस छीन लिया है। अतएव मैं तो वनपाल के समान हूँ, तथा काष्ठाङ्गार बन्दर के समान है और राज्य इस फल के समान है। अतः मुझे ही इस राज्य को अवश्य छोड़ देना चाहिए।

जाताः पुष्टाः पुनर्नष्टाः, इति प्राणभूतां प्रयाः।

न स्थिता इति तत्कुर्याः, स्थायिन्यात्मपदेमतिम् ॥

इस संसार में जितने प्राणी उत्पन्न होते हैं वे सब थोड़े समय तक रहकर अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं—कोई भी स्थिर नहीं रहता, अतएव बुद्धिमान् प्राणी का कर्तव्य है कि वह जगत की समस्त वस्तुओं को नश्वर जानकर अविनश्वर मोक्ष को प्राप्त करने की चेष्टा करे।

स्थायीति क्षणमात्रं वा ज्ञायते नहि जीवितम्।

कोटैरप्यधिकं हन्त, जन्तूनां हि मनोषितम् ॥

इस जीवन के क्षण भर भी स्थिर रहने का विश्वास नहीं, परन्तु प्राणियों की इच्छा करोड़ों से भी अधिक है। ऐसी हालत में उनका पूर्ण हो सकना बिल्कुल असम्भव है।

अवश्यं यदि नश्यन्ति, स्थित्वापि विषयादिचरम् ।

स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यान्मुक्तिः संसृतिरन्यथा ॥

पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषय प्राणी को क्षणिक सुख देकर एक न एक समय नष्ट अवश्य हो जाते हैं। ऐसी हालत में जो मनुष्य विचार पूर्वक उनका त्याग कर देता है, वह तो पापबन्ध से रहित हो जाता है। किन्तु इससे विपरीत विषय ही यदि जीव का सम्बन्ध छोड़कर नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य उन्हें स्वयं ही नहीं त्यागता है तो उसके संसार परिभ्रमण का कारण पाप का बन्ध होता ही रहता है।

अनश्वर-मुखावाप्तौ सत्यां नश्वरकायतः ।

किं वृथैव नयस्यात्मन्, क्षणं वा सफलं नय ॥

जब कि इस नश्वर-मनुष्य शरीर से अविनश्वर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, तब विवेकियों को अपना समय व्यर्थ खोना उचित नहीं, मोक्षप्राप्ति के यत्न में ही उसे खर्च करना लाभदायक है।

अशरण अनुप्रेक्षा

पयोधौ नष्टनीकस्य पतत्रेरिव जीव, ते ।

सत्यपाये शरण्यं न तत्स्वास्थ्ये हि सहस्रधा ॥

हे आत्मन् ! जिस प्रकार समुद्र के बीच में नौका से रहित हुए पक्षी का कोई रक्षक नहीं होता, अधिक न उड़ सकने के कारण उसका जीवन वही समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार आपत्ति के आ जाने पर प्राणी का कोई भी रक्षक नहीं होता। आई हुई विपत्ति का सामना केवल उसे ही करना पड़ता है। किन्तु इसके विपरीत कुशलता के होने पर अपरिचित जन भी मित्रता करने लगते हैं।

आयुधीर्यरति स्निग्ध-बन्धुभिश्चाभिसम्बृतः ।

जन्तुः संरक्ष्यमाणोऽपि पश्यतामेव नश्यति ॥

जब प्राणी की मृत्यु का समय आ जाता है, तब उसे बड़े-बड़े शस्त्रधारी योद्धा और निजी बन्धुजन भी क्यों न घेरे रहे, परन्तु फिर भी वह काल के ग्रास से नहीं बच सकता। उसके प्राण पखेरू देखने वालों के सामने ही उड़ जाते हैं।

मंत्र तत्रादयोऽप्यात्मन् स्वतन्त्र शरणं न ते ।

किन्तु सत्येव पुण्ये हि, नोचेत्के नाम तैः स्थिताः ॥

इस संसार में मृत्युञ्जय आदिक मंत्र और तरह-तरह

के तंत्र पुण्य का उदय रहने पर ही सहायक रहते हैं। पुण्य क्षीण होने पर नहीं। यदि पुण्योदय न होने पर भी ये मन्त्रादिक प्राणरक्षण में स्वतन्त्र सहायक हो सकते तो अनेक मात्रिक, वैद्य और डाक्टरों द्वारा चिकित्सा करने पर भी प्राणियों की मृत्यु क्यों होती है ?

संसार अनुप्रेक्षा

नटबन्नेक वेषेण-भ्रमस्यात्मन् स्वकर्मणा ।

तिरश्चि निरये पाषाद् दिवि पुण्याद्द्वयान्तरे ॥

जिस प्रकार कोई नट अपने कर्म के निमित्त से तरह-तरह के वेशों को बदल कर जगह-जगह घूमा करता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी अपने द्वारा किये गये पुण्य और पाप कर्म के उदय से आठों कर्मों के नाश होने तक योग्य-तानुसार चारों गतियों में घूमा करता है।

पञ्चानन इवामोक्षादसिपञ्जर आहितः ।

क्षणेऽपि दुःसहे देहे, देहि-हन्त कथं वसेः ॥

हे आत्मन् ! जैसे लोहे के पिजड़े में बन्द किया गया कोई शेर विवश होकर उसमें रहता है, उसी प्रकार क्षण मात्र भी न सहन करने योग्य इस देह रूपी पिजड़े में स्थित रहना तेरे लिए भी उचित नहीं, तुझे भी मुक्ति के उपाय का अन्वेषण करना चाहिए।

तन्नास्ति बन्नेव भुक्तं, पुद्गलेषु मुहुस्त्वया ।

तल्लेशस्तव किं तृप्य, बिन्दु पीताम्बुधेरिव ॥

हे आत्मन् ! इस संसार में अनन्त पुद्गल (कार्माण वर्गणा) हैं उनको यह जीव अनेक बार भोग चुका है। अतएव जैसे समुद्र भर पानी पीने के इच्छुक व्यक्ति को एक बूद जल के पीने से कभी सन्तोष नहीं होता, उसी प्रकार पुद्गल के कुछ अंशों के सेवन से तुझे भी कभी सन्तोष नहीं हो सकता।

भुक्तोऽभुक्तं तदुच्छिष्टं भोक्तुमेवोत्सुकायसे ।

अभुक्तं मुक्तिसौख्यं त्व-मनुच्छं हन्त नेच्छसि ॥

हे आत्मन् ! तू जिन वस्तुओं को अनेक बार भोगकर उच्छिष्ट कर चुका है, उन्हीं को बार-बार भोगने के लिए उत्सुक होता है, परन्तु खेद है कि जिस अविनश्वर और आनन्दप्रद मोक्ष सुख का तुझे एक बार भी स्वाद नहीं मिला है, उसके पाने की कभी चेष्टा भी नहीं करता।

संसृती कर्मरागाद्यंस्ततः कायान्तरं गतः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियद्वारा रागाद्यैश्चक्रकं पुनः ॥

इस संसार में, रागद्वेषादिक भावों के कर्मबन्ध, से शरीरान्तर की प्राप्ति, शरीरान्तर से इन्द्रियो की उत्पत्ति और इन्द्रियो से राग द्वेषादि सदा ही होते रहते हैं। इस प्रकार यह ससार-चक्र अनादिकाल से घूमता हुआ चला आ रहा है। और जब तक मोक्ष की प्राप्ति न होगी घूमता रहेगा।

सत्यनादौ प्रबन्धेऽस्मिन्, कार्यकारणरूपके ।

येन दुःखायसे नित्यमद्यैवात्मविमुञ्चतत् ॥

हे आत्मन् ! जबकि अनादिकाल से चली आई उपर्युक्त रागादिक की परिपाटी तुझे दुःखित कर रही है, तो तेरा कर्तव्य है कि उसका शीघ्र ही अन्त कर दे।

एकत्व अनुप्रेक्षा

त्यक्तोपासशरीरादिः स्वकर्मनिगुणं भ्रमन् ।

त्वमात्मन्नेकएवासि, जनने मरणेऽपि च ॥

हे आत्मन् ! तू अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही मरता है। तेरे द्वारा किए गए शुभाशुभ कर्मों के फल को भोगने में कोई भी तेरा साथी नहीं होता।

बन्धवो हि श्मशानान्ता, गृह एवाजितं धनम् ।

भस्मने गात्रमेकं त्वां, धर्म एव न मुञ्चति ॥

इस संसार में धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जो परभव में भी जीव के साथ जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य सब वस्तुएँ उसी पर्याय में नाता तोड़ देती हैं। जैसे बन्धुमात्र तो श्मशान तक ही साथ देते हैं, धन घर में ही पड़ा रह जाता है और शरीर चिता की भस्म बन जाता है।

पुत्र मित्रकलत्राद्यन्यदप्यन्तरालजम् ।

नानुभातीति नाश्चयं नन्वङ्गं सहजं तथा ॥

जीवन में समय समय पर प्राप्त होने वाली वाह्य वस्तुएँ पुत्र, मित्र, स्त्री, धन और धान्यादि कोई भी पर-भव में जीव के साथ नहीं जाती। इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है किन्तु जो शरीर नवीन पर्याय के प्रारम्भ में प्राणी के साथ ही पैदा होता है, वह भी परभव में उसके साथ नहीं जाता यह महान् आश्चर्य की बात है। अथवा जबकि आत्मा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध

रखने वाला शरीर भी अन्त समय में प्राणी का साथ नहीं देता, तब प्रत्यक्ष भिन्न रहने वाले स्त्री, पुत्र, मित्र आदि से क्या आशा की जा सकती है।

त्वमेव कर्मणां भोक्ता, भोक्ता च फलसन्ततेः ।

भोक्ता च तात किं मुक्तौ स्वाधीनायां न चेष्टसे ।

हे आत्मन् ! शुभाशुभ कर्मों का कर्ता, उनके फलों का भोक्ता और उनका नाशक एक तू ही है, अतएव जबकि तुझमें कर्मों के नाश करने की शक्ति मौजूद है तब तेरा कर्तव्य है कि तू जिसकी प्राप्ति तेरे अधीन है उस मुक्ति को प्राप्त करने की चेष्टा कर।

अज्ञातं कर्मणंवात्मन् स्वाधीनेऽपि सुखोदये ।

नेहसे तदुपायेषु, यतसे दुःखसाधने ॥

हे आत्मन् ! तू कर्म के वशीभूत हो अज्ञानी होकर स्वाधीन मोक्ष सुख और उसके उपायों में तो चेष्टा नहीं करता है, किन्तु इसके विपरीत दुःखों के कारणभूत सांसारिक कार्यों के करने में मग्न हो रहा है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा

देहात्मकोऽहमित्यात्मञ्जातु चेतसिमाकृषाः ।

कर्मतो ह्यपृथक्त्वं ते, त्वं निचोलासिसन्निभः ॥

हे आत्मन् ! तू मैं शरीर रूप हूँ, ऐसा विचार अपने मन में कभी मत कर। क्योंकि यद्यपि कर्मबन्ध से तू और तेरा शरीर एकमेक हो रहे हैं, तो भी जैसे म्यान में रखी हुई तलवार म्यान में जुदी ही रहती है, उसी प्रकार शरीर में रहते हुए भी तू शरीर से अलग है।

अध्रुवत्वादमेध्यत्वादचित्त्वाच्चान्यदङ्गकम् ।

चित्त्वनित्यत्वमेध्यत्वं-रात्मन्नन्योऽसि कायतः ॥

हे आत्मन् ! जबकि शरीर अचेतन, अनित्य, और अपवित्र है, किन्तु तू सचेतन, नित्य और पवित्र है, तब तुम दोनों में अभेद कैसे हो सकता है।

हेये स्वयं सतीबुद्धिर्यत्नेनाप्यसती शूभे ।

तद्धेतु कर्म तद्वन्त-मात्मानमपि साधयेत् ॥

बुद्धि के छोटे कार्य में स्वतः प्रवृत्त होने और अच्छे कार्य में कोशिश करने पर भी प्रवृत्त न होने में कारण-भूत पापकर्म, आत्मा को छोटे कार्य में प्रवृत्त करने वाला और करणीय कार्यों में प्रवृत्ति न करने वाला बना देता है।

अशुचित्वानुप्रेक्षा

मेध्यानामपि वस्तूनां, यत्सम्पर्कदिमेधयता ।

तद् गात्रमशुचीत्येतत् किं नात्मन्मल सम्भवम् ॥

जिस शरीर के सम्पर्क से पवित्र वस्तुएं भी अपवित्र हो जाती हैं तथा जो रज और वीर्य आदि मलों से उत्पन्न होता है वह शरीर पवित्र कैसे हो सकता है ? किन्तु कभी नहीं ।

अस्पृष्टं दृष्टमङ्गं हि सामर्थ्यात्कर्म शिल्पिनः ।

रम्यमूहे किमन्यत्स्यान्मलमांसास्थिमज्जतः ॥

नाम कर्म जन्म सौन्दर्य आदि के कारण यद्यपि यह शरीर ऊपर से देखने में सुन्दर मालूम होता है परन्तु वास्तव में इसके भीतर मल, मांस, हड्डी और चर्बी आदि के सिवाय और कोई अच्छी वस्तु नहीं है ।

बेहादन्तः स्वरूपं चेद् बहिर्वेहस्य किम्परः ॥

आस्तामनुभवेच्छेय मात्मन् को नाम पश्यति ॥

यदि किसी प्रकार इस शरीर का भीतरी भाग बाहर दिखने लगे तो इसके भोग की तो बात ही क्या ? मनुष्य इस पर नजर डालने में भी घृणा करेंगे ।

एवं मिश्रित पिण्डस्य क्षापिणोऽक्षयशंकृतः ।

गात्रस्मात्मन्क्षयात्पूर्वं तत्फलं प्राप्य तत्त्यज ॥

यद्यपि मांस के पिण्डरूप यह मनुष्य शरीर नश्वर है, तथापि वह मोक्ष प्राप्ति का कारण है, अर्थात् इससे धर्म साधन कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है । अतएव हे आत्मन् ! जब तक यह नष्ट नहीं होता है तब तक इससे मोक्ष प्राप्ति के साधनों को एकत्रित कर लेना चाहिए ।

आत्तसारं वपुः कुर्या-स्तथात्मन्स्तत्क्षभेऽप्येभीः ।

आत्तसारैर्क्षुदाहेऽपि, नहि शोचन्ति मानवाः ॥

जैसे मनुष्य ईश से सार के निकाल लेने पर, उसके जलाने में रज नहीं करता, उसी प्रकार हे आत्मन् ! तेरा भी कर्तव्य है, कि तू भी इस मनुष्य शरीर से मोक्ष के साधनों को प्राप्त कर उसे निःसार बना, जिससे इसके नाश होने में तुझे रज भी न हो ।

आत्मवानुप्रेक्षा

अजलमात्मवन्त्यात्मन् ! कुर्मोचाः कर्म पुद् गलाः ।

तैः पूर्णस्त्वमघोऽधः स्या, जलपूर्णो यथा त्ववः ॥

हे आत्मन् ! तेरे में प्रतिसमय पुद् गलमय कर्मों का आगमन हो रहा है । जैसे किसी नौका में जब छिद्र द्वारा जल आता है, तब वह क्रमशः नीचे जल में डूबती जाती है, उसी प्रकार तू भी उस कर्मास्त्र के कारण अधोगति को प्राप्त होता जा रहा है ।

तन्निदानं तद्वत्वात्मन् ! योगभाषी सदा तनौ ।

तौ विद्धि सपरिस्त्वं परिणाममशुभाशुभम् ॥

आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बद्ध योग और कषाय ही इस आस्त्र के कारण हैं । इनमें से मन, बचन, और काय के निमित्त से होने वाली आत्मा के प्रदेशों की चंचलता को योग तथा शुभ और अशुभ आत्मा के परिणामों को कषाय कहते हैं ।

आस्त्रवोऽयममुष्येति, ज्ञात्वात्मन्कर्म कारणे ।

तत्तन्निमित्तवंधुर्यावथ बाह्योर्ध्वंगो भव ॥

हे आत्मन् ! अमुक कर्म के आने का अमुक कारण है, इस प्रकार कर्म और उसके कारणों को जान कर उन्हें अपने से अलग कर दे, जिससे तुझे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाए ।

संवरानुप्रेक्षा

संरक्ष्य समितिं गुप्ति-मनुप्रेक्षापरायणः ।

तपः संयम धर्मत्मा, त्वं स्या जित परीषहः ॥

आस्त्रव अर्थात् आते हुए नवीन कर्मों का रुकना संवर है । व्रत, समिति, गुप्ति, अनुप्रेक्षा, तप, धर्म और परीषह सब के सब इसी संवर के कारण हैं । अतएव हे आत्मन् ! तू उस संवर के निमित्त इन सब का पालन कर ।

एवं च त्वयि सत्यात्मन् कर्मास्त्रं निरोधनात् ।

नीरन्ध्रपोतवद् भूयाः निरपायो भवाम्बुधौ ॥

जैसा नौका के भीतर जल आने का छिद्र रुक जाने पर वह जलाशय में खतरा रहित हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा में कर्मों के आगमन का द्वार रुक जाने पर इसे भी समार सागर में फंसने का डर नहीं रहता ।

विकथादिविषुषतस्त्वमात्म-भावनयाऽन्विताः ।

त्यक्त बाह्यस्पृहो भूया, गुप्ताद्यास्ते करस्थिताः ॥

हे आत्मन् ! तेरा कर्तव्य है कि तू आत्मध्यानी बन विकथा और कषाय आदि प्रमादों से रहित होकर बन बान्यादिक बाह्य पदार्थों से ममता को छोड़ दे । ऐसा

करने से तुम्हें पूर्वोक्त, गुप्ति, समिति और तप आदिक स्वयमेव ही प्राप्त हो जावेंगे ।

एवमक्लेश गम्येऽस्मिन्नात्माधीनतया सदा ।

श्रेयो मार्गे मतिं कुर्याः किं बाह्ये तापकारिणि ॥

हे आत्मन् ! सांसारिक कार्यों में बुद्धि लगाने से आत्मोद्धार नहीं हो सकता । इसलिए मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति करना ही सर्वथा उचित है । यह मोक्ष मार्ग स्वाधीन है, अतएव अनायास साध्य भी है ।

शुष्क निर्बन्धतो बाह्ये, मुह्यतस्तव हृदयथा ।

प्रत्यक्षितैव नन्वात्मन् ! प्रत्यक्षनिरयोचितम् ॥

हे आत्मन् ! पर पदार्थों में मोह करने से तुम्हें जो मानसिक पीडा होती है, वह नरक प्राप्त कराने वाली प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर हो रही है ।

निर्जरानुप्रेक्षा

रत्नत्रय प्रकर्षेण, बद्धकर्मक्षयोऽपिते ।

अध्मातः कथमप्यग्निर्बाह्यं किं वावशेषयेत् ॥

प्रज्ज्वलित हुई अग्नि सभी बाह्य वस्तुओं को भस्म कर देती है—किसी को भी नहीं छोड़ती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य पूर्व संचित समस्त कर्मों को निश्चय ही नष्ट कर देते हैं ।

क्षयादनात्मबाध्यात्मात्मन्, कर्मणासि केवली ।

निरगमे चाप्रवेशे च, धाराबन्धे कुतो जलम् ॥

जैसे किसी जलाशय का पूर्व संचित जल तो निकाल दिया जावे और नवीन जल उसमें नहीं आ सके तो वह जल किसी समय निर्जल अवश्य हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा में जब सविपाक और अविपाक निर्जरा के द्वारा पूर्व संचित कर्मों का नाश और संवर के द्वारा नवीन कर्मों का निरोध ही जाता है तब यह भी केवली बन जाता है अर्थात् कर्म रहित हो जाता है ।

रत्नत्रयस्य पूर्तिश्च त्वमान्मन्मुलर्भव सा ।

मोह क्षोभ विहीनस्य परिणामो हि निर्मलः ॥

जहाँ तक मोहनीय कर्म का उदय रहता है वही तक आत्मा के परिणामों में मलिनता रहती है किन्तु मोह के नष्ट हो जाने पर वे परिणाम अत्यन्त निर्मल हो जाता है । इसलिए हे आत्मन् ! जब तू मोहनीय कर्म से रहित हो

जाएगा, तब तेरे लिए रत्नत्रय की पूर्ति का होना भी कठिन नहीं रहेगा ।

परिणाम विशुद्धयर्थं तपो बाह्यं विधीयते ।

नहि तन्दुलपाकः स्यात् पावकादि परिक्षये ॥

हे आत्मन् ! जैसे चावल और जल के मौजूद रहने पर भी बाह्य कारण अग्नि और बटलोई आदिक न होने पर भी भात नहीं बन सकता, उसी प्रकार परिणामों की विशुद्धि भी बाह्य तप के बिना नहीं हो सकती । इसलिए परिणामों की विशुद्धि के लिए बाह्य तप करना आवश्यक है ।

परिणाम विशुद्धिश्च, बाह्ये स्यान्निस्पृहस्यते ।

निस्पृहत्वं तु सौख्यं तद् बाह्ये मुह्यति किं मुधा ॥

हे आत्मन् ! बाह्य पदार्थों से इच्छा या ममत्व हटने से ही परिणामों की विशुद्धि होती है । और पर पदार्थों में इच्छा का हट जाना ही सच्चा सुख है । इसलिए बाह्य पदार्थों से मोह करना उचित नहीं है ।

गुप्तेन्द्रियः क्षणं वा यन्नात्मन्यात्मन्मात्मना ।

भावयन्पश्य तत्सौरव्यमास्तां निःश्रेयसादिकम् ॥

हे आत्मन् ! इन्द्रिय विजयी बनकर आत्मा में आत्मा के द्वारा आत्मा का ध्याप करने में वह निस्पृहत्व सुख महज ही प्राप्त किया जा सकता है और इसी से मोक्षादिक भी क्रमशः प्राप्त किये जा सकते हैं ।

अनन्तं सौख्य मात्मोत्थ मस्तीत्यत्र हि साप्रमा ।

शान्तस्वातन्त्र्यस्य या प्रीतिः स्वसंवेदन गोचरा ॥

मनुष्य जब कुछ समय के लिए अपने चित्त को वश में करके निराकुल हो जाता है तब उसे उस समय अपने ही अनुभव में आने वाला जो अनुपम आनन्द प्राप्त होता है, उससे निश्चय ही यह सिद्ध होता है कि आत्म मात्र की अपेक्षा से प्रगट होने वाला सुख अवश्य ही अनन्त है ।

लोकानुप्रेक्षा

प्रसारितां त्रिणा लोकः कटि निक्षिप्त पाणिना ।

तुल्यः पुंसोर्ध्वमध्ययोः विभागस्त्रि मरुद्वृत्तः ॥

हे आत्मन् ! यह षड्विध्य मय लोक पैरों को फैलाए तथा कमर पर हाथ रखे हुए पुरुष के आकार का है ।

इसके ऊर्ध्व-मध्य और अधः तीन भेद है। यह घनोदधि वातवलय, धनवातवलय और तनुवातवलय से वेष्टित है।

जन्म मृत्योः पदे ह्यात्मन्नसंख्यात प्रदेशके।

लोके नायं प्रदेशोऽस्ति यस्मिन्नाभूरनन्तशः ॥

हे आत्मन् ! यह लोक असंख्यात प्रदेशी है, इसका कोई ऐसा प्रदेश बाकी नहीं है, जिसमें प्राणी ने अन्त बार जन्म मरण धारण न किया हो।

सत्यज्ञाने पुनश्चात्मन् ! पूर्ववत्संस्मरिष्यति।

कारणे जन्मभावेऽपि नहि कार्यं परिक्षयः ॥

हे आत्मन् ! स्व पर का यदि विज्ञान न होने पर तू हमेशा की तरह इस संसार में परिभ्रमण करेगा। क्योंकि कार्य उत्पादक मामग्री के रहने पर कार्य का प्रादुर्भाव अवश्य ही होता है। इसलिए तू स्व-पर के भेद विज्ञान को प्राप्त कर, जिससे संसार के दुःखों से मुक्त हो सके।

यतस्व तत्तपस्यात्मन्, मुक्त्वा मुग्धोचितं सुखम्।

चिर स्थाय्यन्धकारोऽपि प्रकाशे हि विनश्यति ॥

हे आत्मन् ! जैसे प्रकाश के होने पर चिरकाल स्थित रहने वाला अन्धकार भी कूच कर जाता है उसी प्रकार तप के करने से प्राणी का संसार परिभ्रमण भी नष्ट हो जाता है। अतएव संसार से नाता तोड़ने के लिए तूके तप करना उचित है।

बोधि दुर्लभानुप्रेक्षा

भव्यत्वं कर्मभूजन्म मानुष्यं स्वङ्गवश्यता।

दुर्लभं ते क्रमादात्तगन् ! समवायस्तु किम्पुनः ॥

हे आत्मन् ! रत्नत्रय के आविर्भावजनक शक्तिरूप, भव्यपाना, कर्मभूमि में जन्म, मनुष्यपर्याय सुन्दर शरीर और उत्तम कुल में उत्पत्ति। इन पाँचों में से एक-एक की प्राप्ति होना भी कठिन है, तब एक साथ पाँचों का मिलना तो अत्यन्त कठिन बात है।

व्यर्थः सः समवायोऽपि तवात्मन्धर्मधीनचेत्।

कणि शोद्गम बंधुर्ये केदारादि गुणेन किम् ॥

हे आत्मन् ! कदाचित् भव्यत्व आदि पाँचों की एक साथ प्राप्ति भी हो जावे पर यदि धर्म में रुचि नहीं हो

तो उनका पाना भी व्यर्थ है। जैसे खेत बगैरह अच्छे भी रहें पर उनमें बीज बोने पर अनाज की उत्पत्ति न हो तो उनकी अच्छाई से क्या लाभ।

तदात्मन्तुर्लभं गात्रं धर्मार्थं मूढ ! कल्प्यताम्।

भस्मने वहतो रत्नं, मूढः कः स्यात्परो जनः ॥

हे आत्मन् ! जैसे भस्म के लिए बहुमूल्य रत्न को जलाने वाला मनुष्य अत्यन्त मूर्ख समझा जात है, उसी प्रकार केवल सासारिक सुखों के हेतु भोगोपभोग में शरीर को नष्ट कर देने वाला मनुष्य भी महान् मूर्ख है। इसलिए धार्मिक कार्य करके नर देह को सफल बनाता चाहिए।

भव्यस्या बाह्यचित्तस्य सर्वं सत्त्वानुकम्पिनः।

करणत्रय शुद्धस्य तवात्मन् बोधिरताम् ॥

हे आत्मन् ! भव्य बाह्य, पदार्थों से उदासीन, अहिता प्रेमी और अध करण अपूर्व करण तथा अनिवृत्ति करण रूप परिणामों से निर्मल तेरे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य की वृद्धि होंगे।

धर्मानुप्रेक्षा

देवता भविता श्वापि, देवः श्वा धर्मं पापतः।

तं धर्मं दुर्लभं कुर्या, धर्मो हि भुवि कामसूः ॥

हे आत्मन् ! पाप के प्रभाव से देव भी कुत्ता हो जाता है और धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव हो जाता है इसलिए ऐसे दुर्लभ धर्म को धारण करना प्राणिमात्र का कर्तव्य है। धर्म करने से निश्चय ही सर्व मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं।

पश्यात्म-धर्मं माहात्म्यं, धर्मकृत्यो न शोचति।

विश्वैविश्वस्यते चित्रं सहि लोक द्वये सुखी ॥

हे आत्मन् ! धर्म की महिमा अचिन्त्य है धर्म करने वाला मनुष्य शोक और अविश्वास का भाजन नहीं होता इस भव और पर भव में सुख एवं शान्ति प्राप्त करता है।

तवात्मन्नात्मनीनेऽस्मिन् जैनधर्मोऽतिनिर्मले।

स्थवीयसी रुचिः स्थेयादामुक्तेर्मुक्तिदायिनी ॥

हे आत्मन् ! जबकि धर्मादिक कार्यों का करने से आत्मलाभ प्रत्यक्ष स्पष्ट है, तब इस पवित्र और मुक्तिदायक जैनधर्म में मुक्ति प्राप्ति पर्यन्त मेरा अटल प्रेम रहे।

राखी

श्री विष्णु प्रभाकर

रक्षाबन्धन का पर्व होने पर भी उस दिन विश्वनाथ का चित्त बहुत अशांत था। इसका क्या कारण था यह भी वह स्पष्ट नहीं जानता था। वह सवेरे से किसी वस्तु की तलाश में था पर वह उसे नहीं मिल रही थी। उसने अलमारी, बक्स, सूटकेस, मेज की दराजें सभी कुछ देखा डाला, पर उसकी इच्छित वस्तु नहीं मिली। वह सोचने लगा उसकी स्मृति इतनी दुर्बल क्यों हो गई है कि सहसा उसे याद आया...कुछ लेख और पत्र अटेची में भी तो रखे हैं। बस उसने अटेची को ढूँढ निकाला और व्यग्रता से उसका सामान टटोलने लगा। टटोलते-टटोलते उसके हाथ में एक लिफाफा आ गया। वह जैसे हर्ष से भग उठा...यह लिफाफा।.....इसमें क्या है.....क्या है...? जैसे वह उसे पहचान रहा था, जैसे उसे कुछ याद आ रहा था.....। यह सब पलक मारते जितने समय में हो गया था क्योंकि दूसरे ही क्षण उसने खोल लिया था। और उसके हाथ में तिरंगे खट्टर की एक राखी थी.....।

यह राखी.....जैसे वह एक इतिहास की पुस्तक थी। उसके पृष्ठ इतनी तेजी से खुलने शुरू हुए कि विश्वनाथ काप उठा। भुंभलाया सा वह बोना...क्या वाहियात बात है। मनुष्य इतना मोहग्रस्त क्यों है? क्यों मैंने इस राखी को आज तक संजोकर रखा हुआ है? नहीं, नहीं, मैं इसे नहीं रखूंगा। एक बात थी जो हो गई। वह हमेशा मुझे क्यों जकड़े रहे। मुझे अपंग क्यों बनाये रहे.....।

और यह सोचते-सोचते उसने चाहा वह उस राखी को उठाकर रद्दी की टोकरी में फेंक दे कि सहसा उसे लगा...कोई कमरे में आ गया है और धीमे मधुर स्वर में कह रहा है...यह राखी मैं इसलिए नहीं बांध रही कि मैं तुमसे रक्षा की याचना करती हूँ बल्कि इसलिए बांध रही हूँ कि तुम अपनी रक्षा कर सको.....। विश्वनाथ कांप

उठा। दृष्टि उठा कर देखा...कहीं कोई नहीं है। पर उसका हाथ रुक गया उसने राखी को बड़े ध्यान से देखा। स्मृति के पन्ने बड़ी तेजी से हवा में उड़े। उन पन्नों में अनेक सुन्दर और रहस्यमय चित्र थे। उन चित्रों में मादकता थी सजीवता थी और था एक सन्देश...

बहुत पुरानी बात थी। विश्वनाथ तब अविवाहित था। पर विवाह की बात चल रही थी। कहीं पक्की हो चुकी थी। तभी उसके सहायी नरेश का पत्र आया... परिस्थितियों ने हमें एक दूसरे से बहुत दूर फेंक दिया है। बाकघर इस सीमा को कब तक छोटा करता रहेगा। कभी कभी तुम्हें आना ही चाहिए। बड़ा अच्छा अवसर है। साहित्य सम्मेलन, संगीत सम्मेलन, इतिहास परिषद आदि कई परिषदें हो रही हैं। तुम्हें इनमें रुचि है। नीरजा संगीत सम्मेलन में सरोद ट्यून में भाग ले रही है। तुम भी तो सितार के प्रेमी हो। इसलिए सोचो मत, चले आओ।

और वह चला गया। उसने आशा के प्रतिकूल संगीत सम्मेलन में पूरा भाग लिया। उसने सितार पर ही संगीत का प्रदर्शन नहीं किया बल्कि सरोद ड्यूट में नीरजा के साथ भाग लिया। यह आश्चर्य जनक बात थी कि वे इतनी जल्दी एक दूसरे को समझ गये थे। विश्वनाथ वैसे तो कई बार नीरजा के साथ सरोद बजा चुका था पर उन बातों को बहुत वर्ष बीत चुके थे। तब वह सीख ही रही थी पर आज उसकी प्रगति को देख कर विश्वनाथ प्रशंसा से भर उठा। जिस बात ने उसे विशेष प्रभावित किया था वह था उसका आत्म विश्वास। तीन बार सरोद का तार टूटा और सहस्रों व्यक्तियों की सभा में नीरजा ने उसे परम शान्ति से ठीक किया और संगीत के रस को भंग नहीं होने दिया। एक बार तो विश्वनाथ उसे देखता ही रह गया था। वह तन्मयता, वह आत्मविभोरता, और

वह आत्मविश्वास.....

इसी संगीत समीक्षा में एक सप्ताह के स्थान पर एक माह बीत चला था पर विश्वनाथ दिल्ली लौट ही नहीं पा रहा था। कभी वे पिकनिक पर जाते, कभी गोष्ठियों में, कभी किसी मित्र परिवार में और कभी एकान्त क्षणों में नरेश की लायब्रेरी उनका विश्राम स्थल बन जाती। वहीं बैठ कर वे संगीत को भूलकर कभी कभी जीवन की बातें करते थे। वे दोनों निर्भीक और स्पष्ट वक्ता थे। दोनों गुत्थियों में विश्वास नहीं करते थे। दोनों के पास कहीं कुछ छिपाने को नहीं था। वे इतने स्पष्ट थे कि कभी-कभी तो नरेश को चकित रह जाना पड़ता था। विश्वनाथ को याद है कि एक दिन जब वह जाने की चर्चा भर रहा था नीरजा ने उससे पूछा...क्या अब नहीं रुक सकते ?

नहीं नीरू।

बिल्कुल।

हाँ, नीरू।

तो जाओ।

नीरू।

कहो।

दुख होता है।

होता है।

क्यों ?

क्योंकि मैं तुम्हें प्रेम करनी लगी हूँ।

नीरू।

नीरू भूठ नहीं बोलती।

फिर कई क्षण तक जैसे वहाँ सन्नाटा छाया रहा था। स्पष्टवादी बहुधा अपनी ही स्पष्टता से अप्रतिभ हो जाते हैं। कई क्षण बाद विश्वनाथ ने उसी शान्त स्वर में कहा...एक बात बताओगी ?

पूछो।

विश्वनाथ ने पूछा...तुम मुझसे प्रेम करती हो या अपने से ?

कैसा अजीब प्रश्न है ? नीरजा चकित सी देखने लगी। विश्वनाथ ने मुस्करा कर कहा...नहीं समझी ?

जैसे तभी बिजली कौंधी। नीरू विजय से मुस्कराई

...जी हाँ समझी। क्या समझी ?

जो तुमने अपनी कहानी 'मुक्ता' में लिखा है यानी प्रेम पूजी सहजता नहीं बखेरता है।

बेशक।

मुझे वह स्वीकार है।

फिर भी तुम कह सकती हो तुम मुझे प्रेम करती हो। नीरजा क्षण भर के लिए झिझकी फिर बोली, आज तो ऐसा ही लगता है।

और कल कैसा लगेगा ?

कल आने पर जानूँगी।

तो उसे आ लेने दो। तब तक के लिए अच्छा है हम उसकी बात न करें।

नीरजा ने दृढ़ स्वर में कहा...आप ठीक कहते हैं। मुझे अभी बहुत से कल देखने हैं। उसके बाद ही मैं प्रेम को परख सकूँगी।

प्रभावित होकर विश्वनाथ बोला...नीरू। सच कहता हूँ मुझे भी तुमसे प्रेम होता जान पड़ रहा है पर उसे प्रकट करने का समय अभी दूर है। प्रेम की अग्नि परीक्षा आसान नहीं होती, नीरू।.....

तब दोनों हँस पड़े थे, पर आज विश्वनाथ को वह घटना स्वप्नवत् लग रही है, क्योंकि उसके दो दिन बाद रक्षाबन्धन का त्योहार था और उसी दिन नीरू ने विश्वनाथ के हाथ में राखी बाँधी थी। बात ऐसे हुई कि जब नीरू नरेश के हाथ में राखी बाँध रही थी तब विश्वनाथ के मुँह से निकल गया...काश कि मेरे भी एक बहिन होती।

पास ही नीरू ती माँ खड़ी थी बोली...अरे तो इसमें क्या है ? नीरू तेरी बहिन है। ला तो नीरू एक राखी।

दोनों के हृदय धक-धक कर उठे। विश्वनाथ ने यद्यपि यह बात जान बूझ कर कही थी तो भी वह अपने को ही चकित करता हुआ काँप उठा था। नीरू भी काँपी थी, निष्प्रभ भी हुई थी पर राखी लेकर आगे बढ़ी। बोली... हाथ बड़ाओ। प्रकट में वह बिल्कुल नहीं झिझकी।

स्वाभाविक अलहड़ता भरे स्वर में विश्वनाथ ने कहा...हाथ बढ़ा सकती हूँ पर एक शर्त के साथ।

क्या ?

मैं तुम्हारी रक्षा नहीं करूँगा। मैं किसी की रक्षा करने में विश्वास नहीं करता। यह दूसरे को छोटा और दुर्बल समझने की भावना को जन्म देता है।

नीरु ने उसी क्षण कहा...तुमनेयह कैसे समझा कि मैं तुमसे अपनी रक्षा करवाना चाहती हूँ। यह राखी तो इस बात की निशानी है कि तुम अपनी रक्षा कर सको।

क्या मतलब ?

मतलब स्पष्ट है, जो उदात्त विचार तुम्हारे आज है, जिन स्वप्नों का तुम निर्माण कर रहे हो तुम उनको जीतने की शक्ति पा सको।

क्षण भर के लिए वे सब चकित रह गये। दूसरे क्षण नरेश ने खिलखिला कर कहा...शाबाश ! नीरु तुमने विश्वनाथ को खूब छकाया। जनाब बड़े हाज़िरजवाब बनते थे।

विश्वनाथ हारकर भी मुक्त हँसी हँसा था। आज भी सोचते-सोचते विश्वनाथ हँस पड़ा पर वह मुक्त हँसी नहीं थी, जैसे उसमें थकान भर गई हो। उसने मुट्ठी खोलकर राखी को देखा और फिर एक बार वही थकी हुई हँसी। उसके कुछ दिन बाद, जब वह वहाँ से चला आया, उसे नीरु का पत्र मिला था। उसमें लिखा था...

... तुम्हारी बात ठीक निकली। आज मैं समझ सकी हूँ कि उस दिन तुम्हारे रहते मैंने तुमसे जो प्रेम करने की बात कही थी वह नितान्त सत्य नहीं थी। आज तुम्हारे स्थान पर एक और व्यक्ति आ बैठा है। क्यों ऐसा हुआ यह बताना अनावश्यक है पर हुआ एक तथ्य है। तथ्य सत्य नहीं होता पर बहुधा हम उस तथ्य के शिकार हो जाते हैं। वैसे तो सत्य भी स्वयं अखंड नहीं है। पर मैं इस उलझन को बढ़ाना नहीं चाहती। मैं तुम्हारा आदर करती हूँ पर प्रेम विनोद को करती हूँ। वह तुम्हारी तरह बुद्धिमान नहीं है। बात करना भी उसे कम आता है पर उसे जो कुछ आता है वह करना आता है वह मुझसे विवाह का वचन ले गया है। तुम उससे जानते होगे। उस जैसी बाँसुरी कम लोग बजा पाते हैं।

हम लोग अगले मास की पाँच तारीख को सिविल की सिविल मौरेंज एक्ट के अधीन विवाह कर रहे हैं। तुम्हें आना तो है ही.....

विश्वनाथ के ठीक याद है...पत्र पढ़कर उसके अन्तर में पहिली प्रतिक्रिया एक कसक के रूप में हुई थी पर प्रकट में उसने नीरु को तार द्वारा बघाई भेजी थी। वह विवाह में गया था और पूरी ईमानदारी के साथ उसने नीरु को बता दिया था वह उस पर गर्व करता है और सदा करता रहेगा।

नीरु ने हँसकर कहा था...सदा की बात क्यों करते हो ?

ठीक है। मैं मानता हूँ। मुझे वर्तमान में रहना चाहिए, पर नीरु, इस दृष्टि से तो तुम्हारा प्रेम सच्चा था।

उस क्षण था।

विश्वनाथ हँसा...कैसा रहस्य है। एक क्षण का सत्य दूसरे क्षण का असत्य बन जाता है।

अनजाने ही यह कठोर व्यंग्य उसके मुँह से निकल गया था। उस क्षण भी उन्होंने उसे हँसी में उड़ा दिया था। आज भी विश्वनाथ ने हँसना चाहा पर कहानी आगे बढ़ती चली गई। नीरु का विवाह हुआ। संगीत के क्षेत्र में उसकी ख्याति बढ़ी पर वह कला और पति दोनों को प्रसन्न न कर सकी। कला आगे बढ़ी तो पति पीछे रह गया और जब वह पीछे रह गया था तो उसने उसे अपना अपमान समझ कर नीरु पर हमला किया। नीरु ने चारों ओर देखा...उस तूफान में केवल विश्वनाथ ही चट्टान की तरह खड़ा था।

वह दौड़ी हुई आई बोली...क्या करूँ विश्वनाथ।

तलाक।

विश्वनाथ। नीरु काँप उठी।

सीधा रास्ता यही है, नीरु। प्रेम दूसरे मार्ग पर नहीं जा सकती।

फिर क्या करूँगी।

वर्तमान में जिओ। फिर भविष्य का प्रतीक है। उसे आने दो देखा जायेगा।

और यही हुआ था। नीरु फिर श्रीमती नीरजा शुक्ला से कुमारी नीरजा गुप्ता बन गई। कई दिन तक तो वह दृढ़ता से जीवन की गाड़ी का खींचती रही पर अब रह-रह कर उसे लगता था जैसे वह अकेली है। एक दिन

उसने विश्वनाथ से यही बात कही भी...मुझे लगता है जैसे मुझे कुछ चाहिए।

विश्वनाथ हंसा...यही तो आपत्ति का मूल है।

बिना सुने नीरु बोली...सुनो विश्वनाथ। क्या मैं तुम्हारे पास आ सकती हूँ।

क्यों नहीं। आ सकती हों, पर तुम्हें मेरी पत्नी से आज्ञा लेनी होगी। घर उसका है।

नीरु ने झिझकते हुए कहा...समझती हूँ।

फिर कई क्षण वे दोनों चुप बैठे रहे थे। बाद में नीरु ने ही उस मौन को अंग किया था बोली...अब क्या कहूँ ?

जो मन में आये।

वह नहीं हो सकता।

क्यों क्या है वह ?

मैं तुमसे प्रेम करना चाहती हूँ, पर क्या कर सकती हूँ।

विश्वनाथ ने वृष्टि उठा कर नीरुजा को देखा फिर धीरे से कहा...सच पूछो तो प्रेम करने का अवसर ही अब मिला है।

क्या ?

ठीक कहता हूँ। अब तुम मुझे पाने की लालसा के बिना प्रेम कर सकती हो। जहाँ स्वार्थ नहीं है, वही प्रेम है।

मुनकर नीरुजा के नयन भर आये। कई क्षण मौन मूर्तिवत् चित्रकार की तूलिका-सी भावों से भरी वह बंठी रही फिर चली गई। पत्र द्वारा उसने अपना निश्चय विश्वनाथ को लिख भेजा...

.....मैं अब अपने नगर में सगीत भवन खोल रही हूँ। मैंने देश के लिए जीने का निश्चय कर लिया है। मेरा देश असीम है। दीवारें उसकी सीमा नहीं है। कल क्या होगा मैं नहीं जानती, जानना भी नहीं चाहती।

मन करे तो कभी-कभी आना। नरेश मुझसे रूठ गया है, तुम भी रूठ सकते हो पर अब मुझे किसी की चिन्ता नहीं है।

पुनश्च करके लिखा था...परसों श्रावणी पूर्णिमा है। राखी भेज रही हूँ।

बस...

विश्वनाथ ने फिर मुट्ठी खोलकर राखी को देखा और से हँस पड़ा। बोला... हाथ रे दुर्बल मानव। तेरी दुर्बलता ने ही तो ससार को रहस्यमय बना दिया है।

उसने उठना चाहा पर कहानी पूरी होने में कुछ देर थी। नीरुजा की सगीत भारती एक बार फिर विवाह के मंत्रों से गूँज उठी उसने लिखा...' इस बार विवाह अचानक ही हो गया। मैंने उसे स्वीकार कर लिया है। काम ठीक चल रहा है। किसी दिन सपरिवार आओ न ?.....'

यही सब सोचकर विश्वनाथ को लगा मनुष्य कुछ भी हो, सहारा चाहता है। उसके बिना खड़ा होने की शक्ति पाने में उसे अभी बहुत मजिल तय करनी है।

और तब उसका हाथ फिर ढीला पड़ गया। उसने उसने राखी को फेंकने का विचार छोड़ दिया और वह उमे फिर अपने स्थान पर रखने चला कि तभी कमरे के किवाड़ खुले, देखा नीरु है। शान्त, प्रसन्न, विश्वास से पूर्ण। चकित विस्मित वह बोल उठा, नीरु।

नीरु हंसी। हाँ मैं ही हूँ। तुम तो आये नहीं, मुझे ही आना पड़ा।

क्या बताये। आ नहीं सका। कोई विशेष बात भी नहीं थी।

हाँ, विशेष तो कुछ ही नहीं थी। राखी मैं डाक से भी भेज सकती थी पर मुझे लगा चलना चाहिए, सो चली आई।

और फिर बोली...लो हाथ बढ़ाओ।

विश्वनाथ ने बिना कुछ कहे हाथ बढ़ा दिया। मुट्ठी में वही राखी थी। देखकर नीरु बोली...यह किसकी राखी है ?

तुम्हारी।

मेरी ?

हाँ, पहिली बार माँ के कहने पर जो राखी तुमने बाँधी थी वही है।

नीरुजा मुस्करा पड़ी...इसे क्यों रख छोड़ा है ? तुमने ? तुम तो मोह को पाप समझते हो।

विश्वनाथ के मुँह पर यह करारा तमाचा था। वह हतप्रभ-सा हो गया पर साहस करके बोला...नीरु !

चाणक्य के धर्म पर कथित शोध नई नहीं है

रमाकान्त जैन, बी० ए० साहित्य रत्न

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता के प्रधानमन्त्री श्री कन्हैया लाल दूगड द्वारा प्रचारित तथा मुनि महेन्द्रकुमार प्रथम द्वारा रचित लेख—‘ऐतिहासिक नई शोध—क्या चाणक्य जैन था?’—की साइक्लोस्टाइल प्रति देखने को मिली। जैनभारती, श्वेताम्बर जैन, वीर-वाणी आदि पत्रों में भी वह लेख प्रकाशित हुआ है।

इस लेख में मुनि जी ने यह दावा किया है कि चाणक्य के जैन होने की बात और उसे प्रमाणित करके जैन साहित्यिक साधन सामग्री की ओर ध्यान आकर्षित करने का कार्य सर्वप्रथम उन्होंने किया है, अन्य किसी जैन

अभी-अभी मुझे भी ऐसा लगा था पर तुम जानती हो यह मेरा रक्षाकवच है।

अब नीरु के निष्प्रभ होने की बारी थी। पर वह मुस्कराती हुई बोली ‘... इतने दिन बाद एक सशोधन की बात मुझे सूझती है।

क्या ?

यही कि यह रक्षाकवच नहीं है।

तो।

स्नेहकवच।

विश्वनाथ एक बार तो जैसे नीरु को देखता ही रह गया। कुछ सूझा ही नहीं। तब तक नीरु ने उसके हाथ के राखी बाँध दी और पुरानो राखी लेकर बोली ‘... यह मैं रखूंगी। तुम ठहरें निर्मोही। तुम्हें भूत भविष्यत से क्या काम ?

और कहकर नीरु खिलखिला पड़ी। तभी उसके पति और विश्वनाथ की पत्नी ने यहाँ प्रवेश किया। पत्नी बोली ‘... नन्द जी। क्या मिला है ?

अमूल्य रत्न।

और तब धूप सी खिलती हुई नीरु ने हाथ आगे बढ़ा कर वह राखी दिखा दी।

विद्वान की दृष्टि इस ओर तक अभी नहीं गई, अतएव यह उन की ही नई शोध है। इस सम्बन्ध में मैं मुनि जी तथा उनके लेख के पाठकों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहूँगा कि गत चालीस वर्षों में कई प्रसिद्ध इतिहास विद्वान इसी प्रसंग पर पर्याप्त प्रकाश पहले ही डाल चुके हैं, यथा—मुनि श्री न्याय विजय जी अनेकात (वर्ष २, किरण, नवम्बर, १९३८, पृ० १०५-११५) में प्रकाशित अपने लेख ‘चाणक्य और उसका धर्म’ में, प्रो० सी० डी० चटर्जी ने बी० सी० लाहा वाल्यूम में प्रकाशित अपने लेख ‘अर्ली लाइफ आफ चन्द्रगुप्त मौर्य में डा० ज्योति प्रसाद जैन ने जैनसिद्धान्त भास्कर, (भा० १५, कि० १, जुलाई १९४८, पृ० १७-२४) में प्रकाशित अपने लेख ‘चन्द्रगुप्त-चाणक्य इतिवृत्त के जैन आधार’ में तथा अपनी पुस्तक ‘भारतीय इतिहास : एक दृष्टि’ (भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी से प्रकाशित प्रथम सम्करण १९६१, द्वितीय संस्करण १९६६, पृ० ७६-९० और वा० कामना प्रसाद जैन ने १९६४ में (विश्व जैन मिशन अलीगढ़-एटा से) प्रकाशित अपनी पुस्तक ‘द रिजलीजन आफ तीर्थंकराज’ (पृ० १३३) में—सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के राजनीति गुरु एवं मन्त्री तथा सुप्रसिद्ध ‘अर्थशास्त्र’ के रचयिता चाणक्य के धर्म तथा उसके सम्पूर्ण इतिवृत्त पर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर साहित्य में निबद्ध अनुश्रुतियों के आधार से प्रभूत प्रकाश पहले ही डाला हुआ है। मुनि श्री महेन्द्र कुमार जी ने भी प्रायः उन्हीं सब स्रोतों के आधार से प्रायः उन्हीं तथ्यों का निरूपण किया है।

सम्भव है, मुनि श्री की दृष्टि में इस विषय पर उनसे पूर्व अत्यन्त प्रौढ़ विद्वानों द्वारा किया गया कार्य नहीं आ पाया। शायद इसीलिए उन्होंने उसका उल्लेख नहीं किया और उसे अपना ही आविष्कार एवं ‘नई शोध’ समझकर प्रचारित किया है।

अंजना-पवनञ्जय

भंवरलाल सेठी

(१)

अतिशय उज्ज्वल, अतिशय सुन्दर,
परम रम्य है गिरि कैलाश ।
एक समय उस पर बैठे थे,
नृप महेन्द्र सद्गुण आवास ॥

(२)

इनके आसपास मन्त्री सब,
बैठे थे चातुर्य—निधान ।
नीतिनिपुण, हितचिन्तक, कोविद,
सूक्ष्म—दृष्टि, अच्छे मतिमान् ॥

(३)

महिष 'महेन्द्र' महेन्द्र पुरी के
मन्त्री—मंडल में भाये ।
मानों ताराओं के बिच है,
पूर्णचन्द्र छवि छिटकाये ॥

(४)

सोच रहे थे नृपवर मन में,
दुहिता हुई सयानी है ।
किसी योग्यतम राज-तनय को,
इसे शीघ्र परणार्ण है ॥

(५)

इतने में दोनों कर जोड़े,
बोले मन्त्री, "श्री महाराज !
सोच रहे हैं क्या प्रभु मन में ?
जो चाहे फरमावें काज" ॥

(६)

कहा नृपति ने "तुम सब मिलकर,
वर बतलाओ गुण की खान ।
राजकुमार अंजना—लायक,
जिसको दूँ मैं कन्यादान" ॥

(७)

बोले मन्त्री एक एक कर,
अपनी अपनी मति अनुसार ।
इन्द्रजीत, विद्युत्प्रभ, आदिक,
गिना गये बहु राजकुमार ॥

(८)

पर प्रधानमन्त्री ने सब में,
चुन चुन दूषण लगा दिये ।
कहा किसी को, है वह मानी,
वह क्रोधी, वह द्वेष लिये ॥

(९)

विद्युत्प्रभ के लिए कहा "वह,
है यद्यपि रमणीय महान् ।
रूपवान्, तो भी वह त्यागी—
होगा जल्दी छोड़ जहान ॥

(१०)

इसी लिए हे भूप शिरोमणि,
विनय ध्यान देसुन लीजे ।
वाई का सम्बन्ध सोचकर,
सर्वोत्तम वर से कीजे ॥

(११)

भूपरत्न आदित्यनगर के,
है 'प्रह्लाद' जगद्विख्यात ।
उनके तनय मनोज्ञ 'पवनञ्जय',
रूपराशि है, है दृढ़ गात ॥

(१२)

बुद्धिमान हैं श्रुतसागर,
नीति निपुण हैं, हैं बलवान् ।
सकल कलाओं में सकुशल हैं,
तेजस्वी हैं, हैं गुणवान् ॥

(१३)

इनके से इस समय नहीं हैं,

भूमंडल में राजकुमार ।
 राजन् इन्हें अंजना देकर,
 सुख पावेगे आप अपार” ॥
 (१४)
 सुन प्रधान मंत्री की वाणी ।
 नरपति का मन मुदित हुआ ।
 सुता पवनंजय को ही दूंगा,
 ऐसा दृढ़ संकल्प हुआ ॥
 (१५)
 सुने पवनजय के गुण गौरव,
 हुई अजना खुश मन में ।
 देख कल्पनादृग से उनको,
 बिठा लिया हृदयासन में ॥
 (१६)
 गये वहाँ से फिर सारे जन,
 दर्शन करने श्री जी के ।
 भक्ति भाव से बड़े चाव से,
 निर्मल करने दृग ही के ॥
 (१७)
 “सपरिवार आदित्यपुरी के,
 आये है नृप भी प्रह्लाद ।
 यात्रा को कैलाशधाम की”
 सुना मार्ग में यह संवाद ॥
 (१८)
 विधि से श्रीजिनवर के दर्शन,
 नृप महेन्द्र इत कर आये ।
 उधर भूप प्रह्लाद दरस पा,
 अपने डेरे पर आये ॥
 (१९)
 दोनों भूपति ने आपस में,
 मिलने का सकल्प किया ।
 राजरीति से मिले, मधुरतम;
 बातें कर मन मुदित किया ॥
 (२०)
 दोनों जाने लगे साथ ही,
 श्री जी के दर्शन करने ।

शास्त्र सभा में बैठ पास ही,
 दोनों शास्त्र लगे सुनने ॥
 (२१)
 दोनों रम्य शैल की शोभा,
 साथ देखने जाने थे ।
 एक दूसरे का गुण देखे,
 मन में खूब लुभाते थे ॥
 (२२)
 नृप प्रह्लाद चाहता था यह,
 “होय अजना साथ विवाह ।
 मेरे सून पवनंजय का तो,
 मुझको होवे बड़ा उछाह” ॥
 (२३)
 रानी भी इसमें राजी है,
 राजी है सारा परिवार ।
 और सुना है सच्चे दिल से,
 इसे चाहता राजकुमार ॥
 (२४)
 स्वयं अंजना बड़ी सुशीला,
 सारे सद्गुण वाली है ।
 शील शिरोमणि मान पिता ने,
 शुभ शिक्षा दे पाली है ॥
 (२५)
 इतने में ही नृप महेन्द्र ने,
 अवसर पाय किया प्रस्ताव ।
 “राजकुमार पवनंजय को मम,
 कन्या देने के है भाव” ॥
 (२६)
 यह महेन्द्र नरपति की वाणी,
 आदित्यपति के मन भाई ।
 ‘मेरा भी था यही मनोरथ,’
 कह प्रसन्नता दिखलाई ॥
 (२७)
 बड़े ठाट से शुभ बेला में,
 हुई सगाई यह सानद ।

पाणिग्रहण मुहूर्त ठहरा,
तीसरे दिन का हो सुखकंद ॥

(२८)

बाजे बजने लगे मनोहर,
होने लगा मंगलाचार ।
नहीं समावे मन में ऐसा,
सब पर छाया हर्ष अपार ॥

(२९)

व्योमयान में बैठ शाम को,
सैर प्रवर्तनजय करते थे ।
अपने प्रिय प्रहस्त को भी वे,
लिये साथ ही फिरते थे ॥

(३०)

इतने में ही इनके मन में,
उठा मनोरम एक विचार ।
“चलो चले छुपकर चल देखें,
प्रिया कर रही क्या व्यापार ॥

(३१)

“प्यारी प्यारी सखियों के संग,
वह बातें करनी होगी ।
मीठी मीठी बड़ी रसीली,
मिश्री सी घुलती होगी” ॥

(३२)

यो विचार, तज व्योमयान को,
चले बड़े चतुराई से ।
लता वृक्ष की छुपे ओट में,
खड़े रहे सुधराई से ।

(३३)

लगे देखने जिधर अजना,
बैठी थी सखियों के सग ।
था नख से शिख तक साँचे में,
ढला हुआ सा उसका अंग ॥

(३४)

छिटक रही थी रम्य चाँदनी,
कुसुम खिले थे रंग विरग ।
मन्द मन्द मारुत बहता था,

उठती थी मन माहि उमंग ॥

(३५)

देख अजना का मुख-मुन्दर,
मन में चद्र लजाता है ।
इसी लिए क्या बादल भीतर,
बार बार छुप जाता है ॥

(३६)

नख से शिख तक इसका जग में,
कही नहीं मिलता उपमान ।
इससे बस इसकी सी है यह,
किये पवनजय ने अनुमान ॥

(३७)

सखी अजना से कहती थी,
इसने सुना लगाकर कान ।
तभी सुन पड़ा “सखी अजना,
बड़ा पवनजय है गुणवान्” ॥

(३८)

“धन्य धन्य है भाग्य आप के,
मिला मनोहर वर ऐसा ।
देवाङ्गना बिठा ले जिसको,
अपनी आँखों में ऐसा” ॥

(३९)

सुन सुन ऐसे वचन पवनजय,
प्रमुदित होता जाता था ।
रूप-सुधारस रूपवती का,
पीते नहीं अघाता था ॥

(४०)

लगी ‘मिश्रकेशी’ यो कहने,
इतने में ही बात बनाय ।
“वसन्तमाला ! तू क्या जाने,
पुरुष परीक्षा के सदुपाय” ॥

(४१)

भला पवनजय के भीतर कह,
क्या क्या गुण तू पाती है ।
भूठी बातें बना बनाकर,
बाई को बहकाती है ॥

(४२)

विद्युत्प्रभ को ब्याही जाती,
तो बाई यह सुख पाती ।
उसके संग मिलन होता तो,
धन्य धन्य यह कहलाती” ॥

(४३)

ऐसी अपनी निन्दा सुनकर,
हुआ पवनजय क्रुद्ध महान् ।
और अंजना का दग मूँदे,
लख आपे में जरा रहा न ॥

(४४)

कहने लगा और मन ही मन,
“दुष्टा निन्दा सुनती है ।
विषरस भरे कनक घट की सी,
मुझको तो यह दिखती है ॥

(४६)

“इसको सजा मिले सो अच्छा,
उसका है बस यही उपाय” ।
पर, इसने विलकुल नहिं सोचा,
“यह तो मुझ पर रही लुभाय” ॥

(४७)

“प्रथम सखी की वाणी सुनकर,
मेरा ही शुचि ध्यान लगाय ।
बाह्य विकार रहित हो बैठी,
रोक इन्द्रियों का समुदाय ॥

(४८)

इससे इसने नही सुने कुछ,
सखी मिश्रकेशी के बेन ।
ध्यानमग्न योगीसम इसने,
मूँद लिये हैं दोनो नैन” ॥

(४९)

चले वहाँ से गये पवनजय,
चढ़ विमान पर घर आये ।
सारी रात जागे, भ्रमवश हो—
आर्तध्यान कर दुख पाये ॥

(५०)

मानसरोवर के तट ऊपर,

रचा गया मंडप सुविशाल ।

उसमें पाणिग्रहण रीति से,
हुआ, हुआ जब शुद्ध सु-काल ॥

(५१)

आनंद हर्ष मनायासवने,
रहे वहाँ फिर दिन दो चार ।
गये सभी फिर निज निज घर को,
कर अपना लौकिक व्यवहार ॥

(५२)

अपनी सुता अंजना को भी,
नृप महेन्द्र ने विदा किया ।
हाथी-घोड़े, नौकर-चाकर,
माल-खजाना खूब दिया ॥

(५३)

साथ अंजना पवनजय को,
लेके घर आये प्रह्लाद ।
मगल बाजे बजे मनोरम,
घर घर हुए हर्ष के नाद ॥

(५४)

थोड़े दिन तक तो परिजन ने,
पाया नही यही संवाद ।
नही अंजना को छूता है,
पवनकुमार धार सुविषाद ॥

(५५)

पर धीरे धीरे यह सबको,
जान पड़ा दुख है भारी ।
सब सुखयारी समझे जिसको,
वही अंजना दुखियारी ॥

(५६)

रहती रात दिवस चिन्ता में,
कब देगे दर्शन स्वामी ।
कब होगी पूरी अभिलाषा,
कब पाऊँगी सुख नामी ॥

(५७)

रोती कभी कभी दुख पाती,
लेती कभी दीर्घ निश्वास ।

पछताती पछताती दुखिया,
तज देती थी जीवन-आश ॥
(५८)
वरसों बीत गये दुखिया को,
पाये नहि पीके दर्शन ।
छलिया कपटिन पगली कहते,
भुका पवनजय का नहि मन ॥

(५९)
लाख लाख तकलीफ उठाती,
तरुणी हा हा खाती थी ।
नही पवनजय के मन को वह,
तो भी पिघला पाती थी ॥

(६०)
मन था या अनघड पत्थर था,
लोहा था या वज्रर था ।
प्रेम भिखाग्नि परम सुन्दरी,
नारी को न जहाँ स्थल था ॥

(६१)
वरसों बीत गये ऐसे ही,
स्त्री को दुख पाते पाते ।
तो भी रुके न पति के जी में,
दुष्ट भाव आते आते ॥

(६२)
इतने में प्रह्लाद भूप पर,
पत्र लकपति का आया ।
सैन्यसहित सज रण में शामिल,
होने को था बुलवाया ॥

(६३)
कहा पवनजय ने पढ उसको,
पूज्य पिता मै जाऊँगा ।
क्षत्रियसुत कैसे होते हैं,
रण में यह दिखलाऊँगा ॥

(६४)
नृप रावण के सब रिपुओं को,
दल दल मार भगाऊँगा ।
अपना अपने कुल का गौरव ।
जग में पूर्ण जगाऊँगा ।

(६५)
ऐसे विनती कर आज्ञा ले,
सजा सैन्य चढ़ चला कुमार ।
मूर्तिमान जा रहा वीररस,
मानों लिए ढाल तलवार ॥

(६६)
लेकर मंगल द्रव्य मनोरम
पतिव्रता सन्मुख आई ।
सती अजना, पर वह पति से,
तिरस्कार भारी पाई ॥

(६७)
चली गई दुखिया महलों में,
व्याकुल करने लगी विचार ।
देखे जय पाकर आते हैं,
कब तक मेरे प्राणाधार ॥

(६८)
दिन भर चल सेना जा ठहरी,
मानसरोवर के शुचि तीर ।
लगे टहलने ले प्रहस्त को,
तीरों तीर पवनजय वीर ॥

(६९)
वहाँ नजर आया चकवे को,
भ्रष्ट ले गया पक्षी बाज ।
चकवी तड़प तड़प जी देती,
करती हुई आर्त आवाज ॥

(७०)
उड़ती कभी कभी भूतल पर,
गिरती पड़ती चलती थी ।
अपनी छाया को जल में लख,
चकवा जान लपकती थी ॥

(७१)
चकवा कहाँ कहाँ चकवी थी,
चकवा तो तज गया जहान ।
चकवी का दुख लखा न जावे,
थी संकटमें उसकी जान ॥

(७२)

इस घटनासे पवनजयके,
दिलपर असर पड़ा भारी ।
लगा कोसने अपनेको ही,
मैं हूँ दुष्ट बड़ा भारी ॥

(७३)

मम वियोगमें मेरी प्यारी,
क्या क्या दुख न उठाती है ।
इस चकवीसे भी वह ज्यादा,
बार बार बिलखाती है ॥

(७४)

हूँ हत्यारा, हूँ मैं पापी,
बड़ा घातकी हूँ मैं क्रूर ।
जो अबला को दुख देने को,
रहता हूँ उससे अति दूर ॥

(७५)

औरों से वाते करता हूँ,
घुल घुल कर प्यारी प्यारी ।
पर अपनी सच्ची प्यारी को,
कहता हूँ दुष्टा नारी ॥

(७६)

निज को धिक् धिक् कह पछताता,
चला गया प्यारी के पास ।
लगा माँगने क्षमा दीन हो,
मन में होता हुआ उदास ॥

(७७)

चरणों में गिर पड़ी अजना,
मेरे जीवन, मेरे प्रान ।
मेरे कर्मों का दूषण था,
नहीं आपका दोष सुजान ॥

(७८)

मेरे मोती, मेरे माणक,
चन्दा हो मेरे प्रभु आप ।
मेरे सब शृंगार आप हो,
मेरे सब भूषण हो आप ॥

(७९)

मैं इन चरणों की दासी हूँ,

मेरे हो प्रभु प्राणाधार ।

जीवन धन हो आनंदधन हो,
सरबस हो मेरे सरदार ॥

(८०)

भूल चूक अपराध हुए हों,
मुझसे उन्हें क्षमा करिए ।
हूँ अबला अनजान मूढ़ में,
मेरे दोष न हिय धरिए ॥

(८१)

सुनी अंजना की मृदु वाणी,
हुआ पवनजय बड़ा प्रसन्न ।
हँसी खुशी में समय बिताया,
मा वापों से रह प्रच्छन्न ॥

(८२)

वीर वेश में सजा हुआ था,
जाना था रण को चढ़कर ।
पीछे जाने लगा सैन्य में,
तभी अजना ने नमकर— ॥

(८३)

‘स्वामी की जय हो जय हो’ कह,
जय—कंकण बाँधा कर में ।
‘तेज नाथ का ग्रहण किया है’,
और कहा—‘अपने उर में’ ॥

(८४)

‘इसी लिए स्वामी विनती है,
निज मुद्रा मुझको दीजे ।
रिपु को जीत नाम पा जल्दी,
दासी की फिर सुध लीजे ॥’

(८५)

दासी नहीं सुन्दरी तू है,
मेरे प्राणों की प्यारी ।
चिन्ता न कर शीघ्र आता हूँ,
रिपुबल मर्दन कर प्यारी ॥

(८६)

यों कह निज मुद्रा दे खुश हो,
गया पवनजय निज दल में ।
इधर अंजना खुशी हुई अति,
पति प्रेम पाकर दिल में ॥

(८७)

थोड़े दिन ही भीतर बाते,
लगी फँलने चारों ओर ।
हुई अजना गर्भवती है,
पाप किया इसने अति घोर ॥

(८८)

कोई कहने लगा “अंजना,
बड़ी सती थी कहलाती ।
पर, ऐसी है, इसी लिए तो,
नही पवनंजय को भाती ॥”

(८९)

कहा किसी ने “वाह वाह जी,
क्या ऐसा हो सकता है ?
बड़ी सुशील है वह, उसके
लिए व्यर्थ जग बकता है ॥”

(९०)

“तुम हो भोले भाले भाई,
त्रियाचरित तुम क्यों जानो ।
जो छल कपट अंजना करती,
कहो उन्हें तुम क्या जानो ॥”

(९१)

धीरे धीरे ऐसी बाते,
पहुँची राजा रानी को ।
उनको हुआ बड़ा भारी दुख,
हो दुख क्यों नहि मानी को !

(९२)

रानी केतुमती भट आई,
अपनी पुत्रवधू के पास ।
गर्भवती जब उसको देखी,
लगी डालने तब निश्वास ॥

(९३)

कोप अजना पर कर भारी,
उसको दिया तुरन्त निकाल ।
तथ्य कथन, मुद्रा दिखलाना,
उसको इसने माना जाल ॥

(९४)

गई कोसती हुई गर्भ को,

दुखिया पापों की मारी ।

अपने माता पिता के घर पर,
तिरस्कार पाई भारी ॥

(९५)

पा अपमान चली जंगल में,
निराधार दुखिया वाला ।
दुख-सुख-संगातिन थी सँग में,
प्यारी सखि वसन्तमाला ॥

(९६)

प्रथम गर्भिणी, फिर वह वन-महि,
चला न कुछ भी जाता था ।
कठिनाई से राम राम कर,
कुछ कुछ पद उठ पाता था ॥

(९७)

धीरे-धीरे शैल-गुफा तक,
पहुँची, पहुँची मुनि के पास ।
कुशल पूछ वचनामृत सुनकर,
मन में बंधा इसे विश्वास ॥

(९८)

चैत्र शुक्ल अष्टमी सुतिथि को,
बीती जब थी आधी रात ।
हुआ अजना के वलशाली,
तेजस्वी बालक दृढगात ॥

(९९)

इतने में ही सिंहगर्जना,
एकाएक हुई भारी ।
प्रतिधुनि से सारे जंगल में,
कोलाहल छाया भारी ॥

(१००)

चिल्ला उठी अंजना इससे,
भय खाकर अपने मन में ।
इतने में ही व्योमयान इक,
आया इसके ढिग पल में ॥

(१०१)

उससे उतरे नृप प्रतिसूरज,
पूछा उनसे इसका हाल ।

बातें कर, जाना यह तो है,
सती अंजना मेरी बाल ॥

(१०२)

अपना परिचय देकर बोले,
तब मामा प्रतिसूरज हूँ ।
बेटी, घर को चलो, चले अब,
चलने को मैं उद्यत हूँ ॥

(१०३)

‘अच्छा चलिए’ कह सब बैठे,
जल्दी चलने लगा विमान ।
रास्ते के भीतर हाथों से,
छिटक पड़ा बालक बलवान ॥

(१०४)

हा हा कर सब नीचे आये,
देखा तो खुश था बालक ।
चोट न उसको कुछ आई थी,
फूट गया गिरि पत्थर तक ॥

(१०५)

बच्चे को कर प्यार साथ ले,
प्रतिसूरज निज घर आया ।
सती अंजना ने निज शिशु का,
यहाँ आय आनंद पाया ॥

(१०६)

आनंद मना रही थी कुछ कुछ,
पर यह क्या आया सवाद ।
जिसको सुन हो गई अंजना,
मूर्छित मन में पाय विपाद ॥

(१०७)

“विजयश्री को पाकर आये,
वीर पवनजय निज घर पर ।
नही अंजना को जब पाई,
चले गये वन, घर तजकर ॥”

(१०८)

अपनी भगिनी की तनया को,
प्रतिसूरज ने किया सचेत ।

कहा अंजना मत घबरा तू,
जाता हूँ मैं खोजन हेत ॥

(१०९)

होंगे जहाँ वहाँ से उनको,
ले आऊँगा तेरे पास ।
चिन्ता न कर जरा भी मन में,
प्रभु पर पूरा रख विश्वास ॥

(११०)

यों कहकर प्रतिसूरज नृप ने,
आदिनपुर को किया प्रयाण ।
केतुमती प्रह्लाद भूप को,
समाचार जा दिये महान् ॥

(१११)

सती अंजना मेरे घर है,
हुआ पुत्र उसके शुचिगात ।
पर वह पति के दर्शन को है,
अकुलाती रहती दिन रात ॥

(११२)

दीनवदन राजा रानी ने,
कहा, आपका है उपकार ।
भ्रम में पड़ हमने ही उसका,
किया बड़ा ही है अपकार ॥

(११३)

वह जीती है, पुत्र हुआ है,
अच्छे है सब, अच्छा है ।
मिल जावे अब पवन हमारा,
तब यह जीवन अच्छा है ॥

(११४)

बार बार ऐसा कहकह कर,
पछताते थे नृप प्रह्लाद ।
केतुमती आँसू बरसाती,
रोती थी कर बातें याद ॥

(११५)

हाय शुद्धशीला को हमने,
घर के बाहर दिया निकाल ।

अपने पैरों आप कुल्हाड़ी,
मारी किसको कहिए हाल ॥

(११६)

समझा बुझा इन्हें प्रतिमूरज,
कहने लगा करो मत देर ।
खोज लगावे भली भाँति से,
लावे शीघ्र पवन को हेर ॥

(११७)

सभी चले नृप महेन्द्र को भी,
अपने संग में बुलवाया ।
खोजा जहाँ तहाँ आखिर में,
सधन गहन वन में पाया ॥

(११८)

ध्यान लगाकर उस जगल में,
बैठा था निश्चल होकर ।
प्रिये प्रिये मन में रटता था,
दिखता था कोरा पजर ॥

(११९)

कहा पिता ने प्यारे बेटा,
उठो उठो बया करते हो ।
माता पिता श्वसुर सब जनका,
दुख क्यों नहि उठ हरते हो ॥

(१२०)

“प्यारी-प्यारी प्रिये अंजना,
आ. मिल,” सहसा बोल उठा ।
पर जब देखा पूज्य पिता को,
सकुचाया नत होय उठा ॥

(१२१)

माता देखी ससुरा देखा,

मामी-ससुरा भी देखा ।
देखा सब कुछ पर न प्रिया को,
इधर उधर भाँका देखा ॥

(१२२)

प्रतिमूरज ने कहा “कृपाकर,
सब मेरे घर को चलिए ।
वहाँ अंजना बाट देखती—
होगी, उसका दुख हरिए ॥”

(१२३)

हनुद्वीप को सभी गये तब,
हुआ वहाँ पर मँगलाचार ।
मिली अंजना निज स्वामी से,
सुखी हुआ सारा परिवार ॥

(१२४)

बेटा पुत्रवधू पोते को,
पाकर केतुमती-प्रह्लाद ।
कवि की कलम न कह सकती है,
कैसा हुआ उन्हें आह्लाद ॥

(१२५)

प्रतिमूरज त्यों महेन्द्र नृप के,
आनद का कुछ रहा न पार ।
सती अंजना के सतीत्व को,
मान गया सारा ससार ॥

(१२६)

आनदमंगल छाया सब में,
हुआ प्रशसित शीलसिगार ।
सती अंजना का अति सुंदर,
छाया जग में जयजयकार ॥

उत्थान-पतन

—श्री ठाकुर—

(१)

बुद्धिपेणा ने जब लेटे ही लेटे अगड़ाई ली तो मानो कक्ष की छाती फाड़कर एक बिजली की रेखा खिंच गई। श्रेष्ठी रामभद्र ने जाने कितनी देर से तृपित नेत्रों से उसकी ओर देख रहा था। बुद्धिपेणा ने मञ्जुल हास्य बिखेरते हुए उसकी ओर देखा। गवाक्ष में लटकी मोतियों की माला में अरुणिमा भाक रही थी। सोम को आज इस अरुणिमा में एक नयापन अनुभव हुआ अपूर्व और उन्माद कारी। उसे स्मरण हो आया—आज तो मदनपर्व है। तभी बासन्ती वयार ने गवाक्ष के रास्ते से चुपके से प्रवेश किया और बुद्धिपेणा की लटो से खेलने लगी।

सोम ने बधाई दी—देवी। आज मदनपर्व है। मेरी बधाई स्वीकार करें।

बुद्धि गर्व में भर उठी। नगर की वह सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है, नगर बहू का उसे सम्मानपूर्ण पद प्राप्त है। अयोध्या के सारे युवक उसकी एक मुस्कुराहट के लिए लालायित रहते हैं। राजकुल के रसिक भौरे उसकी रूप सुगन्धि से आकर्षित होकर रसपान के लिए मंडराया करते हैं। पाँच वर्ष से वह नगर की हृदयेश्वरी बनी हुई है। उसके जीवन में अनेको ने स्थान बनाना चाहा और निराश होकर चले गये। किन्तु—

वह सोचने लगी—श्रेष्ठी सोमभद्र के प्रति मेरे मन में जो एक लगाव, एक मोह जाग उठा है, उसने मुझे चारों ओर से जकड़ लिया है। सचमुच क्या यह आसक्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है ?

वह उठी, मदिरा पात्र से रत्न चषक में मदिरा उडेल कर अपने ओठों से लगाई और मुस्कराकर सोम के मुख में लगा दी। सोम की बधाई का ही उत्तर था यह। सोम के प्यासे अंधर मधुपान से तृप्त न हो सके। वह अतृप्ति एक आकांक्षा बन कर पुकार उठी। उन्माद में

भर उठा वह, अंग अंग ऐंठने लगे उसके और आवेग में उसने बुद्धि को अपने भुजपाश में जकड़ लिया। बुद्धि ने इसका कोई विरोध नहीं किया, वह सर्वान्त करण से सोम के अंक में लिपट गई।

भुवन भास्कर ललचाए से देखते रहे, पवन बुद्धि के आँचल से सिर धुनता रहा।

तभी सोम पूछ बैठा—देवी ! तुम अभी क्या सोच रही थी ?

आर्य ! मैं सोच रही थी, क्या किसी के प्रति आसक्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है ? उसने मुस्कराते हुए उत्तर दिया।

तो तुम किस निष्कर्ष पर पहुँच सकी देवी ?

मैं तो जीवन में जिस एक निर्णय पर पहुँची हूँ, वह यही है जो अब है। मैं जीवन का अर्थ समझती हूँ वासना अनृप्ति, आसक्ति और मदिरा। मैं सोच भी नहीं पानी, क्या इनके सिवाय भी कोई जीवन है ?

किन्तु जीवन की गिनताएँ क्या केवल वासना और मदिरा से ही भर सकती हैं ? क्या यही एक दिन वितृष्णा न बन जाएगी, सोम ने बुद्धि को टटोलते हुए पूछा। मन की आशका का प्रश्न बन कर फूट पड़ी।

किन्तु इस प्रश्न ने बुद्धि को चंचल कर दिया। उसने सोम को जोर से जकड़ते हुए कहा—आर्य पुत्र वितृष्णा की बात न करे। इस अंक में स्थान पाकर वितृष्णा कैसी ? जनम जनम की साध के बाद ही मुझे मेरे काम देव मिले हैं। तब अपने कामदेव से रति को वितृष्णा हो जाए। यह क्या कभी सम्भव हो सकेगा ? और उसने पड़े-पड़े ही मदिरा पात्र से चषक में फिर मदिरा उडेल कर सोम के मुँह से लगा दी और सोमने भी आँखों में कामना भरकर अपने हाथों से बुद्धि को एक चषक पान करा दिया।

२

आज वसन्तोत्सव है। अयोध्या के राजपथ और वीथियाँ नर-नारियों से मकुल हैं। बुद्धिपेणा के प्रासाद ने प्रकोष्ठ में और बाहर अमन्य युवक मल्लिका और यूथिका की मालाएँ लिए खड़े हैं। वे देवी की प्रतिक्षा में अधीर हो रहे हैं। वे देवी के दर्शनों के लिए आकुल हैं।

जब देवी बुद्धिपेणा सम्पूर्ण शृंगार के साथ अपने स्वर्णरथ की ओर बढ़ी तो युवक दल ने उस पर पुष्प बरसाये। पुष्प मालाओं से उसका रत्नहार ढक गया। फूलों की मालाओं में वह ऐसी लग रही थी मानो कोई वाग्देवी ही अवतरित हुई हो।

युवक-दल में रथ खींचने के लिए स्पर्धा भी हो गयी। मार्ग में लोग देवी का अभिवादन करते और देवी मुस्कुरा कर उसे ग्रहण करती। और यो देवी का रथ राजपथों पर होकर मदन मंदिर की ओर जा रहा था।

किन्तु नगर के बाहर मदनोद्यान में बने मदन मंदिर की ओर जाने की वज्राय, उस मार्ग पर अधिक भीड़ जा रही थी, जो वन की ओर गया था। देवी को बड़ा कौतूहल हुआ। आज उसके विजयोत्सव का दिन है। आज वह फिर एक बार नगर की सभी ललनाओं पर अनिन्द्य मौन्दवं के कारण विजय प्राप्त करेगी। युवक-वर्ग एक बार फिर उसकी मुस्कराहट पर लोट-पोट होगा। राजन्यवर्ग उसके मादक नृत्य से फिर एक बार भूम उठेगा किन्तु वह कौनसा आकर्षण है। जिससे प्रेरित होकर ये नरनारी उसके उत्सव को टुकराकर निर्जन नीरस वन की ओर अभिमुख हो रहे हैं। उसके मन पर ईर्ष्या की एक गहरी रेखा खिच गई। इस रहस्य को सुलझाए बिना उको चैन न मिलेगा।

उसने अपनी परिचारिका मदन लेखा से इसका कारण जानना चाहा तो मदन लेखा ने ससन्न उत्तर दिया— देवी ! प्रीतंकर नाम के एक दिगम्बर जैन मुनि वन प्रान्त में विराजमान हैं। उनके दर्शन-उपदेश के लिए ही सारा राज परिवार और नागरिक जन उधर जा रहे हैं।

बुद्धिपेणा के रूप को यह चुनौती थी। उसका आहत गर्व फुकार उठा—ओह ! नगरे साधु को मेरे साथ स्पर्धा करने की धोस। बुद्धिपेणा की सारी रूपराशि व्यर्थ हो जाएगी, यह वह इस नंगे को अपने वश में करके मदन

मंदिर न ले जा सकी। और तभी उसने आदेश दिया—रथ वन की ओर चलेगा। कामी युवकों के मन पर यह आदेश उल्का पात बनकर टूटा। किन्तु आदेश का पालन किया गया। देवी एक योद्धा की तरह युद्ध विजय की लालसा मन में छिपाए बढ रही थी असीम विश्वास के साथ।

३

शिलातल पर एक दिगम्बर मुनि विराजमान थे। उनके नेत्रों से अनन्त करुणा प्रवाहित हो रही थी। मुख पर बीतरागिता का लावण्य बिखर रहा था और एक दिव्यप्रभा मण्डल प्रभासित था। जिमसे दूसरे के मन में आनंद नहीं, किन्तु आश्वासन मिलता था। अमन्य श्रोता जन श्रद्धा के साथ उसकी अमृतवाणी का आस्वादन कर रहे थे।

रूप गविता बुद्धिपेणा का विश्वास था कि उसके पहुंचते ही सारे नागरिक सम्मान के साथ उठ खड़े होंगे और वह साधु तो—।

किन्तु जब वह पहुंची तो वहाँ कोई चंचलता न दीख पड़ी। सब कुछ शान्त था। श्रोताओं ने उसकी ओर लक्ष्य तक न दिया। इससे उसका अभिमान मर्माहित हो उठा।

वह उद्धतभाव से अपने गौरव का स्मरण कर सबसे आगे जा बैठी। एक ओर सबको अशक्तिन करता उच्छ्वल बरसानी नाला बह रहा था और दूसरी ओर गुरु गम्भीर समुद्र सबको अभिभूत कर रहा था। वासना का ऊट बीतरागता के पहाड़ के नीचे आकर अपनी ऊँचाई नापने में लगा था।

मुनिराज उपदेश दे रहे थे—मानव जीवन का लक्ष्य क्या है ? आपने कहा—मानव जीवन सुलभ और सहज प्राप्य नहीं है। इसलिए इसका अधिक में अधिक मुन्दर उपयोग करना है। इसका उपयोग वासना में नहीं करना भोगों में नहीं करना है। इनमें तो मानव जीवन का सारा रस ही सूख जाएगा।

बुद्धिपेणा ने समझा—यह मेरे ऊपर व्यंग्य है। वह अपना आवेग न रोक सकी और बोली—लेकिन वासना में तो स्पष्ट सुख है। प्रत्यक्ष सुख को छोड़कर अप्रत्यक्ष सुख की कल्पना में कष्ट उठाना तो बुद्धि मानी नहीं है। श्रोताओं के मुख विकृति से मिकुड़ गए।

मुनिराज के सहज शान्ति के साथ उत्तर दिया— भद्रे ! तुम भ्रम में हो। जिसमें अतृप्ति हो, आकुलता हो उसमें सुख कहाँ ? वासना से क्या कभी किसी को तृप्ति मिल सकती है ? वासना खाज को खजाते समय सुख मालूम पड़ता है किन्तु क्या वह वास्तविक सुख है ? सुख वह जिसका परिणाम सुख हो, जिसमें शान्ति हो, सुख हो। क्या वासना का सुख ऐसा ही है ?

बुद्धिपेणा की मूर्खता पर यह करारा तमाचा लगा। वह तिलमला उठी। उसने अपना अन्तिम तीर निकाला। विलास और उल्लास सहज प्राप्य नहीं है तो उनका भोग ही तो मानव जीवन की चरितार्थता है। इस अवसर को गवाकर ही तो मानव जीवन, का रस सूख जाता है। मानव जीवन में तब रह ही क्या जाता है। इस लिए जीवन के जो क्षण विलास और वासना में बीत जाएं। उनको ही मैं धन्य समझती हूँ।

मुनिराज बोले—भद्रे ! गलत समझी हो। वे क्षण सत्य नहीं। जीवन की यही सबसे बड़ी बिडम्बना है। वे अमर नहीं, स्थायी नहीं, क्षण भंगुर हैं। जिस रूप और यौवन पर मनुष्य को गर्व है, वह क्षणिक है। किन्तु मानव जीवन का सत्य क्षणिक सुख नहीं, अनन्त सुख है। वह वासना के राजपथ से नहीं। त्याग के विषम मार्ग से चल कर ही मिल सकेगा ?

बुद्धिपेणा का गर्व नष्ट हो गया। मुनिराज ने उसकी आँखों में उंगली डालकर उसे सत्य के दर्शन करा दिए थे। और जब वह वापिस लौटी तो उसकी देह पर आभूषण का चिह्न तक न रह गया था। आज उसने जो पाया था, वह अपूर्व था और उस पर उसे सन्तोष था।

(४)

मुनिराज विचित्रमति चर्या के लिए नगर में जा रहे थे। यकायक उसकी दृष्टि बुद्धिपेणा पर जा टिकी। वह खड़ी-खड़ी अपने विराट जीवन का अवलोकन कर रही थी। उसने पाया कि उसके सारे जीवन में कालिमा-केवल कालिमा ही पुती हुई है। उसके जीवन का लक्ष्य ही उस कालिमा को समेटना रहा है। जब से उसने मुनिराज से सुना कि वासना जीवन का चरम सत्य नहीं है चरम सत्य है त्याग, तबसे उसके अन्वकारपूर्ण जीवन में प्रकाश की

एक पसली-सी रेखा दिखाई पड़ने लगी और उस रेखा के आलोक में ही वह अपने को भी देख सकी है। पहिले वह विलास के नीचे भी नि सत्व थी और आज ! उस स्तूप को ठुकराकर भी वह वैभव सम्पन्न हो गई है। अब उसने जो पाया है, वह तो जन्म-जन्मान्तर का संचित कोष है। अब इस कोष ने मिलकर उसके रूप को प्रभासित कर दिया है। किन्तु रूप की इस प्रभा में आज स्निग्धता नहीं, अपितु आतंक व्याप्त हो गया है। अब रूप लुब्ध युवक उसके चारों ओर नहीं मडराते। अब उसके प्रासाद में पायलो की भूतक और मुद्राओं की खनक नहीं सुनाई पड़ती। अब उसने स्वेच्छा से नगर बध् का गौरव त्याग दिया है। किन्तु विचित्रमति मदन की पुकार को न ठुकरा सके। वे आज बुद्धिपेणा के रूप की अग्नि में शलम बन-कर कूद पड़ेगे।

यह रूप ! आह ! मुनि के हृदय से एक निश्वास निकल गई।

× × ×

आकस्मिक रूप से आए हुए मुनिराज को देखकर बुद्धिपेणा चकरा गई। उसने श्रद्धा से विनत होकर निवेदन किया—मेरे अहो भाग्य है। आज धर्म अप्रत्याशित रूप से मेरे द्वार पर आया है। विराजिए धर्म राज !

किन्तु मोहान्ध विचित्रमति पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे बोले—मैं भिक्षुक हूँ। क्या यह भिक्षा भिक्षा मुझे मिल सकेगी।

बुद्धिपेणा इस अकल्पित उत्तर पर सहसा विश्वास न कर सकी—एक मुनिराज ने मुझे नरक से निकालकर—यहाँ खड़ा किया था और आप मुझे यहाँ से धकेलकर फिर नरक में डालना चाहते हैं। क्या हमारे जीवन का एकमात्र लक्ष्य नरक ही है ?

विचित्रमति ने सुना। वे चौक पड़े—क्या कहा, एक मुनिराज ने तुम्हें नरक से निकाला ? कौन थे वे मुनिराज ?

उनका पवित्र नाम प्रीतकर मुनिराज है। कहते-कहते बुद्धिपेणा ने श्रद्धा से हाथ जोड़कर परोक्ष प्रणाम किया।

क्या कहा, प्रीतकर मुनिराज ! मेरे गुरु ! मुनि के मुख पर कालिमा पुत गई। पश्चात्ताप से उनका हृदय

अहिच्छत्र

श्री बलिभद्र जैन

स्थिति—अहिच्छत्र उत्तर प्रदेश के बरेली जिले की आंवला तहसील में स्थित है। दिल्ली से अलीगढ़ १२६ कि० मी० तथा अलीगढ़ से बरेली लाइन पर (चन्दौसी से आगे) आंवला स्टेशन १३५ कि० मी० है। आंवला स्टेशन से अहिच्छत्र क्षेत्र १८ कि० मी० सड़क द्वारा है। आंवला से अहिच्छत्र तक पक्की सड़क है। स्टेशन पर तागे मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इसी रेलवे लाइन पर करौंजी स्टेशन से ८ कि० मी० तथा रेवती बहोड़ा खेड़ा स्टेशन से ५ कि० मी० दूरी में पड़ता है। किन्तु सुविधा आंवला स्टेशन से अधिक है। इसका पोस्ट ऑफिस रामनगर है।

कल्याणक क्षेत्र—अहिच्छत्र आजकल रामनगर गांव का एक भाग है। इसको प्राचीन काल में सख्यावली नगरी कहा जाता था। एक बार भगवान पार्श्वनाथ मुनि-दशा में विहार करते हुए सख्यावली नगरी के बाहर उद्यान में पधारे और वहां प्रतिभा योग धारण करके ध्यानलीन हो गए सयोगवश सवर नामक एक देव विमान द्वारा आकाश-मार्ग से जा रहा था। ज्योंही विमान पार्श्वनाथ के ऊपर से गुजरा कि वह वहीं रुक गया। उग्रतपस्वी ऋद्धिधारी मुनि को कोई सचेतन या अचेतन वस्तु लांघकर नहीं जा सकती। सवर देव ने इसका कारण जानने के लिए नीचे

उच्छ्वसित हो उठा—देवी मैं राहभ्रष्ट हो गया था, तुमने मुझे राह बता दी। मां ! क्षमा करो मुझे। आज कंचन के मोल काच खरीदने चला था। तुमने मुझे बचा लिया। मुझे क्षमा करो कहते हुए विचित्रमणि तेजी से निकल गए।

बुद्धिपेणा गौरव से भर उठी। वह सोचने लगी—जीवन के इस उत्थान-पतन का एकबार फिर उसका भूत-कालीन जीवन चित्रपट की भांति उसकी आंखों में फिरने लगा।

की ओर देखा। पार्श्वनाथ के हाथों हुए अपमान का प्रतिशोध लेने को आतुर हो उठा और अनेक प्रकार के भयानक उपद्रव करके उन्हें त्रास देने का प्रयत्न करने लगा। किन्तु स्वात्मलीन पार्श्वनाथ पर इन उपद्रवों का रचमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। न वे ध्यान में चल-विचल हुए और न उनके मन में आननायी के प्रति दुर्भाव ही आया। तभी नागकुमार देवों के इन्द्र धरणेन्द्र और उसकी इन्द्राणी पद्मावती के आसन कम्पित हुए। वे पूर्वजन्म में नाग-नागिन थे। सवर देव कमठ तपस्वी था। पार्श्वनाथ उस समय राजकुमार थे। जब पार्श्वकुमार सोनह वर्ष के किशोर थे, तब गङ्गा-तट पर सेना के साथ हाथी पर चढ़ कर वे भ्रमण के लिए निकले। उन्होंने एक तपस्वी को देखा, जो पचास दिन तप तप रहा था। कुमार पार्श्वनाथ अपने अवधिज्ञान के नेत्र से उसके विडम्बनापूर्ण तप को देख रहे थे। इस तपस्वी का नाम महीपाल था और यह पार्श्वकुमार का नाना था। पार्श्वकुमार ने उसे नमस्कार नहीं किया। इससे तपस्वी मन में बहुत क्षुब्ध था। उसने लकड़ी काटने के लिए अपना फरमा उठाया ही था कि भगवान पार्श्वनाथ ने मना किया 'इसे मन काटो, इसमें जीव है।' किन्तु उनके मना करने पर भी उसने लकड़ी काट डाली। इससे लकड़ी के भीतर रहनेवाले सर्प और सर्पिणी के दो टुकड़े हो गए। परम करुणाशील पार्श्व प्रभु ने अपने असह्य वेदना में तड़पते हुए उन सर्प-सर्पिणी को कोणमोकार मन्त्र सुनाया। मन्त्र सुनकर वे अत्यन्त शांत भावों के साथ मरे और नागकुमार देवों के इन्द्र और इन्द्राणी के रूप में धरणेंद्र और पद्मावती हुए महीपाल। अपनी सार्वजनिक अप्रतिष्ठा की ग्लानि में अत्यन्त कुत्सित भावों के साथ मरा और ज्योतिष्क जाति का देव बना। उसका नाम अब सम्बर था। उसी देव ने अब मुनि पार्श्वनाथ से अपने पूर्व वर का बदला लिया एवं धरणेंद्र और पद्मावती ने आकर प्रभु के चरणों में नमस्कार किया।

धरणेंद्र ने सर्प का रूप धारण करके पार्श्वनाथ को ऊपर उठा लिया और सहस्र फण का मण्डप बनाकर उनके ऊपर तान दिया। देवी पद्मावती भक्ति के उल्लास में वज्रमय छत्र तानकर खड़ी हो गई। इससे सवर देव पार्श्वनाथ के साथ-साथ धरणेंद्र और पद्मावती के ऊपर भी क्षुब्ध हो उठा। उसने उनके ऊपर भी नाना प्रकार के कर्कश वचनों से प्रहार किया। इतना ही नहीं, आँधी, जल, यर्षा, उपल वर्षा आदि द्वारा भी चोर उपद्रव करने लगा।

किन्तु पार्श्वनाथ तो इन उपद्रवों, रक्षा प्रयत्नों और क्षमा-प्रसंगों से निर्लिप्त रहकर आत्म-ध्यान में लीन थे। उन्हें तभी केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया। तब चैत्र कृष्ण चतुर्थी का दिन था। इन्द्रो और देवों ने आकर भगवान के ज्ञान कल्याणक की पूजा की। जब इन्द्र ने वहाँ अपार जल देखा तो उसने इसके कारण पर विचार किया। वह सवर देव पर अति क्रुद्ध हुआ। सवर देव भय के मारे कोपने लगा। इन्द्र ने कहा—तेरी रक्षा का एक ही उपाय है कि तू प्रभु से क्षमा-याचना कर। सवर प्रभु के चरणों में जा गिरा। तत्पश्चात्, इन्द्र की आज्ञा से धनपति कुबेर ने वही पर समवसरण की रचना की और भगवान पार्श्वनाथ का वहाँ पर प्रथम जगत्कल्याणकारी उपदेश हुआ।

नागेंद्र द्वारा भगवान के ऊपर छत्र लगाया गया था, इस कारण इस स्थान का नाम सख्यावती के स्थान पर अहिच्छत्र हो गया। और भगवान के केवल ज्ञान कल्याणक की भूमि होने के कारण यह पवित्र तीर्थक्षेत्र हो गया।

—मुनि श्रीचन्द्र कृत 'कहकोसु' नामक अपभ्रंश कथा-कोष (सन्धि ३३ कडवक १ से ५, पृष्ठ ३३३ से ३३५) में यहा के एक व्यक्ति की कथा आती है, वह इस प्रकार है—

अहिच्छत्रपुर नगर में शिवभूति विप्र रहता था। उसके दो पुत्र थे—सोमशर्मा और शिवशर्मा। छोटे पुत्र का मन पढ़ने में नहीं लगता था। इससे पिता उसे कोडों से पीटा करता था। और उसका नाम नारन्तक रख दिया था। शिवशर्मा को इससे इतनी मानसिक ग्लानि हुई कि वह घर से निकल गया और दमवर मुनि के पास निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बन गया। एक दिन गुरु से उसने अपनी

मृत्यु के सम्बन्ध में पूछा। गुरु बोले—महिला के निमित्त से तुम्हारी मृत्यु होगी। यह सुनकर शिवशर्मा एकन्त वन में जाकर तपस्या करने लगा। वनदेवियाँ उन्हें आहार देती थी।

एक दिन गंगादेव नट अपनी पुत्री मदनवेगा और साथियों के साथ उसी वन में आकर ठहरा। मुनि की दुष्टि मदनवेगा पर पड़ी। वह देखते ही उस पर मोहित हो गया। मदनवेगा की भी यही दशा हुई। नट ने दोनों का विवाह कर दिया। अब शिवशर्मा नट मण्डली के साथ रहने लगा।

एक बार नट-मण्डली भ्रमण करती हुई अहिच्छत्रपुर आई। संयोग से शिवशर्मा की भेट अपने पूर्व गुरु मुनि दमवर से हो गई। उन्होंने उसे समझाया और जो अनुचित कृत्य किया है, उसके त्याग का उपदेश दिया। गुरु का उपदेश सुनकर उसे भी अपने कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। वह प्रायश्चित्त लेकर पुन मुनि बन गया। घोर तप किया। और वराह देश की वेत्तातट पुरी में जाकर उसे मोक्ष हो गया।

अतिशय क्षेत्र—भगवान पार्श्वनाथ के सिर पर धरणेंद्र द्वारा सर्प-फण लगाने और भगवान को केवल ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात्, लगता है, तहाँ की मिट्टी में ही कुछ अलौकिक अतिशय आ गया। यहाँ पर पश्चाद्वर्ती काल में अनेकों ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनायें घटित होने का वर्णन जैन साहित्य में अथवा अनुश्रुतियों में उपलब्ध होता है। इन घटनाओं में आचार्य पात्रकेशरी की घटना तो सचमुच ही विस्मयकारी है। आचार्य पात्रकेशरी का समय छठवी, सातवी शताब्दी माना जाता है। (स्व० पं० जुगलकिशोर मूल्तार और स्व० प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य के मतानुसार आचार्य पात्रकेशरी का आनुमानिक समय छठी शताब्दी का अन्तिम अथवा सातवी शताब्दी का प्रारम्भिक काल है।) वे इसी पावन नगरी के निवासी थे। उस समय नगर के शासक अवनिपाल थे। उनके दरबार में पाच सौ ब्राह्मण विद्वान थे, जो प्रायः तात्त्विक गोष्ठी किया करते थे। पात्रकेशरी इनमें सर्वप्रमुख थे। एक दिन यहाँ के पार्श्वनाथ मन्दिर में ये विद्वान गोष्ठी के निमित्त गये। वहा एक मुनि-जिनका नाम चारित्रभूषण था—आचार्य

समन्तभद्र विरचित देवागम स्तोत्र का पाठ कर रहे थे। पात्रकेशरी ध्यानपूर्वक उसे सुन रहे थे। उनके मन की अनेक शंकाओं का समाधान स्वतः होता गया। उन्होंने पाठ समाप्त होने पर मुनिराज से स्तोत्र दुबारा पढ़ने का अनुरोध किया। मुनिराज ने दुबारा स्तोत्र पढ़ा। पात्रकेशरी उसे सुनकर अपने घर चले गये और गहराई में तत्व-चिन्तन करने लगे। उन्हें अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैनदर्शन सत्य लगा। किन्तु अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध में उन्हें अपनी शका का समाधान नहीं मिल पा रहा था। इससे उनके चित्त में कुछ उद्विग्नता थी।

तभी पद्मावती देवी प्रगट हुई और बोली—“विप्रवर्य ! तुम्हें अपनी शका का उत्तर कल प्रातः पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा द्वारा प्राप्त हो जायेगा।” दूसरे दिन पात्रकेशरी पार्श्वनाथ मन्दिर में पहुँचे। जब उन्होंने प्रभु की मूर्ति की ओर देखा तो उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। पार्श्वनाथ प्रतिमा के फण पर निम्नलिखित कारिका लिखी हुई थी—

अन्यथानुपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।

नान्यथानुपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥

इस कारिका को पढ़ते ही उनकी शका का समाधान हो गया। उन्होंने जैन धर्म को सत्य धर्म स्वीकार करके अङ्गीकार कर लिया। तत्पश्चात् वे जैन मुनि बन गये। अपनी प्रकाण्ड प्रतिभा के कारण जैन दार्शनिक परम्परा के प्रमुख आचार्यों में उनकी गणना की जाती है।

—आराधना कथाकोश कथा-१

पात्रकेशरी के पश्चाद्वर्ती सभी दार्शनिक जैन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में और जैन राजाओं ने शिलालेखों में इस घटना का बड़े आदर पूर्वक उल्लेख किया है। वादिराज सूरि ने ‘न्यायविनिश्चयालंकार’ नामक अपने भाष्य में उक्त कारिका के सम्बन्ध में लिखा है—उक्त श्लोक पद्मावती देवी ने तीर्थङ्कर सीमन्धर स्वामी के समवशरण में जाकर गणधरदेव के प्रसाद से प्राप्त किया था।

श्रवण बेलगोला ‘मल्लिवेषण प्रशस्ति’ नामक शिलालेख में (नं० ५४/६७) जो शक सं० १०५० का है, लिखा है—

महिमा सपात्र केसरि गुरोः परं भवति यस्य भवत्यासीत्।

पद्मावती सहाया त्रिलक्षण-कदर्थनं कर्तुम् ॥

—उन पात्र केशरी गुरु का बड़ा माहात्म्य है जिनकी भक्ति के वश होकर पद्मावती देवी ने ‘त्रिलक्षण कदर्थन’ की रचना में उनकी सहायता की।

यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त कारिका के आधार पर ही आचार्य पात्रकेशरी ने ‘त्रिलक्षण कदर्थन’ नामक महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की थी।

—इसी प्रकार की एक दूसरी चमत्कार पूर्ण घटना का उल्लेख ‘आराधना सार कथाकोष’ (कथा ६० में) उपलब्ध होता है।

उस समय इस नगर का शासक वसुपाल था। उसकी रानी का नाम वसुमति था। राजा ने एक बार अहिच्छत्र नगर में बड़ा मनोज्ञ सहस्रकूट चैत्यालय का निर्माण कराया और उसमें पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा विराजमान कराई। राजा की आज्ञा से एक लेपकार मूर्ति के ऊपर लेप लगाने को नियुक्त हुआ। लेपकार माम भक्षी था। वह दिन में लेप लगाता था किन्तु रात में लेप गिर पड़ता था। इस प्रकार कई दिन बीत गये। लेपकार के ऊपर राजा अत्यंत क्रुद्ध हुआ और उसने लेपकार को मार-पीट कर भगा दिया। एक दिन अन्य लेपकार आया उसके मन में स्वतः भावना हुई और उसने किन्हीं मुनि के निकट जाकर कुछ नियम लिए, पूजा रचाई। दूसरे दिन से उसने जो लेप लगाया, वह फिर मानो वज्रलेप बन गया।

—यहाँ क्षेत्र पर एक प्राचीन शिखरबन्द मन्दिर है। उसमें एक वेदी तिरवाल वाले बाबा की है। इस वेदी में भगवान पार्श्वनाथ की हरित पद्मा की एक मूर्ति है तथा भगवान के चरण विराजमान है। इस तिरवाल के सम्बन्ध में बहुत प्राचीन काल से एक किम्बदन्ती प्रचलित है। यह कहा जाता है कि जब इस मन्दिर का निर्माण हो रहा था, उन दिनों एक रात को लोगों को ऐसा लगा कि मन्दिर के भीतर चिनाई का कोई काम हो रहा है। ईंटों के काटने छांटने की आवाज स्पष्ट सुनाई दे रही थी। लोगों के मन में दुःशंकाएँ होने लगी और उन्होंने उसी समय मन्दिर खोलकर देखा तो वहाँ कुछ नहीं था।

१. मुनि श्री चन्द्रकृत कहकोष संधि ६ कडवक भ, पृ. ६६

अलबत्ता एक आश्चर्य उनकी दृष्टि से छिपा नहीं रह सका। वहाँ एक नई दीवाल बन चुकी है, जो सन्ध्या तक नहीं थी और उसमें एक तिरवाल बना हुआ है। अवश्य ही किन्हीं अदृश्य हाथों द्वारा यह रचना हुई थी। तभी से लोगों ने इस वेदी के भगवान का नाम 'तिरवाल वाले बाबा' रख दिया। कहते हैं, जिनके अदृश्य हाथों ने मिनटों में एक दीवार खड़ी करके भगवान के लिए तिरवाल बना दिया, वे ही अपने आराध्य प्रभु के भक्तों की प्रभु के दरबार में हाजिर होने पर मनोकामना भी पूरी करते हैं।

जिस क्षेत्र पर देवी चमत्कार होते हैं, वहाँ कब, क्या, किसे, कितने चमत्कारों के दर्शन हुए, इस सब का कोई लेखा जोखा नहीं होता। यहाँ के कुएँ में भी बड़ा चमत्कार है। इसके जल से अनेकों रोग शान्त हो जाते हैं। प्राचीन काल में आसपास के राजा और नवाब इस कुएँ का जल मगाकर काम में लाते थे।

आचार्य जिन प्रभु सूरि ने 'विविध तीर्थ कल्प' के अहिच्छत्र कल्प में लिखा है—सख्यावती नगरी में भगवान पार्श्वनाथ कायोत्सर्ग धारण करके खड़े हुए थे। पूर्व निबद्ध वैर के कारण कमठासुर ने उन्हें नाना प्रकार के उपसर्ग किये। भगवान द्वारा विगत जन्म में किये हुए उपकार का स्मरण करके नागनाथ धरणेन्द्र अपनी अग्र-महिषी के साथ वहाँ आया और सहस्र फणमण्डल भगवान के ऊपर उठा लिया। तबसे इस नगरी का नाम 'अहिच्छत्र' पड़ गया। (मगध पर तीसरे नयरीए अहिच्छत्र नाम सजायें।) वहाँ बने हुए प्राकार में वह उरग रूपी धरणेन्द्र कुटिल गति से जहाँ से गया, तहाँ ईंटों की रचना करता गया। कहीं कहीं अब भी यहाँ प्राकार में ईंटों की वह रचना दिखाई पड़ती है। सघ ने वहाँ पार्श्वनाथ स्वामी का एक विनाल मन्दिर बनवाया।

वहाँ की उत्तरानिधाना वावड़ी के जल में स्नान करने से कुष्ठरोग शांत हो जाता है। इसी प्रकार वहाँ के कुएँ का जल भी बहुत आरोग्यप्रद बताया है। और वहाँ के उपवन में अनेको बहुमूल्य औषधियाँ उत्पन्न होती हैं—जैसे जवंती, नागदमनी, सहदेवी, अपराजिता, सकली,

स्वर्णशिला, मूशली, सोमली, रविभक्ता, निर्विषी, मोर शिखा, विशल्या आदि।

पुरातत्व एवं इतिहास—यह नगरी भारत की प्राचीनतम नगरियों में से एक है। भगवान ऋषभ देव ने जिन ५२ जनपदों की रचना की थी, उसमें एक पांचाल भी था। परवर्ती काल में पांचाल जनपद दो भागों में विभक्त हो गया—उत्तर पांचाल और दक्षिण पांचाल। पहले सम्पूर्ण पांचाल की ही राजधानी अहिच्छत्र थी। किन्तु विभाजन हो जाने पर उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र रही और दक्षिण पांचाल की कम्पिला। जैन साहित्य के इन दो भागों का प्रायः उल्लेख मिलता है। महाभारत काल में अहिच्छत्र के शासक द्रोण थे और कम्पिला के शासक द्रुपद थे। कहीं कहीं इस नगरी का नाम सख्यावती और अहिच्छत्रा भी मिलता है। कौशाम्बी के निकट पवोभीसा क्षेत्र की गुफा में स्थित एक शिलालेख में इसका नाम अधिचक्रा भी मिला है। वैदिक साहित्य में इन नामों के अतिरिक्त परिचक्रा, छत्रवती, और अहि-क्षेत्र भी मिलते हैं।

सम्भवतः विभिन्न कालों में ये विभिन्न नाम प्रचलित रहे। किन्तु दूसरी से लगभग छठवीं शताब्दी तक अहिच्छत्रा नाम अधिक प्रचलित रहा। यहाँ की खुदाई में दूसरी शताब्दी की एक यक्ष प्रतिमा मिली थी तथा गुप्त कालीन मिट्टी की मोहर मिली थी, उन दोनों पर ही अहिच्छत्रा नाम मिलता है।

'अहिच्छत्रा' नगर का यह नाम सर्प द्वारा छत्र लगाने के कारण पड़ा था, इसमें जैन, वैदिक और बौद्ध तीनों ही धर्म सहमत हैं। किन्तु इन धर्मों ने इस सम्बन्ध में जो कथानक दिये हैं, उनमें जैन कथानक अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है। इसके अनेक कारण हैं। भगवान पार्श्वनाथ ऐतिहासिक महापुरुष थे। उनका प्रभाव तत्कालीन सम्पूर्ण भारत में विशेषतः उत्तर और पूर्व भारत में अत्यधिक था। वैदिक साहित्य भी उनके प्रभाव से अछूता नहीं रहा। उनके प्रभाव के कारण वैदिक ऋषियों की चिन्तन धारा बदल गई और उनके चिन्तन की दिशा हिंसामूलक यज्ञों और क्रिया काण्डों से हटकर अध्यात्मवादी उपनिषदों की रचना की ओर मुड़ गई।

भगवान् पार्श्वनाथ सम्बन्धी उपर्युक्त घटना की गूज उस काल में ही दक्षिण भारत तक पहुँची। इस बात का समर्थन कल्लुर गुड्डु (जिला सीमीगा, मैसूर प्रान्त—सन् ११२६) में उपलब्ध उस शिलालेख से भी होता है, जिसमें गंग वंशावली दी गई है। उसमें उल्लेख है कि जब भगवान् पार्श्वनाथ को अहिच्छत्र में केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी, उस समय यहाँ प्रियबन्धु राजा राज्य करता था। वह राजा भगवान् पार्श्वनाथ के दर्शन करने अहिच्छत्र गया। १

१. हरिवंश केतु नेमीश्वर तीर्थ वत्तिसुत्तभिरं गङ्गकुलां ।
वर भानु पुट्टिं भा-। सुरतेजं विष्णुगुप्त नेम्ब नृपालम् ॥
आ—घराधिनाथं साम्राज्यपदवियं कैकोण्ड हिच्छत्र-पुरदोलु
सुखमिर्दु नेमितीर्थङ्कर परमदेव—निर्वाणकालदोलु
ऐन्द्रध्वजवेम्ब पूजेयं माडे देवेन्द्रनोसेदु
अनुपमदैरावतमं । मनोनुरागदोले विष्णुगुप्तङ्गितम् ।
जिन-पूजेयिन्दे मुक्तिम् । ननर्धयं पडेगु मेन्दोडुलिदुदु पिरिदे ॥
... ..

ब—अन्ता-प्रियबन्धु सुख-राज्यं गेय्युत्तमिरे तत्समयादोलु
पार्श्व भट्टारकगे केवलज्ञानोत्पत्ति यागे सौधमेंद्रं नन्दु
केवलपूजयं माडे प्रियबन्धु तानु भक्तिमि बन्दु पूजेयं
माडलातन भक्तिनिन्द्रं मेन्चि दिव्य वप्पदु-तोडगेगल
कोट्टु निम्मन्वय दोलु मिथ्यादृष्टि गळ्हागलोड अदृश्य-
ङ्गलक्कुमेन्दु पेळदु विजयपरक्कहिच्छत्रमेम्ब पेसरनिहु
दिविजेन्द्रं पोपुदु मित्तलु गङ्गन्वयं सम्पूर्ण-चन्द्रनन्ते
पेन्चिमे वत्तिसुत्तमिरे तदन्वयदोलु कम्प-महीपतिगे
पद्यनाभनेम्न मगं पुट्टि ।

—कल्लुरगुड्डु (शिभोगा परगना) में सिद्धेश्वर
मन्दिर की पूर्ब दिशा में पड़े हुए पाषाण पर लेख—

(शक १०४३—११२१ ई०)

—जैन शिलालेख संग्रहः भागः द्वितीयः ।

माणिकचन्द्र दिगम्बर जैनग्रन्थमाला समिति पृ. ४०८-९
अर्थ—जब नेमीश्वर का तीर्थ चल रहा था, उस
समय राजा विष्णुगुप्त का जन्म हुआ। वह राजा अहि-
च्छत्र पुर राज्य कर रहा था। उसी समय नेमि तीर्थङ्कर
का निर्वाण हुआ। उसने ऐन्द्रध्वज पूजा की। देवेन्द्र ने
उसे ऐरावत हाथी दिया।

पार्श्वनाथ सम्बन्धी घटना का एक सांस्कृतिक महत्व भी है। इस घटना ने जैन कला को विशेषतः जैन मूर्ति कला को बड़ा प्रभावित किया। पार्श्वनाथ की प्रतिमाओं का निर्माण इस घटना के कारण ही कुछ भिन्न शैली में होने लगा। चौबीस तीर्थङ्करों की प्रतिमायें अपने आसन, मुद्रा, ध्यान आदि दृष्टि से सभी एक समान होती हैं। उनकी पहचान और अन्तर उनके आसन पर अंकित किये गये चिन्ह द्वारा ही किया जा सकता है। किन्तु केवल पार्श्वनाथ की प्रतिमायें अन्य तीर्थङ्कर-प्रतिमाओं से एक बात में निराली हैं। अरहन्त दशा की प्रतिमा होते हुए भी उनके सिर पर सर्प-फण रहता है, जो हमें सदा ही कमठ द्वारा घोर उपसर्ग करने पर नागेन्द्र द्वारा पार्श्वनाथ के ऊपर सर्प-फण के छत्र तानने का स्मरण दिलाता है। इतना ही नहीं, अनेको पार्श्व प्रतिमायें इस घटना के स्मारक रूप में धरणेन्द्र-पद्मावति के साथ निर्मित होने लगी और इसीलिये जैन साहित्य में इस इन्द्र-दम्पति की ख्याति पार्श्वनाथ के भक्त यक्ष-यक्षिणी के रूप में विशेष उल्लेख योग्य हो गई।

यह घटना अपने रूप में असाधारण थी। अवश्य ही इस घटना के प्रत्यक्षदर्शी व्यक्ति भी वहाँ रहे होंगे। उनके मुख से जब सत्य घटना जन-जन के कानों में पहुँची होगी, तब उन सबका हृदय निष्काम वीतराग भगवान् पार्श्वनाथ के चरणों में श्रद्धा प्लावित हो उठा होगा और उनके दर्शनो के लिये वहाँ असंख्य जन-वाहिनी एकत्रित हुई होगी। और फिर कैसा अलौकिक संयोग कि तभी भगवान् का केवल ज्ञान महोत्सव हुआ। उसे सुनकर प्रथम उपदेश को ही सुनकर वे भगवान् के उपासक बन गये और जब

..... उनके वंश में प्रियबन्धु हुआ। जिस समय वह शान्ति से राज्य कर रहा था, उस समय पार्श्व भट्टारक को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। इसी अवसर पर स्वयं प्रियबन्धु ने आकर केवलज्ञान की पूजा की। उसकी श्रद्धा से प्रसन्न होकर इन्द्र ने पाँच आभरण उसे दिये। और कहा—अगर तुम्हारे वंश में कोई मिथ्या मत का मानने वाला उत्पन्न होगा तो ये आभरण लुप्त हो जायेंगे। यों कह कर और अहिच्छत्र का विजयपुर नाम रखकर इन्द्र चला गया।

भगवान का वहाँ से विहार हो गया, तब सबने मिलकर प्रभु की स्मृति सुरक्षित रखने के लिये वहाँ एक विशाल मन्दिर का निर्माण कराया।

यहाँ क्षेत्र से दो मील दूर एक प्राचीन किला है, जिसे महाभारत कालीन कहा जाता है। इस किले के निकट ही कटारीखेडा नामक टीले से एक प्राचीन स्तम्भ मिला है। उस स्तम्भ पर एक लेख है। इसमें महाचार्य इन्द्रनन्दि के शिष्य महादरि के द्वारा पार्श्वपति (पार्श्वनाथ) के मन्दिर में दान देने का उल्लेख है। यह लेख पार्श्वनाथ-मन्दिर के निकट ही मिला है। इस टीले और किले से कई जैन मूर्तियाँ मिली हैं और कई मूर्तियों को ग्रामीण लोग ग्राम देवता मानकर अब भी पूजते हैं। संभव है, वर्तमान में जो पार्श्वनाथ-मन्दिर है, यह नवीन मन्दिर हो और जिस स्थान पर किले और टीले से प्राचीन जैन मूर्तियाँ निकली हैं, वहाँ प्राचीन मन्दिर रहा हो। यदि यहाँ के टीलो और खण्डहरो की जो मीलों में फैले हुए हैं खुदाई की जाये, तो गहराई में पार्श्वनाथ कालीन जैन मन्दिर के चिन्ह और मूर्तियाँ मिल जायें।

यह मन्दिर गुप्त काल तक तो अवश्य था। शिला लेखों आदि से इसकी पुष्टि होती है। गुप्त काल के पश्चादवर्ती इतिहास में इसके सम्बन्ध में कोई सूत्र उपलब्ध नहीं होता। किन्तु यह तो असदिग्ध सत्य है कि परवर्ती काल में भी शताब्दियों तक यह स्थान जैन धर्म का एक विशाल केन्द्र रहा। इस काल में यहाँ पाषाण की अनेकों जैन प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। ऐसी अनेकों प्रतिमाये, स्तूपों के अवशेष, मिट्टी की मूर्तियाँ और कला की अन्य वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। यहाँ यह उल्लेख योग्य है कि ये सभी प्रतिमाये दिगम्बर परम्परा की हैं। यहाँ श्वेताम्बर परम्परा की एक भी प्रतिमा न मिलने का कारण यही प्रतीत होता है कि यहाँ पार्श्वनाथ-काल में दिगम्बर परम्परा की ही मान्यता प्रभाव और प्रचलन रहा है।

प्राचीन अहिच्छत्र एक विशाल नगरी थी उसके अन्तर्भावशेष आज रामनगर के चारों ओर फलांगो में बिखरे पड़े हैं। चीनी यात्री ह्वेन्सांग के अनुसार इस नगर का विस्तार उस समय तीन मील में था। तथा यहाँ अनेकों स्तूप भी बने हुए थे।

एक राज्य के रूप में इसका अस्तित्व गुप्त-शासन काल में समाप्त हो गया। उससे पूर्व एक राज्य की राजधानी के रूप में इसकी ख्याति रही। यहाँ अनेक मित्रवशीय राजाओं के सिक्के मिले हैं। इनमें कई राजा जैनधर्मानुयायी थे।

किला—यहाँ मीलों में प्राचीन खण्डहर बिखरे पड़े हैं। यहां दो टीले विशेष उल्लेखनीय हैं। एक टीले का नाम ऐचुली-उत्तरिणी है और दूसरा टीला ऐचुभा कहलाता है। ऐचुभा टीले पर एक विशाल और ऊँची कुर्मी पर भूरे बलुई पाषाण का सात फुट ऊँचा एक पाषाण स्तम्भ है। नीचे का भाग पीने तीन फुट तक चौकोर है। फिर पीने तीन फुट छह पहलू है। इसके ऊपर का भाग गोल है। कहते हैं, इसके ऊपर के दो भाग गिर गये हैं। इसका ऊपर का भाग देखने से ऐसा लगता है कि यह ग्रवश्य ही टूट कर गिरा होगा। अधिक सभावना ऐसी लगती है कि यह तोड़ा गया हो। ऊपर का भग्न भाग नीचे पड़ा हुआ है। इसकी आकृति तथा उस टीले की स्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि यह मानस्तम्भ रहा होगा। जन साधारण में वहाँ ऐसी भी किम्बदन्ती सुनाई दी कि यहाँ प्राचीन काल में कोई सहस्रकूट चैत्यालय था। इस किम्बदन्ती में हमें निश्चय ही कुछ तथ्य दिखाई पड़ता है। यहाँ से अनेक जैन मूर्तियाँ खुदाई में उपलब्ध हुई हैं। संभवतः यहाँ प्राचीन काल में अनेक जिन मन्दिर और स्तूप रहे होंगे।

कुछ लोग अज्ञानतावश इस पाषाण-स्तम्भ को 'भीम की गदा' कहते हैं। इस प्रकार के अति प्राचीन पाषाण स्तम्भों के साथ भीम का सम्बन्ध जोड़ने की एक परम्परा सी पड़ गई है। देवरिया जिले के ककुभ ग्राम (वर्तमान कहाऊँ गाँव) में गुप्त काल का एक मान स्तम्भ पाषाण निर्मित है। उसके अधोभाग में भगवान पार्श्वनाथ की कार्यात्मसर्गासन प्रतिमा है और शीर्षभाग पर चार तीर्थंकर प्रतिमाएँ विराजमान हैं। मध्य भाग में ब्राह्मी लिपि में एक शिलालेख है, जिसमें इस मानस्तम्भ की प्रतिष्ठा का उल्लेख है। इतना होने पर भी लोग इसे 'भीम की लाट' कहते हैं।

इसी प्रकार ऐचुभा टीले के इस पाषाण-स्तम्भ को कुछ लोग 'भीम की गदा' कहते सुने जाते हैं। इससे

सम्बन्धित एक कहानी भी ग्रामीण जनता में प्रचलित है कि अपने अज्ञातवास में पाण्डवों ने इस नगर के एक ब्राह्मण के घर वास किया था। उस समय भीम ने अपनी यह गदा यहां स्थापित कर दी थी। अस्तु।

यहाँ एक जैनमूर्ति का सिर भी मिला था जो क्षेत्र के फाटक के बाहर विद्यमान है। पहले इस टीले के नीचे शिव गंगा नदी बहती थी। अब तो उसकी रेखा मात्र अब शिष्ट है।

यह परकोटा तीन मील के घेरे में था। कहा जाता है कि अपने वैभव-काल में अहिच्छत्र नगर ४८ मील की परिधि में था। आज के आवला, वजीरगज, गृहदुइया जहाँ अनेकों प्राचीन मूर्तियाँ और सिक्के प्राप्त हुए हैं पहले इसी नगर में सम्मिलित थे। इस नगर का मुख्य दरवाजा पश्चिम में वर्तमान अपनी बताया जाता है।

यहाँ के भग्नावशेषों में १८ इंच तक की इंटे मिलती है।

क्षेत्र-दर्शन—मडक से कुछ फुट की ऊँची चौकी पर क्षेत्र का मुख्य द्वार है। फाटक के बाईं ओर बाहर उस भग्न मूर्ति के सिर के दर्शन होते हैं जो किले से लाकर यहाँ दीवार में एक आले में रख दिया गया है। फाटक में प्रवेश करने पर चारों ओर विशाल धर्मशाला है। बीच में एक पक्का कुआ है।

बाईं ओर मन्दिर का द्वार है। द्वार में प्रवेश करते ही क्षेत्र का कार्यालय मिलता है। फिर खूब लंबा चौड़ा सहन है। सामने बाईं ओर एक छोटे से गभंगृह में वेदी है, जिसमें 'तिखाल वाले वावा' (भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा) विराजमान है। पार्श्वनाथ की यह मातृशय प्रतिमा हरितपद्मा की पद्मासन मुद्रा में विराजमान है। इसकी अवगाहना १॥ इंच है। प्रतिमा अत्यन्त सौम्य और प्रभावक है। इसके दर्शन करते ही मन में भक्ति की तरंगें स्वतः प्रस्फुरित होने लगती हैं। अनेक भक्त जन अपनी मनोकामनायें लेकर यहां आते हैं और अपने विश्वास के अनुरूप सफल मनोरथ होकर लौटते हैं। इस प्रतिमा के पाद पीठ पर कोई लेख नहीं है। सप का लालन अवश्य अंकित है और सिर पर फण-मण्डल है।

वेदी के नीचे सामने वाले भाग में सिंह ग्रामने-सामने मुख किये हुए बैठे हैं।

प्रतिमा के आगे चरण विराजमान है। चरणों का आकार १ फुट × ५॥ इंच है। चरणों पर निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है—

‘श्री मूलसङ्घे नन्द्याम्नाये बलात्कार गणे कुन्व कुदा-चार्यन्वय दिगम्बरात्मनाये अहिच्छत्रनगरे श्री पार्श्वजिन चरणा. प्रतिष्ठापिता. श्रीरस्तु।

प्रतिमा का निर्माण-काल १०११ वीं शताब्दी अनुमान किया जाता है।

इस वेदी के ऊपर लघु शिखर है।

इस वेदी से आगे दाईं ओर दूसरे कमरे में वेदी में मूलनायक पार्श्वनाथ की श्याम वर्ण पद्मासन १ फुट १० इंच अवगाहना की अत्यन्त मनोहर प्रतिमा है। प्रतिमा के सिंह पर सप्त फणावलि का मण्डल है। भामण्डल के स्थान पर कमल की सात लम्बायमान पत्तियाँ और उनके ऊपर निकली हुई बाईं ओर को भुकी पुष्प कलिका है। पत्तियों और कली का अकन जितना कला पूर्ण है, उतना ही अलकरणमय है। इससे मूर्ति की सज्जा-गत विशेषता में अभिवृद्धि ही हुई। अलकरण का यह रूप अद्भुत और अदृष्टपूर्व है।

मूर्ति के नीचे मिहासन पीठ के सामने वाले भाग में २४ तीर्थंकर की प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं।

इस प्रतिमा के बाईं ओर श्वेत पाषाण की १० इंच ऊँची पद्मासन पार्श्वनाथ प्रतिमा है।

इसमें आगे दाईं ओर एक गभंगृह में दो देवियाँ हैं। जिनमें आधुनिक प्रतिमायें विराजमान हैं। उनमें विशेष उल्लेख योग्य कोई प्रतिमा नहीं है।

अन्तिम पाँचवी वेदी में तीन प्रतिमायें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लगभग २० वर्ष पहले वूदी (राजस्थान) में भूगर्भ से कुछ प्रतिमायें प्राप्त हुई थीं। उनमें से तीन प्रतिमायें लाकर यहाँ विराजमान कर दी गई थीं। इनमें तीनों का रंग हल्का कथई है और तीनों शिवपट्ट पर उत्कीर्ण हैं। बायें से दाईं ओर को प्रथम शिनाफलक का आकार ३॥ फुट है। बीच में फणालंकृत पार्श्वनाथ तीर्थ-

कर की खड्गासन प्रतिमा है। इसके परिकर में नीचे एक यक्ष और दो यक्षी हैं जो चवंरवाहक हैं। उनके ऊपर कायोत्सर्ग मुद्रा में १० इंच आकार की एक तीर्थंकर प्रतिमा है। तथा उसके ऊपर ७ इंच अवगाहना की एक पद्मासन प्रतिमा अंकित है। इसी प्रकार दाईं और भी दो प्रतिमायें हैं। यह शिलाफलक पंच बालयति का कहलाता है। पाषाण बलुआई है लेख या लांछन नहीं है।

मध्य में हल्के कथई रंग की पद्मासन पार्श्वनाथ प्रतिमा है ऊपर सर्पफण है। अवगाहना २½ फुट है। सिंहासन में सामने दो सिंह जिह्वा निकाले हुए बैठे हैं। जो कर्म शत्रुओं के भयानक रूप के प्रतीक हैं। किन्तु चरण तले बैठने का अभिप्राय है कि तीर्थङ्कर ने अपने भयानक कर्म शत्रुओं को चरणों के नीचे दबा कर कुचल दिया है।

यक्षी पद्मावती एक बच्चे को छाती से चिपटाए हुए है, जो उस देवी के अपार वात्सल्य का सूचक है। भगवान के सिरो पार्श्व में दोनों ओर गज उत्कीर्ण हैं, जो गज लक्ष्मी के प्रतीक हैं। उनसे कुछ ऊपर इन्द्र हाथों में स्वर्ण कलश लिए क्षीरसागर के पावन जल से भगवान का अभिषेक करते प्रतीत होते हैं। फण के ऊपर त्रिछत्र है। उसके दोनों ओर शीर्ष कोने पर देव कुलिकायें बनी हुई हैं। अलंकरण साधारण ही है किन्तु इसमें कला की जो अभिव्यंजना हुई है, वह दर्शक को वरवस अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।

अन्तिम प्रतिमा खड्गासन है। अवगाहना ३॥ फुट है। अधोभाग में दोनों ओर इन्द्र और इन्द्राणी चमर लिए हुए हैं। मध्य में यक्ष-यक्षी विनत मुद्रा में बैठे हैं। मूर्ति के सिरे के दोनों ओर विमानचारी देव। एक विमान में देव और देवी है। दूसरे में एक देव है। छत्र के एक ओर हाथी का अंकन है। भामण्डल और छत्रत्रयी है।

इन तीनों प्रतिमाओं का निर्माण उस युग में किया गया लगता है, जब प्रतिमाओं में अलंकरण और सज्जा का विकास प्रारम्भिक दश में था। यह भी उल्लेख योग्य है कि इन प्रतिमाओं पर श्रीवत्स लांछन भी लघु आकार

में है। पाद पीठ पर लेख या लांछन भी नहीं है। इस प्रकार की शैली गुप्त काल से निकट गुप्तोत्तर काल में प्राप्त होती है। अर्थात् चौथी-पाँचवीं शताब्दी से आठवीं-नौमी शताब्दी तक मूर्ति-कला की शैली उपर्युक्त प्रकार की रही है। इस आधार पर इन मूर्तियों का अनुमानित निर्माण काल यही माना जा सकता है।

धर्मशाला के मुख्य द्वार के सामने का मैदान में भी सड़क के दूसरी ओर मन्दिर का है। इस सड़क पर कुछ आगे चलने पर वह विशाल पक्का कुआँ या वापिका है, जिसके जल की ख्याति पूर्व काल में दूर दूर तक थी और जिसकी प्रशंसा आचार्य जिनप्रभ सूरि ने भी—‘विविध तीर्थ कल्प’ में चौदहवीं शताब्दी में की थी।

मन्दिर के निकट ही रामनगर गाँव है। गाँव में भी एक शिखरबन्द मन्दिर है। इस मन्दिर में फणफण्डित भगवान पार्श्वनाथ की श्याम वर्ण पद्मासन प्रतिमा है। इसकी अवगाहना ४ फुट है। प्रतिमा अत्यन्त मनोज्ञ है। फणावलि में ‘अन्यथानुपपन्नत्वं’ श्लोक भी लिखा हुआ है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा वीर सं० २४८१ वंशाख शुक्ला ७ गुरुवार को श्री महावीर में हुई थी।

मूलनायक के अतिरिक्त २ पाषाण की और २ धातु की प्रतिमायें हैं।

पहले इस मन्दिर के स्थान पर पद्मावती पुरवाल पंचायत की ओर ला० हीरालाल जी सर्राफ एटा तथा पं० चंपालाल जी पेंठ निवासी का बनवाया हुआ मन्दिर था। फिर उसके स्थान पर समस्त दिबम्बर समाज की ओर से यह मन्दिर बनाया गया।

मन्दिर के बाहर उत्तर की ओर आचार्य पात्रकेशरी के चरण बने हुए हैं। चरणों की लम्बाई ११” है।

ऐसा विश्वास है कि आचार्य पात्रकेशरी इसी स्थान पर बने हुए मन्दिर में देवी पद्मावती द्वारा प्रतिबोध पाकर जैनधर्म में दीक्षित हुए थे।

वार्षिक मेला—क्षेत्र का वार्षिक मेला चैत्र कृष्ण अष्टमी से चैत्र कृष्ण त्रयोदशी तक होता है।

साहित्य-समीक्षा

१. तीर्थंकर वर्धमान—ले. मुनि श्री विद्यानन्द जी, प्रकाशक—श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति ४८, शीतला माता बाजार, इन्दौर-२ (म. प्र., मूल्य तीन रु० ।

प्रस्तुत पुस्तक विद्वान् व कुशल वक्ता श्री मुनि विद्यानन्द जी के द्वारा गम्भीर अध्ययन व अनुसन्धानपूर्वक लिखी गई है। पुस्तक में भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित जिस महत्त्वपूर्ण सामग्री को उपस्थित किया गया है वह मननीय है, उससे कुछ नवीन तथ्य भी प्रकाश में आये हैं। वैदिक साहित्य—जैसे पञ्चपुराण, भागवत व महाभारत आदि—में जो तीर्थङ्करों के नामोल्लेख पूर्वक उनके चरित्र का चित्रण एवं तपश्चरण आदि का वर्णन किया गया है उसका संकलन भी कुछ प्रस्तुत पुस्तक में हुआ है। उससे जैन धर्म की प्राचीनता का बोध होता है। पटना पुरातत्त्व संग्रहालय से प्राप्त तीर्थङ्कर की प्रतिमा के चित्र से जैन धर्म की ऐतिहासिक प्राचीनता सुनिश्चित है। सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता श्री डा० वामुदेव-शरण अग्रवाल के मतानुसार वह प्रतिमा मौर्यकालीन है। इसके अतिरिक्त महावीर कालीन भारत के मानचित्र, जन्मकुण्डली, मौर मास से कालगणना, तीर्थङ्कर महावीर और महात्माबुद्ध के तुलनात्मक अध्ययन में उपयोगी तालिका तथा अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभगी आदि से सम्बद्ध सुबोध निबन्धों के समावेश से पुस्तक का महत्त्व बढ़ गया है। जीवन्त स्वामी की प्रतिमा का चित्र भी एक नवीन विशेषता का सूचक है। इतनी उपयोगी पुस्तक के प्रकाशन में जो प्रूफ संशोधन सम्बन्धी अधिक अशुद्धियाँ रह गई हैं वे खटकती हैं। प्रमाणरूप में उद्धृत किये गये श्लोक एवं गाथाएँ आदि प्रायः सब अशुद्ध हैं। पुस्तक की छपाई आदि और सब उत्तम है। पूज्य मुनि विद्यानन्द जी की यह कृति स्तुत्य है। वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति ने उसे प्रकाशित करके सराहनीय कार्य किया है।

२. नारी आलोक की नौ किरणे—लेखक मिश्रीलाल जैन एडवोकेट गुना, प्रकाशक उपर्युक्त, मूल्य ३ रु० ।

प्रस्तुत पुस्तक में मुण्डिका, सीता, राजुल, चेलना, प्रभावती, अनन्तमनी, काललदेवी, नीली और मनोवती इन नौ महिलाओं के जीवन सम्बन्धी किसी विशिष्ट प्रसंग को लेकर रोचक कथामें लिखी गई है। वीर चामुण्डराय की माता काललदेवी को छोड़कर शेष सभी महिलायें पौराणिक हैं। यद्यपि उन कथाओं का सम्बन्ध पुराणों से है, फिर भी लेखक ने उन्हें कुछ नया रूप दिया है, इससे वे सभी कथाएँ रोचक बन गई हैं। बीच बीच में कुछ चित्र भी दे दिये गये हैं। सज्जा व छपाई भी ठीक हुई है। इन कथाओं के लेखक व प्रकाशक धन्यवादार्ह हैं।

३. भारतीय संस्कृति और श्रमण परम्परा—लेखक डा. हरीन्द्रभूषण जैन, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन, प्रकाशक वीर निर्वाण भारती मेरठ, मूल्य ७५ पैसे ।

इस छोटी सी पुस्तिका में लेखक ने श्रमण की निरुक्ति को प्रगट करते हुए बतलाया है—‘श्रममानयति पञ्चेन्द्रियाणि मनश्चेति श्रमणः, श्राम्यति संसारविषयेषु खिन्नो भवति तपस्यति वा स श्रमणः’ अर्थात् जो इन्द्रियों व मन को श्रान्त करता है, अथवा संसार के विषयों में सेद को प्राप्त होता है, अथवा तपश्चरण करता है, उसे श्रमण कहा जाता है। प्राकृत ‘ममण’ शब्द का वह संस्कृत रूप है। समण का रूप जैसे ‘श्रमण’ होता है वैसे ही उसका संस्कृत में शमन और समन भी होता है। शमन का अर्थ है कषायों को शान्त करने वाला और समन का अर्थ है समस्त प्राणियों में समता भाव को रखने वाला। ये सब साधु की ही विशेषतायें हैं। निरुक्ति के पश्चात् यहाँ प्राकृत आदि १० भाषाओं में श्रमण के रूपों के संग्रह के साथ वैदिक व प्राकृत आदि के आश्रय से उसके पर्याय-वाची शब्दों का भी संकलन किया गया है। स्थानांग में श्रमण को सर्प और पर्वत आदि की उपमा दी गई है उनका विश्लेषण करते हुए श्रमण के भेद व परम्परा आदि का अच्छा विवेचन किया गया है। इस प्रकार विद्वान् लेखक ने श्रमण के सम्बन्ध में सप्रमाण सुन्दर विचार किया है। पुस्तक पठनीय व संग्राह्य है। इस कृति

के लेखक व प्रकाशक धन्यवाद के पात्र है।

४. तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर—लेखक डा. जय-किशन प्रसाद खण्डेलवाल, प्रकाशक पूर्वोक्त, मूल्य १ रु. ५० पैसे।

प्रस्तुत पुस्तक में सर्वप्रथम वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ से रामधारी सिंह दिनकर विरचित 'वैशाली' शीर्षक कविता उद्धृत की गई है। पश्चात् तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर के नाम, जाति एवं गोत्र आदि की निर्देशक एक उपयोगी तालिका दे दी गई है। आगे महावीर के पंच-कल्याण विषयक एक संस्कृत कविता है। पश्चात् महावीर का जो विशेष परिचय आदि दिया गया है वह सब प्रायः पूज्य मुनि विद्यानन्द विरचित 'तीर्थङ्कर वर्धमान के अन्तर्गत है। यहां प्रसिद्ध विद्वान् राहुल सांकृत्यायन, डा. राजबली पाण्डेय और डा. योगेन्द्र मिश्र के अभिमतानुसार सठियांव फाजिलनगर—पावा को भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि माना गया है। मुख पृष्ठ पर जो जीवन्त स्वामी की प्रतिमा और दीक्षित महावीर का तिरंगा चित्र दिया गया है वह विशेष आकर्षक है। इस प्रकार पूर्वोक्त 'तीर्थङ्कर वर्धमान' से इसमें कुछ विशेषतायें भी हैं। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक और प्रकाशक को साधुवाद है। पुस्तक का मुद्रण और साज-सज्जा भी सराहनीय है।

५. जैन शासन का ध्वज—सम्पादक डा. जयकिशन-प्रसाद खण्डेलवाल एम. ए., एम. एल. बी, पी-एच. डी., प्रकाशक वीर निर्वाण भारती मेरठ। मूल्य एक रुपया।

समस्त जैन समाज में अभी तक किसी एक रूप में भण्डे का प्रचलन नहीं था, वह अनेक रूपों में देखा जाता था। श्री मुनि विद्यानन्द जी, मुनि कान्तिसागर जी, मुनि सुशीलकुमार जी और मुनि महेन्द्रकुमार जी इन चारों सम्प्रदायों के सन्तो ने परस्पर विचार विनिमय के साथ भण्डे की एकरूपता का निर्धारण किया है। यह भण्डा पांच

रंगों की पांच पट्टियों से निर्मित है। सबके मध्य में सफेद, उसके ऊपर पीली और उसके ऊपर लाल तथा नीचे हरी और उसके नीचे नीली पट्टियां हैं। ये पांच रंग पांच परमेष्ठियों के बोधक हैं—अरहंत का धवल, सिद्ध का लाल, आचार्य का पीला, उपाध्याय का श्याम और साधु का आकाश के समान नीला रंग माना गया है। इनमें मध्यगत पट्टी पर बीच में स्वस्तिक का चिह्न अंकित है। इस स्वस्तिक के ऊपर तीन बिन्दु और उसके ऊपर अर्ध चन्द्र है। चार कोणों वाला वह स्वास्तिक चार गतियों का सूचक है। ऊपर के तीन बिन्दुओं से रत्नत्रय अभिप्रेत है। तथा अर्ध चन्द्र से ईषत्प्राग्भार नामक सिद्धक्षेत्र अभिप्रेत है, जो अर्ध चन्द्र या उत्तान धवल छत्र के समान है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि चतुर्गतिमय संसार में परिभ्रमण करने वाला मुमुक्षु जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यरूप रत्नत्रय का आश्रय लेकर उस संसार से मुक्ति पा लेता है। इस प्रकार इस भण्डे का उक्त स्वरूप बहुत विचार-विमर्श के साथ निश्चित किया गया है जो दिगम्बर, मूर्तिपूजक श्वेताम्बर, स्थानकवासी और तेरापथी इन चारों ही जैन सम्प्रदायों के अनुकूल है तथा उन सबमें एकता को स्थापित करने वाला है।

प्रस्तुत पुस्तिका में इसी भण्डे के स्वरूप को दिखलाते हुए उसके पहारने आदि का भी विवेचन किया गया है। प्रसंगवश यहां धर्मचक्र का निर्देश करते हुए अन्यत्र उल्लिखित आदि तीर्थङ्कर ऋषभ देव और भरत चक्रवर्ती के नाम पर प्रसिद्ध भारत की भी चर्चा की गई है। इस प्रकार पुस्तक उपयोगी व पठनीय है। प्रत्येक जैन गृह में उस भण्डे के साथ यह पुस्तक रहना चाहिए। ऐसी उत्तम पुस्तक के लेखक और प्रकाशक का आभार मानना चाहिए।

—बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री

विषय-सूची

क्र०	विषय	पृ०
१.	ऋषभ स्तोत्रम्	१४५
२.	कलकत्ते का कार्तिक महोत्सव— भंवरलाल नाहटा	१४६
३.	अपभ्रंश सुलोचना चरित्र के कर्ता देवसेन —डा० ज्योति प्रसाद जैन लखनऊ	१५२
४.	कारी तलाई की अद्वितीय भगवान ऋषभनाथ की प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव	१५४
५.	धर्म और राज संरक्षण—तेजपाल सिंह	१५५
६.	णमोकार मन्त्र का आरम्भिक रूप क्या है ? —श्री प्रताप चन्द्र जैन आगरा	१५८
७.	कषायप्राभृत चूर्ण और त्रिलोक-प्रज्ञप्ति सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण और नई विचारणा—श्री अग्रचन्द्र नाहटा	१५९
८.	जैनधर्म का नीतिवाद—डा० राजबली जी पाण्डेय एम. ए., डी. लिट्	१६१
९.	सुकवि खेता और उनकी रचनायें— श्री अग्रचन्द्र नाहटा	१६५
१०.	जैन तत्त्व ज्ञान—प० सुखलाल जी संघवी	१६५
११.	कविवर वादीभसिंह सूरि और उनकी बारह भावनायें—प्रकाश चन्द्र जैन	१७६
१२.	राखी—श्री विष्णु प्रभाकर	१८२
१३.	चाणक्य के धर्म पर कथित शोध नई नहीं है —रमाकान्त जैन बी. ए., साहित्यरत्न	१८६
१४.	अंजना-पवनजय—भवरलाल सेठी	१८७
१५.	उत्थान-पतन—श्री ठाकुर	१८६
१६.	अहिच्छत्र—श्री बलिभद्र जैन	१८९
१७.	साहित्य-समीक्षा—बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	२०७

वीरसेवामन्दिर का अभिनव प्रकाशन

जैन लक्षणावली भाग दूसरा

चिर प्रतीक्षित जैन लक्षणावली (जैन पारिभाषिक शब्दकोष) का द्वितीय भाग भी छप चुका है। इसमें लगभग ४०० जैन ग्रन्थों से वर्णानुक्रम के अनुसार लक्षणों का संकलन किया गया है। लक्षणों के संकलन में ग्रन्थकारों के कालक्रम को मुख्यता दी गई है। एक शब्द के अन्तर्गत जितने ग्रन्थों के लक्षण संगृहीत हैं उनमें से प्रायः एक प्राचीनतम ग्रन्थ के अनुसार प्रत्येक शब्द के अन्त में हिन्दी अनुवाद भी दे दिया गया है। जहाँ विवक्षित लक्षण में कुछ भेद या हीनाधिकता दिखी है वहाँ उन ग्रन्थों के निर्देश के साथ २-४ ग्रन्थों के आश्रय से भी अनुवाद किया गया है। इस भाग में केवल 'क से ए' तक लक्षणों का संकलन किया जा सका है। कुछ थोड़े ही समय में इसका दूसरा भाग भी प्रगट हो रहा है, वह लगभग तैयार हो चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ संशोधकों के लिए तो विशेष उपयोगी है ही, साथ ही हिन्दी अनुवाद के रहने से वह सर्वसाधारण के लिए भी उपयोगी है। द्वितीय भाग बड़े आकार में ४१८ + ८ + २२ पृष्ठों का है। कागज पुष्ट व जिल्द कपड़े की मजबूत है। मूल्य २५-०० ६० है। यह प्रत्येक यूनीवर्सिटी, सार्वजनिक पुस्तकालय एवं मन्दिरों में संग्रहणीय है। ऐसे ग्रन्थ बार बार नहीं छप सकते। समाप्त हो जाने पर फिर मिलना अशक्य हो जाता है।

प्राप्तिस्थान

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज,
दिल्ली-६



अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक
मण्डल उत्तरदायी नहीं है।

—व्यवस्थापक

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द।	१५-००
प्राप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द।	८-००
स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित।	२-००
स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित।	१-५०
अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पद्याध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित	१-५०
युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द।	१-२५
श्रीपुरपादवंनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित।	७५
शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १६वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित	७५
समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द।	३-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द।	४-००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	४-००
अनित्यभावना : आ० पद्मनदी की महत्त्व की रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित	२५
तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय) — मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त।	२५
अव्यवबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ।	१-२५
महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा बाहुबली पूजा प्रत्येक का मूल्य	१९
अध्यात्मरहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित।	१-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं० पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द।	१२-००
न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०।	७-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द	५-००
कसायपाहुडमुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिमूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द।	२०-००
Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ० पक्की जिल्द	६-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया	५-००

प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

5213
5
द्वै मासिक शोध पत्रिका

द्वै मासिक शोध पत्रिका

अनेकान्त

सम्पादक-मण्डल

—० आ. ने. उपाध्ये

० प्रेमसागर जैन

।शपाल जैन

।काशचन्द्र जैन

।बन्ध सम्पादक

।मप्रकाश जैन

(सचिव)



वर्ष २६

किरण ६

फरवरी १९७४

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली

विषय-सूची

क्र०	विषय	पृ०
१.	सिद्ध स्तुति	२०६
२.	वर्तना की सजना . एक अध्ययन —सन्मतकुमार जैन	२१०
३.	महावीर निर्वाण सवत् —मुनि विद्यानन्द जी	२११
४.	स्याद्वाद . एक अध्ययन —रामजी एम. ए.	२१३
५.	कालिंग जिन —श्रीठाकुर	२१६
६.	अनेकान्त के स्वामित्व तथा अन्य व्योरे के विषय मे	२१८
७.	शील की प्रतिमूर्ति अनन्तमती —श्री मिश्रीलाल नैन	२१९
८.	वीतराग की पूजा क्यों ? —आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार	२२२
९.	दीवान रूपकिशोर जैन की सार्वजनिक साहित्य सेवा —अगरचन्द ताहटा	२२४
१०.	तत्त्व क्या है ? —आचार्य तुलसी	२२६
११.	जैन मतानुसार तप की व्याख्या —रिषभदास राँका	२२९
१२.	पुण्य तीर्थ पपौरा (खण्ड काव्य) —सुधेश	२३३
१३.	खजुराहो की अद्वितीय प्रतिमाये —शिवकुमार नामदेव	२३५
१४.	जैन धर्म ससार की दृष्टि मे	२३७
१५.	साहित्य-समीक्षा —परमानन्द शास्त्री, प्रकाश-चन्द्र, बालचन्द्र सि. शास्त्री	२३९

वीरसेवामन्दिर का अभिनव प्रकाशन

जैन लक्षणावली भाग दूसरा

चिर प्रतीक्षित जैन लक्षणावली (जैन पारिभाषिक शब्दकोश) का द्वितीय भाग भी छप चुका है। इसमें लगभग ४०० जैन ग्रन्थों से वर्णानुक्रम के अनुसार लक्षणों का संकलन किया गया है। लक्षणों के संकलन में ग्रन्थकारों के कालक्रम को मुस्तया दी गई है। एक शब्द के अन्तर्गत जितने ग्रन्थों के लक्षण संगृहीत हैं उनमें से प्रायः एक प्राचीनतम ग्रन्थ के अनुसार प्रत्येक शब्द के अन्त में हिन्दी अनुवाद भी दे दिया गया है। जहाँ विवक्षित लक्षण में कुछ भेद या होनाधिकता दिखी है वहाँ उन ग्रन्थों के निर्देश के साथ २-४ ग्रन्थों के आश्रय से भी अनुवाद किया गया है। इस भाग में केवल 'क से प' तक लक्षणों का संकलन किया जा सका है। कुछ थोड़े ही समय में इसका तीसरा भाग भी प्रगट हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ संशोधकों के लिए तो विशेष उपयोगी है ही, साथ ही हिन्दी अनुवाद के रहने से वह सर्वसाधारण के लिए भी उपयोगी है। द्वितीय भाग बड़े आकार में ४१८+८+२२ पृष्ठों का है। कागज पुष्ट व जिल्द कपड़े की मजबूत है। मूल्य २५-०० रु० है। यह प्रत्येक यूनीवर्सिटी, सार्वजनिक पुस्तकालय एवं मन्दिरों में संग्रहणीय है। ऐसे ग्रन्थ बार बार नहीं छप सकते। समाप्त हो जाने पर फिर मिलना अशक्य हो जाता है।

प्राप्तिस्थान

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज,
दिल्ली-६

✽

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक
मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —व्यवस्थापक

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमर्थनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २६ }
किरण ६ }

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर-निर्वाण संवत् २४६६, वि० सं० २०३०

{ फरवरी
१९७४

सिद्धस्तुतिः

ः क्षमत्वादणुदक्षिनोऽवधिदशः पश्यन्ति नो यान् परे,
यत्संविन्महिमस्थितं त्रिभुवनं स्वमस्थं भमेकं यथा ।
सिद्धानामहमप्रमेयमहसां तेषां लघुमानसो,
मूढात्मा किमु वच्मि तत्र यदि वा भक्त्या महत्या वशः ॥
निःशेषामरशेखराश्रितमणिश्रेण्याचिताङ्घ्रिद्वया,
देवास्तेऽपि जिना यदुन्नतपदप्राप्त्यं यतन्ते तराम् ।
सर्वेषामुपरि प्रवृद्धपरमज्ञानादिभिः क्षायिकैः,
युक्ता न व्यभिचारिभिः प्रतिदिनं सिद्धान् नमामो वयम् ॥

सूक्ष्म होने से जिन सिद्धों को परमाणुदर्शी दूसरे अवधिज्ञानी भी नहीं देख पाते हैं तथा जिनके ज्ञान में स्थित तीनों लोक आकाश में स्थित एक नक्षत्र के समान स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं उन अपरिमित तेज के धारक सिद्धों का वर्णन क्या मुझ जैसा मूर्ख व हीन मनुष्य कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता । फिर भी जो मैं उनका कुछ वर्णन यहां कर रहा हूं वह अतिशय भक्ति के वश होकर ही कर रहा हूं । जिनके दोनों चरण समस्त देवों के मुकुटों में लगे हुए मणियों की पंक्तियों से पूजित हैं । अर्थात् जिनके चरणों में समस्त देव भी नमस्कार करते हैं, ऐसे वे तीर्थङ्कर जिनदेव भी जिन सिद्धों के उन्नत पद को प्राप्त करने के लिए अधिक प्रयत्न करते हैं । जो सबों के ऊपर वृद्धिगत होकर अन्य किसी में न पाए जाने वाले ऐसे अतिशय वृद्धिगत केवल ज्ञानादि स्वरूप क्षायिक भावों से संयुक्त हैं, उन सिद्धों को हम नमस्कार करते हैं ।

वर्तना की सर्जना : एक अध्ययन

सन्मतकुमार जैन

‘वर्तना’ जैन सिद्धांत का एक पारिभाषिक शब्द है। कालके दो भेदों में परमार्थकाल का लक्षण वर्तना बतलाया गया है।^१ वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तनेति या वर्तनशीला वर्तना यह वर्तना का अर्थपरक विभाजन है। √ वृत्ति ‘धातु’ से कर्म या भाव में ‘युट्’ प्रत्यय करने पर वर्तना शब्द बनता है। ऐसी आचार्य पूज्यपाद की मान्यता है^२ परन्तु परवर्ती आचार्य अकलंक देवके अनुसार युट् प्रत्यय के स्थान पर युच् प्रत्यय करके वर्तना शब्द बनता है।^३ प्रत्यय भेद की तीसरी मान्यता आचार्य विद्यानन्द की है। इन्होंने ‘वृत्ति’ धातु से कर्म में ‘युक्’ प्रत्यय करने पर तथा तच्छील अर्थ में युच् प्रत्यय करने पर वर्तना की सर्जना मानी है।^४

एक ही परम्परा के आचार्यों में प्रत्यय भेद क्यो हुआ ? क्या व्याकरण के ग्रन्थों में युक्, युच् अथवा युट् तीनों प्रत्यय वर्तना शब्द की सिद्धि कर सकते हैं ? क्या युक्, युच् अथवा युट् प्रत्यय हस्तलिखित पुस्तक लिखते समय विद्वानों की भूल से परिवर्तित हो गये ? सर्वार्थसिद्धि में जब आचार्य पूज्यपाद युट् प्रत्यय मान चुके थे तब परवर्ती अकलंक देव और विद्यानन्द ने युट् प्रत्यय क्यो नहीं माना ? क्या आ० पूज्यपाद का प्रयोग गलत था ? इत्यादि नाना प्रश्न मस्तिष्क में अनायास ही उद्भूत हो जाते हैं।

उपयुक्त प्रश्नों पर जब गूढ़ दृष्टि डाली जाती है तो यह तो निश्चित हो जाता है कि युच् प्रत्यय अकलंक देव और विद्यानन्द दोनों को मान्य है। युट् प्रत्यय न मानने

का एक मात्र कारण यही हो सकता है जैसा कि अकलंक ने एक तटस्थ आचार्य की, जो संभवतः पाणिनि व्याकरण से सम्बन्धित थे, शब्दा के माध्यम से कहा है कि युट् में टिट् होने से स्त्रीलिंग में डीप् प्रत्यय प्राप्त होता है।^५ डीप प्रत्यय प्राप्त होने पर वर्तना के स्थान पर वर्तसी शब्द बनेगा, जबकि युच् अथवा युक् प्रत्यय मानने पर ऐसा नहीं होता तो फिर आचार्य पूज्यपाद का युट् प्रत्यय वाला प्रयोग अनुचित सिद्ध होता है ? नहीं ? आचार्य पूज्यपाद का प्रयोग अनुचित तब होता जब कर्म और भाव के स्थान पर करण अथवा अधिकरण में युट् प्रत्यय किया जाता और उसका विग्रह वर्ततेऽनया अस्या वा वर्तना हो जाता परन्तु आचार्य पूज्यपाद ने ऐसा नहीं किया है।

इस प्रकार अकलंक देव ने यद्यपि आचार्य पूज्यपाद का समर्थन करके उनके प्रयोग को स्पष्ट कर दिया है तथापि ‘णिजन्ताद्युचि वर्तना’ वार्तिक बनाकर युट् की सशयात्मक वृत्ति को सदा के लिए समाप्त भी कर दिया है। इस प्रकार आचार्य पूज्यपाद के परवर्ती अकलंक देव तो ‘युट्’ प्रत्यय से परिचित थे, परन्तु उनके परवर्ती आचार्य विद्यानन्द ने युट् के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं चलाई है तो फिर इन्होंने युक् प्रत्यय क्यो माना ? संभवतः ‘युक्’ प्रत्यय ‘युट्’ प्रत्यय ही होना चाहिए जो कि हस्तलिखित पुस्तक में किसी विद्वान् की लेखनी से लिख गया होगा क्योंकि ‘वर्तनशीला’ वर्तना वाले विभाजन में आ० विद्यानन्द को युच् प्रत्यय मान्य है ही। ‘युक्’ प्रत्यय व्याकरण में होता है या नहीं तथा इसके द्वारा वर्तना शब्द बनता है या नहीं यह व्याकरण ग्रन्थों में खोज का विषय है।

यह ‘वर्तना’ की सर्जना के सम्बन्ध में एक संक्षेप रूप अध्ययन है।

६. करणाधिकरणयोर्वर्तनेति चेत्; युटि सति डीप्रसङ्गः” राजवा. ५।२२।१ भाष्य।

१. कालो हि द्विविधः परमार्थकालो व्यवहारकालश्च सर्वार्थसि. ५।२२.

२. परमार्थकालो वर्तना लक्षणः। वही. ५।२२.

३. वृत्तेणिजन्तात्कर्मणि भावे वा युटि स्त्रीलिंगे वर्तनेति भवति वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तना” वही. ५।२२.

४. णिजन्ताद्युचि वर्तना रा वार्तिक ५।२२।२

५. वृत्तेर्ण्यन्तात्कर्मणि भावे वा युक् त. श्लो. वा. ५।२२.

महावीर निर्वाण संवत्

मुनि विद्यानन्द जी

भगवान् महावीर का निर्वाण कब हुआ, इस सम्बन्ध में जैनो में गणना की एक अभेद्य परम्परा विद्यमान है और वह श्वेताम्बरों तथा दिगम्बरों से समान ही है। "तिथ्यो गालीय पन्ना" में निर्वाण काल का उल्लेख करते हुए लिखा है—

तं इयणि सिद्धि गम्भो, अरहा तित्थं करो महावीरो ।
तं इयणि भवंतीए, अभिसित्तो पालघो शया ॥ ६२०
पालय रण्णो सट्ठी, पुण पणसयं चियाणि णंदाणम् ।
मुरियाणं सट्ठिसयं, पणतीसा पूस मित्ताणं (तस्स) ॥ ६२१
बलमित्त भाणुमित्ता, सट्ठा चत्ताय होंति णहसेणं ।
गह्भ सधमेगं पुण, पडिबन्नो तो सगो राया ॥ ६२१
पंच य भासा पंच य, बासा छच्चेव होंति बाससया ।
परि निम्बु अस्सऽरिहतो, तो उत्पन्नो (पडिबन्नो)
सगोराया ॥ ६२३

(जिस रात में अर्हत् महावीर तीर्थङ्कर का निर्वाण हुआ, उसी रात (दिन) में अवन्ति में पालव का राज्याभिषेक हुआ ।)

६० वर्ष पालक के, १५६ नन्दों के, १६० मौर्यों के, ३५ पुष्यमित्र, ६० बलमित्र, भानुमित्र के, ४० नयःसेन के और १०० वर्ष गर्द भित्तों के बीतने पर शक राजा का शासन हुआ ।

अर्हन् महावीर को निर्वाण हुए ६०५ वर्ष और ५ मास बीतने पर शक राजा उत्पन्न हुआ ।)

यही गणना अन्य जैन ग्रन्थों में भी मिलती हैं । हम उनमें से कुछ नीचे दे रहे हैं :—

१. श्री वीर निर्बुत्तेवर्षेः षड्भिः पंचोत्तरैः शतैः ।

शाक संवत्सरस्यैवा प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत् ॥

मेरु तुगाचार्य रचित विचार श्रेणी (जैन साहित्य संशोधक—खंड २, अंक ३-४ पृ० ४ ।

२. छहिं बासाण सएहि पंचाहि बासेहि पंच मासेहि ।

मम जिब्बाण गयस्सड उपाज्जिस्सइ सगो राया ।

नेमिचन्द्र रचित 'महावीर परिचय' श्लो. २१६६ पत्र ६४-१

६०५ वर्ष ण मास का यही अन्तर दिगम्बरों में भी मान्य है । हम यहां तत्सम्बन्धी कुछ प्रमाण दे रहे हैं—

(१) पणहस्सयवस्सं पणमासजुव गीयम वीरणिबुद्धो ।

सगराजो तो कक्की चटुणव-तियमहिय सगमासम् ॥

—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती रचित त्रिलोकसार

(२) वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पंचात्रिं मासं पचकम् ।

मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्सतोऽभवत् ॥ ६०-५४६

—जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराण ।

(३) जिब्बाणे जिणे छब्बास सवेसु पंचविरिसेसु ।

पण मासेसु गवेसु संजावो सगणिघो अहवा ॥

—तिलोय पण्णत्ति भाग १, पृ० ३४६

(४) पंच य भासा पंच य बासा छच्चेव होंति बायसया ।

सगकालेण य सहिया थावे यच्चो बवो रासी ॥

घबला (जैन सि० भवन द्वारा) पत्र ५३७

वर्तमान ईस्वी सन् १६७३ में शक संवत् १६६४ है ।

इस प्रकार ईस्वी सन् और शक संवत्सर में ७६ वर्ष का अन्तर हुआ । भगवान् महावीर का निर्वाण शक संवत् से ६०५ वर्ष ५ मास पूर्व हुआ । इस प्रकार ६०३ में से ७६ घटा देने पर महावीर का निर्वाण ईस्वी पूर्व ५२७ में सिद्ध होता है ।

केवल शक संवत् से ही नहीं, विक्रम संवत् से भी महावीर निर्वाण का अन्तर जैन साहित्य में वर्णित है ।

तपाच्छ पट्टावलि में पाठ प्राता है—

जं रयणि कालगम्भो, अरिहा तित्थं करो महावीरो ।

तं रयणि अवणि वई, अहिसित्तो पालघो राया ॥१

वट्ठी पालय रण्णो ६०, पणवणसयं तु होइ नंदाणम् ।

अट्ठ सयं मुरियाणं १०८, तीसच्चियं पूसमित्तस्स ३० ॥२

बलमित्त माणुमित्त सट्ठी ६०, वरिसाणी चत्तन हवाणे ।

तह गच्छमित्तरज्जं तेरस १३ वरिस सगस्स चउवरिसा ॥

श्री विक्रमादित्यवच प्रतिबोधितस्तद्राज्यं तु श्री वीर

सप्ततिः चतुष्टये ४७० संजातं ।

[६० वर्ष पालक राजा, १५५ वर्ष नवनन्द, १०८ वर्ष मौर्यवंश, ३० वर्ष पुष्यमित्र, बलामित्र आनुमित्र ६०, वहपान ४० वर्ष। गर्दमिल्ल १३ वर्ष, शक ४ वर्ष कुल मिला कर ४७० वर्ष बाद हुआ।]

—तीर्थङ्कर महावीर विजयेन्द्र सूरि।

ईसा पूर्व ५२७ वर्ष भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् दिगम्बर आम्नायानुसार केवली श्रुतकेवली और दशपूर्वधरों की सूची—

केवली—३

१ गौतम गणधर	१२ वर्ष
२ सुधर्म	१२ वर्ष
३ जम्बू स्वामी	३२ वर्ष

श्रुतकेवली—५

१ विष्णु नन्दी	१४ वर्ष
२ नन्दमित्र	१६ वर्ष
३ अपराजित	२२ वर्ष
४ गोवर्धन	१९ वर्ष
५ भद्रबाहु	२९ वर्ष

१६२ वर्ष

दिगम्बर आम्नाय के अनुसार १६२ वर्ष पश्चात् श्रुतकेवली का लोपमाना गया है—
(ई० पू० ३६५)

एकादश गणधर :—

इन्द्रभूतिरग्निभूतिर्वायुभूतिः सुधर्मकः ।
मौर्यमोऽयौ पुत्रमित्रावकम्बन सुनामधृक् ॥
अन्धवेलः प्रभासश्च खट्वसंस्थान् मुनीन् भजे ।
गौतमं च सुधर्मं च जम्बूस्वामिन मूर्ध्वगम् ।
श्रुतकेवलिनोऽन्याश्च ब्रिह्मणुनन्दपराजितान् ।
गोवर्धनं भद्रबाहुं दशपूर्वं धरं यजे—

—आचार्य जयसेन प्रतिष्ठा पाठ

चन्द्रगुप्तमुनिः शीघ्रं प्रथमो दशपूर्विकां ।
सर्वं संघाधिपो जातो विशाखाचार्यं संज्ञकः ॥

—हरिषेण रचित, कथाकोष ३९।

दश पूर्वधरों में प्रथम चन्द्रगुप्त मुनि शीघ्र ही विशाखाचार्य नाम से सर्वसंघ अधिपति हुए।

विशाख प्रोष्ठिल क्षत्रीयजय नाथ पुरासरान् ।

सिद्धार्थ धृतिषेणाह्वी विजयं बुद्धिबलं तथा ॥
गंगदेवं धर्मसेनमेकादश तु सुश्रुतान् ।
नक्षत्रं जयपालाख्यं पाण्डुश्च ध्रुवसेनकम् ।
कंसाचार्यं पुरोडीभि ज्ञानार प्रजयेऽन्वहम् ।
सुभद्रवच्च यशोभद्रं यशोबाहुं मुनीश्वरम् ।
लोहाचार्यं पुरा पूर्वज्ञान चक्रधरं नमः ॥

दश पूर्वधर—११

१ विशाखाचार्य	१० वर्ष
२ प्रोष्ठिल	१९ वर्ष
३ क्षत्रिय	१७ वर्ष
४ जयसेन	२२ वर्ष
५ नागसेन	१८ वर्ष
६ सिद्धार्थ	१७ वर्ष
७ धृतिषेण	१८ वर्ष
८ विजय	१३ वर्ष
९ बुद्धिबल	२० वर्ष
१० गंगदेव	१४ वर्ष
११ धर्मसेन	१६ वर्ष

१८४ वर्ष

एकादशांगधारी—

१ आचार्य नक्षत्र	} २२० वर्ष
२ आचार्य जयपाल	
३ आचार्य पाण्डु	
४ आचार्य ध्रुवसेन	
५ कंसाचार्य	

आचार्यांग धारी—

१ आचार्य सुभद्र	} ११२ वर्ष
२ आचार्य यशोभद्र	
३ आचार्य यशोबाहु	
४ आचार्य लोहाचार्य	

सम्पूर्ण योग—६४२ वर्ष

प्रभावक आचार्य—

- १ आचार्य गुणधर (कपाय पाण्डु) विक्रम सं० १६।
- २ आचार्य कुन्दकुन्द (समयसार) विक्रम सं. ३५।
- ३ आचार्य उमास्वामी (तत्त्वार्थ सूत्र) वि. सं० १५०।
- ४ आचार्य समन्तभद्र (रत्नकरण्ड) वि. सं. बीसवीं शती।
- ५ आचार्य सिद्धसेन (सन्मति सूत्र) वि. सं. पाँचवीं शती।

स्याद्वाद एक : अध्ययन

रामजी, एम० ए०

जैन न्याय की सबसे बड़ी देन भारतीय नैयायिक विचार को उनका 'स्याद्वाद' संबंधी सिद्धांत है। उसमें सविकल्प मानवीय ज्ञान की अल्पता की अनुभूति कुट-कूट कर भरी है, साथ ही समन्वयवाद की भी। स्याद्वाद, दो शब्दों के योग से बना है। स्यात् + वाद = स्याद्वाद। सामान्य अर्थ में स्यात् शब्द का अर्थ शायद, किंचित् तथा सम्भावना आदि से लिया जाता है। वास्तव में सम्भावना के शाब्दिक अर्थ के रूप में स्याद्वाद का प्रयोग नहीं किया जाता। सम्भावना के द्वारा सन्देहवाद का भी बोध होता है, किन्तु जैन दर्शन को हम सन्देहवादी नहीं कह सकते; क्योंकि अशेष ज्ञान को सिखानेवाला कभी सन्देह को सिखाएगा, यह सम्भव नहीं है। हमारी समझ में अशेष ज्ञान केवल ज्ञान को दिखाने का प्रयत्न, इस सिद्धांत में किया गया है। कभी-कभी स्यात् शब्द का अनुवाद 'किस प्रकार' किया जाता है जिससे अज्ञेयवाद का बोध होता है, किन्तु यह मत अज्ञेयवादी नहीं है। स्याद्वाद शब्द का प्रयोग सापेक्षता के रूप में किया गया है और स्याद्वाद का उचित अनुवाद सापेक्षवाद (Theory of Relativity) ही हो सकता है, इसलिए सापेक्षवाद भी कहा जाता है। स्याद्वाद अनेकान्तवाद के ऊपर आधारित है यह एक प्रकार से जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धांत है, जिसके द्वारा जैन दार्शनिकों की उदारता का पता लगता है। अतः इस सिद्धांत का जैन दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। स्याद्वाद को स्याद्वादमन्जरी में इस प्रकार परिभाषित किया गया है, 'स्याद्वादोऽनेकान्तवादो नित्यानित्यादयनेकधर्मशब्दैकवस्तुव्युपगम इति' अर्थात् स्याद्वाद अनेकान्तवाद को कहते हैं; जिसके अनुसार एक ही वस्तु में नित्यता अनित्यता आदि अनेक धर्मों की उपस्थिति मानी जाती है और प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक मानी जाती है।' The judgement

about an object possessing many characteristics is called Syadvada जैन दार्शनिकों का मत है कि किसी भी वस्तु के पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए, उस वस्तु के सभी सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त करना होगा। सम्बन्ध केवल भावात्मक ही नहीं होता अभावात्मक भी होता है। इसलिए वस्तु के ज्ञान के लिए सभी सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इसलिए एक वस्तु को समझने के लिए विश्व की सभी वस्तुओं को भली भाँति समझना पड़ेगा।

एकोभावाः सर्वथा येन दृष्टः।

सर्वभावाः सर्वथा तेन दृष्टाः॥

सर्वभावाः सर्वथा येन दृष्टाः।

एकोभावाः सर्वथा तेन दृष्टः॥

अर्थात् जो व्यक्ति एक वस्तु को सभी प्रकार से समझ लेता है, वह सभी वस्तुओं को सभी प्रकार से समझ सकता है। यदि सभी वस्तुओं को समझ लिया गया है तो, एक वस्तु को भली भाँति समझा जा सकता है।

इस प्रकार जैन दर्शन का विचार है कि एक वस्तु को देखने की अनेक दृष्टियाँ हो सकती हैं, किन्तु सम्पूर्ण सत्य क्या है, इसको देखने के लिए सब दृष्टियों का सहलेषण आवश्यक है। यही तात्पर्य अनेकान्तवाद को 'सम्पूर्ण आदेश' या 'सफल आदेश' कहने का है। सब कुछ यहाँ संसार में 'विकल' ही विकल आदेश है, सविकल्पक, खण्ड-खण्ड है। सकल आदेश यहाँ एक दृष्टियों के मिलाने से बनता है जिसका अनेकांत प्रतीक है।^१ किसी वस्तु की सत्ता या असत्ता के विषय में हम केवल यही कह सकते हैं :

(१) स्याद्वास्ति—आपेक्षिक रूप में बड़ा सत्य है। अपने उपादान, स्थान, समय और स्वरूप के

२. भग्नसिंह उपाध्याय—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग-२, पृष्ठ-८४७,

दृष्टिकोण से घड़ा विद्यमान है अर्थात् अपना अस्तित्व रखता है। मिट्टी से बना हुआ घड़ा, इस समय मेरे पास विद्यमान है। जो अमुक आकार व माप का है।

(२) स्यान्नास्ति—आपेक्षिक रूप में घड़ा असत्य है। अपने उत्पादान, स्थान, समय और स्वरूप के दृष्टिकोण से घड़ा विद्यमान नहीं है, अर्थात् वह अपना अस्तित्व नहीं रखता है। सोने से बना हुआ घड़ा इस समय मेरे पास विद्यमान नहीं है; जो अमुक आकार व माप का हो।

(३) स्यादस्तिनास्ति—आपेक्षिक रूप में घड़ा सत्य है और असत्य है, दोनों हैं। अपने विशेष अर्थ में घड़ा है, और एक दूसरे विशेष अर्थ में घड़ा नहीं है। हम यहां कह सकते हैं कि विशेष अर्थ में घड़ा है और एक विशेष अर्थ में घड़ा नहीं है।

(४) स्याद् अवक्तव्यं—आपेक्षिक रूप में घड़ा अवक्तव्यनीय है (Indiscribable) जबकि ऊपर हमने कहा कि वस्तु विशेष के रूप में घड़ा है और वस्तु विशेष के रूप में घड़ा नहीं है; तो यह सब कथन एक साथ करना सम्भव नहीं है। इसलिए वस्तु अवर्णनीय है। जबकि घड़े में इसके अपने विशेष रूप में है और विशेष वस्तु के रूप में नहीं है, तो भी हम से उस वर्णित नहीं कर सकते।

(५) स्यादस्ति च अवक्तव्यं—आपेक्षिक में घड़ा सत् भी है और अवक्तव्यनीय भी है। भावात्मक दृष्टिकोण से वस्तु है और नहीं भी है और हम उसका वर्णन भी नहीं कर सकते। यहां पर हम उस घड़े की सत्ता और अनिवर्चनीयता दोनों को एक साथ परिलक्षित करते हैं।

(६) स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं—आपेक्षित रूप में घड़ा असत् है और अवक्तव्यनीय भी है। यहां पर, अभावात्मक वस्तु के दृष्टिकोण से और इसके साथ ही साथ वस्तु विशेष के दृष्टिकोण से वह घड़ा नहीं है। यहां पर हम उस घड़े की असत्ता और अनिवर्चनीयता को परिलक्षित करते हैं।

(७) स्यादस्ति च नास्ति अवक्तव्यं—आपेक्षिक रूप में घड़ा सत्य, असत्य और अवक्तव्यनीय है। अपने से विशेष अर्थ में और भावात्मक दृष्टिकोण से और साथ ही साथ स्थानविशेष व समय विशेष के कारण घड़ा है, नहीं भी है और अनिवर्चनीय भी। यहां पर हम एक घड़े की अनिवर्चनीयता का प्रतिपादन करते हैं और इसके

साथ ही साथ यह मिट्टी का घड़ा है सोने का घड़ा नहीं है इसका भी प्रतिपादन करते हैं।

जैन दार्शनिकों का ऐसा विचार है कि यहां जो सामने काला घड़ा है वह स्थान, समय विशेष स्वरूप व उपादान विशेष के कारण सत्य है और अपने स्थान विशेष, समय-विशेष, स्वरूप विशेष व उपादान विशेष के कारण असत्य भी है। अर्थात् दोनों हैं इसलिए जब हम घड़ा कहें तो पहले उसमें स्याद् शब्द का प्रयोग करें।

जैन दार्शनिकों का कहना है कि विचारों को दोष रहित बनाने के लिए स्यात् शब्द का प्रयोग करना चाहिए। सरल भाषा में अगर किसी को काना कहना हो तो, उसको काना कहने की अपेक्षा “भाई सम्पूर्ण देखने के लिए दो आंखों के तेज की आवश्यकता है।” ऐसा कहना ही स्याद्वाद है। जैन दर्शन का स्याद्वाद सभी दार्शनिक सिद्धांतों को अपने में समेटे हुए है, इसी कारण यह स्याद्वाद का सिद्धांत सभी दार्शनिकों को मान्य भी है। लेकिन जैन दर्शन का स्याद्वाद, जो समन्वयवाद, जो समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखता है वह शंकर के अद्वैत वेदान्त के समन्वयात्मक दृष्टिकोण से भिन्न है। जैन दर्शन का स्याद्वाद भौतिक समन्वयात्मक है; जबकि शंकर का अद्वैतवाद आध्यात्मिक समन्वयात्मक है। जैन दर्शन स्याद्वाद की बात तो करता है, लेकिन पूर्णज्ञान को कौन निर्धारित करेगा, इसके उत्तर में वह सबको समान दर्जे पर रखता है; जबकि शंकराचार्य उस सामान्य से उठकर ब्रह्म को स्थापित करते हैं। जैन दार्शनिक यह है कि आप आंशिक ज्ञान को पूर्णज्ञान कहते हैं, तो यह धर्मनिष्ठा है। यहीं पर दर्शन के विचार की उदारता में विश्व में सबसे अधिक मशहूर है। सच्चे एवं महान दार्शनिक की परीक्षा अनुयायियों की संख्या के बल पर तथा उदारता पर निर्भर है।” इस संसार कोई भी बात भूठी नहीं है, सबको समझने की सच्ची दृष्टि होनी चाहिए, वह भूठी न हो। अगर दृष्टि ही भूठी हो तो सृष्टि की कोई भी चीज सच्ची नहीं है।”

३. सूरिस्वर जी, जैन दर्शन की रूप रेखा, पृष्ठ-३३

४. ”

” पृष्ठ-३८

जैन दर्शन में जो विरोध देखने को मिलता है जैसे—पापी और पाप दोनों बिल्कुल भिन्न है। पाप और पापी दोनों एक ही हैं।

जैन दर्शन में से परस्पर विरोधी बातें वगैर स्याद्वाद के समझ में नहीं आ सकती। जब कोई पापी सामने आता है तब देखना चाहिए कि पापी और पाप भिन्न हैं, इसलिए पापी को मारने से क्या? परन्तु अब हमसे कोई पाप का आचरण होता है तो सोचना चाहिए कि मैं और पाप दोनों भिन्न नहीं बल्कि एक ही हैं। इसलिए जितना ही मैं अधिक कष्ट सहूँगा उतना ही मेरे पाप का बोझ हल्का होता जाएगा। यहां पर जैन दार्शनिक अपने को अत्यन्त अहिंसा की कोटिपर पहुँचा देते हैं जबकि बौद्ध मंजिभम मार्ग का अनुसरण करते हैं।

दर्शन में जो गति और स्थिति, एक और अनेक, नित्य और अनित्य, द्वैत, और ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद आदि दार्शनिक तत्वों को लेकर जो पचड़े खड़े होते हैं उनका भी समाधान स्याद्वाद से हो जाता है। जैन परिकल्पना के आधार पर वस्तु के निरूपण की कठिनाई दूर हो जाती है; क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार पदार्थ के रूप में उद्देश्य और विधेय समान हैं और रूपभेद और दृष्टिभेद के कारण भिन्न दिखलाई पड़ते हैं। यथार्थ सत्ता का गतिशील स्वरूप व स्थिर स्वरूप केवल सापेक्ष और सोपधिक निरूपण के साथ ही मेल खा सकता है। प्रत्येक सिद्धांत की स्थापना कुछ विशेष अवस्थाओं में और विशेष काल में या परिकल्पित रूप में ही सत्य है और असत्य भी है।

जैन दार्शनिक स्याद्वाद को लेकर इतने उदार हैं कि भारतीय दर्शन में जो विरोध पाया जाता है कि तप से मोक्ष की प्राप्ति होगी, भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति होगी, ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होगी या योग से मोक्ष की प्राप्ति होगी और समाज सेवा धर्म है, इन सभी का समन्वय स्याद्वाद में हो जाता है। स्याद्वाद को लेकर यहां पर जैनियों का मत होगा कि इसमें कोई भी तप एव कर्म भूठा नहीं है, इतना ही है कि वे परस्पर की बात मानें और उसको स्थान विशेष, समय विशेष की दृष्टि से सत्य या असत्य का निर्णय करें तो उनमें किसी प्रकार का

विरोध या भेद-भाव उत्पन्न नहीं होगा। यही कार्य जैनियों का स्याद्वाद करता है। जैन दार्शनिकों का ऐसा विचार है यह जो सामने काला घड़ा है वह स्थान विशेष व समय विशेष के कारण सत्य है और स्थान विशेष समय विशेष के कारण असत्य भी है, अर्थात् दोनों हैं। इसलिए केवल अपने मत को सत्य कहना अन्य मत को असत्य कहना ठीक नहीं है।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि जैन दार्शनिकों की उदारता का मुख्य स्रोत स्याद्वाद ही रहा है। इस बात को ठीक प्रकार से समझने के लिए हम उनकी मान्यताओं को अन्य दार्शनिकों की मान्यताओं से करके देख सकते हैं।

(१) किसी भी आत्मा में मोक्ष की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न होने पर वह एक दिन अवश्य मोक्षावस्था को प्राप्त होगा।

(२) मोक्षावस्था की भावना जैन को ही हो यह आवश्यक नहीं।

(३) जैन दर्शन से घृणा होने पर भी यदि उसमें मोक्षेच्छा की तीव्रता हो तो वह अंत में मोक्ष को प्राप्त होगा।

(४) मोक्ष प्राप्त करने के लिए, जैनधर्म का ही अनुकरण करें यह जरूरी नहीं।

(५) जैनधर्म को माननेवाला ही स्वर्ग में जाएगा अन्य नरक में जाएंगे; ऐसे जैन दार्शनिकों की मान्यता नहीं है।

(६) जैन कुल में उत्पन्न होने पर भी यदि पात्र अयोग्य हो तो नरक में जाएगा, जबकि जैन विरोधी कुल में उत्पन्न होने पर भी यदि पात्र योग्य हो तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति होगी।

जैन दार्शनिक इतना उदार होते हुए भी जैनियों की संख्या बहुत कम है, तो इसके लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसके लिए आचार्य विनोबा भावेजी के शब्द काफी हैं :—

“जैनियों में दूसरे दार्शनिकों की अपेक्षा संख्या बहुत कम है। मुझसे लोंग पूछते हैं कि आज जैनियों की संख्या बहुत कम क्यों है? मैं कहता हूं कि कन

कलिंग जिन

—श्री ठाकुर—

(१)

कलिंग प्रजा अपने युवक सम्राट् खारवेल से अत्यन्त सन्तुष्ट है। प्रजा रंजन के लिए उन्होंने लक्ष-लक्ष पण लगाकर अनेकों सुख सुविधायें प्रदान की थीं। पैंतीस लक्ष पण से खिविर सागर से एक कुल्या बनवाई। जिससे सारे जानपद अति सन्तुष्ट है। ७५ लाख पण लगाकर रत्न जड़ित चार स्तम्भ बनवाए। महा विजय प्रसाद का सौन्दर्य और कला मानों दर्शकों से मीन संलाप करता है। वहाँ के मदनोद्यान, राजकीयोद्यानादि अनेकों उपवनों में प्रकृति झुलझुलती फिरती है। प्रजा को खारवेल के रूप में सौन्दर्य मिला, समृद्धि मिली, कला मिली, न्याय मिला और सन्तुष्टि मिली।

किन्तु कलिंग की प्रजा जब 'जयकलिंग जिन पुकारती तब उसके मन में दबी हुई वेदना उभर आती। कलिंग जिन उसके आराध्य देवता थे। उस देवता के चरणों में उसने धर्म पाया था, आत्म प्रतीति पाई थी, कर्म पाया था और जग की सुषमा पाई थी। इस जगत की नश्वरता में सब कुछ ही तो नश्वर था। किन्तु एक मात्र अविनश्वर की वह कलिंग जिन की विमुग्धकारी मूर्ति जो कलिंग की सारी प्रजा के मन में, सम्पूर्ण आत्मा में ऊँचे आसन पर न जाने कब से विराज रही है। उस भव्य प्रतिमा से

संख्या बुद्धिमानी की निशानी है शक्कर मीठी है यह पानी में घुल मिल जाती है तो अपना अस्तित्व व्यापक बना देती है। शक्कर के मिल जाने पर लोग कहते हैं 'जल मीठा है' पर वास्तविक बात तो यह है कि शक्कर की मिठास है। जैन भी अन्यो में घुल कर उनमें चुपचाप मधुरता भरते रहते हैं।^{१५}

स्याद्वाद जैन दर्शन का अजेय किला है; जिसमें वादी प्रतिवादी के मायामय गोले प्रविष्ट नहीं हो सकते। ●

५. आचार्य विनोबाभावे, जैन भारती, वर्ष-१५, अंक-१६

उन्होंने जब जो चाहा, मिला-अन्धकार में दीप्ति, निराशा में सम्बल, हार में प्रेरणा और विषाद में आश्वासन। वह उनके हृदय में गहरे विश्वास की तरह जम गई थी। और वही एक मात्र कड़ी थी कि कलिंग की ३५ लाख प्रजा का एक ही विश्वास और एक ही मार्ग बन गया था। किन्तु विश्वास का वह देवता उनके पास न था। नन्दराज कलिंग विजय के उपहार के रूप में उस प्रतिमा को उठा ले गया था। पराजय के व्रणकाल ने भर दिये थे, किन्तु जब उनके विश्वास का एक मात्र सम्बल ही उनके पास न रह गया, छीन लिया गया तो धैर्य और सन्तोष का स्थान भी रिक्त हो गया। लगता था, निरन्तर बढ़ती हुई समृद्धि के प्रति उनकी वितृष्णा दूर न होगी, जब तक मन का वह देवता अपने सूने देवालय में न आन विराजे।

× × ×

और सम्राट् खारवेल ?

उनका कुल देवता छिन गया था। उनके वंश का भारी अपमान हुआ था। कलिंग के विद्यापीठ में जब में उन्होंने पढा था कि दक्षिण कौशल से आकर उनका प्रतापी पूर्व सम्राट् महामेघवाहन ने कलिंग में ऐलचेदि वंश का प्रभाव स्थापित किया और उसका पराभव मगध सम्राट् नन्दराज ने किया, इतना ही नहीं, उनके कुल-देवता को भी मानों वह सम्राट् उठा ले गया, तब से ही खारवेल खार खाये बैठा था। क्षत्रिय होकर वह अपने वंश के पराभव का प्रतिशोध लेना ही कुल देवता की कलिंग में पुनः प्रतिष्ठा किए बिना उसका प्रतिशोध निरर्थक होगा। और यों युवक सम्राट् के जीवन की साधना अपने वंश के अपमान का प्रतिशोध लेने की वज्राय अपने कुल देवता की प्रतिमा को पुनः कलिंग में लाना यह हो गई। कलिंग जिनकी वह रत्नमय प्रतिमा केन्द्र बन गई, जिसके चारों ओर अपमान का प्रतिकार, प्रजा

का रंजन, साम्राज्य का विस्तार, और चक्रवर्ती पद मंडराने धहराने लगे।

(२)

मगध सम्राट् ब्रह्मद्रथ को मारकर उनका महामंत्री पुष्यमित्र मगध-साम्राज्य का भोग और विस्तार कर रहा था। अश्वमेध यज्ञ करके चक्रवर्ती पद प्राप्त कर लिया था।

बाल्हीक का यवन नरेश दैमेनिय चक्रवर्ती के बनने की महत्वाकांक्षा में निरन्तर आगे बढ़ता जा रहा था। वह शौरसेन, पांचाल और साकेत विजय करके मगध साम्राज्य को निगलता हुआ पाटलीपुत्र तक पहुँच चुका था।

सम्राट् खारवेल ने गम्भीरता से सोचा—क्या इस अवसर पर यह उचित होगा कि एक आर्य वंश को पराभूत करके अपने अपमान का प्रतिशोध लूँ। मेरे इस प्रतिशोध में भारतमाता की पराधीनता निहित है। अपने सम्राट् स्वामी का बध करने वाले पुष्यमित्र का चक्रवर्ती पद उसके बल में नहीं, छल में छिपा है। उस छल का जाल समय पर तोड़ा जा सकेगा। किन्तु यदि यवनराज दैमेनिय को मगध पर अधिकार करने का अवसर मिल गया तो भारत की आर्य सम्यता यवन साम्राज्य की ज्वाला में भस्मसात् हो जाएगी। तब भारत माता के चरणों को कोटि-कोटि भारतीयों का अर्घ्य नहीं, यवनों की लोह बेड़ियाँ सजायेंगी। क्या मेरा शौर्य, मेरा प्रभाव और मेरी यह विशाल चतुरंगिणी विदेशी यवनों की आकांक्षापूर्ति का साधन होगी।

सम्राट् ने सोचा, फिर सोचा। एक ओर वे देख रहे थे—उनकी विजय वंजयन्ती प्रतापशाली सात बाहन वंशी शातकर्ण के प्रासादों पर फहरा रही है, मूर्षिक, राष्ट्रिक, योजक सब राजा छत्र और भिरंगार हीन भूमि पर लोट रहे हैं। सारे दक्षिणपथ में 'जय कालिग जिन' का नाद हो रहा है। दूसरी ओर उन्होंने देखा—शौरसेन, पांचाल और साकेत के विशाल देवालय भूमिसात् हो रहे हैं। देव प्रतिमाएँ सिंहासनों के पाये बन रही हैं। आर्य संस्कृति कन्धार और बाल्हीक की ओर मुँह फाड़े दीन भाव से बैस रही हैं।

उनके अन्तर से जोरों की हूक उठी—'नहीं, यह

कभी न होगा। देव प्रतिमाओं का स्थान देवालय ही हैं। आर्य संस्कृति में आज भी विश्व को देने की क्षमता है। तब वह याचक क्यों बने। भारत की गरिमा अक्षुण्ण रहेगी। यवनराज को भारत छोड़ना ही होगा, छोड़ना ही होगा। उसे भारत की महानता को, पवित्रता को कलंकित करने की घृष्टता का फल भोगना ही होगा। और बत्तीस वर्ष के युवक सम्राट् की चतुरंगिणी जब भारखण्ड के मार्ग से होकर मगध पहुँची, यवन-सेना में एक भयंकर भूचाल आ गया। दैमेनिय ने जब सुना कि राजगृही, शोरयगिरि दुर्गों पर खारवेल का पताका फहरा रही है, उस पर भयानक रूप से आतंक छा गया। दूसरे क्षण वह और उसकी यवन सेना भारत विजय का स्वप्न छोड़, कठोर सत्य का दर्शन करके न केवल मगध से अपितु भारत की सीमा से निकल गई।

सम्राट् खारवेल अपनी विजय की सुरभि से मगध वासियों को आकर्षित करके जब लौटे तो भारत माँ ने उनकी आरती उतारी, देवताओं ने उनके मार्ग फूलों से भर दिए।

(३)

ठीक चार वर्ष बाद—

चक्रवर्ती पुष्यमित्र ने अपने पराभव की वेदना के चिन्ह और परिजनों में व्याप्त अवहेलना को मिटाने के लिए दुबारा अश्वमेध यज्ञ किया। विभिन्न राज्यों के राजाओं द्वारा भेंट किया ग्रहण करके पुनः चक्रवर्ती पद धारण किया। वह अपने राज्य की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान देने लगा। और राज्य का पुनर्गठन करके अपने भाठों पुत्रों को उपरिक बनाकर विभिन्न नगरों का दायित्व सौंप दिया। प्रजाजन को सन्तुष्ट करने के लिए धर्म के नाम पर शासन करने लगा। उसने राज्य की सीमाओं पर चर भेज दिए। आयुक्तों के अधीन एक-एक अश्वीहिणी कर दी। सीमान्त दुर्गों का उद्धार करके भटाश्वपतियों के अधीन कई-कई अश्वीहिणी भेज दी। दिन रात युद्धाभ्यास होने लगा। लगता था मानों सारा मगध साम्राज्य एक विशाल युद्ध शिविर बन गया है।

युद्ध कला के मर्मज्ञ सम्राट् खारवेल से विश्वस्त चरों द्वारा इन युद्धाभ्यासों और सतक तैयारियों का पता

लग रहा था। वे अब पुष्यमित्र को अधिक अवसर देना उचित नहीं समझते थे। और एक दिन कूच के ढोल बज ही उठे।

× × ×

वे प्रभंजन के वेग से चले। जो सामने आया, वह टिक न सका। वे जिस ओर भी गये, राजा भेंट लेकर खड़े मिले। समय की तरह दुर्विचार और काल की तरह दुर्दान्त। कौन था जो उसके सामने पड़ने का साहस करता। सारा उत्तरा पथ काँप उठा उनके शौर्य से, सारा उत्तरापथ आतंकित हो उठा उनकी रणचातुरी से। सारे नृप करद माण्डलिक बन गए।

जब यकायक उन्होंने अपना मार्ग बदल दिया। अग्रगामी दल के साथ दो अक्षौहिणी को मुख्य मार्ग से मगध की ओर भेजा और शेष बाहिनी को लेकर स्वयं हिमालय की उपत्यकाओं के कठिन किन्तु गुप्त मार्ग से पाटलिपुत्र की ओर रवाना हुए।

और एक दिन पाटलिपुत्र की जनता के उषाकाल में अत्यन्त विस्मय और भय के साथ देखा—

कलिंग सेना सुगङ्गाप्रासाद को घेरे खड़ी है। विजयी सम्राट् खारवेल हाथी पर शौर्य और भोज की धारा बहाते से सस्मित मुद्रा में बैठे हैं। पाटलीपुत्र की पावन तोया जाह्नवी खारवेल की सेना के हाथियों को मार्ग देती बह रही है। और असंख्य बाहिनी निरन्तर पाटलीपुत्र में प्रवेश कर रही है।

चक्रवर्ती पुष्यमित्र की कुछ सेना सीमांत पर कलिंग की अग्रगामी सेना से जूझ रही है जो सोन के मार्ग से आई थी और शेष सेना पाटलीपुत्र में कलिंग सेना के समक्ष अपने सारे आयुध समर्पण कर चुकी है। स्वयं पुष्यमित्र वन में महर्षि पातञ्जलि को अपने पराभव का वृत्तान्त सुना रहे हैं। और इधर पाटलीपुत्र के प्रमुख उपचरिक वहसातिमित्र समभ्रम कलिंग जिनकी प्रतिमा सम्राट् खारवेल को समर्पित कर रहे हैं।

जब सम्राट् खारवेल ने अपने कुलदेवता की प्रतिमा श्रद्धा और सम्मान के साथ ग्रहण की, तो कलिंग की असंख्य बाहिनी के कण्ठ से 'जय कलिंग जिन' का तुमुल जयघोष निकल पड़ा।

'अनेकान्त' के स्वामित्व तथा अन्य व्योरे के विषय में

प्रकाशन का स्थान	'वीर सेवा मन्दिर' भवन, २१, दरियागंज, दिल्ली
प्रकाशन की अवधि	द्वैमासिक
मुद्रक का नाम	श्री बालकिशन
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	रूप वाणी प्रिंटिंग हाऊस २३, दरियागंज, दिल्ली
प्रकाशक का नाम	ओम प्रकाश जैन (सचिव)
राष्ट्रीयता	सभी भारतीय
पता	वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली
सम्पादको का नाम	डा० आ० ने० उपाध्ये, कोल्हापुर; डा० प्रेमसागर, बड़ौत; श्री यशपाल जैन, दिल्ली; प्रकाशचन्द्र जैन, दिल्ली।
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	मार्फत : वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली
स्वामिनी संस्था	वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली

मैं ओमप्रकाश जैन घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

शील की प्रतिमूर्ति अनन्तमती

श्री मिथीलाल जैन

अयोध्या के एक जिनालय में संस्कृत के सरस एवं पावन श्लोक गूँज रहे थे ।

भिन्नात्मनमुपास्यं च परो भवति तावृशः ।

वति दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तावृशी ॥

(परमात्मा की उपासना करके उन्हीं के समान अर्हन्त सिद्ध स्वरूप परमात्मा हो जाता है जैसे कि दीपक की बाती से भिन्न होकर भी दीपक की उपासना से दीपक स्वरूप हो जाती है ।)

सहसा एक नारी का करुण स्वर सुनाई पड़ा—माँ आश्रय दो ! स्वाध्याय रुक गया । गूँजता हुआ श्लोक मौन पड़ गया । करुण पुकार ने आर्यिका पद्मश्री के हृदय को द्रवित कर दिया । पद्मश्री उठी, देखो द्वार पर एक थकी-हारी युवती खड़ी है । युवती ने पुनः कहा—माँ आश्रय दो ! और आर्यिका पद्मश्री का हाथ बरबस युवती के माथे पर चला गया । आर्यिका पद्मश्री ने कहा—भय मुक्त हो बेटी ! क्या कष्ट है तुम्हें ? किन्तु इतना सब कुछ सुन पाने की शक्ति उस युवती में कहाँ थी ? युवती का अचेतन शरीर पृथ्वी पर गिरने लगा । आर्यिका ने आश्रय दिया । शीतल जल युवती के मुख पर सीचा, तब कहीं युवती को सुष आयी । चेतना लौटते ही युवती उठी । उसने आर्यिका पद्मश्री की चरण रज मस्तक पर चढ़ायी और कहा—मा नमोऽस्तु । आर्यिका पद्मश्री ने युवती के मस्तक पर अपना वरदानी हाथ रखा और शान्त, संयत, गम्भीर स्वर में कहा—धर्म चिरन्तन आस्था हो, सुखी रहो । कौन हो बेटी तुम ? क्या कष्ट है तुम्हें ?

युवती के दोनों हाथ श्रद्धा से जुड़ गए, मस्तक झुक गया । उसे ऐसा लगा जैसे प्रकृति ने उसकी रचना में सब कुछ लगा दिया है । वह बड़े ही करुण स्वर में बोली—माँ मुझ अभागन का परिचय जानकर क्या करेंगी ? भगवान

महावीर ने अनुग्रह से आपका आश्रय मिल गया, यही मेरा अहोभाग्य और परिचय है ।

आर्यिका पद्मश्री ने कहा—बेटी यह जैन चैत्यालय है । यहाँ भगवान महावीर के चरणों में सभी आश्रय पाते हैं । संसार में ऐसा कौन-सा पाप है, जिसका प्रायश्चित्त न हो ? तेरी गम्भीर वाणी मुख मण्डल से भाँकती हुई पावनता इस बात का प्रमाण दे रही है कि तुझमें अपूर्व आत्मिक शक्ति का विकास हुआ है । स्वर्ण जितना तपता है, उतना ही निखरता है । भय मुक्त होकर अपनी व्यथा सुना बेटी, अब तू आर्यिका पद्मश्री के संरक्षण में है ।

माँ, मैं अनन्तमती हूँ । चम्पापुर नगर-सेठ की इकलौती पुत्री । कर्मों के संयोग से इतने कष्ट हुए कि अब जीवन के प्रति कोई ममता शेष नहीं रही है । नारी को सौन्दर्य देकर प्रकृति ने सबसे बड़ा छल किया है । सौन्दर्य के कारण मैंने इतने कष्ट उठाए हैं कि सत्य भी स्वप्न सा लगता है । कुछ माह पूर्व चम्पापुर के एक उद्यान में अपनी सहेलियों के साथ प्रभु नेमिकुमार से सम्बन्धित एक लोक गीत गा रही थी :—

ओह तजी, ममता तजी,

उनने तजे हूँ सकल परिवार जी ।

अन व्याही राजल तजी,

बो तो जाए चढ़े गिरनार जी ।

किन्तु स्वप्न जल्दी ही बिखर गए । भविष्य अन्ध-करमय है । होनहार होकर रहती है । उसी समय एक आकाशगामी विमान उतरा और एक बलिष्ठ पुरुष अनेक सहेलियों के बीच से मुझे उठा ले गया । जब सूर्य की लालिमा अस्ताचल में सिमट रही थी, वह मुझे एक निर्जन वन में छोड़ गया, जाते समय उसने कहा—मैं विद्याधरों के राज्य किन्नरपुर का स्वामी हूँ । किन्नरपुर समीप है ।

राज्य के निवासी, सामन्त परिवार के सभी सदस्य मेरे स्वागत की प्रतीक्षा में होंगे। मैं नहीं चाहता कि तू मेरे अगौरव का कारण बने। मैं शीघ्र ही लौट कर आऊँगा और तुझे ले जाऊँगा। और इस तरह मुझे किन्नरपुर के निकट निर्जन वन में छोड़कर चला गया। सम्भव है उसने सोचा हो, इस निर्जन वन में मेरी प्रतीक्षा के अतिरिक्त और मार्ग ही क्या हो सकता है? पर दुःखों की कोई सीमा नहीं होती माँ। कुछ समय बाद मैंने एक दैत्याकार श्यामवर्ण मानव को देखा। वह मृगया के शस्त्रों से लैस था। उसके पीछे उसी के आकार जैसे अनेक व्यक्ति थे। मैं भय से काँपने लगी। भाग भी न सकी। इतने में उसने मुझे पकड़ लिया और कन्धे पर टाँग लिया। किन्तु अन्धकार में से ही प्रकाश की किरण फूटती है। रात्रि के पश्चात् भोर होता है। वह मुझे अपने गाँव ले गया। भील की पत्नी भील से भी भयंकर थी, किन्तु माँ उसकी भयंकरता के कारण ही मेरी पावनता की रक्षा हो सकी। भील पत्नी ने कहा—इस घर में सौत नहीं रहेगी। उसने मुझे सुरक्षा में लिया। बहुत स्नेह दिया। भीलनी का व्यवहार स्नेह देखकर मुझे लगा कि इस श्याम तन पर अनेक सौन्दर्य न्योछावर किये जा सकते हैं। भीलों का राजा सींगों आदि तथा चन्दन की लकड़ियों का व्यापार करता था। एक दिन एक प्रौढ़ व्यक्ति कई सेवकों के साथ लकड़ी खरीदने आया। भीलनी ने उसे बुलाकर कहा—यह एक शीलवती युवती है। इसे कोई निकट की सघन अटवी में हरण करके छोड़ गया है। तुम इसे ले जाओ। प्रतिज्ञा करो कि इसे पुत्री के समान रखोगे तथा सुविधा पाकर इसके माता-पिता के पास पहुँचा दोगे।

मैंने उस व्यापारी की ओर देखा। उसके चेहरे के पीछे से भाँकती वासना मेरी दृष्टि से छिपी न रह सकी। मैं भयभीत हुई। मैंने कहा—माँ मैं तुम्हारे पास ही सुखी हूँ। किन्तु इसके पूर्व भीलनी कुछ कहती, वणिक बोला—मैं पुष्पसेन हूँ। मेरी प्रौढ़ावस्था है। तुम्हारी उम्र की पुत्र-पुत्रियों से मेरा आंगन सदैव गूजता रहता है, मैं भय मुक्त हुई और उसके साथ चल दी। मार्ग में पुष्पसेन का व्यवहार बहुत सुखद रहा। मुझे उसने विश्वास दिलाया कि वह शीघ्र ही मुझे मेरे माता-पिता के पास पहुँचा

देगा। मार्ग में मुझे पिता के समान व्यवहार किया और कहा—बेटी तू चिन्ता न कर। यदि लोकापवाद के कारण तेरे माता-पिता तुझे स्वीकार नहीं करेंगे तो तू मेरी पुत्री तो है ही। मैं तेरा विवाह किसी उत्तम कुल के युवक से कर दूँगा।

मैंने कहा—धर्म पिता, मेरे विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता। पुष्पसेन ने आश्चर्य से कहा—अभी यौवन काल का प्रारम्भ है। तुझे जीवन के अनेक यौवन-बसन्त देखने हैं। इस वय में विरक्ति? मैं कुछ समझ नहीं पाया। मैंने कहा—बाल्यकाल में अष्टाह्निका पर्व के समय चम्पापुर में एक जैन श्रमण आये थे। मेरी माँ और पिता जी ने अष्टाह्निका पर्व में ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। मैंने भी अनजाने में कहा—पिता जी मैं भी ब्रह्मचर्य लूँगी। पिता हँसी में बोले—तू ले ले बेटी। मैंने जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य स्वीकार कर लिया। बाल्यकाल की स्मृति यौवन की देहरी तक आते-आते मस्तिष्क पर दृढ़ता से छा चुकी है। मैं प्रति वर्ष अष्टाह्निका पर्व पर अपने बाल्यकाल की स्मृति में इस संकल्प को दोहरा लेती हूँ। भगवान महावीर और महासती चन्दनबाला के पावन चरित्र मेरे मस्तिष्क में सदैव गूँजते रहते हैं। ये नित नयी प्रेरणा और शक्ति देते हैं, यदि मुझे मेरे माता-पिता स्वीकार न करें, तो हे धर्म पिता आप मेरे जीवन का भार उठाइये। मुझे किसी जैन आश्रम के चरणों में स्थान दिला दीजिये। पुष्पसेन ने मेरे कथन पर अट्टसास किया।

तीन दिन गए। मैंने सोचा था अब मेरे दुःखों का अन्त निकट आ गया है। किन्तु दुर्भाग्य ने पीछा नहीं छोड़ा। जिसे मैं धर्म पिता समझी थी, उसने एक दिन अत्यन्त घृणित प्रस्ताव प्रस्ताव रखा—अनन्तमती धर्म और शील की बात छोड़। मैं तुझे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति की स्वामिनी बना दूँगा। मानव जीव बार-बार नहीं मिलता। यौवन के सुखद अण फिर नहीं आते। यौवन का उपभोग करो। यौवन की मादकता का अभी तुझे अनुभव नहीं है। एक बार इन भोगों को प्रारम्भ कर दिया था छोड़ने का नाम भी नहीं लोगी। धर्म की बाते निस्तार है।

मैंने कहा—धर्म पिता, मानव जीवन बार-बार नहीं

मिलता। भोगे हुए भोगों में तृप्ति कहाँ? मानव जन्म अनेक भवों में भटकने के बाद मिलता है। यह जीवन भी संसार के प्रपंचों और विलासिता में बीत गया, तो सब कुछ कौड़ी के मोल बिक जाएगा। पुष्पसेन ने कहा—पगली, ज्ञान की बातें रहने दो। खुशी-खुशी समर्पण नहीं किया, तो मुझे बलपूर्वक अपनी वासना पूर्ति करनी पड़ेगी। मैं तुम्हें दो दिन की अवधि देता हूँ। यदि इस बीच तूने अपना निर्णय नहीं बदला, तो मुझे बल प्रयोग करना पड़ेगा।

मैंने भगवान् महावीर का स्मरण कर अन्न-जल छोड़ दिया और यह प्रण किया कि जब तक इस उपसर्ग का निवारण नहीं हो जाएगा, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगी। भूख-प्यास और मानसिक उत्पीड़न से दो दिन में शरीर की कान्ति क्षीण हो गई। मूर्छा आने लगी। दो दिन बाद पुष्पसेन आया। मेरे शरीर की दशा देखकर घबराया। बोला—तुम्हें तेरे पिता के पास भेज दूँगा, तू अन्न-जल ग्रहण कर ले।

मैं अपने निश्चय पर अडिग रही। तीसरे दिन वह एक प्रौढ़ा को लेकर आया और बोला—मैंने तुम्हें घर भेजने की व्यवस्था कर दी है। तू भोजन कर ले और इस महिला के साथ आनन्द पूर्वक अपने घर जा। मैंने कुछ फल-दूध आदि स्वीकार किया। मैं उस महिला के साथ चल दी। किन्तु दुर्भाग्य से वह एक गणिका थी और पिशाच पुष्पसेन ने मुझे उसके हाथों इसलिए सौंपा था कि वह मुझे उसकी वासना पूर्ति के लिए विवश करे। शाम तक मुझे यह ज्ञान न हो सका कि देवसेना एक गणिका है। किन्तु रात्रि के प्रथम प्रहर में अश्लील गीतों की धुनें, पायलों की झंकारें और अट्टहासों ने मुझे सोचने पर विवश कर दिया कि देवसेना एक प्रसिद्ध एवं धनिक गणिका है। रात्रि के प्रथम प्रहर में घुघरुओं की झंकारें, तबले की थापें, रात्रि के तीसरे पहर थमी। मैं एक पल भी न सो सकी। सुबह-सुबह देवसेना ने एक स्वस्थ धनिक युवक से मेरा परिचय कराया और कहा कि यह बहुत चरित्रवान् व्यक्ति है। इसका आश्रय स्वीकार करो। मैं जानती थी कि मुझे बेचा जा रहा है। किन्तु मैं विवश थी। मैंने सोचा—पहले इस कुट्टनी के घर से मुक्ति प्राप्त

करूँ। अतः मैं उस पुरुष के साथ चल दी। गणिका के भवन के आगे एक सुसज्जित रथ खड़ा था, उसी में मेरी नूतन यात्रा आरम्भ हुई। रथ एक दुर्ग के आगे रुका और मुझे इसको चारदीवारी में बन्द कर दिया गया। लम्बी यात्रा के कारण अंग-अंग टूट रहे थे। थकान में पलकें बोझिल थीं। किन्तु प्रकाश की एक किरण सम्बल बन गई। हृदय ने कहा, बुद्ध ने उसका अनुमोदन किया कि जिस अदृश्य शक्ति ने बाल्यकाल में ब्रह्मचर्य अंगीकार करने की प्रेरणा दी थी, वही शक्ति मुझे जीवन के झूठों से छुटकारा देगी। मैंने वीर प्रभु का स्मरण किया।

इस पुनीत स्मरण से मेरा सुषुप्त विश्वास लौट आया। मुझे लगा जैसे कोई अज्ञात अलौकिक शक्ति मेरे भय को दूर खींच ले गई है। हृदय को शान्ति मिली, साहस मिला। सहसा किसी के आने की पदचाप सुनाई दी। मैंने देखा कि वही बलिष्ठ राजपुरुष मादकता पें बढ़ा चला आ रहा है। उसके चेहरे पर क्रूर वासना खेल रही थी। मैंने णमोकार मंत्र का जप आरम्भ कर दिया। मंत्र का चामत्कारिक प्रभाव हुआ। उसके बढ़ते हुए कदम रुक गए। उसकी वासना न जाने कहाँ विलीन हो गई। न जाने किस अदृश्य शक्ति ने इतनी जल्दी उसके विचारों में परिवर्तन ला दिया। वह बोला—बहिन क्षमा करना। मैंने अनेक युवतियों के साथ बलात्कार किया है। मेरे इस कक्ष की दीवारे उस पाप की साक्षी है। मेरे कानों में उनकी चीत्कारें आज भी गूँज रही हैं। आज के पहले कभी मेरे हृदय में दया नहीं आयी। आज मैं तुम्हें सच्चे हृदयसे बहिन कह कर पुकार रहा हूँ। मुझे अपने शब्दों का अपमान करना नहीं आता है। प्राण भले ही चले जायें, पर बहिन तेरी पावनता पर कोई दाग नहीं आएगा। मैं भागिनी-विहीन हूँ। एक बार मुझे भाई कह कर पुकार।

अनायास ही मेरे हृदय में निकल पड़ा—भैया! मुझे उसकी बाणी में प्रायश्चित्त की झलक मिली, किन्तु मैं दूध से जल चुकी थी। मैंने कहा—भैया यदि तुम सच्चे हृदय से प्रायश्चित्त कर रहे हो, यदि तुम अत्रिय हो, तो मुझे मार्ग दो! मुझे इसी समय मुक्त कर दो। वह मार्ग

वीतराग की पूजा क्यों ?

आचार्य जुगलकिशोर मुस्तार

जिसकी पूजा की जाती है वह यदि उस पूजन से प्रसन्न होता है, और प्रसन्ता के फलस्वरूप पूजा करने वाले का कोई काम बना देता अथवा सुधार देता है तो लोक में उसकी पूजा सार्थक समझी जाती है। और पूजा से किसी का प्रसन्न होना भी तभी कहा जा सकता है जब या तो वह उसके बिना अप्रसन्न रहता हो, या उसमें उसकी प्रसन्नता में कुछ वृद्धि होती हो अथवा उससे उसको कोई दूसरे प्रकार का लाभ पहुँचता हो; परन्तु वीतराग देव के विषय में यह सब कुछ भी नहीं कहा जा सकता—वे न किसी पर प्रसन्न होते हैं; न अप्रसन्न और न किसी प्रकार की इच्छा ही रखते हैं; जिसकी पूर्ति-अपूर्ति पर उनकी प्रसन्नता अप्रसन्नता निर्भर हो। वे सदा ही पूर्ण प्रसन्न रहते हैं—उनकी प्रसन्नता में किसी भी कारण से कोई कमी या वृद्धि नहीं हो सकती। और जब पूजा अपूजा से वीतराग देव की प्रसन्नता या अप्रसन्नता का कोई सम्बन्ध नहीं। वह उसके द्वारा संभाव्य ही नहीं। तब यह तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता कि पूजा कैसे की जाए, कब की जाय, किन द्रव्यों से की जाय, किन मंत्रों से की जाय, और उस कौन करे—कौन न करे? और न यह शंका हो की जा सकती है कि अविधि से पूजा करने पर कोई अनिष्ट घटित हो जायगा। अथवा किसी अधर्म

से हट गया, मैं उसी क्षण चल दी और निरन्तर चलती हो रही।

यह है मेरी आत्म-कथा माँ, मुझे आश्रय दो। संसृति के अपावन कोलाहल ने मेरी शान्ति, मेरी आस्था छीन ली है। मुझे भगवान् ऋषभ देव की अमृतवाणी का पान कराओं।

आयिका पद्मश्री ने अनन्तमती की अनन्त व्यथा को पहिचाना।

वह पद्मश्री का आश्रय पाकर निहाल हो गई। ●

अशोभन, अपावन मनुष्य के पूजा कर लेने पर वह देव नाराज हो जाएगा। और उसकी नाराजगी से उस मनुष्य तथा समूचे समाज को किसी दैवी कोप का भाजन बनना पड़ेगा; क्योंकि ऐसी शंका करने पर वह देव वीतराग ही नहीं ठहरेगा—उसके वीतराग होने से इनकार करना होगा, और उसे भी दूसरे देवी देवताओं की तरह रागी द्वेषी मानना पड़ेगा। इसी से अक्सर लोग जैनियों से कहा करते हैं कि जब तुम्हारा देव परम वीतराग है, उसे पूजा उपासना की कोई जरूरत नहीं। कर्ता धर्ता न होने से किसी को कुछ देता-लेता भी नहीं। तब उसकी पूजा वन्दना क्यों की जाती है? और उससे क्या नतीजा है।

इन सब बातों को लक्ष्य में रखकर स्वामी, समन्तभद्र जो कि वीतराग देवों की सबसे अधिक पूजा के योग्य समझते थे और स्वयं भी अनेक स्तुति स्तोत्रों के द्वारा उनकी पूजा में हमेशा सावधान एवं तत्पर रहते थे, अपने स्वयंभू स्तोत्र में लिखते हैं—

न पूजार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दयानाथ नितान्त वरे ।
तथापि ते पुण्य गुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

अर्थात् हे भगवान् पूजा वन्दना से आपका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप वीतरागी हैं—राग का अंश भी आपके आत्मा में विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसी की पूजा वन्दना से आप प्रसन्न होते। इसी तरह निन्दा से भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है। कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालिया दे, परन्तु उस पर आपका जरा भी क्षोभ नहीं आ सकता, क्योंकि आपकी आत्मा से वैरभाव द्वेषांश बिलकुल निकल गया है। वह उसमें विद्यमान भी नहीं है। जिससे क्षोभ तथा प्रसन्नता आदि कार्यों का उद्भव हो सकता। ऐसी हालत में निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिए समान हैं। उनमें आपका कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है। यह सब ठीक है। परन्तु फिर

भी हम जो आपकी पूजा वन्दनादि करते हैं उसका दूसरा ही कारण है, वह पूजा वन्दनादि आपके लिए नहीं—आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा सम्पादन करना, या उसके द्वारा आपको कोई लाभ पहुंचाना, यह सब उसका ध्येय नहीं है। उसका ध्येय है आपके पुण्यगुणों का स्मरण भावपूर्वक अनुचिन्तन—जो हमारे चित्त को—चिद्रूप-आत्मा को—पापमलों से छुड़ाकर निर्मल एवं पवित्र बनाता है, और इस तरह हम उसके द्वारा अपने आत्मा के विकास की साधना करते हैं। इसी से पद्य के उत्तरार्ध में यह सैद्धान्तिक घोषणा की गई है कि आपके पुण्य गुणों का स्मरण हमारे पापमल से मलिन आत्मा को निर्मल करता है—उसके विकास में सचमुच सहायक होता है।

यहाँ वीतराग भगवान् के पुण्यगुणों से स्मरण से पापमल से मलिन आत्मा के निर्मल होने की जो बात कही गई है वह बड़ी रहस्यपूर्ण है और उसमें जैनधर्म के आत्मवाद और कर्मवाद, विकासवाद और उपासनावाद जैसे सिद्धान्तों का बहुत कुछ रहस्य सूक्ष्म रूपों में सन्निहित है। इस विषय में मैंने कितना ही स्पष्टीकरण अपनी उपासना तत्त्व और सिद्धि सोपान जैसी पुस्तकों में किया है—स्वयम्भू स्तोत्र की प्रभावना के भक्तियोग और स्तुति-प्रार्थनादि रहस्य नामक प्रकरण से भी पाठक उसे जान सकते हैं। यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तभद्र ने वीतराग देव के जिन पुण्य गुणों के स्मरण की बात कही है वे अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तगुण और अनन्तवीर्यादि आत्मा के असाधारण गुण हैं, जो द्रव्यदृष्टि से सब आत्माओं के समान होने पर सबकी समान सम्पत्ति है और सभी भव्य जीव उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। जिन पापमलों ने उन गुणों को आच्छादित कर रखा है वे ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं, योगबल से जिन महात्माओं ने उन कर्म मलों को दग्ध करके आत्मगुणों का पूर्ण विकास किया है वे ही पूर्ण विकसित, सिद्धात्मा एवं वीतराग कहे जा सकते हैं। शेष

सब संसारी जीव अविकसित अथवा अल्पविकसितादि दशाओं में हैं—वे अपने आत्मनिधि को प्रायः भूलें हुए हैं सिद्धात्माओं के विकसित गुणों पर से वे आत्मगुणों का परिचय प्राप्त करते हैं और फिर उनमें अनुराग बढ़ाकर उन्हीं साधनों द्वारा उन गुणों की प्राप्ति का यत्न करते हैं, जिनके द्वारा उन सिद्धात्माओं ने किया था। और इस लिए वे सिद्धात्मा वीतराग देव आत्म-विकास के इच्छुक संसारी आत्माओं के लिए आदर्शरूप होते हैं। आत्मगुणों के परिचयादि में सहायक होने से उनके उपकारी होते हैं और उस वक्त तक के उनके आराध्य रहते हैं जब तक कि उनके आत्मगुण पूर्णरूप से विकसित न हो जाए इसी से स्वामी समन्तभद्र ने “ततः स्वनिःश्रेय-संभावना परैर्बुधप्रवेकैर्जिन शीतलेड्यसे। (स्व० ५०) इस वाक्य द्वारा उन बुध जन-श्रेष्ठों तक के लिए वीतराग देव की पूजा को आवश्यक बतलाया है। जो अपने निःश्रेयस की—आत्माविकास की भावना में सदा सावधान रहते हैं। और एक दूसरे पद्य ‘स्तुतिः स्तोतुः साधोः’ (स्व० ११६) में वीतराग देव की इस पूजा भक्ति को कुशल-परिणामों को हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्ग का सुलभ तथा स्वाधीन होना तक लिखा है। साथ ही, उसी स्तोत्रगत नीचे के एक पद्य में वे योग बल से आठों पापमलों को दूर करके संसार में न पाए जाने वाले ऐसे परम सौख्य प्राप्त हुए सिद्धात्माओं का स्मरण करते हुए अपने लिए तद्रूप होने की स्पष्ट भावना भी करते हैं जो कि जो वीतराग देव की पूजा-उपासना का सच्चा रूप है :—

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमययोगबलेन निर्वहन्।

अभवदभव-सौख्यवान् भवान्भवतु मयाऽपि भवोपशान्तये।

स्वामी समन्तभद्र के इन सब विचारों से यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वीतराग देव की उपासना की जाती है और उसका करना कितना अधिक आवश्यक है।

दीवान रूपकिशोर जैन की सार्वजनिक साहित्यसेवा

—अगरबन्ध नाहटा

प्राचीन जैन साहित्यकारों ने जो विविध भाषाओं में एवं अनेक विषयों का साहित्य रचकर भारतीय साहित्य की समृद्धि में महत्वपूर्ण योग दिया है, उसकी तो कुछ जानकारी प्रकाश में आई है। पर गत सौ पचास वर्षों में भी जो अनेक जैन साहित्यकार हुए हैं, उनकी साहित्य सेवा का परिचायक कोई ग्रन्थ तैयार नहीं किया गया। आधुनिक कुछ जैन कवियों की कविताओं का संग्रह तो भारतीय ज्ञानपीठ से निकला है। यद्यपि वह काफी अपूर्ण है फिर भी कुछ प्रतिनिधि कवियों की जानकारी उससे मिल जाती है। पर गद्य की अनेक विधाओं जैसे— कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि भी कई जैन लेखकों ने अच्छी सख्या में रचे हैं, उनके सम्बन्ध में हमारी जानकारी बहुत ही कम है। अतः आवश्यकता है—गत सौ वर्षों में जो भी जैन साहित्यकार हुए हैं उनका संक्षिप्त परिचय और उनकी रचनाओं की सूची वाला एक संग्रह ग्रन्थ शीघ्र ही तैयार करके प्रकाशित किया जाए।

आधुनिक जैन साहित्यकारों के साहित्य को मुख्य-तया चार-पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है। जैसे साधु-साध्वियों, चाहे ये किसी भी सम्प्रदाय या गच्छ के हों तथा अन्य त्यागी वर्ग में से जिन जिन ने उल्लेखनीय रचनाएँ की हैं, उनका एक विभाग रखा जा सकता है। इसी तरह भाषा की दृष्टि से प्राकृत, संस्कृत गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, मराठी, कन्नड आदि भाषाओं में जिन जिन जैन लेखकों ने साहित्य निर्माण किया है उनका दूसरा एक विभाग रखा जाय। उसी तरह साहित्य की अनेक विधाओं जैसे महाकाव्य, प्रबन्ध काव्य, फुटकर कविता, जीवन चरित्र, प्रवचन व उपदेशिक साहित्य, प्राचीन ग्रन्थों के अनुवाद व टीका विवेचन तथा कथा, श्रृंगार, एकांकी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, शोध आदि प्रबन्ध आदि विविध विषयों के साहित्य का परिचय एक

स्वतन्त्र विभाग में हो। विद्वान कवि व लेखक गृहस्थ जैन श्रावक-श्राविकाओं के साहित्य के भी दो विभाग किए जा सकते हैं। एक में जैन सम्बन्धी साहित्य और दूसरा सार्वजनिक साहित्य।

जैन साहित्यकारों ने गत सौ वर्षों में जो भी साहित्य निर्माण किया है उनमें से प्रकाशित साहित्य की जानकारी तो प्राप्त करना सुगम है पर अप्रकाशित साहित्य की जानकारी का पता लगाना अत्यन्त कठिन है। प्रकाशित जैन ग्रन्थों की जो-जो उल्लेखनीय सूचियाँ छपी हैं उनसे तथा प्रमुख प्रकाशकों और बुकसेलरों के सूची पत्रों से तथा जैन जैनेतर ग्रंथालयों व शास्त्र भण्डारों आदि से जैन ग्रन्थकारों और उनके रचनाओं की सूची तैयार की जानी चाहिये। उन ग्रंथकारों का परिचय कुछ तो जैन पत्र-पत्रिकाओं से एवं कुछ हिन्दी, गुजराती के साहित्यकार परिचय सम्बन्धी प्रकाशित ग्रन्थों में से संग्रहीत किया जा सकता है। पर यह सब कार्यवाही सामर्थ्य और द्रव्य में साध्य है फिर भी करने योग्य ही है।

अभी-अभी प्रसिद्ध हिन्दी पत्रकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का अभिनन्दन ग्रन्थ जो “प्रेरक-साधक” के नाम से सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित हुआ है, देखने में आया। उसमें श्री ‘हरिहरस्वरूप विनोद’ लिखित दीवान-रूपकिशोर जैन की साहित्य सेवा सम्बन्धी एक लेख प्रकाशित हुआ है। उससे दीवान रूपकिशोर जैन ने जो सर्व-जनोपयोगी ६० पुस्तकों की रचना की है उसका कुछ विवरण ज्ञात हुआ। उसे अन्य जैन बन्धुओं के लिए भी उपयोगी समझकर यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।

उनके लेख में दी हुई रचनाओं की सूची में जैन सम्बन्धी कोई ग्रन्थ नहीं है। हाँ वीर आदि जैन पत्रों का सम्पादन उन्होंने अवश्य किया था। ६० वर्ष की आयु में १२ दिसम्बर को उनका देहांत हुआ अतः उनके

वंशजों से उनकी अप्रकाशित और जैन सम्बन्धी रचनाओं का पता लगाना चाहिए। उनकी जीवनी के सम्बन्ध में भी खोज करने पर बहुत सी महत्वपूर्ण बातें उनके वंशजों और साथियों से मिल सकती हैं, उनको भी प्रकाश में लाना चाहिए। अन्तिम दिनों में वे अपने पुत्रों के पास दिल्ली चले आये और वहीं रहते थे अतः दिल्ली में उनके पुत्रों से सम्बन्ध स्थापित करने पर नई और ज्ञातार्थ जानकारी अवश्य ही सहज रूप से प्राप्त हो सकती है। आशा है इस ओर शीघ्र ध्यान दिया जायगा।

दीवान रूपकिशोर जैन

हिन्दी के शैशवकाल में जिन साहित्यकारों ने उसे जन-जन तक पहुंचाया और अनुवाद एवं मौलिक ग्रन्थों की रचना कर उसे समृद्ध बनाया, उनमें 'अलिफ लैला' के प्रथम हिन्दी अनुवाद दीवान रूपकिशोर का नाम भी उल्लेखनीय है। स्व० दीवान रूपकिशोर, मुशी प्रेमचन्द के समकालीन थे। उर्दू 'जमाना' पर प्रेमचन्द 'नवाबराय' उपनाम से लिखते थे। उसी पत्र में दीवानजी की 'किशोर' नाम से लिखा करते थे। जिस प्रेमचन्द ने उर्दू से हिन्दी जगत में आकर ख्याति प्राप्त की, उसी प्रकार दीवानजी ने भी पहले उर्दू में और फिर बाद में हिन्दी में लिखा और आजीवन हिन्दी की सेवा में जुटे रहे।

दीवान रूपकिशोर का जन्म अलीगढ़ जिले के एक प्रसिद्ध कस्बे विजयगढ़ में १३ जून १८८४ को हुआ। उनके पिता दीवान इन्द्रप्रसाद जिले के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से थे और उनकी गणना ताल्लुकेदारों में होती थी। बालक रूपकिशोर ने १८९० में पढ़ना आरम्भ किया। उन्हें अरबी और फारसी सिखाई गई। १८९७ में उन्होंने हिन्दी पढ़ना आरम्भ किया और कुशाग्र बुद्धि होने के कारण शीघ्र ही उनमें दक्ष हो गये।

तत्कालीन परिस्थितियों और उच्च घरानों की परम्परा के अनुसार उनकी शिक्षा घर पर ही अधिक हुई। मिडिल पास करने के बाद वे निरन्तर स्वाध्याय में लगे रहे और उन्होंने अरबी, फारसी तथा हिन्दी का सम्यक ज्ञान अर्जित किया। शरत और टैंगोर का अध्ययन करने के लिए उन्होंने बंगला भाषा सीखी। इस प्रकार कुल मिलाकर वे दस भाषाएं जानते थे।

प्रत्येक भाषा में उनकी लिखावट बहुत सुन्दर होती थी। सम्पन्न जमींदार का पुत्र होने के कारण उन्हें सब प्रकार की सुविधाएं प्राप्त थीं, इसलिए उनका सारा जीवन लिखने-पढ़ने में ही बीता। उन्होंने १९०९ में आयुर्वेद का अध्ययन किया और १७०७ में फोटोग्राफी भी सीखी। एक प्रकार से वे एक कुशल चित्रकार थे। आयुर्वेद उन्होंने पंडित वर्ग को ओषधि देने के लिए सीखा था।

दीवान रूपकिशोर का हृदय बड़ा संवेदनशील था। कहते हैं कि एक बार एक किसान को बेदखल किया गया। क्योंकि उस पर दस हजार रुपया बकाया था। वह अपने पूरे परिवार के साथ विजयगढ़ आ गया और गिड़गिड़ाने लगा। दीवानजी ने न केवल उसे माफ ही कर दिया, बल्कि एक गाय देकर उसे बिदा किया। उसके बाद उन्होंने किसी किसान पर जोर जबरदस्ती नहीं की।

जमींदारी के कार्य की देखभाल के साथ-साथ उनका साहित्य सृजन चलता रहा। उन्होंने कुल मिलाकर ६० पुस्तकों की रचना की। कहानियाँ, नाटक, उपन्यास सम्बन्धी सभी क्षेत्रों में कलम उठाकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। १९०९ में उन्होंने 'चारुबाला' नामक उपन्यास उर्दू भाषा में लिखा जो अप्राप्य है। इसी वर्ष 'गुलशन ए किशोर' लिखा। उनके द्वारा हिन्दी भाषा में १३ उपन्यास बताये जाते हैं, जो सुनील कन्या (१९१४), सूर्यकुमार सम्भव (१९१५), भारतीय वीरांगणा, शील प्रबोध, अवंति कुमारी, कुदसियर बेगम, घूघट वाली तथा श्रीदेवी। फारसी भाषा की प्रसिद्ध पुस्तक जो एक हजार पृष्ठों की बताई जाती है। 'अलिफ लैला' का हिन्दी में अनुवाद किया। यह अनुवाद काफी लोकप्रिय हुआ।

'बारहमासी' रूपकिशोर नामक काव्य और 'किशोर पूर्णिमा' कहानी संग्रह भी उन्हीं की रचनाएं हैं। उन्होंने कुलल्लु वैद्यराज (रूपक) और सब्जपरी, गुलफाम (स्वांग) भी लिखे। ज्योतिष, शरीर विज्ञान आदि पर भी उनकी रचनाएं मिलती हैं। इस प्रकार १९०९ से लेकर १९२५ तक उन्होंने लिखना जारी रखा। उनके लेख उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में स्थान पाते रहे।

(शेष पृ० २३२ पर)

तत्त्व क्या है ?

आचार्य तुलसी

मानव की आत्मा में अमिट प्रकाश है। उसमें अन्वेषण और पथप्रदर्शन की शक्ति है। ज्ञान-विज्ञान का अक्षय कोष मानव बुद्धि का सुफल है। मानव की वाणी और विचारों ने साहित्य, दर्शन और विज्ञान को जन्म दिया। इसीलिए मानव शक्ति और अभिव्यक्ति का केन्द्र माना गया है। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों का स्रष्टा मानव है। बाह्य दृष्टियों वाले व्यक्तियों ने चेतन सत्ता को भुलाकर जड़ शक्ति में विश्वास किया और आत्मा का अस्तित्व मानने वाले बाहरी शक्तियों का अनुभव करते हुए भी अन्तरंग अन्वेषण से विमुक्त न हुए।

जीवन क्या है, हम क्या है, संसार क्या है, प्रश्न उठे और समाहित हुए। समाधान में दोनों वादों ने भाग लिया। भौतिकवादी वर्ग जड़ शक्ति का प्राधान्य मानकर सब कुछ सुलझाने की चेष्टाएं कर रहा है। आत्मवादियों का दृष्टि बिन्दु आत्मा पर टिका हुआ रहा है और वे उस अचेतन अरूपी सत्ता के सहारे जटिल गुथियाँ सुलझाते हैं।

भौतिकवाद की जड़ में वर्तमान जीवन का ही मूल्य आँका जाता है अतः वहाँ मुड़कर आगे बढ़कर दृष्टि दौड़ाने की आवश्यकता नहीं रहती। अध्यात्मवाद की भित्ति आत्मा है। आत्मा के साथ जन्मान्तर, कर्म, स्वर्ग, नरक और मोक्ष की कड़ियाँ जुड़ी हुई हैं। अतीत के जीवन भुलाए नहीं जा सकते और भविष्य जीवन की ओर से आँखें नहीं मूदी जा सकतीं।

आध्यात्मिक क्षेत्र में धर्म-कर्म कल्पना की सृष्टि नहीं, वे तात्त्विक तथ्य हैं।

आज के युग का प्रमुख दृष्टिकोण जड़वादी है। उसमें त्याग और संयम की प्रमुखता नहीं है। त्याग का प्रयोग किया जाता है पर संयम के लिए नहीं। भोगों की वृद्धि के लिए। भोग सामग्री की कमी हो, जीवन के उप-

योगी साधन सबको सुलभ नहीं। उसी दशा में दूसरों के लिए अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग करना उनका लक्ष्य है। आध्यात्मिक त्याग का उद्देश्य आत्मसंयम है। विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख-साधनों से फलीभूत हो, ऐश्वर्य से दब रहा हो धन वैभव से लद रहा हो तो भी आध्यात्मिक व्यक्ति अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए भोगमय सुख-साधनों को ठुकराता हुआ आत्मसंयम के मार्ग पर अग्रसर होता है।

भौतिकवाद में समानता की भावना है। फिर भी उसमें अहिंसा के लिए कोई स्थान नहीं। समानता भी भौतिकता तक सीमित है। आत्मवादी भौतिक समानता के उपरान्त भी हिंसा के दोष से बचना चाहता है। इन दोनों में क्या और कितना भेद है? इसका पूर्व दर्शित प्रणाली के अनुसार सरलता से पता लगाया जा सकता है।

आज का युग विज्ञान के इंगित पर चल रहा है। उसकी हाँ की ओर ना कि प्रतिध्वनि में ही लोग अपना श्रेय समझते हैं। मुझे विज्ञान अप्रिय नहीं और न मैं उसे पृष्ठा की दृष्टि से देखता हूँ। फिर भी उसमें जो त्रुटि है, वह तो कहनी ही चाहिए। दोष अन्ततः दोष ही है। चाहे वह कहीं भी क्यों न हो? वर्तमान विज्ञान भौतिकवादी दृष्टिकोण के सहारे पनपा है इसलिए वह जड़ तत्त्वों की छानबीन में लगा हुआ है। आत्मा अन्वेषण से उदासीन है। यदि यह बात न होती तो आज इतना संघर्ष न हुआ होता। भौतिकता स्वार्थमूलक है। स्वार्थ साधना में संघर्ष हुए बिना नहीं रहते। आध्यात्मिकता का लक्ष्य परमार्थ है—इसलिए वहाँ संघर्षों का अन्त होता है। यह सच है कि संसारी प्राणी पौद्गलिक वस्तुओं से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकता फिर भी उन पर नियन्त्रण करना आवश्यक है। धर्म के अतिरिक्त अन्य

कोई तत्त्व नियन्ता नहीं हो सकता ।

धर्म विशाल हृदय है । अहिंसा उसकी आत्मा है—प्राणीमात्र के साथ विरोध न करो, उनको आत्मवत् समझो । हिंसा मृत्यु है मोह बन्धन है, बैर है । जो दूसरे की हिंसा करता है, वह अपना बैर बढ़ाता है । विज्ञान के बड़े-बड़े घातक और डरावने अस्त्र-शस्त्र उत्पन्न किए हैं । उनसे भय बढ़ा, आतंक बढ़ा और आशंकाएं बढ़ी । एक समान दूसरे समाज को, एक जाति दूसरी जाति को और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को संदिग्ध दृष्टि से निहार रहा है । हिंसा ने संसार का सारा खाका ही बदल डाला । सिंह भय के मारे भागा जा रहा है कि कहीं काले माथे वाला मुझे मार न दे । मनुष्य इस भय से मरा जा रहा है कि कहीं बाघ मुझे खा न जाये । आज के संसार की भी यही मनोदशा है । इस स्थिति में कौन अभय दे सकता है । आशंका की लपट में झुलसते आए जगत को कौन उबार सकता है । इस ओर जनता ध्यान दे, सोचे और समझे ।

सन्तोष धर्म का जीवन है । इच्छा आकाश के समान अनन्त है । उसे सीमित करो । संग्रह भावना मत रखो । अधिक संग्रह से जीवन अधिक दुखी बनेगा । परिग्रह के साथ माया, कपट, अभिमान, दण्ड और दुर्भावनाएं बढ़ती हैं । सारे लोक में परिग्रह के समान दूसरी निबिड़ जंजीर कोई नहीं : अर्थलोलुपता आज चरम सीमा पर पहुंची हुई है । दुनिया के बड़े-बड़े मस्तिष्क अर्थोपार्जन की व्यायाम विधि से संलग्न हैं । एक दूसरे को हड़पना चाहता है । निगलना चाहता है । भूमि उतनी कृपण नहीं बनी है, जितनी मानव की जठराग्नि तेज बनी है । वह अनन्त धनराशि को पचा सकती है । सामग्री अल्प है । भोक्ता अधिक है । संचय की भावना उनसे भी अधिक है । इस लिए तो वर्ग युद्ध छिड़ रहा है । नये-नये बाद जन्म ले रहे हैं । स्पर्धा और संघर्ष की चिनगारियाँ उछल रही हैं । आश्चर्य है, दुनिया इस ओर ध्यान नहीं देती कि धन केवल जीवन निर्वाह का साधन है । साध्य नहीं । साध्य तो कुछ और ही है । सब प्राणी सुख चाहते हैं । वह उनका साध्य है । सुख आत्मा का धर्म है । शरीर का नहीं । वह सन्तोष से पैदा होता है, धन से नहीं, चेतो

अब भी चेतो । शुष्क बुद्धिवाद में जीवन की बहुमूल्य घड़ियाँ यों ही मत खोओ ।

लोग कहते हैं—यह तर्कवादी युग है । मुझे लगता है यह युग अनुकरण प्रेमी है । अनुकरण और तर्क की जोड़ नहीं बनती । भेड़ उक पशु हैं । उसकी अनुकरण क्रिया क्षम्य हो सकती है । एक भेड़ के पीछे अनेक भेड़ें बोलें, यह नहीं अखरता । बुद्धिशील मानव बिना सोचे-समझे, किसी की हाँ में हाँ मिलाये यह अखरने जैसी बात है । कुछ भौतिकवादियों ने धर्म को अफीम कहा तो बहुत सारे लोग प्रवाह में बह चले । धर्म अफीम क्यों है ? धर्म अनावश्यक क्यों है ? यह भी कभी सोचा ? यदि सोचा तो उसमें अफीम जैसी क्या वस्तु मिली । रोग सोहन के है और इलाज मोहन का किया जाए, यह विफल चेष्टा है । धर्म से न तो खून की नदियाँ बहीं और न लड़ाइयाँ हुई । धर्म ने न तो धन के कोष जमा किये और न गगन-चुम्बी अट्टालिकायें खड़ी की । यह सब स्वार्थ की काली करतूतें हैं । स्वार्थियों के हथकण्डे हैं । उन्होंने धर्म को अपनी स्वार्थसिद्धि का साधन बनाया और उनके नाम पर बड़े अन्याय और अत्याचार किए । उनके स्वार्थ सधे धर्म बदनाम हुआ । लोगों की उस पर से आस्था हटी । धर्म हिंसा और परिग्रह का सबसे बड़ा विरोधी है । उससे हमें शान्ति, सद्भावना और विश्व मैत्री का संदेश मिला है । धर्म वाक्यों ने परिग्रह की जितनी भत्सना की है, उतनी किसी भी वाद ने नहीं की । सभी वाद धन लोलुप हैं । धर्म को धन की चाह नहीं । धन तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता । धन दुख का दाता है, अनर्थ का मूल है । ये वाक्य धार्मिक क्षेत्र के सिवाय और कहीं भी नहीं मिल सकते । धर्म से घृणा मत करो—डरो नहीं । धर्म के नाम पर जो विकार फैला हुआ है, उसकी शल्य चिकित्सा कर डालो । धर्म सोना है, उसे उठा लो । वह उपेक्षा की वस्तु नहीं ।

परोक्ष रूप से धर्म का स्वरूप कई बार आ चुका है । प्रत्यक्षतः उसका पारिमाणिक रूप जान लेना चाहिए । “आत्मशुद्धि साधनं धर्मः”—आत्मशुद्धि के साधन—अहिंसा, समय और तपस्याएँ ये धर्म ही हैं । व्यवहार में धर्म, अहिंसा, सत्य, आचार्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन

पाँच रूपों में अवतरित होता है। क्षमा, सहिष्णुता, नम्रता आदि गुण इसके परिवार हैं। धर्म व्यक्तिनिष्ठ है। धर्म का चरम लक्ष्य मोक्ष है। इसका अर्थ यह नहीं कि वर्तमान जीवन में उसका कुछ फल ही सही होता। धर्मनिष्ठ व्यक्ति अपना जीवनस्तर ऊँचा उठा सकता है। मैं उस जीवन स्तर को ऊँचा मानता हूँ, जो अधिक से अधिक त्यागपूर्ण और सन्तोषमय हो। जिनकी जीवन आवश्यकताएँ बढ़ी नहीं हैं, जिन्हें योग साधन अधिक उपलब्ध हैं, मैं उनका जीवन स्तर ऊँचा नहीं मानता क्योंकि वस्तुतः वे सुखी नहीं हैं। अधिक आवश्यकताओं में सुख कम होता है और कम आवश्यकताओं में सुख की मात्रा बढ़ती है। अधिक आवश्यकता वाला व्यक्ति राष्ट्र या समाज के शोषक हुए बिना नहीं रह सकते।

धर्म के विषय में मनुष्य जितना भ्रान्त है। उतना सम्भवतः अन्य विषयों में नहीं है। इसलिए धर्म के कुछ अंगों का सूत्र रूप में संकलन करना उचित होगा। जो आत्मशुद्धि का साधन है, वह धर्म है। धर्मस्वरूप है—त्याग और तपस्या। धर्म व्यक्ति से पृथक् नहीं है। धर्म का आश्रय वह व्यक्ति है, जो अहिंसक और सन्तुष्ट है। धर्म से आचरण पवित्र होते हैं। धर्म प्रेम या स्नेह से ऊपर की वस्तु है। वह समता से ओत-प्रोत है। धर्म का लक्ष्य भौतिक सुख प्राप्ति नहीं, आत्म विकास है। धर्म प्रत्येक भौतिक कर्तव्य को सीमित करता है। धर्म परलोक के लिए नहीं जीवन के प्रत्येक क्षण को सुधारने के लिए धर्म धनिक एवं उच्च वर्ग वालों के लिए ही नहीं अपितु सबके लिए है। धर्म सबके लिए एक है। उसमें तन-मन का भेद नहीं है। धर्म साधना के लिए धन की आवश्यक नहीं। शुद्ध भावना एवं सरलता आवश्यक है। ऊपर भी पंक्तियों में मैंने जिस धर्म का उल्लेख किया है, वह स्थायी है, उपकारी है, दीन-हीन के लिए आदरणीय है।

वर्तमान का राजनीतिक जीवन अति विपात है। उसका विषैला धर्म सब क्षेत्रों की छू रहा है। धर्म भी उससे बंचित नहीं है। स्वायं की भूमिकाओं में पले जिसे राजनीतिकवाद धर्म का नाश करने पर तुले हुए हैं।

भौतिक सुख समृद्धि के लिए आत्मा का अस्तित्व मिटाने का दुष्ट संकल्प किए हुए है, वास्तिकता के काले

बादल अतीत की अपेक्षा आज अधिक घने और गहरे हैं। इस दशा में यदि धार्मिकों ने धर्म की मौलिकता पर ध्यान न दिया तो उन्हें भयंकर विपत्तियाँ झेलनी पड़ेंगी। जनता में धर्म की आस्था है, धर्म बहुत प्रिय है पर रोटी का प्रश्न मुलभाने की ओर में जो नास्तिकता का प्रचार किया जा रहा है, धर्म पर गूढ़ प्रहार किया जा रहा है। वह उपेक्षा की वस्तु नहीं है।

मैं उह राजनीतिज्ञों को भी एक चेतावनी देता हूँ कि वे हिंसक क्रान्ति ही सब समस्याओं का समुचित माधन है, इस भ्रान्ति को निकाल फेंकें। अन्यथा उन्हें स्वयं कटु परिणाम भोगना होगा। स्थायी शान्ति के शान्ति के साधन अहिंसा, क्षमता और हृदय परिवर्तन है। हिंसक क्रान्तियों से उच्छृङ्खलता का प्रसार होता है।

आज के हिंसक से कल का हिंसक अधिक क्रूर होगा, अधिक सुख लोलुप होगा। फिर कैसे शान्ति रह सकेगी—यह कम समझने की बात नहीं है। स्थिति चक्र परिवर्तनशील है। अहिंसा हीन कोई भी बाद सुखद नहीं हो सकता यह निश्चित है। वर्ग संघर्ष जैसी विकट समस्या अहिंसा और सन्तोष का समन्वय किए बिना स्थायी रूप से मुलभ नहीं सकती। यह भी निश्चित है। हिंसावादी हिंसा छोड़ें और परिग्रहवादी अर्थ-लोभ छोड़ें, तभी स्थिति साधारण हो सकती है। प्राणी मात्र को अब अहिंसा और अपरिग्रह की मर्यादा समझनी है। हिंसा और परिग्रह का अभियान करते-करते आज का मानव थक चुका है। अब उसे विश्रान्ति की आवश्यकता है। शान्ति की इच्छा है।

मानव सुख का आर्थी है। तो आत्मा को पहिचाने। अशान्ति को हेतुभूत भौतिक लालसाओं को त्यागे, धर्म का अन्वेषण करे। क्षणिक सुख-सुविधाओं के लिए शाश्वत तत्त्व को भुला देना बुद्धिमानी नहीं है। धर्म धनी और गरीब, मालिक और मजदूर, साम्राज्यवादी और साम्यवादी इन सबके लिए कल्याण का प्रशस्त पथ है, सब धार्मिक बनें। पौद्गलिक सुखों में अति आसक्त न बनें। वह जीवन क सबसे बड़ा गूढ़ रहस्य है।

यही सत्य और सनातन तत्त्व है।

जैन मतानुसार तप की व्याख्या

रिषभदास राँका

साधना-मार्ग में तप का बहुत अधिक महत्त्व है। क्योंकि शरीर को कसकर उसे आत्म-विकास का साधन बनाने में वह प्रमुख सहायक है। तप का अर्थ शरीर-कष्ट नहीं है। वही तप-साधना में सहायक होता है, जिससे शरीर और मन की प्रसन्नता बढ़े। इसलिए तप के भेदों को जानना जरूरी है। तप दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप के छह भेद हैं—अनशन, अव-मौदर्य, वृत्ति-परिसंख्या, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश। आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं—प्राय-चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।

ध्येय की प्राप्ति तथा वासनाओं को क्षीण करने के सभी प्रयत्नों को तप कहते हैं। ये प्रयत्न तन और मन दोनों से किये जाते हैं। यदि मन का साथ मिले बिना शरीर से किया जाने वाला तप देह-दण्ड या काय-क्लेश के सिवा कुछ न होगा, इसलिए शारीरिक या बाह्य तपश्चर्या से मानसिक या आभ्यन्तर तप का अधिक महत्त्व है। लेकिन बाह्य तप भी आवश्यक होता है।

अनशन—बिना आहार के शरीर टिक नहीं सकता। शरीर का सन्तुलन बिगड़ने न पाये और वह कर्म करने योग्य अप्रमादी बना रहे, इस दृष्टि से बीच-बीच में शरीर को आहार न देना अथवा उपवास रखना आवश्यक है। उपवास का अर्थ है आत्मा के निकट वास करना। यानी इस नाशवान् शरीर से भिन्न सर्वशक्तिमान और अमर आत्मा का अनुभव करना। जब ऐसा लगे कि शरीर निरुपयोगी और भार रूप हो गया है तब उसके त्याग के लिए अनशन किया जाता है। इन सब बातों का एक ही उद्देश्य है कि हम शरीर की नश्वरता और आत्मा की अमरता को समझें और उसका विकास करें। अनशन या उपवास का अर्थ केवल भोजन का त्याग ही नहीं है। शरीर को विश्राम देकर उसे अधिक सेव्य बनाना भी आवश्यक है। स्वास्थ्य ठीक रखना साधक का कर्तव्य भी है।

अवमौदर्य—जब साधक को लगे कि अनशन करने की आवश्यकता नहीं है और ऊनोदरी से, कम भोजन से, एक बार खाने से काम चल सकता है तो वह ऐसा करता है। यह अवमौदर्य कहलाता है।

वृत्ति-परिसंख्या—भोजन स्वादिष्ट हो, बढ़िया हो, गरिष्ठ हो तो जीभ घर नियन्त्रण रखना कठिन हो जाता है। लालसा बढ़ जाती है और तब भोजन में अनेक पदार्थ शामिल हो जाते हैं। इस वृत्ति पर नियन्त्रण रखने के लिए कहा गया है कि खाद्य पदार्थों की संख्या तथा परिमाण तय करना चाहिए। साधक कम से कम वस्तुओं को रखने प्रयत्न करता है, जरूरत में ज्यादा चीजों का नालच छोड़ता है।

रस परित्याग—साधक की चर्चा कम से कम आहार और कम से कम पदार्थों से चलनी चाहिए। साधना में स्वाद भी बहुत बाधा पहुंचाता है, इसलिए तपश्चर्या में रस त्याग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिससे विकार बढ़ते हो, इंद्रियां प्रबल होती हों, वैसा आहार न करना चाहिए। छह प्रकार का तप है। इसमें विषयों के भोग का रस भी कम होता है।

विविक्त शय्यासन—तपस्या में स्थान भी बाधक होता है। यानी आस-पास का वातावरण और परिस्थिति सहायक होनी चाहिए। साधक एकान्त में रह सके तो अच्छा। कोलाहल पूर्ण, अस्वस्थ स्थान तथा जहाँ तरह-तरह की बाधाएँ खड़ी हों ऐसा स्थान तपस्वी के लिए अनुकूल नहीं होता। एकान्त, पहाड़, सुनसान, पेड़ के नीचे साधना तेजी में होती है। अधिक नींद भी साधना में बाधक है।

काय क्लेश—ठण्ड में ठण्ड का, गर्मी में गर्मी का उप-द्रव न हो, इसलिए शरीर को विविध आत्मनों द्वारा सहनशील बनाए बिना बेसे प्रसंग आ पड़ने पर साधक विचलित हो जाता है। अतः शरीर को कष्ट सहने के योग्य बनाने

के प्रयत्न का भी साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। शरीर की नियन्त्रण में रखने तथा झुंघर-उधर के प्रलोभनों या प्रमाद में न डूबने देने के लिए काया को कष्ट में डालना उचित ही है। यह एक प्रकार का आध्यात्मिक व्यापार ही है। इसे काय योग भी कह सकते हैं।

आभ्यन्तर तप

प्रायश्चित्त—जीवन शुद्धि और आत्म विकास में प्रायश्चित्त का बहुत महत्त्व है। श्रमण परम्परा में इस पर बहुत जोर दिया गया है। भगवान महावीर ने तो प्रायश्चित्त का दैनिक कार्यों में जोड़कर एक प्रकार से उसे जीवन का अंग ही बना दिया है। हम जो कुछ करते हैं वह सावधानी रखने के बाद भी एकदम शुद्ध और निर्दोष नहीं होता, गलतियाँ हो ही जाती हैं। गलतियाँ अज्ञान से भी होती हैं, स्वभाव दोष से भी होती हैं और प्रमाद से भी होती हैं। भविष्य में ऐसी गलतियों से बचने के लिए उनकी आलोचना करना, कारण को जानने और उससे बचने का प्रयत्न करना उपयोगी है।

गलती हो जाने पर उसके बारे में अनुताप करके पुन वही गलती न होने देने का संकल्प करना और सावधानी रखना साधक को आगे बढ़ने में सहायक है। जो व्यक्ति भूलों से सबक लेता है, उसका निश्चय से विकास होता है।

जो व्यक्ति या साधक अपनी चर्या में नियमित रहता है, उससे गलतियाँ बहुत कम होती हैं। आहार-विहार और आचार-विचार का निश्चित और नियमित रहना अत्यन्त आवश्यक है। यह सब विवेक से ही सम्भव है। भूल से बचने के लिए विवेक बहुत बड़ा सहारा है।

साधक साधना की दिशा में तब तक प्रगति नहीं कर सकता, जब तक वह शरीर और शरीर सम्बन्धी व्यापारों से आसक्ति नहीं हटा लेता। शरीर, मन और इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ तो चालू ही रहती हैं, लेकिन इनसे आत्मा को हटा कर आत्म-चिन्तन का अभ्यास करना चाहिए। जब भी कोई बुरे विकार या स्वप्न आदि आ जायें, तब उन दोषों के निवारण के लिए ध्यान करना प्रायश्चित्त कहलाता है।

प्रयत्न करते रहने और अप्रमत्त रहने पर भी साधक

से दोष हो ही जाते हैं। व्रत का भंग हो ही जाता है, संकल्पों में ढिलाई आ जाती है। लेकिन साधक इससे घबराता नहीं और अनशन आदि करके दोष का निवारण करता है। संकल्पों को ताजा करता है। प्रायश्चित्त से चित्त शुद्धि होती है और भूलों से बचाव होता है।

विनय—विनय को मोक्ष का मूल कहा गया है। अपने से बड़े, ज्ञानी, श्रेष्ठ और तपस्वी के प्रति विनय रखे बिना या उनके लिए समर्पित हुए बिना साधक का विकास असम्भव है। गुरु के बिना ज्ञान अंधकार के समान है। गुणियों के प्रति आदर रखना विनय है। महावीर ने साधना मार्ग में व्यक्ति की अपेक्षा गुण पर जोर दिया गया है। गुण ही पूज्य हैं, जाति, कुल आदि नहीं। इसीलिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र के विनय भी बताए गए हैं, सतत ज्ञान प्राप्ति, अभ्यास और स्मरण ज्ञान का सच्चा विनय है। दृढ़ता व श्रद्धा से ही जीवन में दृढ़ता और शुद्धता आती है। शंकाओं का निवारण ग्रन्थों या ज्ञानियों से कर लेना चाहिए। इस तरह तत्त्व की निष्ठा को दृढ़ रखने का प्रयत्न दर्शन विनय है और तदनुकूल आचरण या प्रयत्न ही चारित्र विनय है।

जो साधक नम्र होता है, उसको अपनी अपूर्णताओं का भान रहता है। जब साधक में यह अहंकार पैदा हो जाता है कि वह सब कुछ जानता है, उसने सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है। तब उसकी प्रगति रुक जाती है। उसे कोई नहीं चाहता। इसलिए साधक को अहंकार छोड़ कर ज्ञान प्राप्ति के लिए और चारित्र को शुद्ध, उन्नत बनाने के लिए विनय को बढ़ाना चाहिए। अपने से बड़ों के प्रति आदर रखना उपचार-विनय है।

बैयावृत्य—सेवा बैयावृत्य। शरीर को सेवा या सहायता की जरूरत रहती है। यह अभिमान मिथ्या है कि किसी को सेवा और सहायता की जरूरत नहीं। साधक अपनी आवश्यकताएँ कम से कम कर लेते हैं, फिर भी कुछ न कुछ सेवा तो शरीर निर्वाह के लिए लेनी ही पड़ती है। वास्तव में मानव शरीर ही सेवा से ओत-प्रोत है। जब तक शरीर है तब तक सेवा का लेन-देन चलता ही रहता है, जब कोई सेवा में प्रमाद करता है वा अपनी सुखासक्ति में फँस जाता है तब उसमें कर्कशता, कठोरता आ जाती है और किसी न किसी पर उसका बोझ पड़ता

है। साधक हो या गृहस्थ, सेवा की सबको जरूरत है। सेवा पारस्परिकता का धर्म है। इसलिए साधकों के लिए भी कहा गया है कि उन्हें अपने से ज्येष्ठ, श्रेष्ठ आचार्यों उपाध्यायों, तपस्वियों की, बीमार-दुर्बल, ग्लान, बाल-साधुओं की समान और नीचे की श्रेणी के साधुओं की, संघ, कुल, गण, मनोज्ञों की सेवा सुश्रुषा करनी चाहिए। वैयावृत्य के दस भेद माने गए हैं, लेकिन भाव यही है कि जिसको जैसी सेवा की जरूरत हो वैसी उसकी सेवा होनी चाहिए। सेवा में अनासक्ति हो और अपनी मर्यादा का भाव भी हो।

स्वाध्याय—स्वाध्याय का अर्थ है जिज्ञासा पूर्वक ज्ञान की उपासना, चिन्तन। स्वाध्याय से ज्ञान बढ़ता है। आत्म-शक्ति बढ़ती है और चारित्र्य निर्दोष होता है। स्वाध्याय के पाँच प्रकार हैं। १. अनुभवियों के ग्रन्थों को या अर्थों को पढ़ना, २. अधिक जानकारी से पूछना, ३. पढ़े हुए या सीखे हुए पाठ का बार-बार शुद्धता से उच्चारण करना और ४. धर्म का उपदेश करना। ज्ञान प्राप्ति करने, उसे निशंक बनाने, उदात्त और परिपक्व बनाने के लिए स्वाध्याय का बहुत महत्त्व है। स्वाध्याय से तेजस्विता तथा अनासक्ति आती है।

व्युत्सर्ग—अहंकार आदि होने पर, खेत, धन, संपत्ति, कुटुम्ब, परिवार की आसक्ति का त्याग बाह्य व्युत्सर्ग है। राग-द्वेष, क्रोधादि विकारों का त्याग आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है। चित्त शुद्धि के लिए सब तरह की उपाधियों का त्याग आवश्यक है। साधक सुबह-शाम, ममता-त्याग का प्रयत्न और चिन्तन करता है।

ध्यान—कर्म निर्जरा के लिए ध्यान का बहुत महत्त्व है। साध्य की प्राप्ति समता द्वारा ही होती है। ध्यान के बिना समता सम्भव नहीं। समता ध्यान से ही टिकती है, बिना समता के साधक ध्यान का अधिकारी नहीं। इस तरह ध्यान और सम भाव एक दूसरे के पोषक हैं। ध्यान से आत्मा की शुद्धि भी होती है, जिससे कर्मों का क्षय होता है और साधक “मैं” पन से ऊपर उठकर सबका हो जाता है।

ध्यान का अर्थ है चित्त को किसी भी विषय पर एकाग्र करना। यों चित्त खाली नहीं रहता, किसी न

किसी विषय का ध्यान या चिन्तन वह करता ही रहता है। इस प्रकार ध्यान के शुभ और अशुभ दो भेद हो जाते हैं। जिस ध्यान से साधक का कल्याण होता है, साधना प्रगति होती है वह शुभ है और जो ध्यान साधक को नीचे गिराता है उसे अशुभ कहते हैं। आतं ध्यान और रौद्र ध्यान अशुभ हैं।

आतं ध्यान—संसार में अनिष्ट योग, इष्ट विवोग, बीमारी तथा किसी वस्तु की प्राप्ति की अभिलाषा प्रायः सब में रहती है और उसके लिए लोग चिन्तित भी रहते हैं। चित्त की व्याकुलता या आकुलता ही आतं ध्यान है। यह मनुष्य को अशुद्धि की ओर ले जाता है—नीचे गिरता है। प्रयत्नों के बावजूद भी अनिष्ट योग, इष्ट विवोग, बीमारी आती ही है। इसे सर्वथा टालना सम्भव नहीं है। लेकिन विवेकपूर्ण प्रसंगों पर व्यक्कुल न होना और धीरज पूर्वक सहन करना कर्तव्य है। अपनी शक्ति को ऐसे विषयों में न लगाकर विकास की ओर ले जाने वाले विषयों पर अपने चित्त को लगाना इष्ट है।

अपने को तथा दूसरों की पीड़ा पहुँचाने के लिए चिन्तन करना, तरह-तरह की योजनाएँ सोचते रहना और चिन्ता में डूबे रहना आतं ध्यान है। यह दुःख का हेतु है। इसे तो त्याग ही देना चाहिए।

रौद्र ध्यान—हिंसा, असत्य, चोरी तथा परिग्रह के लिए सतत चिन्ता करना रौद्र ध्यान है। रौद्र ध्यान का मूल आकार क्रूरता है। अपने स्वार्थ के लिए दूसरे का अनिष्ट चिन्तन, दूसरों को फंसाने के लिए असत्य या बेईमानी के तरीके सोचना, दूसरे के धन के अपहरण के मार्ग पर विचार करना तथा अपने परिग्रह की रक्षा की चिन्ता करना, यह सब रौद्र ध्यान है। इससे मनुष्य नीचे गिरता है। उसकी अवगति होती है और वह दुखी बनता है। इसलिए रौद्र ध्यान हेतु कहा गया है, अनिष्ट माना गया है।

जो ध्यान मनुष्य को ऊँचा उठाते हैं, साध्य तक पहुँचाते हैं, वे हैं धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान।

धर्म ध्यान—जो ध्यान समता को बढ़ाने और उसे दूर करने के लिए किया जाता है वह साधक की साध्य की प्राप्ति में सहायक होता है। इसलिए साधक को राग-

द्वेष से ऊपर उठकर वीतरागी महान् विषयों के अनुभव युक्त बचनों का ध्यान करना चाहिए, जिससे साधना में सहायता मिले।

साधक को अपने दोषों यानी कमजोरियों के स्वरूप को समझकर उन्हें दूर करने का चिन्तन करना चाहिए। राग-द्वेषादि कषायों के कारण ही तो सभी बाधाएँ खड़ी होती हैं। समता में बाधक परिस्थिति पर विचार कर उन्हें दूर करने का चिन्तन करना चाहिए। असत्य मार्ग पर किस तरह चला जा सकता है, इसका चिन्तन करना चाहिए, ताकि दुख से बचा जा सके। पाप कर्मों से निवृत्त हुआ जा सके।

किस कार्य का क्या फल मिलता है, इस पर विचार करना भी शुद्धि की ओर ले जाने में सहायक है। बुराई का परिणाम भोगना ही पड़ता है। इस तरह के मंथन से साधक बुराई से छूटकर शुद्ध होता है। कई लोग जन्म से ही नीरोग, बुद्धिमान और तेजस्वी होते हैं और कई बीमार, दुखी, बुद्धिहीन। यह सब शुभ-अशुभ कृत्यों का परिणाम है। संसार के स्वरूप का, उसकी विकलता, व्यापकता, स्थिति तथा विनाशशीलता का चिन्तन तथा उसके विविध द्रव्यों की परिवर्तनशीलता जान लेने पर मनुष्य सहज ही उसके प्रति अनासक्त होता जाता है और व्याकुल नहीं होता।

शुक्ल ध्यान—जब साधक जड़ और चेतन के भेद

का विचार करता है, उसकी गहराई में जाकर पुद्गल तथा चेतन द्रव्य के सम्बन्धों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार करता है तब उसके चरित्र में दृढ़ता आती है। यानी चारित्र मोहनीय कार्यों का नाश होता है, सत्याचरण में दृढ़ता आती है।

यद्यपि जड़ चेतन द्रव्य पृथक् है, तथापि सयोग से मिल जाते हैं। इनमें से किसी एक तत्त्व का अवलम्बन लेकर उसके किसी एक परिणाम पर चित्त को निश्चल करने से ध्यान में दृढ़ता आती है। अनेक विषयों की ओर भड़कने वाले मन को किसी एक विषय पर के हित करने से जैसे जलते हुये चूल्हे में से ईंधन निकाल लेने पर आग बुझ जाती है, वैसे ही मन चञ्चलता के नष्ट हो जाने से निष्कम्प बन जाता है। इससे आत्मा के ज्ञान में बाधा पहुँचाने वाले सब कर्मों का विलय होकर ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है और साधक सर्वज्ञता को प्राप्त होता है।

जो धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान, जो बन्ध में मुक्ति दिलाने में सहायक होते हैं। तभी किये जा सकते हैं, जब मन शरीर सुदृढ़ और नीरोग हो।

कहा गया है कि धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के लिए वज्र वृषभनाराच संहनन जैसा बलिष्ठ शरीर आवश्यक है। स्वस्थ शरीर के बिना मन स्वस्थ नहीं होता और स्वस्थ मन के बिना अच्छा ध्यान नहीं हो सकता।

(पृष्ठ २२५ का शेषांश)

गांधीजी के असहयोग आन्दोलन आदि कार्यक्रमों को देश की आजादी के लिए उठाया जाने वाला कदम समझते हुए भी दीवान रूपकिशोर राजनीति की ओर उन्मुख न हो सके। उन्होंने अपना संपूर्ण समय साहित्य की गतिविधियों तक ही सीमित रखा। जब भारत स्वाधीन हो गया और जमींदारी प्रथा समाप्त कर दी गई, तब वह विजयगढ़ से अपने पुत्रों के पास दिल्ली चले आये और अन्तिम समय तक दिल्ली में ही रहे।

दीवान रूपकिशोर ने चार पत्रों का सम्पादन भी किया। बिजनौर से प्रकाशित 'वीर' विजयगढ़ से, 'महावीर' और हाथरस से निकलने वाले 'मार्तण्ड' का उन्होंने

सफलतापूर्वक सम्पादन किया। उन्होंने स्वयं भी 'हिन्दी गल्प' नामक पत्र निकाला। ६० वर्ष की आयु में १२ दिसम्बर १९६१ को उनका देहान्त हो गया।"

दीवान रूपकिशोर की तरह गत १०० वर्षों में ऐसे कई जैन साहित्यकार हो गए और अभी भी विद्यमान हैं कि जिन्होंने केवल जैन सम्बन्धी ग्रन्थ ही लिखकर उपन्यास, कहानी आदि सार्वजनिक साहित्य भी विशेषरूप से लिखा है एवं लिख रहे हैं। जैन समाज के लिए यह एक उल्लेखनीय बात होगी कि जैन साहित्यकार केवल जैन धर्म सम्बन्धी रचना रचना ही नहीं करते पर सर्वजनोपयोगी साहित्य का भी प्रचुर परिमाण सर्जन करते रहे हैं।

पुण्यतीर्थ पपौरा (धारावाहिक)

—सुधेश—

—: प्रथम सर्ग :—

भारत तो पावन है ही पर,
पावन इस का हर कण-कण है ।
इस में सुर तक को आकर्षित,
करने वाला आकर्षण है ॥ १ ॥
लगता त्रिभुवन की श्री ही,
स्वयमेव हुई एकत्र यहाँ ।
तब ही तो अनुपम सुषमा के,
दर्शन होते तो सर्वत्र यहाँ ॥ २ ॥
लगते प्रसून तो सुन्दर ही,
पर सुन्दर लगते कण्टक भी ।
निर्भर तो रसमय हैं ही पर,
रसमय इस के प्रस्तर तक भी ॥ ३ ॥
वधुएं तो मुस्काती ही पर,
हर शिला यहाँ मुस्काती है ।
चिड़ियां तो गाती ही हैं पर,
हर मारुत लहरी गाती है ॥ ४ ॥
स्वर्गीय छटा दर्शाते हैं,
नित सध्या और प्रातःकाल यहाँ ।
निज निधि बिखेरते शरद शिशिर,
आतप और वर्षा काल यहाँ ॥ ५ ॥
प्राकृतिक दृश्य हैं दर्शनीय,
गिरि शिखरों के नद कूलों के ।
है कहीं लताओं के मण्डप,
उद्यान कहीं तो फूलों के ॥ ६ ॥
यों इस भारत की वसुधा यह,
सुषमा का शान्ति निकेतन है ।
जो हमको देख न मोहित हो,
ऐसा भी कौन सचेतन है ॥ ७ ॥
भूतल का स्वर्ग इसे कहने,
में कवि को कुछ संकोच नहीं ।
इस से सुन्दर क्या स्वर्गों में,

होगा ? पाता कवि सोच नहीं ॥ ८ ॥
उत्तर में हिम गिरि श्रेणी तो,
मध्य भाग में विन्ध्य शिखर ।
हैं हिम के होरक हार उधर,
तो उज्ज्वल निर्भर धार इधर ॥ ९ ॥
× × ×

यह विध्याचल ही दूर-दूर,
तक फैला हुआ दिखाता है ।
इस के ही कारण यह प्रदेश,
बुन्देल खण्ड कहलाता है ॥ १० ॥
यह वीर भूमि है वीरों ने,
निज विक्रम यही दिखाया था ।
आल्हा ऊदल ने अरि दल की,
सेना को यही छकाया था ॥ ११ ॥
जन्मे थे मधुकर शाह यहीं,
जिन ने निज आन दिखायी थी ।
'अकबर' का आदेश भंग,
कर अपनी टेक निभायी थी ॥ १२ ॥
हरदोल यही पर हुए जिन्होंने,
पिया विहंसते हुए गरल ।
अति कठिन मृत्यु आलिंगन भी,
माना था जिस ने कार्य सरल ॥ १३ ॥
ये छत्रसाल भी यहीं हुए,
गौरवमय जिन की गाथा है ।
प्रत्येक वीरता का प्रेमी,
जिन को नत करता माथा है ॥ १४ ॥
लक्ष्मी बाई भी यहीं हुई,
भाये जिसको शृंगार नहीं ।
जिसने निज रिपुओं के आगे,
की कभी हार स्वीकार नहीं ॥ १५ ॥
यों जाने कितने वीर हुए,
जो चले सदा अंगारों पर ।

जो हो समस्त सदा भूमे,
तलवारों की झंकारों पर ॥ १६ ॥
बुन्देल खण्ड उन वीरों से,
है रहा कभी कंगाल नहीं ।
जिन ने निज अन्तिम श्वासों तक,
गलने दी स्वि की दाल नहीं ॥ १७ ॥
जिन की वीरत्व कथाएं हैं,
प्रचलित नगरों में गाँवों में ।
भर देता जिसका नाम मात्र,
वीरत्व हृदय के भावों में ॥ १८ ॥
अब तब भी गाते जाते हैं,
गायक जिन के यश गीत नये ।
कवि जिन को केन्द्र बना रचते,
जाते हैं काव्य पुनीत नये ॥ १९ ॥
यों यह क्रीड़ा स्थल दीर्घ काल,
से रहा मनस्वी गुणियों का ।
पर साथ-साथ ही तपो भूमि,
भी रहा तपस्वी मुनियों का ॥ २० ॥
इसने ऋषियों को तप करते,
देखा है सदा दिगन्तों ने ।
इसके कितने ही तपोवनों,
में ध्यान लगाया सन्तों ने ॥ २१ ॥
साक्षी हैं इसके विध्याचल,
के जाने कितने विपिन सधन ।
जिन की एकान्त गुफाओं में,
है किया उन्होंने आत्म मनन ॥ २२ ॥
इसके कण-कण भी किए गए,
हैं पावन उनके चरणों से ।
जो थे छुटकारा चाह रहे,
वसु कर्मों के आवरणों से ॥ २३ ॥
जो कर्म निर्जरा करने को,
निर्जन में यहाँ विचरते थे ।
निर्मित कर तप का हवन कुण्ड,
कर्मों का स्वाहा करते थे ॥ २४ ॥
जिन ने निखारा था अपना,
श्रद्धान, ज्ञान, आचार स्वयम् ।

जिन में विकास पा हुए सभी,
ये तीनों एकाकार स्वयम् ॥ २५ ॥
जिन ने इस भौतिकवादी युग,
में था अध्यात्म प्रचार किया ।
देकर उपदेश अहिंसा का,
सब में करुणा संचार किया ॥ २६ ॥
जिन ने निज चितन से सारे,
जग का कल्याण विचारा था ।
तुम जियो सभी को जीने दो,
जिन का यह पावन नारा था ॥ २७ ॥
संसार हुआ लाभान्वित था,
जिन के आदर्श विचारों से ।
था पारस्परिक विरोध मिटे,
जिन के पावन उद्गारों से ॥ २८ ॥
जिन के समीप आ गाय सदृश,
भोले बन जाते चीते थे ।
जिन के प्रभाव से सिंह धेनु,
जल एक घाट में पीते थे ॥
अतएव यहाँ बहुतायत से,
पुण्य स्थल हैं प्राचीन अभी ।
जो दीर्घ काल से खड़े हुए,
हो निज महिमा में लीन अभी ॥
जिन की कि वंदना करने से,
भक्तों को मिलता चैन सदा ।
जिन को निहार कर ही सार्थक,
समझा करते वे बैन सदा ॥
मन-मोहित करने का इतना,
बल रखती जिन की सौम्य छटा ।
लगता है वहाँ पहुँचने पर,
जाये न वहाँ से शीघ्र हटा ॥
यद्यपि जिन के परिपूर्ण कथन,
में अक्षम है ये छन्द सभी ।
पर कवि न निराशा से करता,
निज लौह लेखनी बन्द अभी ॥
जितना उससे बन सकता है,
वह उतना मात्र जताता है ।

खजुराहो की अद्वितीय जैन प्रतिमायें

शिवकुमार नामदेव

मध्यप्रदेश का प्रसिद्ध कलातीर्थ खजुराहो चन्देल नरेशों की धार्मिक सहिष्णुता का परिचायक है। यह नगर पन्ना से २५ मील उत्तर एवं छतरपुर से २७ मील पूर्व तथा महोबा से २४ मील दक्षिण में स्थित है। खजुराहो में चन्देलों की कृतियों की कलाराशि उपलब्ध है। यहाँ लगभग ३० मन्दिर हैं जो शिव, विष्णु तथा जैन तीर्थङ्करों की उपासना में निर्मित हुए हैं। इन देवालयों को हम ६५० से १०५० ई० के मध्य रख सकते हैं।

खजुराहो देवालयों का पूर्वी समूह जैन देवालयों का समूह कहलाता है। इन देवालयों में पार्श्वनाथ मन्दिर, आदिनाथ मन्दिर, घण्टाई मन्दिर आदि अपनी मनोहारी और भव्यतम कलाराशियों से युक्त हैं।

इस समूह के विशालतम एवं रमणीक जैन मन्दिर पार्श्वनाथ का है। इस देवालय के भीतर और तीन आगार हैं। इस देवालय की बाह्य भित्ति पर चतुर्दिक एक के ऊपर एक तीन पट्टों में विभिन्न मूर्तियों का अंकन है। प्रथम पंक्ति में तीर्थङ्कर प्रतिमाओं के अतिरिक्त कुबेर, द्वारपाल, गजारूढ़ एवं अश्वारूढ़ जैन शासन देवताओं का अंकन है। प्रियतम के पत्र को पढ़ने में अति-लीन स्त्री प्रतिमा, पैर से कांटे को निकालती हुई, नेत्र में अंजन आंजती हुई, शिशु को स्तनपान का सेवन कराती हुई माता एवं पाद में नृत्य हेतु नुपुरों को बाँधती हुई बालाओं की मूर्तियाँ भी दर्शनीय हैं। इन पट्टों पर अनेक

लिखने को तो है बहुत किन्तु,
थोड़े में सार बताता है॥
वह वर्णन अपनी ही मति के,
अनुरूप किया अब जाता है।
मन के भावों को भाषा का,
यह रूप दिया अब जाता है॥

(क्रमशः)

आयुधों से युक्त, विभिन्न वाहनों पर आरूढ़ जैन शासन देवी-देवताओं की मूर्तियाँ हैं। सभी प्रतिमायें प्रतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से निर्मित की गई हैं।

जैन देवी-देवताओं की प्रतिमाओं के अतिरिक्त हिन्दू धर्म की रामचरित से सम्बन्धित मूर्तियों में त्रिभंगी मुद्रा में राम एवं सीता का चित्रण है। पार्व में राम, कृष्ण, हनुमान जी को भी अंकित किया गया है। इसके अतिरिक्त सीता जी को अशोक वाटिका में दिखाया गया है।

भित्ति का दूसरा पट्ट भी अलंकृत है। ऊपर के पट्ट में विद्याधर युगल पुष्पमाला लिए हुए तथा वाद्य बजाते हुए गंधर्व एवं किन्नरों का अंकन है। जंघा में ऊपर दिक्पाल, घनुषधारी एवं चारभुजी देवियों का सुन्दर अंकन है।

बाह्य भित्ति तथा प्रदक्षिणा पथ के प्रतिमा पट्टों पर अङ्कित ये सौन्दर्यमयी प्रतिमायें उस युग के कलाकारों के सघे हुए हाथों की यशोगाथा, छेनियों के संयम तथा उनके सूक्ष्म-बुद्ध एवं परिष्कृत एकाग्र मन की अमिट तस्वीर हैं।

इस मन्दिर की कलाकारिता से प्रभावित होकर प्रसिद्ध कला मर्मज्ञ डा० अर्ग्युसन महोदय ने कहा है कि सम्पूर्ण मन्दिर की रचना इतनी दक्षता के साथ हुई है कि सम्भवतः हिन्दू देवालय की स्थापत्य के दृष्टिकोण से इनकी तुलना में नहीं है।

देवालय के मण्डप के ऊपर बाह्य और देव-देवियों तथा अप्सराओं की प्रतिमाओं की पंक्ति तीनों ओर बनी हुई है। जिसमें एक स्नान से निवृत्त बाला को अपने भीसे हुए केश से जल बिन्दुओं को अलग करते हुए दिखाया गया है। हंस उस बाला की केशराशि से टपकते हुए जल बिन्दु को मोती समझकर झपटते हुए प्रदर्शित किया है। कलाकारों की सूक्ष्म-बुद्ध एवं सूक्ष्म छेनियों से निर्मित इन

प्रतिमाओं को देखकर आश्चर्यचकित हो जाना स्वाभाविक ही है। अन्य मूर्तियों में मकरवाहिनी गंगा एवं कर्मवाहिनी यमुना के साथ चतुर्भुज द्वारपालों का अंकन है। गंगा एवं यमुना की प्रतिमाओं के ऊपर की पंक्ति में तोरण तक गंधर्व, यक्ष आदि की प्रतिमाएँ हैं। द्वार के ऊपरी तोरण पर द्वादशभुजी चक्रेश्वरी एवं दोनों पार्श्व पर जिन शासन देवियों की मूर्तियाँ हैं। जो दोनों ओर नवगृहों से आवेष्टित है। मुख्य तोरण के ऊपर शीर्ष तोरण में युगादि देव एवं दो अन्य तीर्थङ्करों की प्रतिमाएँ हैं। इसके अतिरिक्त दो अर्हत प्रतिमाओं एवं साधुओं का अंकन भी है।

आदिकाल देवालय की बाह्य भित्ति एवं शान्तिनाथ के देवाल्यों की कला भी उत्तम कोटि की है। शान्तिनाथ देवालय के आंगन में धरणेन्द्र एवं पद्मावती की एक सुन्दर युगल प्रतिमा प्रतिष्ठित है। देवालय की भित्ति पर देवी-देवताओं तथा अप्सराओं की कृतियों के साथ व्याघ्र की मूर्तियाँ भी बनी हुई हैं। सिंहाकृति से मिलने-जुलते इस जानवर का प्रतीक रूप में बहुतायत से अंकन हुआ है। प्रदक्षिणा पद की भित्ति पर भिन्न-भिन्न जिन शासन देव एवं देवियों, गंधर्वों, किन्नरों एवं अप्सराओं की सौंदर्यमयी मूर्तियाँ खचित हैं। बाहुबली स्वामी की भी यहाँ एक प्रतिमा अंकित है। इन प्रतिमाओं के अतिरिक्त अलसित वदन शृंगादि का, कामिनी और सुर-मुन्दरियों की मुद्रायें विशेष आकर्षक हैं। निकट ही एक नाई के द्वारा एक सुन्दरी के पैर से काँटे को निकालते हुए दिखलाया गया है।

गर्भगृह में भीतरी पट की ओर गंगा-यमुना एवं द्वारपाल आदि हैं। द्वार तोरण पर ललाट बिम्ब में भगवान चन्द्रप्रभु हैं। जिनके दोनों पार्श्व पर कायोत्सर्ग तीर्थकर की आसन मूर्तियाँ हैं। उनके मध्य में नवग्रह एवं चमर-धारिणी, यक्षियों के बीच तीर्थकरों की प्रतिमाएँ हैं जिनमें से ५ पद्मासन एवं ६ कायोत्सर्ग आसन में हैं। वेदिका पर दोनों पार्श्व में भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ हैं।

आदिनाथ देवालय में भित्तियों पर मूर्तियों का

अंकन केवल बाह्य भाग पर ही प्राप्त होता है। मूल एक पर एक तीन कतारों में अंकित हैं। उर्ध्व भाग लघु कतार में गंधर्व, किन्नर एवं विद्याधर तथा शेष कतारों में शासन देव, अप्सराओं आदि की मूर्तियाँ प्रतिमाओं की इस बीच की कतारों में देव कुलि निर्मित कर शासन देवियों को ललितासन मुद्रा में अंकित किया गया है।

जैन धर्म के बाइसवें तीर्थकर नेमिनाथ की अम्बिका सिंहारूढ़ आश्रम वृक्ष के नीचे आश्रम मंजरी धारण किये हुए शिशु को स्तनपान कराती हुई दिखाई गई तीर्थकर की माँ एवं माँ के सोलह स्वप्नों का अंकन यहाँ पर दिया हुआ है। इसी देवानयन में जैन धर्म प्रथम तीर्थकर भगवान आदिनाथ अथवा ऋषभनाथ प्रतिमा है।

शान्तिनाथ मन्दिर में मूलनायक सोलहवें तीर्थ भगवान शान्तिनाथ की विशाल प्रतिमा है। शान्तिनाथ की १२' ऊँची यह प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में है। मन्दिर के आंगन में वाम पार्श्व की ओर दीवाल पर २३वें तीर्थकर पार्श्वनाथ के यक्ष एवं यक्षिणी धरणेन्द्र एवं पद्मावती की एक आकर्षक एवं सौन्दर्यमयी प्रतिमा है। इस प्रतिमा में यक्ष दम्पति को एक आसन पर ललितासन में अंकित बैठे हुए दिखाया गया है। इनके हाथों में श्री है। देवी के हाथ में एक छोटा शिशु भी दिखाया गया है।

भगवान शान्तिनाथ की मूर्ति के परिकर में दक्ष पार्श्व में पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग प्रतिमाएँ हैं। पार्श्वनाथ के अतिरिक्त अन्य तीर्थकरों की दस प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। नीचे सनत्कुमार एवं महेन्द्र नामक चामर धारण किये हुए दिखाये गये हैं।

खजुराहो का जैन देवालय जिसे घण्टई मन्दिर कहा जाता है खण्डहर अवस्था में है। इसमें तीर्थकर मूर्ति शासन देवियाँ, विद्याधर एवं नवगृहों आदि की मूर्तियाँ का सुन्दर अंकन है।

जैनधर्म संसार की दृष्टि में

मैं विस्वास के साथ यह बात कहूंगा कि महावीर स्वामी का नाम इस समय यदि किसी सिद्धान्त के लिए पूजा जाता है तो वह अहिंसा है। अहिंसा तत्व को यदि किसी ने अधिक से अधिक विकसित किया है तो वे महावीर स्वामी थे।

—स्व० महात्मा गांधी

जनों का अर्थ है संयम और अहिंसा। जहां अहिंसा है वहां द्वेषभाव नहीं रह सकता। दुनिया को यह पाठ पढ़ाने की जवाबदारी आज नहीं तो कल अहिंसात्मक संस्कृति के ठेकेदार बनने वाले जैनियों को ही लेनी पड़ेगी।

—सरदार वल्लभभाई पटेल

हिन्दु संस्कृति भारतीय संस्कृति का एक अंश है, और जैन तथा बौद्ध यद्यपि पूर्णतया भारतीय हैं परन्तु हिन्दू नहीं हैं।

—पं० जवाहरलाल जी नेहरू (डिस्कवरी आफ इंडिया)

श्री महावीर जी के उपदेशों पर अमल करने से ही वास्तविक शान्ति प्राप्त हो सकती है। इस महापुरुष के बताये हुए पथ का अनुसरण कर हम शान्ति लाभ कर सकते हैं। आज के संघर्षशील और अशांत संसार से हम साधु पुरुष के उपदेशों पर ही चलकर सुख शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

—डा० राजेन्द्रप्रसाद

भ० महावीर स्वामी जैनधर्म को पुनः प्रकाश में लाये। वे २४वें अवतार थे, इनके पहिले ऋषभ, नेमि, पाशवं आदि नाम के २३ अवतार और हुए हैं, जो कि जैनधर्म को प्रकाश में लाये थे, इस प्रकार इन २३ अवतारों के पहिले भी जैनधर्म था, इससे जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है।

—स्व० लोकमान्य तिलक

महावीर का सन्देश हृदय में आतृभाव पैदा करता है।

—हिज एक्सलेसी सर अकबर हैदरी गवर्नर, आसाम
मानवता की बुनियाद पर स्थित हुई विश्वधर्म—

भावना अहिंसा और प्रेम के आघार द्वारा प्रकट करना यह “श्री महावीर” का उद्देश्य समझना है।

—श्री जी. वी. मावलंकर प्रेसीडेंट

अहिंसा और सर्व-धर्म समभाव जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं।

—मेजर जनरल रायबहादुर ठा० अमरसिंह

आजकल के बिगड़े हुए वातावरण में जबकि जातीय भावनायें अपना भयंकर रूप धारण कर देश को हिंसा की ओर ले जा रही है तब भ० महावीर की अहिंसा सर्व धर्म की एकता का पाठ पढ़ाती है।

—श्री पं० देवीशंकर जी तिवारी

जैन धर्म के आदर्शों का प्रचार करना यह मानव मात्र का उद्देश्य होना चाहिए।

—सर टी. टी. कृष्णमाचारी

It is impossible to find a beginning for Jainism. Jainism thus appears as the earliest faith of India.

In, The short studies In Science of Comparative Religious. By G. J. R. Furlong.

The names Rishabha, neami etc are well-known in Vedic Literature. The members of Jains order are known as Nirgranthas.

In Historical Gleanings by Dr. Bimalcharan.

जैनधर्म भारत का एक ऐसा प्राचीन धर्म है कि जिसकी उत्पत्ति तथा इतिहास का पता लगाना एक बहुत ही दुर्लभ बात है।

—मि० कन्नोमल जी एम. ए. सेशन जज

पाश्वनाथ जी जैनधर्म के आदि प्रचारक नहीं थे, इसका प्रचार ऋषभदेव जी ने किया था।

—श्री वरदकांत जी एम. ए.

सबसे पहिले भारत में ऋषभदेव नामक महर्षि उत्पन्न

हुए, ये भद्रपरिणामी पहिले तीर्थंकर थे।

—श्री तुकाराम कृष्ण जी शर्मा लट्टू
B. A. P. Hd. M. R. A. S. Etc.

ईर्ष्या द्वेषके कारण धर्म प्रचारक वाली विपत्ति के रहते हुए भी जैनशास्त्र कभी पराजित न होकर सर्वत्र विजयी होता रहा है। अर्हत परमेश्वर का वर्णन वेदों में पाया जाता है।

—स्वामी विरुपाक्षवडियर एम. ए.

जैनधर्म सर्वथा स्वतन्त्र है, मेरा विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण नहीं है।

—डा० हर्मेन जेकोबी, एम. ए. पी-एच. डी.

जैनियों के २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ ऐतिहासिक महा-पुरुष माने गये हैं।

—डा० फुहार

अच्छी तरह प्रमाणित हो चुका है कि जैनधर्म बौद्ध धर्म की शाखा नहीं है।

—अंबुजाक्ष सरकार एम. ए. बी. एल.

जैन बौद्ध एक नहीं है हमेशा से भिन्न चले आये है।

—राजा शिवप्रसाद जी “सितारे हिन्द”

यह भी निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि बौद्धधर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध के पहिले जैनियों के २३ तीर्थंकर और हो चुके है।

—इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया पृ. ५४

यह बात निश्चित है कि जैनमत बौद्धमत से पुराना है।

—मिस्टर टी. डब्ल्यू रईस डेविड

स्याद्वाद जैनधर्म का अभेद्य किला है, उसके अन्दर वादी प्रतिवादियों के मायामय गोले प्रवेश नहीं कर सकते। मुझे तो इस बात में किसी तरह का उज्र नहीं कि जैन-धर्म वेदान्त आदि दर्शनों से पूर्व का है।

—पं० राममिश्र जी आचार्य रामानुज सम्प्रदाय
नेमिनाथ श्री कृष्ण के भाई थे।

—श्रीयुत् वरवै

एकाकी निस्पृहः शातः, पाणिपात्रो दिगम्बरः।

कदा शभो ! भविष्यामि, कर्म निर्मूलनक्षमम् ॥

—भर्तृहरि

नाहं रामो न मे वाछा, भावेषु न च मे मनः।

शान्तिमासितुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥

—योगवशिष्ठ, गीता

ऐतिहासिक सामग्री से सिद्ध हुआ कि आज से ५ हजार वर्ष पहिले भी जैनधर्म की सत्ता थी।

—डा० प्राणनाथ इतिहासज्ञ

महाभारी प्रभाव वारे परम सुहृत् भगवान् ऋषभदेव जी महाशील वारे सब कर्म से विरक्त महामुनि को भक्ति-ज्ञान वैराग्य लक्षणयुक्त परमहंस के धर्म की शिक्षा करते भये।

—भागवत स्कन्ध ५ अ० ५

शुकदेव जी कहते हैं कि भगवान् ने अनेक अवतार धारण किये, परन्तु जैसा संसार के मनुष्य कर्म करते हैं वैसा किया। किन्तु ऋषभदेव जी ने जगत को मोक्षमार्ग दिखाया, और खुद मोक्ष गये। इसीलिए मैंने ऋषभदेव को नमस्कार किया है। —भागवत् भाषाटीका पृ. ३७२ स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्ट नेमिः स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु ॥

—यजु० अ० २५ मंत्र १६

ऋषभं मा समानानां सयज्ञत्नानां विषा सहिम्।

हन्तारं शत्रूणां कृधि, विराजै गोपितं गवाम् ॥

—ऋषभदेव अ० ८ मंत्र ८ सूत्र २४

जैनधर्म विज्ञान के आधार पर है, विज्ञान का उत्तरोत्तर विकास विज्ञान को जैन दर्शन के समीप लाता जा रहा है।

—डा. एल. टैसी टोरी, इटली

महावीर जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे, किन्तु उन्होंने उसका पुनरुद्धार किया है। वे संस्थापक की वजाय सुधारक थे।

—इर्वटवारन, इंग्लैन्ड

मैं आशा करता हूं कि वर्तमान संसार भगवान् महावीर के आदर्शों पर चल कर आपस में बंधुत्व और समानता का भाव स्थापित करेगा। डा. सतकौड़ी मुकर्जी

साहित्य का शृंगार तो वह नैसर्गिक भाषा है, जिस भाषा में भ० महावीर ने आशीर्वाद दिया था।

—डा० कालिदास नाग

भ० महावीर द्वारा प्रचारित सत्य और अहिंसा के पालन में ही संसार संघर्ष और हिंसा से अपनी सुरक्षा कर सकता है।

—डा. श्यामाप्रसाद मुकर्जी, अध्यक्ष हिन्दु महासभा

जैन संस्कृति मनुष्य संस्कृति है, जैन दर्शन मनुष्य दर्शन ही है। जिन 'देवता' नहीं थे, किन्तु मनुष्य थे।

—प्रो० हरिसत्य भट्टाचार्य

साहित्य-समीक्षा

१. पं० टोडरमल व्यक्तित्व और कृतित्व—ले० डा. हुकमचन्द शास्त्री, प्रकाशक मंत्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ए-४, बापूनगर, जयपुर। पृष्ठ संख्या ३६८ मूल्य ...।

प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय उसके नाम से ही स्पष्ट है। यह एक थीसिस ग्रन्थ है, जिस पर लेखक को इन्दौर विश्वविद्यालय से पी. एच. डी. की डिग्री प्राप्त हुई है। इस ग्रन्थ से टोडरमल जी के सम्बन्ध में अनेक तथ्य प्रकाश में आये हैं। उनसे इस ग्रन्थ की महत्ता बढ़ गई है। सबसे पहले पं० टोडरमल जी का परिचय इन पंक्तियों में लेखक ने सन् १९४४ में अनेकान्त में प्रकाशित किया था। जब जयपुर में एक महीना ठहर कर स्व० प० चैन-सुखदास जी और महावीर तीर्थक्षेत्र के मंत्री रामचन्द्र जी खिन्दुका के सौजन्य से आमेर का शास्त्र भंडार जयपुर लाया था। और उनसे १० ग्रन्थों की प्रशस्तियां तथा अनेक ऐतिहासिक नोट्स लिये थे। पं० चैनसुखदास जी और जयपुर के अन्य विद्वानों का यह विचार का कि पं० टोडरमल जी २७-२८ वर्ष की अवस्था में ही शहीद हुए हैं। पर मेरा गुदूढ़ विचार था कि उनकी आयु लगभग ५० वर्ष की होनी चाहिए; क्योंकि उनकी सं० १८११ की रहस्यपूर्ण चिट्ठी में जो मुलतान के अध्यात्म रसिक लोगों के प्रश्नों के उत्तर में अध्यात्म चर्चा के गूढ़ रहस्य को अनेक दृष्टान्तों तथा वस्तु वस्त्व के विचारों द्वारा व्यक्त किया था। उस कोटि के आध्यात्मिक विचार अल्प-वय में होता सम्भव नहीं है, वे प्रौढावस्था के विचार हैं। लेखक ने रामकरण जी के चर्चा ग्रंथ के पृ० १७३ के आधार पर उनकी आयु सैतालीस वर्ष पूर्ण करने का उल्लेख किया है। इससे हमारी उक्त कल्पना की पुष्टि ही नहीं हुई, किन्तु भ्रान्त धारणा का निराकरण भी हो गया है। लेखक ने इस शोध प्रबन्ध द्वारा टोडरमलस्मारक भवन की महत्ता को प्रकट कर दिया है। और इससे भवन निर्माता गोदिका जी की भावना को सफलता मिली है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में टोडरमल जी की कृतियों के सम्बन्ध से अच्छा प्रकाश डाला है और उन ग्रन्थों की भाषा शैली पर भी प्रकाश डालने का यत्न किया है। उन्होंने इस ग्रन्थ का को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने का प्रयास किया है। इसके लिए लेखक महोदय धन्यवाद के पात्र हैं। राममल्ल जी का उक्त चर्चा भी भवन से प्रकाशित होना चाहिए। साथ ही टोडरमल जी गोम्मटसार टीका का अच्छा संशोधित सम्पादित संस्करण प्रकाशित करने की आवश्यकता है। क्योंकि वह अप्राप्य है, आशा ही नहीं बिश्वास है कि गोदिका जी इस ओर अपना ध्यान देंगे। ग्रंथ मंगाकर पढ़ना चाहिए। प्रकाशन सुन्दर है।

२. पं० दौलतराम व्यक्तित्व और कृतित्व—सम्पादक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल शास्त्री जयपुर, प्रकाशक सोहनलाल सोगानी, मंत्री प्रबन्धकारिणी कमेटी जी महावीर जी, महावीर भवन जयपुर, पृष्ठ संख्या ३१० मूल्य दश रुपया।

इस ग्रन्थ का विषय भी उसके नाम से प्रकट है। इसमें पं० दौलतराम जी कासलीवालका सांगोपांग परिचय दिया गया है। साथ में उनकी षष्ठबद्ध मौलिक कृतियों का प्रकाशन भी किया है, और शेष अन्य टीका जिनग्रन्थों का भी परिचय दिया गया है। इससे यह ग्रन्थ दौलतराम जी के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचायक है।

डा० कासलीवाल ने कवि की १८ रचनाओं का परिचय दिया है। इससे पंडित जी की राज्यकार्य का संचालन करते हुए साहित्य निर्माण की अभिरुचि और लगन का आभास मिलता है। जब वे जयपुर से आगरा गये, तब उन्हें जैनधर्म परिज्ञान नहीं था। किन्तु आगरा की अध्यात्म शैली के विद्वान् ऋषभदास जी के उपदेश से उनकी जैनधर्म की ओर प्रतीति हुई। और उन्होंने रामचन्द्र मुमुक्षु के पुण्यालव कथाकोश की रचना सं० १७७७ में सम्पन्न की। उसके बाद उनकी जैनधर्म की श्रद्धा में दृढ़ता और जैन सिद्धान्त के ग्रन्थों का मनन एवं परि-

शीलन से ज्ञान की वृद्धि हुई और उन्होंने मौलिक और टीका ग्रन्थों की रचना की, वह उनकी धार्मिक लगन का ही परिणाम है। इतना ही किन्तु उन्होंने उदयपुर में रहकर वहाँ के निवासियों में अपने प्रवचनों द्वारा धार्मिक संस्कारों को जागृत किया। लोगों की धार्मिक भावनाओं को बढ़ाया, और जैनधर्म का प्रसार किया।

डा० कासलीवाल का यह प्रयत्न प्रशंसनीय है। क्षेत्र कमेटी को इस कार्य में गति प्रदान करना चाहिए। और पच्चीसवीं महावीर निर्वाण महोत्सव के शुभ अवसर पर किसी अप्रकाशित रचना को प्रकाशित करना चाहिए। ग्रन्थ का प्रकाशन सुन्दर है। स्वाध्यायी जनों को उसे भंगा कर अवश्य पढ़ना चाहिए।

३. जैन सिद्धान्तकोश भाग चौथा—मूलक जिनेंद्र वर्णी प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी ४ बड़ा साइज पृष्ठ संख्या ५४० सजिल्द प्रति का मूल्य ५०) रुपया।

प्रस्तुत विशाल कोश चार भागों में पूर्ण हुआ है। यह विश्वकोश के समकक्ष का कोश है, जिसमें जैन शब्दों का चयन प्रकारादि क्रम से किया गया है। जैन तत्त्वज्ञान, आचार, शास्त्र, भूगोल, कर्मसिद्धान्त, पौराणिक व्यक्ति, राजवंश, आगमशास्त्र आदि छह हजार शब्दों और इक्कीस हजार विषयों का विवेचन किया गया है। विषय विवेचन को रेखा चित्रों, सारणियों और सादे एवं रंगीन चित्रों द्वारा स्पष्ट करने का भी प्रयत्न किया गया है। जैन सिद्धान्त का तो यह आगार ही है। इसके अध्ययन करने से जैन सिद्धान्त के पारिभाषिक शब्दों का ही केवल ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत उनके भेद प्रभेदों का भी परिज्ञान हो जाता है। यह कोश जिनेंद्र वर्णी के १७ वर्षों का अथक श्रम का परिणाम है। इसके संकलन करने में उन्होंने कितना श्रम किया है, यह भुक्तभोगी ही जान सकता है। प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी के लिए इसका वाचन उपयोगी है। कोश में यदि ऐतिहासिक विषय न दिया जाता तो अच्छा होता। कोश अपने वैशिष्ट्य को लिए हुए है। लोक-स्वर्ग नरक आदि का चित्रों द्वारा विषय स्पष्ट किया गया है। प्रस्तुत भाग में श से ह तक के व्यंजन भाग का निरूपण है। इस विशाल काय महत्त्वपूर्ण कोश का मुद्रण

सुन्दर और भारतीय ज्ञानपीठ के अनुरूप हुआ है। प्रत्येक लायब्रेरी में इसका संग्रह होना चाहिए।

इस कोश के संकलनकर्ता जिनेंद्रवर्णी और भारतीय ज्ञानपीठ के संचालक गण इस सुन्दरतम कृति के प्रकाशन के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

—परमानन्द शास्त्री

३. महावीर व्यक्तित्व, उपदेश और आचार मार्ग—प्रकाशन—भारत जैन महामण्डल, भारत इंगुरेंस बिल्डिंग दूसरा मंजिल 15 A, हानिमन सर्कल फोर्ट बम्बई-१, मूल्य तीन रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक जैन समाज के प्रसिद्ध विद्वान श्रीरिषभदास राँका द्वारा लिखी गई है। आकर्षक एवं इसका आवरण शमोकार मंत्रके पदों द्वारा कलात्मक ढंगसे बनाये गये भगवान महावीर के चित्र से शोभित है। पुस्तक के प्रारम्भ में आचार्य तुलसी द्वारा 'दो बोल' के अन्तर्गत पुस्तक एवं लेखक का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

विद्वान लेखक ने प्रागैतिहासिक श्रमण संस्कृति का अनेक उदाहरणों एवं प्रमाणों द्वारा शोधपूर्ण इतिहास प्रस्तुत करने के बाद तीर्थंकर वर्धमान का विस्तृत परिचय दिया है। इसके बाद सर्वजन हितकारी भगवान महावीर के उपदेशों का बड़े ही सरल ढंग से प्रतिपादन किया है। आवश्यकतानुसार जैन प्रामाणिक ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये गये हैं। पाठक चाहे जैन हो या अजैन, भगवान महावीर के महान् सिद्धान्तों का परिचय प्रस्तुत पुस्तक द्वारा बड़े ही सुबोध ढंग से प्राप्त कर सकता है।

पुस्तक में जहाँ अनेक अच्छाइयाँ हैं वहाँ कुछ न्यूनताएँ भी नजर आईं। पुस्तक का मूल्य कुछ अधिक है। यदि मूल्य कम रखा जाता तो सर्वसाधारण के लिए यह और उपयोगी भी हो सकती थी। प्रूफ एवं प्रतिलिपि सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी कुछ रह गई हैं। जैसे पृष्ठ १०३ पर प्रथम अनुच्छेद की अन्तिम पंक्ति में प्रायश्चित्त के स्थान पर व्युत्सर्ग छप गया है।

पुस्तक उपादेय एवं संग्रहणीय है।

—प्रकाशचन्द्र जैन

जैन तत्त्वमीमांसा की मीमांसा भाग १—लेखक पं० बंशीधर जी व्याकरणाचार्य, बीना, प्रकाशक दि० जैन संस्कृति सेवक समाज (बरैया ग्रन्थमाला), पृ० २२ + ८ + ३८५, साइज २० × ३० क्राउन १६ पेजी, मूल्य चार रुपये ।

जैसा कि प्रस्तुत पुस्तक का नाम है, वह श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री के द्वारा लिखी गई 'जैन तत्त्वमीमांसा' की समीक्षा के रूप में लिखी गई है । पुस्तक में समीक्षा को आधार बनाकर यद्यपि साधारणरूप में निमित्त-नैमित्तिकभाव की विशेष चर्चा की गई है, फिर भी यथाप्रसंग उसमें तत्त्वविचार भी विस्तार से किया गया है । जैसे—ज्ञान-दर्शन, प्रत्यक्ष-परोक्ष, भव्य-अभव्य, जीवो व पुद्गलो की बद्ध-स्पृष्टता, निश्चय-व्यवहार तथा द्वयानुयोगादि की स्थिति का विश्लेषण । इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक में यथाप्रसंग कई महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा की गई है, अतः वह तत्त्वज्ञानसुधो के लिए अत्यन्त पठनीय है । उक्त दोनों पुस्तकों के लेखक समाज के माने हुए विद्वान् हैं । सोनगढ़ की तत्त्वव्यवस्था का प्रचार होनेपर दोनों विद्वानों

में मतभेद हुआ है । चिन्तनशील विद्वानों को जैनतत्त्व-मीमांसा और जैनतत्त्वमीमांसा की मीमांसा इन दोनों ही पुस्तकों को बीतरागभाव से पढ़कर तत्त्व का निर्णय करना चाहिये । पुस्तक के लेखक व प्रकाशक को साधुवाद है ।

जैनदर्शन में कार्य-कारणभाव और कारक-व्यवस्था—लेखक व प्रकाशक उपर्युक्त, आकार २० × ३० क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या लगभग १५०, मूल्य १-६० पैसे ।

प्रस्तुत पुस्तक में कर्ता-कर्म आदि छह कारकों का विचार करते हुए कार्य-कारणभाव का अच्छा विवेचन किया गया है । प्रसंगवश निमित्त व उपादान की चर्चा करते हुए निमित्त की सार्थकता सिद्ध की गई है । साथ ही स्वप्रत्यय कार्य कौन हैं व स्व-परप्रत्यय कार्य कौन हैं, इनका विश्लेषण करते हुए उपादान-उपादेयभावरूप कार्य-कारणभाव व निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभाव इस प्रकार कार्य-कारणभाव को दो भेदों में विभक्त किया गया है । पुस्तक उपयोगी व पठनीय है । उसके लेखक व प्रकाशक धन्यवादार्ह है ।

—बालचन्द्र शास्त्री

आवश्यक सूचना

अनेकान्त शोध पत्रिका आपके पास नियमित रूप से पहुँच रही है । आशा है आपको इसकी सामग्री रोचक एवं उपयोगी लगती होगी । यदि इसकी विषय सामग्री के स्तर तथा उपयोग को ऊँचा उठाने के लिए आप अपना सुभाव भेजें तो हम उसका सहर्ष स्वागत करेंगे ।

जिन ग्राहकों का हमें पिछला वार्षिक चन्दा प्राप्त नहीं हुआ है, उन्हें हम यह अंक वी० पी० द्वारा भेज रहे हैं । आशा है आप वी० पी० छुड़ा कर हमें सहयोग प्रदान करेंगे ।

—सम्पादक

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अनीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द।	१५-००
प्राप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द।	८-००
स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित।	२-००
स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित।	१-५०
ग्रन्थात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित	१-५०
पुष्ययनुशासन : तत्त्वज्ञान में परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द।	१-२५
श्रीपुरपाश्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित।	७५
शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित	७५
समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द।	३-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द।	४-००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	४-००
अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दी की महत्त्व की रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित	२५
तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्राय) — मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त।	२५
श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ।	१-२५
महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा बाहुबली पूजा प्रत्येक का मूल्य	१६
अध्यात्मरहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित।	१-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द।	१२-००
न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०।	७-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द	५-००
कसायपाहुडमुत्तु : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द।	२०-००
Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द	६-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया	५-००

